ॐ

श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला पुष्प नं० ४७

श्री विद्यानंदि-स्वामि विरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः

(भाषा टीका समन्वितः)

(षष्ठ-खंडः)

टीकाकार

तर्करत्न, सिद्धांतमहोदधि, स्याद्वादवारिधि, दार्शनिक शिरोमणि,

श्री पं० माणिकचंद जी कौंदेय न्यायाचार्य

संपादक व प्रकाशक

पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

वाचस्पति, व्याख्यान केसरी, समाजरत्न, धर्मालंकार, विद्यालंकार, न्यायकाव्यतीर्थ)

आँ, मंत्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर

Rll Rights are Reserved by the Society

१००० } १९६९ वीर सं० २४९५ { मूल्य १२ रुपये

श्री दिगम्बर जैन तेरापंथ नागौरी आम्नाय
पंचायत छाटा धड़ा, अजमेर द्वारा साउथ मेन
Shivam
Siddhanam

संपादकीय वक्तव्य

तत्त्वार्थश्लोक वार्तिकालंकार का यह छठवां खंड स्वाध्याय प्रेमी बंधुवों के हाथ में देते हुए हमें हर्ष होता है, इस खंड के प्रकाशन में भी अपेक्षा से अधिक विलंब हो गया है, तथापि उसमें हमारी विवशता ही कारण है। प्रारंभ के कुछ भागों का मुद्रण श्री महावीरजी में हुआ, स्व० श्री पं० अजितकुमारजी की देख-रेख में यह कार्य चला, परंतु उनके आकस्मिक स्वर्गवास से यह कार्य स्थगित रहा, अग्रिम भाग का कार्य वाराणसी में कराना पड़ा, इन सब यातायात आदि के कारण से इसके प्रकाशन में विलंब हुआ। आशा है कि हमारे बंधु क्षमा करेंगे।

ग्रंथ परिचय

यह तो सुविदित है कि तत्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार तत्त्वार्थसूत्र पर सुविस्तृत नैयायिक शैली की टीका है। महर्षि विद्यानंदि ने इस महत्त्वपूर्ण श्लोकवार्तिक में सर्व-प्रमेयों का सांगोपांग विचार किया है। किसी भी विषय पर कोई भी शंका शेष न रहे इस प्रकार निःसंदिग्ध विवेचन प्रस्तुत श्लोकवार्तिक में है। करीब ६०० पृष्ठों के प्रथम खंड में केवल प्रथम-सूत्र की व्याख्या है। दूसरे, तीसरे, और चौथे खंड में तत्त्वार्थसूत्र का केवल प्रथम अध्याय समाप्त हो पाया। पांचवें खंड में द्वितीय, तृतीय और चौथे अध्याय के विषयों का निरूपण है। अब प्रस्तुत खंड में पांचवें, छठे और सातवें अध्याय के विषयों पर विचार किया गया है। यह खंड भी करीब ७०० पृष्ठों का हो गया है जो आपके सन्मुख उपस्थित है।

इस खंड में आगत विषयों का परिचय कराने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इसके साथ विस्तृत विषयानुक्रमणिका दी गई है। उसी से स्वाध्यायशील बंधुवों को विषयों का परिज्ञान हो जावेगा। आगामी एक खंड में ग्रंथ समाप्ति करने का हमारा संकल्प है। वह भी शीघ्र पूर्ण होगा ऐसी आशा है।

विषयानुक्रमणिका देने की पद्धति का हमने इससे पूर्व के खंडों में अवलंबन नहीं किया था, परंतु कुछ मित्रों की सलाह थी कि विषयानुक्रमणिका देनेसे स्वाध्याय करने वालों को एवं संशोधक विद्वानों को सहूलियत रहती है। सो इस खंड में प्रस्तुत खंड में आगत विषयों की सूची दी गई है। श्लोकानुक्रमणिका भी यथापूर्व दी गई है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में संस्थान ने बहुत बड़ा साहस किया है। कारण सातों खंडों के प्रकाशन में संस्था के करीब पचास हजार रुपयों का व्यय हो जायगा। तथापि एक महान् ग्रंथराज का प्रकाशन होकर जैन न्याय जगत् की एक महती आवश्यकता की पूर्ति करने का श्रेय संस्था को प्राप्त होगा। ऐसे ग्रंथों के एक बार प्रकाशित होने में ही जहाँ कठिनता का अनुभव होता है वहाँ बार-बार प्रकाशन तो असंभव ही है। उसमें भी विशेष बात यह है कि यह ग्रंथ विद्वान् व संशोधकों के काम की चीज है। जनसाधारण के लिए यह गूढ़ दार्शनिक विषय होने से शुष्क प्रतीत हो सकता है। हमारे करीब ५०० स्थायी सदस्य हैं, उन्हें तो यह ग्रंथ विना मूल्य ही भेंट में देते हैं। हमारे सदस्यों में प्रायः समाज के प्रसिद्ध स्वाध्याय प्रेमी बंधु आ जाते हैं। अतिरिक्त सज्जन ग्रंथ को खरीदकर पढने वाले बहुत कम रह जाते हैं। इसलिए संस्था का व्यय करीब-करीब साहित्य सेवा में ही उपयुक्त हो जाता है।

हमारे साधर्मी बंधुवों से निवेदन है कि वे हमारे इस कार्य में हाथ बटावेंगे तो आगामी खंड भी शीघ्र ही प्रकाश में आ सकेगा, प्रत्येक श्रुत भण्डार, मंदिर, सरस्वती भवन, विद्यालय, महाविद्यालय, तीर्थ क्षेत्र आदि में इस ग्रंथराज की एक-एक प्रति विराजमान करवेंगे गत वर्षों में अमेरिका आदि पर-देश के पुस्तक भंडारों में बीसों सेट गये हैं तो भारतीय ग्रंथ-भंडारों के संचालकों का भी ध्यान इस ओर जाना चाहिये, इस ग्रंथ के प्रकाशन में मदद देना या संस्था के कार्य में मदद देना भी एक प्रकार से प्रकाशन में सहायता है। १०१) देने वाले स्थायी सदस्यों की वृद्धि करना भी संस्था के कार्य में एक प्रकार की सहायता है। उन स्थायी सदस्यों को ग्रंथमाला से प्रकाशित (उपलब्ध) सर्व साहित्य विना मूल्य भेंट में दिये जाते हैं। आशा है कि हमारे धर्म बंधु यथासाध्य इस कार्य में सहयोग देंगे।

इस खंड के प्रकाशन में सहायता

इस खंड के प्रकाशन में हमारी एक धर्मभगिनी ने उल्लेखनीय सहायता की है। अतः उनका संक्षिप्त परिचय करा देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

सहारनपुर नि० ला० धवलकीर्ति जी प्रसिद्ध धर्मात्मा थे, उनकी चार पुत्र संतति (१) ला० मेहर चंद, (२) ला० रूपचंद (३) बा० रतनचंद (४) बा० नेमिचंद्र, और एक पुत्री जयवती देवी के नाम से थी। पिता श्री धवलकीर्ति नाम के अनुसार ही धार्मिक वृत्ति, सरल और भद्र प्रकृति के थे, अतः संतान में भी प्रारंभ से ही धार्मिक वृत्ति आई है। श्री ब्र० रतनचंद मुख्तार और बा० नेमीचंदजी वकील से समस्त समाज सुपरिचित है। सतत स्वाध्याय के बल से दोनों सहोदरोंने जैन सिद्धांत का जो ज्ञान आकलन किया है एवं सूक्ष्मतलस्पर्शी विषयों का विवेचन उनकी लेखनी से सदा होता है, जिससे समाज के सर्व श्रेणी के लोग लाभान्वित होते हैं, भाई रतनचदजी ने मुख्तारगिरी १९४७ में छोडकर शांतिमय जीवन को अपनाया, बा० नेमीचंदजी ने १९५३ में वकालत के व्यवसाय को छोड़कर अपनी ४९ की उम्र में ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया है, दोनों सहोदरों की यह पावन वृत्ति अनुकरणीय है। इनकी बहिन जयवंती देवी का विवाह सुलतानपुर नि० ला० महाज प्रसाद जी के पुत्र ला० जिनेश्वर प्रसाद जी बी० ए० के साथ हुआ, ला० महाज प्रसाद जी तहसीलदार थे। उनके दो सुपुत्र थे। जो क्रमशः जयप्रसाद और जिनेश्वर प्रसाद के नाम से प्रसिद्ध थे एवं परस्पर प्रेम में बलभद्र और नारायण के समान रहते थे। ला० महाज प्रसाद जी के पिता ला० अजुध्या प्रसाद जी डिप्टी कलेक्टर थे। उनका एक पुत्र ला० जनेश्वरदास भी ऑनरेरी मेजिस्ट्रेट व ऑ० असिस्टेंट कलेक्टर थे। ला० जनेश्वरदास की एक बहिन सहारनपुर नि० सुप्रसिद्ध तीर्थ भक्त स्व० ला० जंबू प्रसाद जी से विवाही थी, उनके सुपुत्र ला० प्रद्युम्नकुमार जी रईस आज विद्यमान हैं, इस प्रकार श्रीमती जयवंती देवी ला० प्रद्युम्न कुमार जी की सगी मामी थी। ला० जिनेश्वर-प्रसाद और जयप्रसाद दोनों भाइयों को कोई सन्तान नहीं थी। ला० जयप्रसाद का स्वर्गवास सन् १९६० में हुआ, अत्यधिक प्रेम के कारण ला० जिनेश्वर दास जी उनके वियोग को सहन नहीं कर सके। इसलिए उसी शोक से वे भी एक महीने के बाद ही स्वर्गस्थ हुए, अब उनकी स्मृति में उनकी दोनों विधवा पत्नियों ने एक लाख रुपये नगद, और बहुत सी स्थावर संपत्ति देकर सुलतानपुर में इंटर कालेज स्थापित कराया है। सम्मेदशिखर जी, हस्तिनापुर आदि क्षेत्रों में भी कमरा आदि निर्माण कराये एवं और भी पर्याप्त दान किया है। श्रीमती जयवंती देवी ने श्लोकवार्तिकालंकार के इस खण्ड के प्रकाशन में ४०००) की धन राशि सहायता में दी है, हमारी प्रबल इच्छा थी कि उनके सामने ही यह प्रकाशित हो जाय परंतु

उनका स्वर्गवास २६-१२-६७ को हो गया। देवेच्छा के सामने हम विवश रहे। स्वर्ग में उनकी आत्मा को इस पावन कार्य से अवश्य प्रसन्नता होगी।

ऋणभार स्वीकार

इस खंड के प्रकाशन में श्रीमती जयवंती देवी ने जो सहायता दी है वह अविस्मरणीय है, हम उनके प्रति ऋणी हैं, श्री ब्र० रतनचंदजी मुख्तार व श्री वा० नेमीचंदजी वकील ने ग्रंथ की विषय सूची के संकलन में, श्लोकानुक्रमणिका के चयन में एवं उक्त सहायता के प्रदान कराने में संस्था के प्रति आत्मीयता पूर्ण व्यवहार किया उनके प्रति हम कृतज्ञ हैं, श्री महावीर जी क्षेत्र स्थित शांतिसागर सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था, स्व० पं० अजितकुमार जी शास्त्री और आनन्द प्रेस वाराणसी के हम आभारी हैं जिनके सत्प्रयत्न से यह कार्य सुकर हो सका, पांचवें अध्याय के अंत तक श्री महावीर जी में और छठे, सातवें अध्याय का भाग वाराणसी में मुद्रित हुआ। और भी जिन जिन सज्जनों का हमें इस कार्य में सत्परामर्श व सहयोग प्राप्त हुआ उनके भी हम कृतज्ञ हैं।

अपनी बात

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यह ग्रंथमाला परम पूज्य प्रातः स्मरणीय गुरु देव आचार्य कुंथुसागर महाराज की स्मृति में संचालित है। आचार्य महाराज स्वयं विद्वान्, लोकैषणा के धनी, विश्ववंद्य, सर्वजन मनोहर, कठिन तपस्वी एव प्रभावक साधु थे, उनके द्वारा निर्मित करीब ४० ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। जो जन साधारण के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो चुके हैं। यह श्लोकवर्तिकालंकार विद्वान् समाज के लिए अध्ययन की वस्तु है। इसे सरल व हृदयंगम करने के लिए जैन समाज के वयोवृद्ध सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री तार्किक शिरोमणि, सिद्धांत महोदधि, पं० माणिकचंद जी न्यायाचार्य ने जो विस्तृत हिंदी टीका लिखी है, वह अनुपम है। विद्वत्समाज उनकी इस कृतिकी उपकृति के लिए सदा ऋणी रहेगा। पूज्य पंडित जी की भी उत्कठा है कि इसका संपूर्ण प्रकाशन जीवन काल में ही पूर्ण हो जाय।

इसके प्रकाशन में ग्रंथमाला के ट्रस्टियों का सहयोग पूर्णतया रहा है। वे हमारे कार्य में सतत प्रोत्साहन देते रहते हैं, परंतु हमारे ही कार्याधिक्य के कारण सर्वकार्य द्रुत गति से हो नहीं पाते हैं। फिर भी बड़ी उदारता से हमारे ट्रस्टीगण, वाचक, स्वाध्याय प्रेमी इसे सहन करते हैं एवं संस्थाको अपनाते हैं यह उनकी बड़प्पन है, हम सदा उनके प्रति कृतज्ञ रहेंगे।

वीर सं० २४९५ वैशाख सु० ३
कल्याण भवन
सोलापुर २

विनीत
वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
ऑ० मंत्री, आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार का मूलाधार

षष्ठ खंड

पंचमोऽध्यायः

अजीव-काया धर्माधर्माकाश-पुद्गलाः ॥ १ ॥ द्रव्याणि ॥ २ ॥ जीवाश्च ॥ ३ ॥ नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥ रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥ आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥ निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥ असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥ आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥ संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥ नाणोः ॥ ११ ॥ लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥ धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥ एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥ असंख्येय-भागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥ प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥ गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥ आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥ शरीर-वाङ्-मनः-प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥ सुख-दुःख जीवित-मरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥ परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥ वर्तना-परिणाम-क्रिया-परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥ स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥ शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥ अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥ भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥ भेदादणुः ॥ २७ ॥ भेद-संघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥ सद् द्रव्य-लक्षणम् ॥ २९ ॥ उत्पादव्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत् ॥ ३० ॥ तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥ अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥ स्निग्धरुक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥ न जघन्य-गुणानाम् ॥ ३४ ॥ गुण-साम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥ द्व्यधिकादि-गुणानां तु ॥ ३६ ॥ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३७ ॥ गुण-पर्ययवद् द्रव्यम् ॥ ३८ ॥ कालश्च ॥ ३९ ॥ सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥ द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥ तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

काय-वाङ्-मनः-कर्म योगः ॥ १ ॥ स आस्रवः ॥ २ ॥ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥ सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥ इन्द्रिय-कषायाव्रत-क्रियाः पञ्च-चतुः-पञ्च-पञ्च विंशति-संख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥ तीव्र-मन्द-ज्ञाता-ज्ञात-भावाधिकरण-वीर्य-विशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥ अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ७ ॥ आद्यं संरम्भ-समारम्भारम्भ-योग-कृत-कारितानुमत-कषाय-विशेषैस्त्रि स्त्रि स्त्रि श्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥ निर्वर्तनानिक्षेप-संयोग-निसर्गाद्वि-चतुर्द्वि-त्रि-भेदाः परम्

॥ ९ ॥ तत्प्रदोषनिह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञान-दर्शनावरणयोः ॥ १० ॥ दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्म-परोभय-स्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥ भूत-व्रत्यनुकम्पादान-सरागसंयमादियोगः क्षांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥ केवलि-श्रुत-संघधर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥ कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥ बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥ माया तैर्यग्योनस्य ॥ २६ ॥ अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥ स्वभाव-मार्दवं च ॥ १८ ॥ निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥ सरागसंयम-संयमासंयमाकाम-निर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥ सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥ योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥ तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥ दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शील-व्रतेष्वनतीचारो-ऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी साधु-समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रव-चन-भक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्ग-प्रभावना प्रवचन-वत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ २४ ॥ परात्म-निन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥ तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥ विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥ देशसर्वतोऽणु-महती ॥ २ ॥ तत्स्थै-र्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपण-समित्यालोकित-पानभोजनानि पञ्च ॥ ४ ॥ क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानान्यनुवीची-भाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥ शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादाः पञ्च ॥ ६ ॥ स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्म-नोहरांगनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कार-त्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥ मनोज्ञामनो-ज्ञेन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥ हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥ दुःखमेव वा ॥ १० ॥ मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि च सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ११ ॥ जगत्काय-स्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥ प्रमत्तयोगात्प्राण-व्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥ असद्भिधानमनृतम् ॥ १४ ॥ अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५ ॥ मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥ मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥ निःशल्यो व्रती ॥ १८ ॥ अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥ अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥ दिग्देशानर्थदण्डविरति-सामायिक-प्रोषधोपवासोपभोग-परिभोग-परिमाणातिथि-संविभाग-व्रत-सम्प-न्नश्च ॥ २१ ॥ मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥ शंका-कांक्षा-विचिकित्सान्यदृष्टि-प्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥ व्रत-शीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥ बन्ध-वध-च्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥ मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासा-

पहार-साकारमन्त्रभेदाः ॥ २६ ॥ स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥ परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडा-कामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥ क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्य-प्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥
मार्गदर्शक :-आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज
ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमण-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥ आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥ कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥ ३३ ॥ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोपक्रमणानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥ सचित्त-सम्बन्ध-सम्मिश्राभिषव-दुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥ सचित्तनिक्षेपापिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य्य-कालातिक्रमः ॥ ३६ ॥ जीवित-मरणाशंसामित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि ॥ ३७ ॥ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥ विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

श्लोकवार्तिक विषयसूची

पंचमाध्याय

सूत्र १	१–१५
अजीव कायके नाम	१
अजीवोंका लक्षण	२
सूत्र २	१५–२१
द्रव्यका लक्षण	१६
द्रव्यसे पर्याय कथंचित् भिन्न	१६
सूत्र ३	२१–२४
जीवके विषयमें बौद्धादि मतोंका खण्डन	२१
सूत्र ४	२५–३२
नियतिवाद पर्याय	२५
द्रव्यार्थिकसे द्रव्य नित्य व अवस्थित पर्यायार्थिक नयसे अनित्य व अनवस्थित	२६
मूर्त द्रव्यके गुण कथंचित् मूर्त कथंचित् अमूर्त हैं	३२
सूत्र ५	३३–३४
रूपी शब्द का अर्थ मूर्त है	३४
सूत्र ६	३४–३८
धर्म अधर्म आकाशमें एक एक द्रव्य है किन्तु जीव पुद्गल कालमें अनेक द्रव्य हैं	३६
सूत्र ७	३८–७३
अंतरंग बहिरंग निमित्तोंके मिलने पर देशान्तर प्राप्तिका कारण है वह क्रिया है	३८
'सत्' लक्षण शुद्ध द्रव्यका है	४०
'गुणपर्ययवत्' यह लक्षण अशुद्ध द्रव्यका है	४०–४१
सदृशपरिणाम ही सामान्य है	४३
सामान्य भी अनित्य है	४३
अन्तरंग और बहिरंग कारणोंके मिलने पर ही क्रिया व अन्य पर्याय होती है	४४
तीनों जगत्में व्यापनेवाले पदार्थोंके क्रिया नहीं होती	४५
काल द्रव्य कालाणु रूप है	५२
बलाधान निमित्त	५७
परिणामका लक्षण	६३
सिद्धोंमें भी ऊर्ध्वगमनरूप क्रिया है	६५
क्रिया व क्रियावान कथंचित् भिन्न व अभिन्न	६६
बौद्धोंका खण्डन	७०
कूटस्थ नित्य का खण्डन	७२
सूत्र ८	७३–७९
धर्मादिक द्रव्य मुख्य रूपसे सप्रदेशी है	७८
सूत्र ९	७९–८६
अनन्तकी व्याख्या	८०
प्रदेश और प्रदेशवानका कथंचित् भेद कथंचित् अभेद	८०-८१
अनेक द्रव्योंसे बना हुआ द्रव्य अनादि और अनन्त नहीं हो सकता	८३
वस्तुभूत कार्यका कारण उपचरितपदार्थ नहीं हो सकता मुख्य पदार्थ ही कारण होगा	८४
अंश रहित पदार्थ सर्वव्यापी नहीं हो सकता	८५
व्यापकता व निरंशमें तुल्यबल विरोध है	८५
परमाणु सावयव है	८५
आकाशके अनन्तप्रदेशत्वकी सिद्धि	९२
कल्पित पदार्थ सभी प्रकारसे अर्थक्रिया को नहीं कर सकता	९२
यदि ज्ञान के द्वारा जाना जानेसे आकाश अनन्त नहीं रहेगा तो वेदके भी अनन्तपनेका प्रभाव आ जायगा	९६
वस्तुको यथार्थ जानना प्रमाणका स्वभाव है अतः अनन्तको अनन्त रूपसे जानता है	९६
सूत्र १०	९७–१०४
'परमाणु ही स्कंध नहीं है' इसका खंडन	९९
सूत्र ११	१०४–११२
परमाणु एक प्रदेशी है	१०५

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

परमाणु द्रव्यरूप से निरंश शक्ति रूपसे सांश है १०९
धर्मादि द्रव्यों में निष्क्रियत्व व सक्रियत्व आदि अनेक विरोधी धर्मों का कथन १११
सत्यका अमोघ चिन्ह स्यात्कार है ११२
सूत्र १२ ११३–११४
यदि आकाश द्रव्य को अपना ही आधार माना जायगा तो अन्य सब द्रव्य स्व-आधार क्यों न माना जाय इसका निराकरण ११४
आकाश द्रव्य सर्वव्यापी है अन्य द्रव्य अव्यापी है अतः इनमें आधार आधेयपन बन जाता है ११४
सूत्र १३ ११४–११५
धर्माधर्म द्रव्य संपूर्ण लोकमें क्यों है इस शंकाका निराकरण ११५
सूत्र १४ ११५–११८
पुद्गलका सूक्ष्म परिणमन होने के कारण आकाशके एक प्रदेश पर भी असंख्यात व अनन्तपुद्गल परमाणुमें स्कंध समा-जाते हैं ११८
सूत्र १५ ११८–१२०
प्रत्येक जीवकी लोकके असंख्यातवें भाग-में अर्थात् असंख्यात प्रदेशोंमें अवगाह है ११९
सूत्र १६ १२१–१३३
आत्मा कंथचित् मूर्त कथंचित् अमूर्त १२२
आत्मा नित्यानित्यात्मक है १२५
अवयव की व्युत्पत्ति अनुसार आत्मा के प्रदेश नहीं है। केवल परमाणुके परि-णाम की नाप करके चिह्नित किये गये आत्माके अखंड अंशोंको प्रदेशपनेका कोरा नाममात्र कथन कर दिया है। इसलिये आत्माके भिन्न-भिन्न खण्ड नहीं होते १२५
सहभावी पदार्थोंमें भी आधार आधेय-भाव १२७
निश्चयनयसे आधार आधेय संबंध दो द्रव्योंमें नहीं है, व्यवहारनयका खंडन १३१
सूत्र १७ १३३–१४५
द्रव्यकी देशान्तरमें प्राप्तिका कारण रूप परिणाम गति है। इसीसे विपरीत स्थिति है १३४
धर्म और अधर्म द्रव्योंके न मानने पर लोक अलोक विभागका अभाव हो जायगा १४०
निरवधि के संस्थानका विरोध है १४०–४१
यदि धर्म अधर्म द्रव्यको लोकाकाश प्रमाण न माना जाय तो लोक अलोकका विभाग संभव नहीं १४५
सूत्र १८ १४५–१४९
आकाशको अन्य द्रव्यके अवगाहकी आव-श्यकता नहीं है, क्योंकि सर्वव्यापी है १४७
सूत्र १९ १४९–१५१
भाव वचन व भाव मन पौद्गलिक नहीं है १५०
सूक्ष्म पुद्गल शरीर आदिके उपादान कारण हैं अमूर्तीक जीव प्रधान कारण नहीं १५१
सूत्र २० १५१–१५४
मरण भी उपकार है १५२
आयु जीव विपाकी भी है १५३
सूत्र २१ १५४–१५६
परस्परमें एक दूसरेका अनुग्रह करना जीवोंका उपकार है १५५
सूत्र २२ १५६–२०९
स्वकीय सत्ताकी अनुभूतिने द्रव्यको प्रत्येक पर्यायके प्रति उत्पाद व्यय ध्रौव्य आत्मक एक वृत्तिको एक ही समयमें गर्भित कर लिया है, वह स्वकीय सत्ताका तदात्मक अनुभवन करना वर्तना है १५७
काल द्रव्य स्व और पर दोनों के वर्तन का हेतु है १६०–१६१
वर्तमान कालके अभावमें स्वसंवेदन अर्थात् सुख दुख आदिके वेदनके अभावका प्रसंग आ जायगा १६३
वर्तना आदिके द्वारा काल द्रव्यका अनु-मान होता है। १६४

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्वकीय जातिका परित्याग नहीं करके द्रव्यका प्रयोग और विस्रसा स्वरूप विकार हो जाना परिणाम है १६९
जीवके प्रयत्नसे हुआ विकार तो प्रयोग स्वरूप परिणाम है १६९
जीव प्रयत्नके बिना अन्य अंतरंग बहिरंग कारणोंसे विस्रसा स्वरूप परिणाम होता है १६९
परिणमन की सामर्थ्य होते हुए भी बहिरंग कारणों की अपेक्षा रखता है १७०
बहिरंग कारण है सो काल है १७०
बीजसे अंकुर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भिन्न है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अभिन्न है १७४–७५
कुमार और युवा अवस्थाओंमें सदृशपना भी है विदृशता भी है १८६
संकर व्यतिकर दोषोंका लक्षण १९२
एकान्त नित्य व एकान्त क्षणिकका खण्डन १९३
काल अपने परिणमनमें स्वयं निमित्त है १९४
काल विभाव रूप परिणमन नहीं करता इसलिए अपरिणामी है १९४
क्रियाका लक्षण १९५
परत्व अपरत्वका लक्षण १९८
[illegible]ख्य (मुख्य) काल २०१
[illegible]वहार काल २०२
[illegible] वर्तमान भविष्य कालोंकी सिद्धि २०४
[illegible]वहार कालकी सिद्धि २०५
सूत्र २३ २०९–२१६
स्पर्श आदि चारों गुण एक दूसरेके अविनाभावी हैं २१२
सूत्र २४ २१७–२१९
परमाणु तो शब्द आदि पर्यायोंके धारी नहीं, क्योंकि विरोध आता है स्कंध ही शब्द रूप होता है २२१
शब्द आकाशका गुण नहीं है २२१–२२
परमाणु शब्दका उपादान कारण नहीं हो सकता, क्योंकि परमाणु सूक्ष्म है २४१–४२
बंधका लक्षण ३०४–३०८
संयोगका लक्षण ३०४
संयोग व बंधका अन्तर ३०८
पुद्गलोंके परस्पर बन्धमें एकत्व संभव है किन्तु जीव और पुद्गलके बंधमें एकत्व उपचार से है ३१०
सौक्ष्म्यका कथन ३११
परमाणु सांश भी है निरंश भी ३१२
सूत्र २३ ३१४–३२०
अनेकान्तसे परमाणुकी सिद्धि ३१८
सूत्र २५ ३२०–३२४
परमाणु व स्कंधकी उत्पत्तिकी सिद्धि ३२१–२२
सूत्र २७ ३२४–३३९
अणुसे भेद ही उत्पन्न होता है ३२५
परमाणु नित्य ध्रुव नहीं है ३३१
सूत्र २८ ३३९–३४७
संघातसे, भेदसे, संघातभेदसे चाक्षुष होता है ३४०
'चक्षुसे मात्र रूपका ही ग्रहण होता है' इसका खंडन। गुण गुणीके सर्वथा भेदका खंडन ३४२
संघातसे, भेदसे, दोनोंसे अस्पार्शन अरासन पदार्थ भी स्पार्शन रासन हो जाते हैं ३४७
सूत्र २९ ३४७–३५०
सामान्य 'सत्' द्रव्यका लक्षण है ३४८
सूत्र ३० ३५०–३५७
उत्पाद व्यय ध्रौव्यका स्वरूप ३५१
सत्के इस लक्षणसे परमतों का खंडन हो जाता है ३५३
'युक्त'का अर्थ तदात्मक संबंध है ३५७
सूत्र ३१ ३५९–३६०
जो अतद्भाव है व्यय सहित वह अनित्य है ३५७
अतद्भावका अर्थ अन्यपना है ३५८
सूत्र ३२ ३६०–३६५
अर्पित अनर्पितके कारण एक द्रव्यमें नित्य अनित्यपना विरोधको प्राप्त नहीं होता ३६१

द्रव्यार्थिक नयसे नित्य, पर्यायार्थिक नयसे अनित्य है ३६१
संकर आदि ८ दोषोंका कथन ३६२
प्रमाणकी अपेक्षा वस्तु जात्यंतर रूप है ३६३
सूत्र ३३ ३६५–३७४
परमाणु सांश व निरंश ३७२
सूत्र ३४ ३७५–३८३
जघन्यका अर्थ एक नहीं है किन्तु निकृष्ट है अर्थात् जिससे कम न हो सके ३७६
परमाणुमें सदा अबंध रहनेका नियम नहीं है ३८३
सूत्र ३५ ३८३–३८५
गुण साम्य होनेपर विदृशमें बंध नहीं होगा ३८४
सूत्र ३६ ३८५–३८८
सदृश व विदृश गुण वालोंका द्वि अधिक गुण होनेपर बंध होगा ३८७
सूत्र ३७ ३८८–३९३
बंध हो जाने पर अधिक गुण वाला बंध रहे अन्य द्रव्योंको स्वकीय गुणानुरूप परिणमन करा देता है ३८९
परमाणुका परमाणुके साथ मात्र संयोग सम्बन्ध नहीं होता है बंध होकर स्कंधरूप तीसरी अवस्था हो जाती है ३९०–९१
परिणामके बिना परिणामी और परिणामी के बिना परिणाम नहीं हो सकता। तथा ज्ञानके बिना आत्माका भी अभाव हो जाता है ३९३
सूत्र ३८ ३९३–४०५
द्रव्यका निरुक्ति लक्षण ३९४
सत् तथा 'गुणपर्ययवद् द्रव्यं' इन दोनों लक्षणोंका सम्बन्ध ३९५
अनेकान्तकी सिद्धि ३९८
सूत्र ३९ ४०५–४०८
पदार्थोंकी क्रमवर्ती पर्यायोंमें वर्तनारूप कारण होना काल द्रव्यकी पर्याय है ४०६
सूत्र ४० ४०९–४१३
काल अनन्त समयवाला है यह व्यवहार से है ४१०
मार्गदर्शक आचार्यरत्न श्री सुविधिसागर जी महाराज
एक द्रव्य अपनी अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों के बिना वह अनेक कार्योंका सम्पादन नहीं कर सकता ४११
सूत्र ४१ ४१४–४१७
गुण द्रव्यके आश्रय रहते हैं ४१५
मुख्यके अभावमें उपचार संभव नहीं है ४१५–१६
पर्यायोंके निषेधके लिये 'निर्गुणा' शब्द दिया गया ४१६
सूत्र ४२ ४१७–४२१
'तद्भाव परिणाम' द्वारा पर्याय का लक्षण कहा गया ४१८
'पर्याय' सहभावी और क्रमभावी दो प्रकारकी है ४१९
संक्षेपसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो नय कही गई विस्तारसे तीन आदि अनेक नय हैं। ४१९

अध्याय ६

सूत्र १ ४३१–४३५
योग आस्रव का कारण है अतः सर्व प्रथम योग का कथन किया गया ४३२
बंध दो पदार्थों में होता है। अनेक पदार्थों को कथंचित् एक हो जाने की बुद्धि को उपजाने वाला संबन्ध विशेष बंध है ४३३
शरीर वचन और मन वर्गणाके आलम्बनसे आत्म प्रदेशोंका परिस्पंदन क्रिया है ४३४
अयोग केवली और सिद्धोंके योग नहीं है अतः दोनों अयोगी हैं ४३४
सिद्ध भगवान् अव्यपदेश चारित्रसे तन्मय है ४३४
सूत्र २ ४३६–४३९
केवली समुद्घातमें भी सूक्ष्म काय योग होता है ४३६

मिथ्यादर्शन आदिका भी योगमें अनुप्रवेश हो जाता है ४३८

सूत्र ३ ४३९–४४५

सम्यग्दर्शन आदिसे अनुरंजित योग शुभ है और मिथ्यादर्शन आदिसे अनुरंजित योग अशुभ है, क्योंकि सम्यग्दर्शन विशुद्ध परिणाम और मिथ्यात्व संक्लेश परिणाम है ४४०

विशुद्ध परिणामोंसे शुभ फलवाले पुद्गलोंका और संक्लेश परिणामोंसे अशुभफल वाले पुद्गलोंका आस्रव होता है ४४४

योग संख्यात, असंख्यात प्रकार तथा अनन्त प्रकारका भी ४४५

सूत्र ४ ४४६–४५२

कषाय सहित जीवोंके साम्परायिक कर्मोंका और कषाय रहित जीवोंके ईर्यापथ कर्मोंका आस्रव होता है ४४६

कषायका लक्षण और फल ४४६

साम्परायका निरुक्ति अर्थ और कार्य ४४७

ईर्यापथका लक्षण व कार्य ४४८

अकषाय जीवके भी नोकर्ममें स्थिति अनुभाग पड़ता है ४४८

सकषाय जीव परतंत्र है और अकषाय जीव परतंत्र नहीं है किन्तु अघातिया कर्मोदय की परतंत्रता भी पूर्वकषायका फल है ४४८–४४९

सूत्र ५ ४५३–४६३

साम्परायिक—आस्रवके भेद ४५३

सम्यक्त्वादि २५ क्रियाओंका स्वरूप ४५५–४५९

सूत्र ६ ४६३–४६९

तीव्र आदि भावोंका अर्थ ४६४–४६९

वीर्यका पृथक् ग्रहण करनेका कारण ४६६

द्रव्य कर्मसे भाव कर्म और भाव कर्मसे द्रव्य कर्म होनेपर भी अन्योन्याश्रय दोष नहीं है ४६९

सूत्र ७ ४६९–४७१

जीव और अजीवमें दो अधिकरण है ४६९

सूत्र ८ ४७१–४७७

संरम्भ आदिका स्वरूप ४७२

जीव अधिकरणके १०८ भेद ४७४

कषाय स्थानकी अपेक्षा जीवाधिकरणके असंख्यात भेद हैं ४७५

सूत्र ९ ४७७–४८४

निर्वर्तना आदिके भेदोंका कथन ४८१

सूत्र १० ४८४–४९४

प्रदोष आदिका स्वरूप ४८५

प्रदोष आदिके द्वारा ज्ञानावरण कर्ममें अनुभाग विशेष बँधता है ४८७

सूत्र ११ ४९४–५००

दुःख शोक आदिका स्वरूप ४९५

'वेदका' अर्थ ५०२

दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन आदि दुख रूप नहीं हैं ५०५

सूत्र १२ ५००–५१०

भूत व्रती आदिका स्वरूप ५०७–५०८

जिस जिस जातिके अनेक सुख दुख हैं उतनी ही असंख्य जातियोंके सद्वेद्य और असद्वेद्य कर्म हैं। क्योंकि विशेष विशेष कार्योंकी उत्पत्ति विशेष कारणोंके बिना नहीं हो सकती ५१०

सूत्र १३ ५११–५१३

केवली श्रुत संघ आदिका तथा आवरणका स्वरूप ५११

सूत्र १४ ५१३–५१४

द्रव्य आदि निमित्तके वशसे कर्म-परिपाकको उदय कहते हैं ५१३

सूत्र १५ ५१५–५१६

बहु, आरंभ, परिग्रहका स्वरूप ५१५

सूत्र १६ ५१६–५१७

मायाका स्वरूप ५१६

सूत्र १७ ५१७–५१८

अल्प आरम्भ आदिका स्वरूप ५१८

सूत्र १८ ५१८–५१९

उपदेशके विना स्वभावसे कोमलता मनुष्यायु व देवायुका कारण है ५१९

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूत्र १९ ५१९–५२१
शील व व्रतसे रहितपना चारों आयुके बंधका कारण है ५२०
सूत्र २० ५२१
धर्म ध्यानसे अन्वित सरागसंयम आदि देवायुके कारण हैं ५२१
सूत्र २१ ५२२–५२३
अनन्तानुबन्धीका अभाव तथा मिथ्यात्वका विनाश हो जानेसे हिंसा स्वभाव नहीं रहता और वृत्ति विशुद्ध हो जाती है ५२३
सूत्र २२ ५२४
योगवक्रता तथा विसंवादनका स्वरूप ५२४
सूत्र २३ ५२४–५२५
योगों की ऋजुता तथा अविसंवादन शुभ-नाम कर्मका कारण है ५२५
सूत्र २४ ५२५–५३०
दर्शनविशुद्धि आदिका स्वरूप ५२६–५२९
दर्शनविशुद्धिसे अन्वित प्रत्येक भावना तीर्थंकर की कारण है ५२९
पुण्य तीन लोकका अधिपति बना देता है ५२९
सूत्र २५ ५३०–५३१
पर निंदा आदिका स्वरूप ५३०
सूत्र २६ ५३१–५३२
नीचैर्वृत्ति आदिका स्वरूप ५३१
सूत्र २० ५३२–५३७
आत्म परिणामों की शुद्धिसे पुण्यकर्मका शुभ आस्रव और अशुद्धिसे पापकर्मोंका अशुभ आस्रव होता है ५३५
सूत्र १० से २७ तक इन १८ सूत्रों द्वारा अनुभाग विशेष की अपेक्षा कथन है ५३६

अध्याय ७

सूत्र १ ५४३–५४७
बुद्धि पूर्वक परित्याग करना विरति है ५४४
व्रतोंका आस्रव तत्त्वमें कथन करनेका कारण ५४४
रात्रिभोजन व्रत ५४५
सूत्र २ ५४७–५४९
देश और सर्वका अर्थ ५४८
मिथ्यादृष्टिके व्रत बालतप हैं ५४८
सूत्र ३ ५४९
व्रतोंमें स्थिरताके लिये भावना है जिससे उत्तर गुणों की प्राप्ति होती है ५४९
सूत्र ४ ५५०
अहिंसा व्रत की पांच भावना ५५०
सूत्र ५ ५५०–५५१
सत्यव्रत की पांच भावना ५५०
सूत्र ६ ५५१–५५२
अचौर्य व्रतकी पांच भावना ५५२
सूत्र ७ ५५२–५५३
ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावना ५५३
सूत्र ८ ५५३–५५५
अपरिग्रह (आकिंचन्य) व्रतकी पांच भावना ५५३
भाव्य, भावक, भावनाका स्वरूप ५५४
सूत्र ९ ५५५–५५६
अपाय और अवद्यका अर्थ ५५६
सूत्र १० ५५६–५५८
कारणमें कार्यका उपचार कर हिंसा आदि-को दुख कहा है ५५७
अब्रह्म भी दुख है सुख नहीं है ५५७
सूत्र ११ ५५८–५६०
मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ तथा सत्त्व, क्लिश्यमान, गुणाधिक और अविनय इनका स्वरूप ५५८
मैत्री आदि भावनाका विशेष कथन ५५९
सूत्र १२ ५६०–५६४
स्वभाव, संवेग, वैराग्य इन शब्दोंका अर्थ ५६१
आत्मा स्वरूप चिंतवन करनेवाले भावित आत्माके संवेग व वैराग्य होता है ५६२
सूत्र १३ ५६४
प्रमत्त व योग शब्दका अर्थ ५६४

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज

प्राण व्यपरोपणका अर्थ ५६५
प्राण व शरीर जीवसे भिन्न हैं फिर भी
प्राणोंका वियोग दुखका कारण है ५६५
शरीर और आत्माको भिन्न माननेवाले
एकान्तवादियोंके यहां हिंसा संभव नहीं है ५६६
चक्रदोष ५६६–६७
स्याद्वादियोंके प्राणोंके व्यपरोपणसे प्राणी-
का व्यपरोपण संभव है ५६८–५७१
जहां प्रमत्तयोग होगा वहां प्राण व्यपरो-
पण अवश्य होगा ५७०
रागादिके अभावमें हिंसा नहीं है ५७२
सूत्र १४ ५७३–५७५
असत्का अर्थ अप्रशस्त है ५७३
'मिथ्या अनृतं' यह ठीक नहीं है अतिव्याप्ति
दोष आ जावेगा ५७४
असत्य और सत्यकी परिभाषा ५७४
सूत्र १५ ५७५–५७९
कर्म नोकर्म वर्गणाका ग्रहण चोरी नहीं है
किन्तु जिन वस्तुओंमें लेने देनेका व्यव-
हार होता है वहीं अदत्तादानको चोरी
कहा है ५७५
प्रमत्त योगसे अदत्तादान चोरी है ५७८
सूत्र १६ ५७९–५८४
मैथुनकी परिभाषा ५८०
ब्रह्म की परिभाषा ५८२
बिना प्रमादके मैथुन संभव नहीं है ५८२
स्त्री परिषहजय या उपसर्गमें मुनिके
अब्रह्म नहीं होता ५८३
सूत्र १७ ५८४–५८
मूर्च्छाका अर्थ । मूर्छाका कारण होनेसे बाह्य
परिग्रहको परिग्रह कहा गया ५८४
प्रमत्त योगका अभाव होनेसे ज्ञान दर्शन
चारित्र परिग्रह नहीं है ५८५
परिग्रह सब पापोंका मूल है ५८६
परिग्रहमें चोरी व अब्रह्म भी होता है ५८७
हिंसामें शेष चार पाप आ जाते हैं ५८८
झूठ चोरी और कुशीलमेंसे प्रत्येकमें पांचों
पाप गर्भित हैं ५८८
परिग्रहका लक्षण, मूर्च्छापर शंका-समा-
धान तथा वस्त्र आदि भी परिग्रह हैं
क्योंकि मूर्छा है ५९०
पिच्छी कमण्डल परिग्रह नहीं है सूक्ष्मसांप-
रायादिमें इनका त्याग हो जाता है ५९३
शरीर पूर्वोपार्जित कर्मका फल है अत.
क्षीण मोह हो जानेपर शरीर परित्यागके
लिये परमचारित्रका विधान है ५९५
मुनिके आहार ग्रहण करनेमें मूर्च्छा नहीं
है, क्योंकि वह नव कोटि विशुद्ध आहार
ग्रहण करता है ५९५
सूत्र १८ ५९६–५९९
निश्शल्य और व्रतीपनके अंग-अंगी
भाव है । ५९८
असंयत सम्यग्दृष्टिके शल्य रहित होनेपर
भी व्रतोंका अभाव है ५९८
सूत्र १९ ५९९–६०२
आगारका अर्थ ५९९
नैगम संग्रह व्यवहार नयसे एक देश
व्रतियोंका व्रतियोंमें समावेश हो जाता है ५९९
अनगारका अर्थ ६०१
सूत्र २० ६०२–६०४
अणुव्रतोंका अर्थ ६०२
सूत्र २१ ६०४–६१३
सात शील व्रतोंके स्वरूपका कथन ६०५
प्रोषधोपवास ६१०
पांच अभक्ष्यका कथन, तथा अनिष्ट यान
वाहनादि तथा अनुपसेव्य वस्त्रका त्याग ६११
अतिथिसंविभाग ६१२
सूत्र २२ ६१३–६२१
मरणका लक्षण ६१३
सल्लेखनाका अर्थ ६१४
जोषिताका अर्थ ६१६

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सल्लेखना आत्महत्या नहीं है ६१६
सूत्र २३ ६२१–६२७
शंका आदिका स्वरूप ६२१
प्रशंसा और संस्तवनमें अन्तर ६२२
आगार और अनगार दोनों सम्यग्दृष्टियोंके पांच अतिचार हैं ६२२
दर्शनमोहनीय कर्मोदयसे सम्यग्दर्शनमें अतिचार ६२३
सूत्र २४ ६२७–६२८
पांच पांच अतिचार गृहस्थके हैं ६२८
सूत्र २५ ६२९–६३०
बध बन्धन आदिका अर्थ ६२९
सूत्र २६ ६३०–६३२
मिथ्योपदेश आदि अतिचारोंका अर्थ ६३०
सूत्र २७ ६३२–६३३
स्तेन प्रयोग आदि चोरीके अतिचारोंका कथन ६३२
सूत्र २८ ६३२–६३५
परविवाहकरण आदि ब्रह्मचर्य व्रतके पांच अतिचारोंका कथन ६३४
सूत्र २९ ६३५–६३७
अपरिग्रह व्रतके अतिचार ६३५
सूत्र ३० ६३७–६३८
दिग्व्रतके अतिचारोंका विशेष कथन ६३७
सूत्र ३१ ६३८–६३९
देश व्रतके अतिचारोंका कथन ६३८
सूत्र ३२ ६३९–६४१
अनर्थदण्ड व्रतके अतिचारोंका कथन ६३९
सूत्र ३३ ६४१–६४२
सामायिक व्रतके अतिचार ६४१
सूत्र ३४ ६४२–६४४
प्रोषधोपवासके पांच अतिचार ६४३
सूत्र ३५ ६४४–६४६
उपभोग परिभोगके अतिचार ६४४
सूत्र ३६ ६४६–६४७
अतिथि संविभाग व्रतके अतिचार ६४६
सूत्र ३७ ६४७–६४८
सल्लेखनाके अतिचार ६४७
सूत्र ३८ ६४९–६५०
दानका लक्षण ६४९
स्वका अर्थ धन है ६४९
अनुग्रह शब्दसे स्वमांस दानका निषेध हो जाता है क्योंकि महापकारक है ६४९
सूत्र ३९ ६५०–६५९
दानमें विशेषताका कारण ६५०
विधि, द्रव्य, दातार और पात्र इन सबकी विशेषता ६५१
विधि-द्रव्य आदिकी विशेषतामें बहिरंग और अंतरंग कारण प्रकारके हैं ६५१
दानमें संक्लेश रहिततासे उत्कृष्ट पुण्य, किंचित् संक्लेशतासे मध्यम पुण्य, बृहत् संक्लेशतासे अल्प पुण्य होता है ६५२
द्रव्यसे पात्रमें यदि गुणोंकी वृद्धि होती है तो पुण्य होता है, यदि दोषकी वृद्धि होती है तो पाप बंध, यदि गुण व दोष होते हैं तो मिश्र बंध होगा ६५३
पात्रके अनुसार दानका फल ६५४
जैसे कृषिमें भूमि जल घाम आदि कारणोंसे बीजके फलमें विशेषता हो जाती है वैसे ही सामग्रीके भेदसे दान फलमें विशेषता हो जाती है ६५५
अनेकान्तके द्वारा पर मतोंका खंडन ६५५
विशुद्ध परिणामोंसे अपात्रको दिया गया दान सफल, और संक्लेशसे पत्रको दिया गया दान निष्फल होता है। अशुद्ध अवस्थामें पात्र दान न करनेसे पुण्य बंध तथा अशुद्ध पदार्थके दानसे पाप बंध होता है ६५७
ऐसा अनेकान्त व स्याद्वाद है ६५७
सातवें अध्यायका सारांश ६६०

मार्गदर्शक :आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अथ पञ्चमोऽध्यायः

ध्वस्तमोहतमाः सर्वे (लोका) लोकभासकचिन्महाः।
प्रबोधयेन्मनःपद्मं श्रीमान्मे जिनभास्करः ॥ १ ॥

ॐ नमो जिनेन्द्राय तुष्टिपुष्टिकर्त्रे

जीव तत्त्वका निरूपण कर चुकने पर अब श्रीउमास्वामी महाराज अजीव तत्त्वका निरूपण करनेके लिये पंचम अध्यायके प्रारम्भ में अजीव तत्त्वके भेदोंकी संज्ञाका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रको कहते हैं—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥

धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल ये चार पदार्थ अजीव होते हुये काय हैं अर्थात्–चेतना गुण से रहित होते हुये प्रदेशप्रचयात्मक ये चार पदार्थ हैं।

किमर्थस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिरत्रेत्याह।

कोई शिष्य प्रश्न करता है कि इस सूत्र की प्रवृत्ति किसलिये उमास्वामी महाराजने यहां की है। ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्याननन्द आचार्य वार्त्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं—

अथाजीवविभागादिविवादविनिवृत्तये।
अजीवेत्यादिसूत्रस्य प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥१॥

उक्त चार अध्यायों में जीव तत्त्व का प्ररूपण करने के अनन्तर अब अजीव तत्त्व के विभाग, लक्षण, आदि में पड़े हुये विवाद की विशेषतया निवृत्ति करने के लिये सूत्रकार द्वारा "अजीव काया" इत्यादि सूत्र की प्रवृत्ति करना युक्त बन जाता है।

सम्यग्दर्शनविषयभावेन जीवोद्दिष्टे दृष्टेष्टजीवतत्त्वव्याख्यानेऽनन्तरमजीवतत्त्वव्याख्यानमर्हत्येव, तत्र च लक्षणविभागविशेषलक्षणविप्रतिपत्तौ तद्विनिवृत्त्यर्थास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिर्घटतएवान्यथा निःशंकमजीवतत्त्वव्यथानात्।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्र द्वारा तत्वार्थों में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन बताया है तहां सम्यग्दर्शन के विषयभाव रके जीवतत्त्वका उद्देश कर चुकने पर उक्त चार अध्यायों में देखे जारहे या युक्तिप्रमाणों द्वारा अभीष्ट होरहे अथवा प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से परीक्षा किये गये

जीव तत्त्व का व्याख्यान कर चुकने पर उसके अव्यवहित पीछे अजीव तत्त्व का व्याख्यान करना उचित पड़ जाता ही है। उस अजीव तत्व में सामान्य लक्षण, विभेद, विशेषलक्षण, इन में अनेक प्रवादियों के नाना विवादों के उपस्थित होने पर उनकी निवृत्तिके लिये इस सूत्र की प्रवृत्ति होना घटित होजाता ही है। अन्यथा यानी-सूत्रकार इस सूत्रको नहीं कह पाते तो शंकारहित होकर अजीव-तत्व की व्यवस्था नहीं हो सकती थी।

अजीवनादजीवाः स्युरिति सा न्यलक्षणं।
कायाः प्रदेशबाहुल्यादिति कालाद्विशिष्टता ॥ २ ॥
धर्मादिशब्दतो बोध्यो विभागो भेदलक्षणः।
तेन नैकं प्रधानादिरूपता नाप्यनंशता ॥ ३ ॥
निःशेषाणामजीवानामिति सिद्धं प्रतीतितः।
विपक्षे बाधसद्भावाद् दृष्टेनेष्टेन च स्वयं ॥ ४ ॥

आचार्यश्री विद्यानन्दस्वामी कृत श्लोकवार्तिकालंकार की महाराज

प्राणधारण या चेतनास्वरूप जीवन नहीं होने से धर्म आदिक द्रव्य अजीव होजाते हैं इस प्रकार पांचों द्रव्यों में व्यापनेवाला अजीव का सामान्यलक्षण निरुक्तिद्वारा कहदिया गया है। प्रदेशों की बहुलता करके चारों पदार्थ काय हैं इसकारण काल द्रव्य से विलक्षणता आजाती है अर्थात् काल द्रव्य जीवन से रहित होरहा अजीव तो है किन्तु अनेक प्रदेशी नहीं है अतः अजीव होते हुए काय बन रहे ये चार पदार्थ ही हैं। धर्म आदि चार शब्दों की निरुक्ति से ही भिन्न भिन्न लक्षण वाला विभाग समझ लिया जाय तिस कारण सर्व अजीवोंको एक ही प्रकृति या शब्दब्रह्म या चित्राद्वैत आदि स्वरूपपना नहीं है और वह अजीवतत्व अंशों से भी रीता नहीं है अर्थात्—धरति, न धरति, आकाशन्ते अस्मिन्, पूरणगलने यस्य, इन निरुक्ति--पूर्वक अर्थों से इनका लक्षण न्यारा न्यारा सांश होजाता है। सांख्यों ने जैसे एक ही जड़ प्रकृति को मान रक्खा है वैसा हमारे यहां अजीवतत्व नहीं है अथवा बौद्ध जैसे निरंश स्वलक्षणों को स्वीकार कर बैठे हैं वैसा हमारा जीव द्रव्य नहीं है किन्तु अनेक प्रदेशों करके सांश है। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त स्वभाव विद्यमान हैं, इस प्रकार सम्पूर्ण अजीव द्रव्यों के लक्षण आदिक सर्व प्रतीतियों द्वारा सिद्ध हो जाते हैं। इसके विपरीत विपक्ष में दृष्ट प्रमाण और इष्ट प्रमाण करके स्वयमेव बाधाओं का सद्भाव है, अतःउमास्वामी महाराज का उक्त सूत्र निर्दोष सार्थक, आवश्यक, व्यावृत्तिकारक, और अज्ञात प्रमेय का ज्ञापक है।

जीवस्योपयोगो लक्षणं जीवनमितिप्रतिपादितं ततोन्यदजीवनं गतिस्थित्यवगाहहेतुत्वरूपादिस्वरूपमन्वयिसाधारणमजीवानां लक्षणं।

उक्त तीन वार्त्तिकों का विस्तृत विवरण इस प्रकार है कि जीव का लक्षण उपयोग है यही जीवन है। मूल सूत्रकार स्वयं दूसरे अध्याय में इसका प्रतिपादन कर चुके हैं। उस जीवन से न्यारा पदार्थ पर्युदासवृत्ति द्वारा अजीवन है, जो कि गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहहेतुत्व, रूप रसादि स्वरूप हो रहा और अन्वय-रूप से लक्ष्यों में ओत पोत वर्त रहा अजीवों का साधारण लक्षण है।

भावार्थ—धर्म द्रव्य में गति का हेतुपना है, अधर्म में स्थति का हेतुपना है, आकाश में अवगाह का निमित्त कारणपना है और पुद्गल में रूप, रस, आदि गुण विद्यमान हैं एतत्-स्वरूप अजीवन नाम का भाव धर्म चारों अजीव द्रव्यों का लक्षण है।

त्रिकालविषयाजीवनानुभवनादजीव इति निरुक्तेरव्यभिचारान्न पुनर्जीवनाभावमात्रं तस्य प्रमाणागोचरत्वात् पदार्थलक्षणत्वायोगात् भावांतरस्वभावस्यैवाभावस्य व्यवस्थापनात्। काया इव कायाः प्रदेशबाहुल्यात् कालाणुवदणुमात्रत्वाभावात्। ततो विशिष्टाः पंचैवास्तिकाया इति वचनात्।

भूत, वर्तमान, भविष्य, तीनों कालों में गतिहेतुत्व आदि अजीवन धर्मों का अनुभवन करने से अजीवतत्व है। इस अजीव शब्द की निरुक्ति का कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है, अतः निरुक्ति द्वारा ही निर्दोष लक्षण बन गया होने से सूत्रकार ने अजीव तत्व का स्वतंत्र सूत्र द्वारा कोई लक्षण नहीं कहा है। अजीव शब्द में नञ् शब्द तो सदृश को ग्रहण करने वाला पर्युदास है जो कि अनक्षर, अनंग, अनेकांत, अनुपम, अंग आदि के समान भाव--आत्मक पदार्थ है। तुच्छ हो रहा केवल जीवन का अभाव तो फिर अजीव नहीं है क्योंकि वह तुच्छ—अभाव किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है खरविषाण के समान तुच्छ अभाव किसी भी पदार्थ का लक्षण नहीं हो सकता है। जैसे "भूतले घटाभावः यहां घट से अतिरिक्त भूतल पदार्थ जैसे घटाभाव अभीष्ट किया गया है, उसी प्रकार अधिकरण स्वरूप अन्य भाव का स्वभाव होने से ही अभाव तत्वार्थ की व्यवस्था की जाती है। भावार्थ—वैशेषिकों ने सातवां पदार्थ तुच्छ अभाव स्वीकार किया है उनके यहां जीव का तुच्छ-अभाव अजीव समझा जाता है किन्तु जैनों के यहां गति-हेतुत्व आदि अनेक गुणों से युक्त हो रहे जीव भिन्न पदार्थ अजीव माने गये हैं। जीव से भिन्न हो रहे किन्तु सत्त्व, द्रव्यत्व आदि धर्मों करके जीव के सदृश पदार्थ हैं। "अजीव कायाः' यहां जो काय शब्द का प्रयोग किया गया है उसमें इव शब्द का उपमा अर्थ छिपा हुआ है जिस प्रकार जीवों के शरीर पुद्गलों के पिण्ड-स्वरूप एकत्रित हो जाते हैं उसी प्रकार अनादि-कालीन धर्मादिकों के प्रदेशों की बहुलता का तदात्मक एकत्रीभाव हो जाने से ये चार पदार्थ शरीरों के समान काय हैं, कालाणुओं के समान ये चार तत्व केवल एक-प्रदेशी अणुस्वरूप नहीं हैं। सिद्धान्त ग्रन्थों में ऐसा वचन है कि तिस कारण से अनेक प्रदेशों से विशिष्ट हो रहे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश ये पांच ही अस्तिकाय हैं, एक प्रदेश के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों से रहित होने के कारण कालाणु द्रव्य अस्तिकाय नहीं है।

अजीवाश्च ते कायाश्चेति समानाधिकरणवृत्तिसामर्थ्यादवसीयते, भिन्नाधिकरणायां वृत्तौ कथंचिद्भेदविवक्षायामपि कायानामेव संप्रत्ययप्रसंगात् अजीवानां विशेषणभावात् सामानाधिकरण्यायामपि वृत्तौ दोषोयमिति चेन्न, अभेदप्रतीतेः। अजीवा एव काया इति धर्मादीनामजीवत्वकायत्वाभ्यां तादात्म्यप्राधान्ये तयोः सामानाधिकरण्योपपत्तेः।

"अजीवकायाः" इस शब्द की अजीव हो रहे सन्ते जो काय हैं, इस प्रकार दोनों पदों के वाच्यार्थ के समान अधिकरण को बता रही कर्मधारय समास-वृत्ति हो रही है, यह विना कहेही शब्द और अर्थ की सामर्थ्य से जान ली जाती है। "समर्थः पदविधिः" पद-सम्बन्धी विधियां सामर्थ्य के

आश्रित हो रहीं समझ ली जाती हैं। दोनों पदोंके वाच्य अर्थों को प्रधान रखने वाली 'अजीवों के काय' यों षष्ठीतत्पुरुष वृत्ति करने पर तो अजीव और काय में कथंचित् भेद की विवक्षा होने पर भी केवल उत्तर पदार्थ-प्रधान मानी गयी तत्पुरुषवृत्ति में कायों की ही प्रधान रूप से भली प्रतीति होनेका प्रसंग होवेगा। अर्थात् 'अजीवोंके काय' यों तत्पुरुष करने पर अजीव अर्थ गौण पड़ जाता है और 'अजीव हो रहे जो काय' यों कह देने पर दोनों पदार्थोंकी प्रधानता रहती है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे "अजीवाश्च ते कायाश्च" यों विग्रह करते हुये "विशेषणं विशेष्येण" इस सूत्र द्वारा कर्म-धारय समास करने पर भी अजीवों को विशेषणपना हो जाने से समानाधिकरणपना स्थापन करने वाली कर्मधारयवृत्ति में भी यह दोष तदवस्थ है। अर्थात्-अजीव विशेषण है और काय विशेष्य है। यों समान अधिकरण होते हुए भी विशेष्य हो रहे कायों की ही समीचीन प्रतीति हो सकेगी। विशेषण हो रहा अजीवपना गौण पड़ जायगा और आप जैनों को दोनों की प्रधानता अभीष्ट है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यहां अजीव और काय दोनों की अभेद की प्रतीति हो रही है "अजीव हो रहे ही जो काय हैं" इस प्रकार धर्म, अधर्म, आदिकोंके अजीवपन और कायपन करके तदात्मकपन की प्रधानता होने पर उन दोनों का समानाधिकरणपना बन जाता है। अजीवपन को छोड़कर कायपना जीव द्रव्य में है और कायपन को छोड़कर अजीवपना काल द्रव्य में है यों व्यभिचार की रक्षा करते हुये तथा अजीव को विशेषण बनाते हुये कर्मधारयवृत्तिका निर्वाह कर दिया जाता है परन्तु अजीवपना इन चार कायों में कायपना इन चार अजीवों में अभेद अनुसार ओत प्रोत प्रतीत हो रहा है, अतः इस सूत्र में दोनों भेदों की प्रधानता रखते हुये धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गलों का उद्देश्य कर युगपत् अजीवपन और तदभिन्न कायपन का विधान कर दिया गया है।

कायाः इत्येवास्तु इति चेन्न, जीवस्यापि कायत्वात् तद्व्यवच्छेदार्थत्वादजीवग्रहणस्य। धर्मादीनामजीवत्वविधानार्थत्वाच्च सूत्रस्य युक्तमजीवग्रहणं। तर्हि जीवा इत्येवास्तु इति चेन्न, कालाणुवत्प्रदेशमात्रत्वनिराकरणार्थत्वात् कायग्रहणस्य। अन्यथा तेऽस्तिकाया इति सूत्रांतरारंभप्रसंगात्। जीवानां कायत्वविधानार्थमारंभणीयमेव सूत्रांतरमिति चेत्, नारंभणीयं, असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानामित्यत एव जीवानां प्रदेशबाहुल्यसिद्धेः कायत्वविधानात् तर्हि धर्माधर्मयोस्तत एव, आकाशस्यानंता इति वचनादाकाशस्य, संख्येयासंख्येयानताश्च पुद्गलानामिति वचनात् पुद्गलस्य कायत्वविधानसिद्धेरपार्थकं कायग्रहणमिति चेन्न, ततो धर्मादिप्रदेशानामियत्ताविधानात्। तर्हि जीवस्यापि ततोऽसंख्येयप्रदेशत्वविधानान्न कायत्वविधिरिति चेन्न, ततो जीवस्य कायत्वानुमानात्। न चात्र धर्मादीनां कायत्वविधाने तत्र जीवस्य कायत्वमनुमातुं शक्यमिति युक्तमिह कायग्रहणं। अस्तिकायो जीवः प्रदेशेयत्ताश्रयत्वाद्धर्मादिवदित्यनुमानप्रवृत्तेः अन्यथा दृष्टान्तासिद्धेः।

यहां कोई प्रतिवादी कटाक्ष करता है कि अजीव नहीं कह कर विधेय दल में 'कायाः' इतना ही एक पद रखो वृत्ति आदिका दण्ड स्वतः मिट जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जीवको भी असंख्यात-प्रदेशी होने से कायपना है, अतः अजीवों का संग्रह करते समय उस

जीव का व्यवच्छेद करने के लिये अजीव पद का ग्रहण किया गया है। दूसरी बात यह भी है कि धर्म आदिकों के अजीवपन का विधान करने के लिये यह सूत्र है, अतः अजीव का ग्रहण करना युक्तिपूर्ण है अर्थात्—ब्रह्माद्वैतवादी सबको जीव-आत्मक ही स्वीकार करते हैं उनके प्रति धर्मादिकों में अजीवपन का प्रतिपादन करना सूत्रकारको आवश्यक पड़ गया है। परोपकारी आचार्य महाराज सूत्रों द्वारा अज्ञात प्रमेयों का ज्ञापन कराते हैं। यदि वह प्रतिवादी फिर यों कहे कि तब तो 'अजीवाः' इतना ही विधेय दल रहो, काय ग्रहण की सूत्र में कोई आवश्यकता नहीं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि धर्मादिकों में एक—प्रदेशी या अप्रदेश कालाणु के समान प्रदेशमात्रपन का निराकरण करने के लिये सूत्रकार ने काय का ग्रहण किया है अन्यथा यानी यदि यहाँ काय का ग्रहण नहीं किया जाता तो "ते अस्तिकायाः" वे धर्म आदिक अस्तिकाय हैं इस प्रकार एक न्यारे दूसरे सूत्र के आरम्भ करनेका प्रसंग होता, इसी सूत्र में काय कह देने से उस गौरव दोष से बच जाते हैं। यदि प्रतिवादी यहां यों कहे कि जीवों के कायपनका विधान करने के लिये निराला सूत्र तो आरम्भ करने योग्य ही है, ऐसी दशा में लाघव कहाँ होसकेगा ? यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि हमको जीवों के कायपन का विधान करनेके लिये न्यारा सूत्र नहीं आरम्भ करना है "असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्" धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, और एक जीव द्रव्य के मध्यम असंख्यातासंख्यात प्रमाण असंख्याते प्रदेश हैं, इस सूत्र से ही जीवों के प्रदेशों की बहुलता की सिद्धि होजाने से कायपन का विधान होजाता है, अतः न्यारे सूत्र का आरम्भ नहीं करने से लाघव हुआ। पुनः प्रतिवादी बोल उठा कि तब तो उस ही सूत्र से धर्म और अधर्म द्रव्य के बहुत प्रदेश सिद्ध होय ही जांयगे, आकाश के अनन्त प्रदेश हैं इस सूत्रकार के वचन से आकाश के बहुत प्रदेश सध जायंगे तथा पुद्गलों के संख्याते असंख्याते और अनन्ते प्रदेश हैं इस सूत्रकार के वचन से पुद्गल के कायपन का विधान होना सधजाता है, अतः इस सूत्र में काय का ग्रहण करना व्यर्थ है। लाघव करने बैठे हो तो अच्छा लाघव करना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन "असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्, आकाशस्यानन्ताः, संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम्,, तीन सूत्रों करके धर्म आदि द्रव्यों के प्रदेशों का इतना नियतपरिमाणपना विधान कर दिया गया है।

प्रतिवादी बुरे ढंगसे पीछे पड़कर पुनः कहता है कि तब तो उस "असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानां" सूत्र से जीव के भी असंख्यात प्रदेशीपन का विधानमात्र होजाने से कायपन की विधि नहीं होसकेगी अर्थात् उस सूत्र से धर्मादिक के समान जीवके भी असंख्यात प्रदेशों की ही सिद्धि होगी, कायपन की सिद्धि नहीं होसकेगी। धर्मादिकों के कायपनके लिये जब यह सूत्र किया है तबतो जीव के कायपन की विधिके लिये न्यारा सूत्र बनाना ही पड़ेगा, लाघवकी चर्चा उड़ गयी।

आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस सूत्र से असंख्यात प्रदेशों की विधि होते हुये जीव के कायपनका अनुमान कर लिया जाता है। किन्तु इस सूत्र में यदि धर्म आदिकों के कायपन का विधान नहीं किया गया होता तो वहां "असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानां" इस सूत्र द्वारा जीवके कायपनका अनुमान नहीं किया जासकेगा, इस कारण यहां सूत्र में काय का ग्रहण करना उचित है।

जीव (पक्ष) अस्तिकाय है (साध्य) प्रदेशोंके बहुत से इतने परिमाण का आश्रय होने से (हेतु) धर्म, अधर्मआदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान की प्रवृत्ति होजाती है। अन्यथा यानी-यहां

काय का ग्रहण नहीं करने पर तो अस्तिकाय होरहे धर्मादि द्रव्य-स्वरूप दृष्टान्त की असिद्धि हो जाने से जीव को अस्तिकाय साधने वाला अनुमान नहीं प्रवर्त सकता था अतः इस सूत्र में काय का ग्रहण करना सार्थक है, तुच्छ लाघव को हम इष्ट नहीं करते हैं।

किमर्थं धर्मादिशब्दानां वचनं ? विभागविशेषलक्षणप्रसिद्ध्यर्थं। अस्तु नाम धर्माधर्माकाशपुद्गला इति शब्दोपादानात् विभागस्य प्रसिद्धिः, विशेषलक्षणस्य तु कथं ? तन्निर्वचनस्य लक्षणाव्यभिचारात् तद्विशेषलक्षणसिद्धिः। सकृत्सकलगतिपरिणामिनां सांनिध्यधानाद्धर्मः, सकृत्सकलस्थितिपरिणामिनां सांनिध्यधानाद्गतिविपर्यायादधर्मः, आकाशतेऽस्मिन् द्रव्याणि स्वयं वाकाशते इत्याकाशं, त्रिकालपूरणगलनात् पुद्गला इति निर्वचनं न प्रतिपक्षमुपयातीत्यव्यभिचारं सिद्धं।

यहां कोई प्रश्न करता है कि अजीव और काय शब्द का प्रयोग करना सूत्र में सार्थक समझ लिया, अब यह बताओ कि धर्म आदिक शब्दों का कथन सूत्रकारने किसलिये किया है ? इसका उत्तर आचार्य कहते हैं कि विभाग करके द्रव्योंके विशेष लक्षणों की प्रसिद्धिके लिये धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन शब्दों का सूत्रमें उपादान किया गया है।

पुनः किसीका आक्षेप है कि धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इस प्रकार शब्दों का उपादान करदेने से अजीव काय के विभाग की प्रसिद्धि भले ही हो जाय किन्तु उनके न्यारे न्यारे विशेष लक्षणोंकी सिद्धि भला किस प्रकार हो सकती है ? किसी का नाम ले देने मात्रसे इतरव्यावर्तक लक्षण नहीं बन जाता है। आचार्य महाराज इसका समाधान करते हैं कि उन धर्म आदि शब्दों की निरुक्ति कर प्राप्त हुये यौगिक अर्थका स्वकीय लक्षण के अनुसार कोई भी व्यभिचार दोष नहीं देखा जाता है अतः उन धर्म आदि के विशेष विशेष लक्षणों की सिद्धि हो जाती है। जैसे कि सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र शब्दों की निरुक्ति द्वारा ही निर्दोष लक्षण प्रसिद्ध हैं. हां सम्यग्दर्शन का निरुक्तिद्वारा प्राप्त हुआ 'समीचीन देखना' स्वरूप अर्थ इष्ट नहीं है, अतः सूत्रकारको रूढि अर्थ या पारिभाषिक अर्थ प्रकट करने के लिये न्यारा लक्षण-सूत्र कहना पड़ा था। जब तक निरुक्ति से लक्षण अर्थ लब्ध हो जाय तब तक लम्बी परिभाषा बनाना उचित नहीं है।

उसी ढंगसे धर्म आदिकों की कुछ विशेषणों के साथ निरुक्ति इस प्रकार करलेनी चाहिये कि गमन परिणाम से युक्त होरहे जितने भी जीव या पुद्गल हैं उन सबके युगपत् सन्निधान या सहकारिपन का धारण कर देने से धर्म द्रव्य कहा जाता है। भावार्थ-गमनमें उपादान कारण या प्रेरक निमित्त तो ये जीव पुद्गल ही हैं किन्तु गमन करने वाले सम्पूर्ण जीव पुद्गलों का युगपत् उदासीन कारण धर्मद्रव्य है "धृञ् धारणे,, धातुसे मन् प्रत्यय करदेने पर धर्म शब्द बनता है।

तथा कतिपय जीव, पुद्गल और धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन स्थितिपरिणामवाले सम्पूर्ण द्रव्योंके एक ही काल में सान्निध्य या सचिवपन का आधान कर देनेसे कारण अधर्म द्रव्य कहा जाता है, यह अधर्म द्रव्य उस गति से विपर्यय कर देनेके कारण अधर्म कहा जाता है। अधर्म शब्द में पड़ा हुआ नञ् शब्द विपरीत अर्थ का प्रतिपादक है, पुद्गल द्रव्य बने हुये पुण्य पापों से ये धर्म, अधर्म द्रव्य सर्वथा विलक्षण हैं। पारिभाषिक या सांकेतिक शब्दों में आनुपूर्वी का सादृश्य मिलाते रहना ठलुआओंका अप्रासंगिक कर्तव्य है।

किन्हीं आचार्यों के मतानुसार गति पूर्वक स्थिति परिणामवाले जीव और पुद्गल ही यहां ग्रहण करने योग्य माने गये हैं। आकाश की निरुक्ति यों है कि जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य युगपत् अवकाश पाते रहते हैं अथवा स्वयं आकाश भी जिसमें अवगाह पाजाता है, अतः वह अत्यन्त परोक्ष पदार्थ आकाश है। तथा तीनों कालों में पूर जाना या गल जाना होते रहनेसे ये पुद्गल हैं। इस प्रकार धर्म आदि चार शब्दों की निरुक्ति प्रतिपक्ष यानी विपक्ष में नहीं प्रवर्तती है, इस कारण निरुक्ति द्वारा प्राप्त हुआ अर्थ ही व्यभिचार दोष से रहित होरहा विशेषलक्षण सिद्ध हो जाता है।

यहां यह कहना है कि उदासीन कारण, प्रेरक कारण, और उपादानकारण इनकी शक्तियों में न्यूनता या अधिकता की पर्यालोचना करना व्यर्थ है, सभी अनन्त शक्तियों को धारते हैं।

कालस्याजीवत्वेनोपसंख्यानमिह कर्तव्यमिति चेन्न, तस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। ततो धर्माधर्माकाशपुद्गलाः कालश्चेति पंचैवाजीवपदार्थाः प्रतिपादिता भवंति। तेन प्रधानमेवाजीवपदार्थो धर्मादीनामशेषाणामजीवानां प्रधानरूपत्वादिति न सिद्धं तेषां पृथगुपलब्धेः।

यहां किसी प्रतिवादी का आक्षेप है कि काल द्रव्य का भी इस सूत्र में अजीवपन करके कथन करना चाहिये अन्यथा सूत्रकार की त्रुटि समझी जावेगी, सूत्रकार की भूल होजाने पर वार्त्तिककार को उचित है कि वे उस क्षति को पूरा करने के लिये नवीन वार्त्तिक बना देवें।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि स्वयं ग्रन्थकार "कालश्च" इस सूत्र द्वारा इस काल को आगे अन्यामें सु अजीव स्वरूप कहनेवाले हैं तिस कारण पांचवे अध्यायका पूरा प्रकरण होजाने पर "धर्म अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल ये पांचोंही द्रव्य अजीव पदार्थ समझा दिये-गये होजाते हैं और वैसा होजाने से सांख्यों का यह मन्तव्य सिद्ध नहीं हो पाता है कि एक प्रधान (प्रकृति) ही अजीव पदार्थ है क्योंकि धर्मादिक सम्पूर्ण अजीव प्रधान स्वरूप ही हैं। बात यह है कि उन धर्म, अधर्म आदिकों की न्यारी न्यारी उपलब्धि होरही है, अतः विरुद्ध होरहे धर्मआदिक पांच द्रव्य भला एक प्रकृति रूप कथमपि नहीं हो सकते हैं।

प्रधानाद्वैते दृष्टेन स्वयमिष्टेन च बाधसद्भावात्। नहि प्रधानमेकमुपलभामहे अन्तर्बहिश्च भेदानामुपलब्धेः। न चैषा भ्रांतभेदोपलब्धिर्बाधकाभावात्। प्रधानाद्वैतग्राहकमनुमानं बाधकमिति चेन्न, तस्य तदभेदे तद्वदसिद्धत्वात्तत्साधकत्वाभावाद् भेदोपलब्धिबाधकत्वायोगात्। ततो भेदे द्वैतसिद्धिप्रसंगात्। पराभ्युपगमादनुमानं तत्साधकंभेदोपलब्धेश्च बाधकमिति चेन्न, पराभ्युपगमस्याप्रमाणत्वात्। तत्प्रमाणत्वे भेदसिद्धेरवश्यंभावात्। ततः प्रधानाद्वैते निर्बाधं दृष्टविरोधः। तथेष्टेन च महदादिविकारप्रतिपादकागमेन तद्बाधोस्ति, तस्याविद्योपकल्पितत्वे प्रधानाद्वैतसिद्धिरपि ततो न स्यात्, न च प्रत्यक्षानुमानागमागोचरस्यापि प्रधानस्य स्वतः प्रकाशमचेतनत्वादिति न तद्रूपता धर्मादीनां।

दूसरी बात यह है कि आत्म-भिन्न सम्पूर्ण चर, अचर, पदार्थों को एक प्रधान-अद्वैत स्वरूप मानने पर तुम सांख्यों के यहां स्वयं दृष्ट और इष्ट प्रमाणों से बाधायें उपस्थित हो जावेंगी। देखिये

प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हम तुम सब एक प्रधान को ही नहीं देख रहे हैं क्योंकि सुख, दुःख, द्वेष, प्रयत्न, आदि अन्तरङ्ग और घट, पट आदि बहिरंग भिन्न-भिन्न हो रहे पदार्थों की उपलब्धि हो रही है पदार्थों का भिन्न-भिन्न प्रतिभास करने वाली यह उपलब्धि भ्रान्ति ज्ञान नहीं है क्योंकि कोई बाधक प्रमाण सन्मुख उपस्थित नहीं है।

यदि कापिल यों कहें कि "त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि," अविवेक्यादिः सिद्धस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात्, भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च, इत्यादि ग्रन्थ द्वारा हमारे पास प्रधान के अद्वैत का ग्राहक अनुमान प्रमाण विद्यमान है जो कि तुम्हारी भेद-उपलब्धि का बाधक है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस अनुमान को यदि उस प्रधान से अभिन्न मानोगे तो उस प्रधान के समान अनुमान की भी असिद्धि हो जाने से अनुमान को उस प्रधानाद्वैत के साधकपन का अभाव हो जावेगा, अतः वह अनुमान हमारी भेदोपलब्धि का बाधक नहीं हो सकेगा।

अर्थात्—जब प्रधानाद्वैत ही असिद्ध है तो उससे अभिन्न माना गया अनुमान भी असिद्ध है हां यदि उस प्रधान से अनुमान को भिन्न मानोगे तो उक्त दोष यद्यपि टल गया किन्तु अपसिद्धान्त हो गया, अद्वैत को साधते हुये तुम्हारे यहां प्रधान और अनुमान यों द्वैत पदार्थों की सिद्धि हो जाने का प्रसंग आबैठा। यदि तुम कापिल यों कहो कि दूसरे विद्वान् जैन या नैयायिकों के स्वीकार करने से न्यारे अनुमान को उस प्रकृति अद्वैत का साधक और जैनों की भेद-उपलब्धि का बाधक कह दिया है वस्तुतः हमारे यहां अनुमान प्रकृति-आत्मक ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि दूसरे के स्वीकार करने को तुमने प्रमाण नहीं माना, यदि उसको प्रमाण मान लोगे तब तो तुम और दूसरे अथवा दूसरों के माने हुये अनेक तत्वों के स्वीकार करलेने से भिन्न-भिन्न पदार्थों की सिद्धि अवश्य हो जावेगी, तिस कारण प्रधान का अद्वैत मानने पर कापिलों के यहां बाधा-रहित होकर इष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाणों से विरोध आया। तथा इष्ट अनुमान प्रमाण करके महत् अहंकार, तन्मात्रायें आदि विकारों के प्रतिपादक आगम प्रमाण करके भी उस प्रधानाद्वैत की बाधा है।

यदि उन भिन्न भिन्न अनुमान, आगम, या महदादि विकारों को झूंठी अविद्यासे गढ़ लिया गया मान लोगे तो उस अनुमान या आगम प्रमाण से तुम्हारे अभीष्ट प्रधानाद्वैत की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम प्रमाणों के विषय नहीं हो रहे भी प्रधान का स्वयं प्रकाश, स्वरूप स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता है क्योंकि कापिलों ने प्रधान को अचेतन माना है किसी भी अचेतन पदार्थ का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इस कारण धर्म आदि द्रव्यों को उस प्रधान का स्वरूप हो जाना उचित नहीं है।

एतेन शब्दाद्वैतरूपता प्रतिषिद्धा पुरुषाद्वैतरूपतायां तु तेषामजीत्वविरोधः। न च पुरुष एवेदं सर्वमिति शक्यव्यवस्थं पुरस्ताज्जीवसिद्धिविधानात्।

इस उक्त कथन करके धर्म आदिकों का शब्दाद्वैत स्वरूपपना निषेधा जा चुका समझ लेना चाहिये शब्दाद्वैत पक्ष में भी इष्ट और इष्ट प्रमाणों से बाधा आती है अर्थात्—धर्म आदिक यदि शब्द-स्वरूप होते तो कानों से सुनने में आते किन्तु ऐसा नहीं है तथा पाषाण, अग्नि आदि शब्दों का अर्थ के साथ अभेद मानने पर कान के फूट जाने या जलजाने का प्रसंग आवेगा जब कि अर्थ से शब्द

अभिन्न माना जा रहा है। इसी प्रकार धर्म, अधर्म आदिकों को पुरुषाद्वैत स्वरूप होने पर तो उन धर्मादिकों के अजीवपन का विरोध आवेगा, आत्म-स्वरूप पदार्थ चेतनात्मक होते हैं, अजीव नहीं। ब्रह्माद्वैतवादी ये 'सब ग्राम, बाग, पर्वत, घट, पट, आदिक ब्रह्म-स्वरूप ही हैं',इस सिद्धान्त की व्यवस्था नहीं कर सकते हैं क्योंकि प्रथम अध्याय में "जीवाजीवास्रव", सूत्रका व्याख्यान करते समय पहले अजीव को सिद्धिका विधान किया जा चुका है। प्रत्यक्ष-सिद्ध हो रहे अनेक चेतन, अचेतन, पदार्थों का अपलाप करना उचित नहीं है।

पृथिव्यप्तेजोवायुमनोदिक्कालाकाशभेदरूपताप्यजीवपदार्थस्यायुक्तैव, पृथिव्यप्तेजोमनसां पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वाज्जात्यंतरत्वासिद्धेः। पृथिव्यादयः पुद्गलपर्याया एव भेदसंघाताभ्यामुत्पद्यमानत्वात्। ये तु न पुद्गलपर्यायास्ते न तथा दृष्टाः यथाकाशादयः भेदसंघाताभ्यामुत्पद्यमानाश्च पृथिव्यादय इति न ततो जात्यंतरं। विभागसंयोगाभ्यामुत्पद्यमानेन शब्देन व्यभिचार इति चेन्न, तस्यापि पुद्गलपर्यायत्वात्। तदपर्यायत्वे तस्य बहिःकरणवेद्यत्वविरोधात् न च भेदो विभागमात्रं, स्कंधविदारणस्य भेदशब्देनाभिधानात्। नापि संघातः संयोगमात्रं, मृत्पिंडादीनां स्कंधपरिणामस्य संघातशब्दवाच्यत्वात्। न च ताभ्यामुत्पद्यमानत्वमपुद्गलपर्यायस्य ज्ञानादेरस्ति येनानैकांतिको हेतुः स्यात्।

वैशेषिक नौ द्रव्यों में से पृथिवी, अप, तेज, वायु, मन, दिक्, काल, आकाश, इन आत्मभिन्न आठ द्रव्यों को अजीव पदार्थ मानते हैं आचार्य कहते हैं कि यों अजीव पदार्थ का पृथिवी आदि आठ भेद स्वरूप होना भी युक्तिरहित ही है क्योंकि पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन ये पांच स्वतंत्र द्रव्य नहीं हैं, पुद्गल द्रव्य की विशेष पर्याय होने से इनको न्यारी न्यारी जाति का द्रव्यपना असिद्ध है, इसमें युक्ति यह है कि पृथिवी आदिक (पक्ष) पुद्गल के विकार नहीं हैं (साध्य) भेद और संघात से उपज रहे होने से (हेतु) जो पुद्गल के पर्याय नहीं हैं वे तो तिस प्रकार भेद और संघात से उपज रहे नहीं देखे जा रहे हैं जैसे कि आकाश आत्मा, आदिक पदार्थ हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) भेद और संघात से उपजरहे पृथ्वी आदिक हैं उपनय इस कारण वे पुद्गल की पर्याय ही हैं, उस पुद्गल से न्यारी जाति के तत्वान्तर नहीं हैं (निगमन)।

इस अनुमान में कोई वैशेषिक पण्डित अनैकान्तिक हेत्वाभास उठाता है कि कणादप्रणीत वैशेषिक दर्शन का सूत्र है "संयोगादिविभागाच्च शब्द-निष्पत्तिः" बांस को चीरते समय या कपड़े को फाड़ते समय विभाग से शब्द उपजता है तथा ताली, घन्टा, घड़ियाल बजाते समय या लोहा कांसा आदि को पीटते समय संयोग से शब्द उत्पन्न होता है, शब्द तो गुण है, पुद्गल का पर्याय नहीं है, अतः विभाग और संयोगसे उपजरहे शब्द करके तुम जैनों के हेतु का व्यभिचार हुआ। हेतु रहगया साध्य नहीं रहा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वह शब्द भी पुद्गलसे उपादेय हो रहा पुद्गल की पर्याय है। यदि उस शब्द को उस पुद्गल की पर्याय नहीं माना जावेगा तो बहिरंग श्रोत्र इन्द्रिय करके उस शब्द के जानने योग्यपन का विरोध हो जावेगा। स्पर्शन आदि पांच बहिरंग इन्द्रियों करके पुद्गलपर्याय ही जाने जाते हैं अर्थात्—फोनोग्राफ के तवा या चूड़ी पर पौद्गलिक शब्द ही जमाया जा सकता है, टेलीग्राम या टेलीफान में पौद्गलिक शब्द ही पौद्गलिक बिजली करके

फेंका जाता है, घनगर्जन या बड़ी तोप के शब्दों से तो कान बहिरे या गर्भपात, हृदयकंप आदि विपत्तियां उपज जाती हैं, ये कृत्य पुद्गलपर्याय से ही सम्भवते हैं, गुण से नहीं। हेतु में पड़े हुये भेद का अर्थ केवल विभाग नहीं है, पुद्गल पिण्डस्वरूप स्कन्ध के विदारण को भेद शब्द करके कहा जाता है तथा संघात का अर्थ भी केवल संयोग ही नहीं है किन्तु यही, चून, के पिण्ड या तन्तु आदिके स्कन्धभूत, परिणाम को संघात शब्द करके कहा गया है, टुकड़े होजाने को और मिल जाने को स्थूल रूप से भेद और संघात का अर्थ समझ लेना चाहिये। जो ज्ञान सुख, आदिक पदार्थ पुद्गल पर्याय नहीं हैं इन को उन भेद और संघात से उपजरहापन नहीं है जिससे कि हमारा हेतु व्यभिचारी होजाय अर्थात्—भेद और संघात से उपजरहापन हेतु निर्दोष है। अपने साध्य किये गये पुद्गलपर्यायपन को सिद्ध कर ही देता है।

भेदात् पृथिव्यादीनामुत्पत्त्यसंभवादसिद्धो हेतुरिति चेन्न, घटादिभेदात्कपालाद्युत्पत्तिदर्शनात् द्व्यणुकभेदादपि परमाणूत्पत्तिसिद्धेः। यथैव हि तंत्वादिसंघातान्वयव्यतिरेकानुविधानात् पटादीनां तत्संघातादुत्पत्तिरभ्युपगम्यते तथा पटादिभेदान्वयव्यतिरेकानुविधानात्तंत्वादीनामात्मलाभात्तद्भेदादुत्पत्तिः सुशकाभ्युपगंतुम्। पटादिभेदाभावेपि तत्त्वादिदर्शनान्न ततस्तदुत्पत्तिरिति चेन्न, तस्यापि तंत्वादेः कर्पासप्रवेणीभेदादेवोत्पत्तिसिद्धेः।

यहां कोई वैशेषिक प्रतिवादी उक्त हेतु को स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास बताने का प्रयत्न करता है कि स्कन्धों का विदारण करने से पृथिवी आदिकों के उपजने का असम्भव है, अतः जैनों का हेतु पक्ष में नहीं वर्तने से असिद्ध है अर्थात्—जैन जहां भेद से खण्डपट, कपलिका आदि की उत्पत्ति मानते हैं वहां भी अवयवी के अवयव, पंचाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, द्वयणुक, परमाणु, इस क्रम से प्रलय हो कर पुनः द्वयणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक आदि की सृष्टिप्रक्रिया अनुसार ही खण्डपट, कपालिका, ठिकुच्ची आदि की उत्पत्ति भी संघात से ही होती है, भेद से तो नाश भले ही हो जाय, जो कोई छोटा टुकड़ा भी उपजेगा वह अपने उपादान कारण लघु अवयवोंके संयोगसे ही उत्पन्न होगा, अतः जैनों का हेतु असिद्ध है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि घट, गेहूँ, डेल आदि का विदारण कर देनेसे कपाल, चून, डेली, आदि पुद्गल पर्यायों की उत्पत्ति होरही देखी जाती है। द्वयणुक के भेदसे परमाणु की उत्पत्ति हो रही भी सिद्ध है, परमाणु की उत्पत्ति में भेदके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है जब कि परमाणु से छोटा कोई अवयव नहीं माना गया है, परमाणु नित्य द्रव्य नहीं है इसका प्रकरणवश निर्णय करा दिया जावेगा। देखो जिस ही प्रकार तन्तु, कनिक, आदि अवयवों के एकीभाव के साथ अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधान करने से पट लूण्ड़, आदि अवयवियों की उन अवयवोंके संघातसे उत्पत्ति होना स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार पट (थान) लक्कड़ चना, आदि अवयवियों के भेद के साथ अन्वय व्यतिरेकों का अनुविधान करने से तन्तु (सूत) चीपुटी, दौल, आदि अवयवों का आत्मलाभ होजाने के कारण उन अवयवियों के भेद से अवयवों की उत्पत्ति होना बहुत अच्छा स्वीकार किया जासकता है। कपड़ा फाड़ करके चीर चीर कर दिया जाता है, दुपट्टा काढ़ने के लिये लड़कियां कपड़े में से सूत निकाल लेती हैं।

यदि यहां वैशेषिक यों कहें कि पहिले पहिले उपजे हुये सूत की अवस्था में कपड़ा, थान,

आदि का भेद नहीं होते हुये भी तन्तु आदिक उपज रहे देखे जाते हैं, अतः उस भेदसे उन तन्तु आदिकों का उपजना नहीं बन पाता है, अतः स्वरूपासिद्ध नहीं तो भागासिद्ध दोष अवश्य लागू होगा।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस प्रथम ही प्रथम के तन्तु आदि का भी कपास (रूई) की बनी हुई पौनी का भेद होजाने से ही उपजना सिद्ध है। धुनी हुयी रूई के पिण्डों को भेद कर पौनी बनाई जाती है, पुनः चर्खा या तकली द्वारा पौनी को क्रम-पूर्वक छिन्न भिन्न कर के सूत बनाया जाता है।

यथाविधानां च तंत्वादीना पटादिभेदादुत्पत्तिरुपलब्धा तथाविधानां न तदभावे प्रतीयते इति नोपालंभः। समर्थयिष्यते च भेदात्परमाण्वादीनामुत्पत्तिः संघाताच्चेति नासिद्धो हेतुः, यतः पुद्गलपर्यायाः पृथिव्यादयो न सिद्धेयुः।

हां, कार्यकारण भाव का सूक्ष्मरूप से विचार करने पर निर्णीत होजाता है कि जिस प्रकार चपटे या ठारहे तन्तु आदिकों की उत्पत्ति पट आदिके भेद से ही होरही देखी गयी है उस प्रकार के होरहे कार्य भूत तन्तुओं आदि की उत्पत्ति उस पट आदि के भेद हुये बिना नहीं प्रतीत होती है, इस कारण हम जैनों के ऊपर कोई उलाहना या हेत्वाभास नहीं उठाया जा सकता है। सूत्रकार स्वयं भविष्य ग्रन्थ में कहेंगे और मुझ विद्यानन्द स्वामी करके उसका समर्थन किया जावेगा कि परमाणु की या महास्कन्धपूर्वक हुये लघुस्कन्ध आदि की उत्पत्ति भेद से ही होती है तथा लघु, महान् अनेक, पृथ्वी आदि स्कन्धों की उत्पत्ति संघात से हो रही है, इस कारण हम दोनों का हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं हैं जिससे कि पृथ्वी, जल आदिक कार्य पुद्गल द्रव्य के पर्याय नहीं सिद्ध हो सकें अर्थात् पृथ्वी जल, तेज, वायु और मन ये स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं किन्तु पुद्गल के पर्याय हैं।

दिशोपि नात्रोपसंख्यानं कार्यमाकाशेऽन्तर्भावात् ततो द्रव्यांतरत्वाप्रसिद्धेः।

वैशेषिकों ने नौ द्रव्यों में से जीव-भिन्न आठ द्रव्यों को स्वतंत्रतया अजीव द्रव्य स्वीकार किया है इन में पृथ्वी आदि पांच का पुद्गल पर्यायपना साध दिया गया है। अब दिशा द्रव्य का विचार करते हैं। वैशेषिक की ओर से कोई कहरहा है कि स्वतंत्र अजीव द्रव्य के प्रतिपादक इस सूत्र में दिशा द्रव्य का भी निरूपण करना चाहिये था, सूत्रकार भूल जांय तो वार्त्तिककार द्वारा दिशा द्रव्य का भी उपसंख्यान करना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि यह ठीक नहीं क्योंकि उसका आकाश में अन्तर्भाव आजाता है, अतः दिशा को उस आकाशसे निराले द्रव्यपन की प्रसिद्धि नहीं होपाती है, दिशा आकाशस्वरूप ही है।

स्यान्मतं, पूर्वापरादिप्रत्ययविशेषः पदार्थविशेषहेतुको विशिष्टप्रत्ययत्वात् दंड्यादिप्रत्ययवत्, योऽसौ विशिष्टः पदार्थस्तद्धेतुः सा दिग्द्रव्यं परिशेषादन्यस्य प्रसक्तस्य प्रतिषेधात् तो द्रव्यांतरमाकाशादिति। तदसत्, तद्धेतुत्वेनाकाशस्य प्रतिषेद्धुमशक्तेस्तत्प्रदेशश्रेणिष्वेवादित्योदयादित्वशात् प्राच्यादिदिग्व्यवहारप्रसिद्धेः। प्राच्यादिदिक्सम्बंधाच्च मूर्तद्रव्येषु पूर्वापरादिप्रत्ययविशेषोत्पत्तेर्न परस्परापेक्षया मूर्तद्रव्याण्येव तद्धेतवः। एकतरस्य पूर्वत्वासिद्धावन्यतरस्यापरस्यारत्वासिद्धेस्तदसिद्धौ चैकतरस्य पूर्वत्वायोगादितरेतराश्रयत्वात् उभयासत्वप्रसंगात्।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज

सम्भव है कि वैशेषिकों का यह मन्तव्य होय कि पूर्व, पश्चिम, आदिक होरहे ज्ञानविशेष (पक्ष) किसी विशिष्ट पदार्थ को हेतु मान कर उपजे हैं (साध्य) विशिष्ट प्रत्यय होने से (हेतु) दण्डी कुण्डली, आदि प्रत्ययों के समान (अन्वय दृष्टान्त)। जो कोई वह विशिष्टपदार्थ उस ज्ञान का हेतु होरहा है वह तो परिशेषन्याय से दिशा द्रव्य सिद्ध होजाता है क्योंकि प्रसंगप्राप्त होरहे अन्य आत्मा, आकाश, पृथ्वी आदि का प्रतिषेध कर दिया जाता है, तिस कारण आकाशसे निराला स्वतन्त्र द्रव्य दिशा को मानना चाहिये। अर्थात्--पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानों का कारण आत्मा नहीं होसकता है क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के अतिरिक्त ज्ञानों द्वारा पूर्व, पश्चिम, आदि की व्यवस्था हो रही है, यह इससे पूर्व है, यह यहां से पश्चिम है, इस ज्ञान का कारण आकाश भी नहीं है क्योंकि दिशाओं की आपेक्षिक परावृत्ति देखी जाती है। शब्द का समवायिकारण आकाश होता है, दिशा नहीं। पृथ्वी आदिक छह द्रव्य भी उक्त प्रत्यय के कारण नहीं हैं क्योंकि इन में विलक्षणता प्रतीत होरही है। अतः परिशेष से नवमा स्वतंत्र दिग्द्रव्य स्वीकार करना पड़ता है।

आचार्य कहते हैं। कि वैशेषिकों का यह मन्तव्य प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि उस पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानों के हेतुपने करके आकाश का निषेध करने के लिये अशक्ति है। उस आकाश की प्रदेश-श्रेणियों में ही सूर्य के उदय अस्त आदि के वश से पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं के व्यवहार प्रसिद्ध होजाते हैं। अर्थात्—सम्पूर्ण अलोकाकाश के ठीक मध्य में लोकाकाश विराजमान है। लोकाकाश का ठीक मध्य सुदर्शन मेरु की जड़ में विराज रहे आठ प्रदेश हैं। चार बरफियों के ऊपर रक्खे हुये चार बरफियों के समान उन आठ प्रदेशोंके छहू ओर परमाणु के समान नापलिये गये आकाश प्रदेशों की पंक्ति अनुसार छः दिशायें नियत होरही हैं। अथवा भ्रमण करते हुये सूर्यके उदय अस्त डेरी बाजू, सूधी लांग, ऊपर और नीचे अनुसार छह दिशायें स्वीकार करली जाती हैं, इस दूसरी व्यवस्था के अनुसार दिशाओंकी ढाई द्वीप में परावृत्ति होजाती है। बात यह है कि आकाश द्रव्य का मानना अवगाह देनेकेलिये आवश्यक ही है। आकाश के अतिरिक्त कोई निराला अनेक गुणों का पिण्ड दिशा द्रव्य नहीं है। सूर्यके उदय आदि के अधीन पूर्वदिशा, पश्चिम दिशा आदि व्यवहार प्रसिद्ध हो रहे हैं। तथा सूर्योदय की ओर बन गयी पूर्वदिशा आदि के सम्बन्ध से बनारस, पटना आदि मूर्त द्रव्यों में या सिन्धुनदी आदि में पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानविशेषों की उत्पत्ति होजाती है, अतः परस्पर की अपेक्षा करके मूर्त द्रव्य ही उन एक दूसरों में पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञान को उपजाने के कारण नहीं हैं। क्योंकि यदि मथुरा की अपेक्षा पटना को पूर्व में और पटना की अपेक्षा मथुरा को पश्चिम में जान लेना मथुरा, पटना, इन मूर्त द्रव्यों की अपेक्षा से ही होरहा माना जावेगा तो दानों में से एक के पूर्व पनकी नहीं सिद्धि होने पर शेष बचे हुये दूसरे का पश्चिमपना सिद्ध नहीं हो सकेगा और उस का पश्चिमपना सिद्ध नहीं होनेपर दो में से प्रकरण-प्राप्त इस एकका पूर्वपना नहीं बन सकता है, अतः अन्योन्याश्रय दोष होजाने से दोनों मूर्त द्रव्यों के पूर्व पश्चिमपन के असद्भाव का प्रसंग आवेगा इस कारण मूर्त द्रव्य से अतिरिक्त अखण्ड आकाश की प्रदेश श्रेणियों को दिशा द्रव्य मानकर मूर्त द्रव्यों में उस दिशा करके पूर्व पश्चिम आदि व्यवहारों को साध लेना चाहिये, वैशेषिकों के यहां दीधितिकार पण्डितजी तो दिशा को ईश्वर से अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानते हैं। किन्तु अचेतन दिशा का चेतन ईश्वर में अन्तर्भाव करना कठिन है। हां आकाश में सुलभतया अन्तर्भाव हो सकता है।

नन्वेवमाकाशप्रदेशश्रेणिष्वपि कुतः पूर्वापरादिप्रत्ययः सिद्ध्येत् ? स्वरूपत एव

तत्सिद्धौ तस्य परावृत्त्यभावप्रसंगात । परस्परापेक्षयता तत्सिद्धाविति इतरेतराश्रयणादुभयासक्तिः प्रसवतेरिति चेत्, दिक्प्रदेशेष्वपि पूर्वापरादिप्रत्ययोत्पत्तौ समः पर्यनुयोगः। द्रव्यांतरपरिकल्पनायामनवस्थाप्रसंगश्च । यथैव हि मूर्तद्रव्यमवधिं कृत्वा मूर्तेष्वेवेदमस्मात्पश्चिमेनेत्यादिप्रत्यया दिग्द्रव्यहेतुकास्ततो दिग्भेदमवधिं कृत्वा दिग्भेदेष्वेवेयमितः पूर्वा पश्चिमेयमित्यादिप्रत्यया द्रव्यांतरहेतुकाः सन्तु विशिष्टप्रत्ययत्वाविशेषात् तद्भेदेष्वपि पूर्वापरादि-प्रत्ययाः परद्रव्यहेतुका इत्यनवस्था । दिक्षु भेदेषु द्रव्यांतरमंतरेण पूर्वापरादिप्रत्ययव्योत्पत्तौ तेनैव हेतोरनैकांतिकत्वात्कुतो दिक् सिद्धिः ।

स्वपक्ष का अवधारण करते हुये वैशेषिक यहां कटाक्ष करते हैं कि इस प्रकार आकाश की प्रदेशपंक्तियों में भी पूर्व, पश्चिम आदि ज्ञान भला किस कारण से सिद्ध होयंगे बताओ ? यदि जैन यों कहैं कि आकाश के स्वकीय स्वरूप से ही आकाश की प्रदेश-श्रेणियों में उस पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञान होने की सिद्धि होजायगी, ऐसा कहने पर तो हम वैशेषिक कहते हैं कि उस पूर्व, पश्चिम, आदिके ज्ञानोंके परिवर्तन नहीं होसकने का प्रसंग आवेगा अर्थात्—मथुरा से पटना पूर्व है वे ही पूर्व दिशा के प्रदेश कलकत्ता की अपेक्षा पश्चिम दिशा सम्बन्धी हो जाते हैं, जो ही निषध पर्वतका पूर्वीय छोर यहां से पूर्व दिशा में है वही विदेह क्षेत्र वालों के लिये पश्चिमदिशा स्वरूप होकर बदल जाता है । यदि आकाशकी प्रदेशपंक्तियों में पूर्व, पश्चिम, दिशा को नियत करादिया जावेगा तो दिशाओं का बदलना नहीं होसकेगा ।

अब यदि जैन परस्पर की अपेक्षा आकाश प्रदेशो में पूर्व पश्चिमपन की सिद्धि करोगे तो तुम्हारे यहां भी इतरेतराश्रय दोष होजाने से दोनों अपेक्षकोंके अभाव होजाने का प्रसंग आता है ।

यों कटाक्ष हो चुकने पर आचार्य कहते हैं कि तुम वैशेषिकों के यहां दिशासम्बन्धी प्रदेशोंमें भी पूर्व पश्चिम, आदि ज्ञानों की उत्पत्ति में यह कुचोद्य समान रूपसे लागू हो जाता है अर्थात्-वैशेषिकों ने दिशा द्रव्य एक माना है "उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादि-व्यपदेशभाक्" उपाधियों के भेद से दिशा द्रव्य के छह या दश भेद कर लिये गये हैं यहां भी अन्योन्याश्रय दोष तदवस्थ है परस्पर में एक दूसरे की या मूर्त द्रव्य की अपेक्षा है । यदि मूर्त द्रव्यों में पूर्वापरादि का ज्ञान कराने के लिये दिशा द्रव्य को और दिशा द्रव्य में पूर्व, पश्चिमादि का ज्ञान कराने के लिये अन्य द्रव्यों की लम्बी कल्पना करते चले जावोगे तो वैशेशिकों के ऊपर अनवस्था दोष होजाने का प्रसंग आता है कारण कि जिस ही प्रकार मूर्त द्रव्य को अवधि करके मूर्त द्रव्यों में ही यह इससे पश्चिम दिशा-वर्त्ती है यह इससे उत्तरदिशावर्त्ती है । इत्यादिक ज्ञान वैशेषिकों के यहां दिशा द्रव्य को कारण मानकर उपज जाते हैं उसी ढंगसे दिशा द्रव्य के भेदों की अवधि कर, पूर्व, अपर, आदि दिशा भेदों में ही (भी) यह इससे पूर्व दिशा है और यह इससे पश्चिम दिशा है इत्यादिक ज्ञान अन्य द्रव्य को कारण मान कर हो जावो, क्योंकि विशिष्टज्ञानपना मूर्त द्रव्य और दिशा द्रव्योंको कारण मानकर हुये दोनों ज्ञानों में अन्तर रहित है तथा दिशाके उन भेदों में भी पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञान अन्य तीसरे द्रव्य को हेतु मान कर होजायंगे यों चौथे, पांचवे, आदि द्रव्यों को कारण मानते हुये अनवस्था दोष आता है । यदि आप वैशेषिक दिशाओं के भेदों में अन्य द्रव्य के विना ही पूर्व, पश्चिम आदि ज्ञानोंकी उत्पत्ति होने को मानेंगे तो उस करके ही तुम्हारे विशिष्ट प्रत्ययत्व हेतु का व्यभिचार दोष आता है, ऐसी दशा

में उस व्यभिचारी हेतु से दिशा द्रव्य की सिद्धि कैसे होसकती है ? अर्थात्—नहीं।

भावार्थ—जो दिशा द्रव्य के लिये उपाय विचार रक्खा है उसी से आकाश प्रदेश श्रेणियों के विषय में हुये अन्योन्याश्रय का परिहार हो जाता है प्रत्युत वैशेषिकों के ऊपर अनवस्था और व्यभिचार दोष अधिक आजाता है "इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्" इस वैशेषिक सूत्र द्वारा न्यारे दिशा द्रव्य को मानना अनुचित है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विषुवति दिने यत्र सवितोदेति स पूर्वो दिग्भागो, यत्रास्तमेति सोऽपर इति दिग्भेदेषु पूर्वापरादिप्रत्ययसिद्धौ गगनप्रदेशपंक्तिष्वपि तथैव तत्सिद्धिरस्तु किमत्र दिग्द्रव्यांतरकल्पनया तद्देशद्रव्यकल्पनाप्रसंगात्। अयमतः पूर्वो देश इत्यादिप्रत्ययस्य देशद्रव्यमंतरेणानुपपत्तेः पृथिव्यादिरेव देशं द्रव्यमित्ययुक्तं, तत्र पृथिव्यादिप्रत्ययोत्पत्तेः। पूर्वादिदिक्कृतः पृथिव्यादिषु पूर्वदेशादिप्रत्यय इति चेत्, पूर्वाद्याकाशकृतस्तत्रैव पूर्वादिदिक्प्रत्ययोस्त्विति व्यर्था दिक्कल्पना।

पन्द्रह मूहूर्त का दिन और पन्द्रह मुहूर्त की रात यों दिन रात जिस दिन समान हो जाते हैं छः छः महीने पीछे आने वाले उस विषुवान् दिन में जिस दिशा में सूर्योदय होता है वह भाग पूर्व दिशा सम्बन्धी है और उसी दिन जहाँ सूर्य अस्त होजाता है वह दिशाका अंश पश्चिम कहा जाता है, इस प्रकार वैशेषिक दिशाओं के भेदों में यदि पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानों के हो जाने की सिद्धि मानेंगे तब तो आकाश की प्रदेश-पंक्तिओं में भी तिस ही प्रकार दिन, रात, के अवसर पर सूर्यके उदय, अस्त, अनुसार उन पूर्वादि दिशाओं की सिद्धि हो जाओ, यहां व्यर्थ न्यारे दिशा द्रव्य की कल्पना करके क्या लाभ निकला ?

यदि इसी प्रकार लोक व्यवहार की थोड़ी थोड़ी भित्ति पर न्यारे न्यारे द्रव्यों की कल्पता की जावेगी तो देश द्रव्य की कल्पना करने का भी प्रसंग आयगा। देखिये यह इससे पूर्व देश है, यह देश इससे पश्चिम है, यह मालव देश है, इत्यादिक ज्ञानों का होना स्वतन्त्र देश द्रव्य के बिना नहीं बन सकता है। यदि वैशेषिक यों कहैं कि पर्वत, नदी आदि स्वरूप पृथिवी, जल, आदिक नियत द्रव्यही तो देश द्रव्य हैं, न्यारे देश द्रव्यको हमें माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह कहना अयुक्त है क्योंकि पृथिवी आदि द्रव्योंमें यह पृथिवी है, यह जल है, इत्यादि ज्ञान ही उपज सकते हैं, यह पूर्व देश है यह पश्चिम देश है ये विशिष्ट-ज्ञान तो पृथिवी आदिक से नहीं उपज पाते हैं। यदि वैशेषिक यों कहैं कि पूर्व आदि दिशाओं द्वारा पृथिवी आदिकों में पूर्व देश, दक्षिण देश, आदि ज्ञान कर दिये जाते हैं। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तबतो पूर्व आकाश या पश्चिम आकाश सम्बन्धी प्रदेश श्रेणियों द्वारा उन दिशाओं में ही पूर्व आदि दिशा के ज्ञान हो जाओ, इस अवस्थामें न्यारे दिशा द्रव्य की कल्पना करना व्यर्थ पड़ती है।

नन्वेवमादित्योदयादिवशादेवाकाशप्रदेशश्रेणिष्विव पृथिव्यादिष्वेव पूर्वापरादिप्रत्ययसिद्धेराकाशश्रेणिकल्पनाप्यनर्थिका भवन्विति चेत न, पूर्वस्यां दिशि पृथिव्यादय इत्याद्याधाराधेयव्यवहारदर्शनात्। पृथिव्याद्यधिकरणभूताया गगनप्रदेशपंक्तेः परिकल्पनस्य सार्थकत्वात्

गगनस्य प्रमाणांतरत्वतः साधयिष्यमाणत्वाच्च । ततो न धर्मादीनामजीवादीनां दिग्द्रव्यरूपतोपसंख्यातव्या ।

वैशेषिक अपने पक्षका अवधारण करनेके लिये आक्षेप करते हैं कि इस प्रकार तो सूर्यके उदय, अस्तमन, दायां, बायां, आदि के वश से ही आकाश की प्रदेश—श्रेणियों के समान पृथिवी आदिकों में ही परम्परा बिना आदित्य के उदय आदि से ही पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानों की सिद्धि हो जायगी, अतः आकाश के प्रदेशों की श्रेणियों की कल्पना करना भी व्यर्थ ही रहो । यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि पूर्व दिशा में पृथिवी, पर्वत, नदी आदिक हैं इत्यादिक न्यारे आधार और न्यारे आधेय अनुसार व्यवहार हो रहे देखे जाते हैं, अतः पृथिवी आदिकों का आश्रय हो रहीं आकाश के प्रदेशों की पंक्तियों की छहों ओर या दशों ओर कल्पना करना सार्थक है ।

दूसरी बात यह है कि अन्य अन्य तर्क, अनुमान, या आगम प्रमाणों से हम भविष्य ग्रन्थ में आकाश को साध देवेंगे, अतः सर्व द्रव्यों को युगपत् अवकाश होने के लिये आकाश द्रव्य का मानना कल्पित है । उसी की कल्पित श्रेणियों से दिशा के कर्तव्य का निर्वाह कर दिया जाता है । तिस कारण सूत्रोक्त धर्म आदि "अजीवकायों" को (में) अथवा जीव, अजीव, आदि तत्वोंको (में) एक स्वतन्त्र न्यारे दिग्द्रव्य स्वरूपपन का नहीं उपसंख्यान करना चाहिये अर्थात्—सूत्रकार ने द्रव्य या तत्वों के गिनाने में कोई त्रुटि नहीं रक्खी है, दिशा द्रव्य आकाश स्वरूप है ।

पृथिव्यादिरूपतात्स्कन्धस्वरूप एवाजीवपदार्थ इत्यप्ययुक्तं, धर्माधर्मादीनामपि ततो भिन्नस्वभावानामजीवद्रव्याणामग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात् । पुद्गलद्रव्यव्यतिरेकेण रूपस्कंधस्यासंभवाच्च सूक्तं धर्मादय एवाजीवपदार्था इति ।

यहां कोई चार्वाक या बौद्ध कहते हैं कि पृथिवी, पर्वत, नदी, जल, आदि पिण्ड-स्वरूप के समान रूपस्कंध स्वरूपी ही अजीव पदार्थ हैं, कोई न्यारा अमूर्त अजीव द्रव्य नहीं (यहां तावत् शब्द व्यर्थ दीख रहा है) ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना भी अयुक्त है क्योंकि उस रूपस्कन्ध से भिन्न स्वभाव वाले धर्म, अधर्म आदि अजीव द्रव्यों का भी अग्रिम ग्रन्थ में समर्थन किया जानेवाला है तथा पुद्गल द्रव्य के अतिरिक्त सौत्रान्तिकों के अभीष्ट हो रहे रूपस्कन्ध का असम्भव है, अतः धर्म आदिक ही अजीव पदार्थ हैं, इस प्रकार सूत्रकार ने इस सूत्रमें बहुत अच्छा कहा है, चार ये और कहे जाने वाले काल द्रव्य इन पांच द्रव्यों से अधिक या न्यून अजीव पदार्थ नहीं हैं ।

सूत्रकार महोदय के प्रति किसी विनीत पण्डित का प्रश्न है कि प्रायः सभी दार्शनिकों के यहां द्रव्यों की मुख्यता से तत्वों की व्यवस्था की गई है तथा "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" यहां द्रव्यों को कहा गया है वे द्रव्य कौन है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं—

द्रव्याणि ॥२॥

उक्त धर्म आदिक चार अजीवकाय माने जाचुके द्रव्य स्वरूप हैं अर्थात्—धर्म आदिक चार पदार्थ गुण या पर्याय स्वरूप नहीं हैं किन्तु अनेक अनुजीवी, प्रतिजीवी, आदि गुणों के अविष्व-

स्भाव पिण्ड-स्वरूप होरहे द्रवण क्रियापरिणत द्रव्य हैं, भविष्य में कहे जाने योग्य जीव और का को मिला कर छह द्रव्य होजाते हैं।

स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैर्द्रूयंते द्रवन्ति व तानीति द्रव्याणि, कर्मकर्तृसाधनत्वोपपत्तेः द्रव्यशब्दस्य स्याद्वादिनां विराधानवतारात्। सर्वथैकांतवादिनां तु तदनुपपत्तिर्विरोधात्। द्रव्यपर्यायाणां हि भेदैकांते न द्रव्याणां पर्यायैर्द्रवणं तथा स्वयमसिद्धत्वात्। सिद्धरूपैरेव हि देवदत्ताभिः प्रसिद्धसत्ताका ग्रामाद्रयो द्रूयमाणा दृष्टाः न पुनरसिद्धसत्ताकैरसिद्धसत्ताका वन्ध्यापुत्रादिभिः कूर्मरोमादय इति। न च द्रव्येभ्यः पर्यायाः पृथक्सिद्धसत्त्वाः पर्यायत्वविरोधात् द्रव्यांतरवत्-द्रव्यपरतंत्राणामेव स्वभावानां पर्यायत्वोपपत्तेः।

जिस प्रकार घृत, तैल जल, यथायोग्य आगे, पीछे, वह जाते हैं, उसी प्रकार स्व को और पर को कारण मान कर हुये उत्पाद और व्ययसे युक्त होरहे पर्यायों करके जो बहाये जारहे हैं। अथवा उन उन पर्यायों को वहाती हुयीं जो गमन कर रही हैं इस कारण वे द्रव्य हैं। द्रव्य शब्द के कर्म-साधनपना और कर्तृ साधनपना बनजाता है स्याद्वादियोंके यहां कोई विरोधदोष नहीं उतरता है। हां सर्वथा एकान्तवादियों के यहां तो विरोध होजाने से वह कर्मपना और कर्तृपना एक में नहीं बन पाता है।

अर्थात्—"द्रु गतौ" धातु से कर्म या कर्ता में यत् प्रत्यय करने पर द्रव्य शब्द बन जाता है नदी का पानी स्वयं नीचे को वह जाता है और नहर, वम्बा, आदि का जल इष्ट स्थानों पर नीचे की ओर बहा दिया जाता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य प्रतिसमय उत्पाद व्ययवाले अनेक पर्यायों को धारते हैं, कभी द्रव्य स्वतंत्र होकर पर्यायें द्रव्य के पराधीन होजाती हैं। और कदाचित् पर्यायें स्वतंत्र होकर द्रव्य की परतंत्रता विवक्षित होजाती है। रूक्ष भोजनको विशेष प्रयत्न करके लीला जाता है। किन्तु चिकना, पतला, भोज्यपदार्थ स्वयमेव लिल जाता है। इसी प्रकार पर्यायें द्रव्य को तीनों काल तक वहीं बहा रही हैं अथवा अन्वित द्रव्य ही अनेक पर्यायों में अनुगत होरहा तीनों काल बहा जा रहा है। अनेकान्त वादियोंके यहां विवक्षा अनुसार सब व्यवस्था बन जाती है।

यदि द्रव्य और पर्यायों का एकान्तरूपसे भेद मान लिया जावेगा तो द्रव्योंका पर्यायों करके अनुगमन होना नहीं बन सकेगा क्योंकि तिस प्रकार वे पर्यायें स्वयं असिद्ध हैं। आत्मलाभ कर चुके सिद्ध स्वरूप ही होरहे देवदत्त, जिनदत्त, आदिकों करके द्रवण या गमन किये जारहे वे ग्राम, नगर, आदि देखे जा चुके हैं जिनकी कि सत्ता प्रसिद्ध है। असिद्ध सत्ता वाले वन्ध्यापुत्र अश्वविषाण आदि करके अप्रसिद्धसत्तावाले कच्छपरोम, गगनकुसुम, आदिक प्राप्त हो रहे फिर नहीं देखे गये हैं। सर्वथा भेदवादियों के यहां द्रव्यो से सर्वथा पृथक् होरहे पर्यायो की सत्ता सिद्ध नहीं है क्योंकि यों पर्यायपन का विरोध हो जावेगा जैसे कि एक विवक्षित्त द्रव्य की पर्याय दूसरे अप्रकृत द्रव्य की पर्याय नहीं कही जाती है।

अर्थात्—धर्म द्रव्य की पर्याय ज्ञान नहींहै, कारण कि धर्मद्रव्यसे ज्ञान सर्वथा भिन्न है। उसी प्रकार अग्नि से उष्णता को सर्वथा भिन्न मानने पर उधर उष्णतारहित अग्नि मर जावेगी और इधर आधार रहित हो रही उष्णता नष्ट हो जावेगी, सिरको धड़से अलग कर देने पर वह मनुष्य

मरजाता है अथवा एक के धड़पर दूसरे के सिर को या दूसरे के धड़ पर एक के सिर को जोड़ देने से दोनों मर जाते हैं, इसी प्रकार सर्वथा भेद पक्ष में पर्याय और पर्यायी दोनों असत् हैं। दो अन्धों के मिल जाने पर भी रूप को देखने की शक्ति नहीं उपज पाती है। वस्तुतः द्रव्य के पराधीन होरहे स्वभावों को ही पर्यायपना बनता है जोकि कथंचित् तादात्म्य पक्ष में शोभता है सर्वथा भेद में नहीं।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पृथग्भूता अपि द्रव्यतो द्रव्यपरतन्त्राः पर्यायास्तत्समवायादिति चेन्न, कथचित्तादात्म्यव्यतिरेकेण समवायस्य निरस्तपूर्वत्वात्। पर्यायेभ्यो भिन्नानां द्रव्याणां च सद्भावसिद्धौ पर्यायपरिकल्पनावैयर्थ्यात्। कार्यनानात्वपरिकल्पनायां स्वाभिन्नपर्यायसंबंधनानात्वसिद्धितस्तन्निबंधनपर्यायांतरपरिकल्पनाप्रसंगात्। सुदूरमपि गत्वा पर्यायांतरतादात्म्योपगमे प्रथमत एव पर्यायतादात्म्योपगमे च न पर्यायैर्द्रव्याणि द्रूयंते कथंचिद्भिन्नानामेव प्राप्यप्रापकभावोपपत्तेः।

वैशेषिक कहते हैं कि द्रव्य से पृथग्भूत भी होरहीं किन्तु द्रव्योंके पराधीन होकर वर्तरहीं पर्यायें उस नियत द्रव्य की ही बखानी जाती हैं क्योंकि अयुतसिद्धि के अनुसार आत्मा में उन ज्ञान, आदि पर्यायों का या पृथिवी में रूप, रसादि पर्यायों का समवायसम्बन्ध होरहा है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, कारण कि कथंचित् तादात्म्यसम्बन्ध के अतिरिक्तपने करके समवाय सम्बन्ध का पूर्व प्रकरणों में निराकरण किया जा चुका है। अर्थात्—समवाय का अर्थ कथञ्चित् तादात्म्य है। कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध से जुड़ रहे पदार्थों में सर्वथा भेद नहीं बन पाता है।

एक बात यह भी है कि पर्यायों से सर्वथा भिन्न होरहे द्रव्यों के सद्भाव की सिद्धि यदि मानी जायगी तो वैशेषिकों के यहां पर्यायों की चारों ओर कल्पना करना व्यर्थ होजायगा अर्थात्-उष्णता से सर्वथा न्यारी यदि अग्नि रक्षित रह सकती है। तो पीछे अग्नि पर उष्णता का बोझ लादना निरर्थक है इस ढंगसे तो कोई किसी का आत्मभूत स्वभाव या स्वभावों का आत्मभूत आश्रय नहीं ठहर पायगा सर्व निराधार निराधेय होते हुये मारे मारे फिर कर नष्ट होजायंगे। यदि भेद-वादी वैशेषिक पर्यायों से द्रव्य को भिन्न मानने के लिये उनके अपने अपने नियत अनेक कार्यों की कल्पना करेंगे तबतो भिन्न भिन्न पर्यायों के अनेक सम्बन्धों की सिद्धि होजाने से पुनः उनके नियोजक कारण हुये अन्य पर्यायों की कल्पना करते रहने का प्रसंग आजाने से अनवस्था दोष आता है अर्थात्-भिन्न द्रव्यों की भिन्न पर्यायों को नियत करने के लिये नाना कार्य नियामक माने जांयगे, पुनः उन कार्यों के नियोजक सम्बन्ध अनेक माने जांयगे, सम्बन्ध भी भिन्न ही रहेंगे उनको नियत करने के लिये पुनः अन्य पर्यायों की आवश्यकता होगी, यों चाहे कितनी भी लम्बी पंक्ति बढा लीजाय अनवस्था दोष अनिवार्य है।

यदि वैशेषिक बहुत दूर भी जाकर अनवस्था के डर से अन्य पर्यायोंके साथ द्रव्य का तदात्मकपन स्वीकार कर लेंगे तो प्रथम से ही पर्यायोंके साथ द्रव्य का तदात्मकपन स्वीकार कर लिया जाय और ऐसा होने पर पर्यायों करके द्रव्य द्रवण करने योग्य यानी प्राप्त करने योग्य नहीं ठहर पाती है क्योंकि कथंचित् भिन्न होरहे पदार्थों में ही प्राप्यप्रापक भाव बनता है, सर्वथा भिन्नों में नहीं। देवदत्तको ग्राम की प्राप्ति होना भिन्न प्रकार का कार्य है। अतः भेद पक्षमें भी वह बन सकता है यों तो द्रव्यपन या वस्तुपन करके देवदत्त और ग्राम में भी अभेद माना जासकता है। किन्तु यहां द्रव्य और

सहभावी क्रमभावी, पर्यायोंमें पाया जारहा द्रवण स्वरूप प्राप्त होजाना या प्राप्त करलेना दो कथंचित् अभिन्न होरहे पदार्थों में ही घटित है।

स्याद्वादिनां तु भेदनयार्पणात् पर्यायाणां द्रव्येभ्यः कथंचिद्भेदे सति यथोदितपर्यायैर्द्रूयंते प्राप्यंते इति द्रव्याणि "कर्मणि यस्त्यो युज्यते" द्रवन्ति प्राप्नुवंति पर्यायानिति द्रव्याणीति च कर्तरि बहुलवचनादुपपद्यते। द्रव इव भवन्तीति द्रव्याणीति चैवार्थे द्रव्यशब्दस्य निपातनात्।

स्याद्वादियों के यहां तो भेद नय की विवक्षा करने से पर्यायों का द्रव्य से कथंचित् भेद होने पर पूर्व में कहे जा चुके अनुसार उत्पाद व्ययवाले पर्यायो करके जो द्रुत होते रहते हैं यानी प्राप्त किये जाते हैं इस कारण वे द्रव्य हैं, यों विग्रह करके कर्म में य प्रत्यय करना युक्त पड़जाता है 'द्रु' धातु से कर्म में य प्रत्यय करनेपर द्रव्य साधु बनालिया जाता है तथा जो द्रव्य स्वतंत्र होकर पर्यायों को द्रवण करते हैं। यानी प्राप्त करते हैं। इस कारण द्रव्य हैं, यों कर्त्ता में बहुल वचन से "य" प्रत्यय करना बन जाता है।

अर्थात्—कर्म में य प्रत्यय करना तो न्यायप्राप्त है बहुल शब्द का वचन होने से कहीं कहीं कर्त्ता में भी युट्प्रत्यय के समान य प्रत्यय कर लिया जाता है अथवा द्रु यानी काष्ठ के समान जो होते हैं इस कारण ये द्रव्य हैं यों इव यानी सदृश अर्थ में द्रव्य शब्द को निपातसे साध लिया जाता है अर्थात्—द्रव्यंभव्ये इस सूत्र से निपात करके द्रव्य शब्द साधुबनालिया जाता है जैसेगांठ या चिन्हों से रहित होरहा सुन्दर काठ मन चाहे मोंगरा, मुद्गर कड़ी टोड़ा, जुआ आदि किसी भी आकार से प्रकट कर लिया जाता है। सुडौल उत्तम पाषाण में से कैसी भी प्रतिमा उकेर ली जाती है। तिसी प्रकार द्रव्य भी स्वपर या अन्तरंग बहिरंग कारणों अनुसार उत्पाद व्ययवाले पर्यायों करके भव्य कर लिया जाता है।

द्रव्यत्वयोगाद्द्रव्याण्यत्यपरे, तेषां द्रव्यत्ववंतीति स्याद्दण्डीत्यभिधानवत्। अथाभेदोपचारः क्रियते यष्टियोगात् पुरुषो यष्टिरिति यथा तथापि द्रव्यत्वानीति स्यान्न तु द्रव्याणि।

द्रव्यत्व जाति का समवाय सम्बन्ध होजाने से पृथिवी आदिक नौ द्रव्य माने जाते हैं इस प्रकार कोई दूसरे विद्वान् नैयायिक या वैशेषिक कह रहे हैं। अाचार्य कहते हैं। कि उनके यहां धर्म आदि या पृथिवी आदि के साथ "द्रव्याणि" यह पद नहीं लगसकेगा भिन्न पृथिवी में भिन्न जातिका भिन्न सम्बन्ध होजाने से वे पृथिवी आदिक द्रव्यत्व जाति वाले हैं यों "द्रव्यत्ववन्ति" ऐसा प्रयोग होसकेगा जैसे कि सर्वथा भेद अनुसार दण्ड के योग से पुरुष के लिये दण्डवान् या दण्डी यह शब्द कहा जाता है। यदि वैशेषिक इस दोष से बचने के लिये यहां अब अभेद का उपचार यानी अभेद नहीं होते हुये भी पृथिवी आदिक नौ द्रव्य और द्रव्यत्व जाति में अभेद की कल्पना करें जैसे कि लकड़ी या छड़ी के योग से पुरुष को लकड़ी कह दिया जाता है, लाल चोला वाले पुरुषको अभेद के उपचार अनुसार लाल चोला कह दिया जाता है। तब तो हम जैन कहते हैं कि तौभी "पृथिव्यादीनि द्रव्यत्वानि" पृथिवी आदिक द्रव्यत्व हैं यह शब्द कह सकोगे किन्तु पृथिवी आदिक द्रव्य हैं अभेद उपचार करनेपर यों कथमपि नहीं कह सकते हो "यष्टिः पुरुषः" यहां अभेद उपचार करने से मतुप् ही तो उड़ाया गया है, तदनुसार यहां भी मतुप् को हटा कर द्रव्यत्वानि होना चाहिये।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्रव्यत्वाभावलक्षणाभावात् तच्च द्रव्यत्वं द्रवणं द्रव्यमिति द्रव्यशब्दाभिधेयमयि सामान्यं यदि सर्वगतामूर्तनित्यस्वभावं द्रव्येभ्यः सर्वथा भिन्नं तदा न प्रमाणसिद्धं, द्रव्येषु सदृशपरिणामस्यैव द्रव्यत्वाख्यस्यानुवृत्तप्रत्ययहेतुत्वोपपत्तेरित्यन्यत्र निरूपणात्। अथ तदेव सादृश्यं सामान्यं तदभिमतमेव पर्यायैर्द्रूयंत इति द्रव्याणीति वचनात् सादृश्यव्यंजनपर्यायत्वात्।

वैशेषिक पुनः अपना मत कहते हैं कि द्रव्य और द्रव्यत्व एक ही हैं क्योंकि द्रव्यत्व में द्रव्यपन के अभावका लक्षण विद्यमान नहीं है अतः वह द्रव्यपना द्रवण-भाव स्वरूप होरहा द्रव्य है इस कारण द्रव्य शब्द का वाच्य भी द्रव्यत्व सामान्य है तब तो "पृथिव्यादीनि द्रव्यत्वानि" कह दो या "द्रव्याणि" कह दो, एक ही अर्थ पड़ता है।

इस पर आचार्य कहते हैं कि वह द्रव्य या द्रव्यत्व रूप सामान्य भी सर्वव्यपक अमूर्त और नित्य स्वभाववाला माना जा रहा द्रव्यों से यदि सर्वथा भिन्न है तब तो वह प्रमाणों से सिद्ध नहीं है क्योंकि द्रव्यों में वर्तरहे सदृशपरिणाम को ही द्रव्यत्व इस नाम से कहा गया है, यह गौ है, यहगौ है, इस प्रकार के अनुवृत्त ज्ञानों के हेतुपने करके सदृश परिणाम ही स्वरूप गोत्व आदि सामान्य बन सकते हैं, इसका निरूपण अन्य प्रकरणों में या अतिरिक्त ग्रन्थों में किया जा चुका है, अब वैशेषिक यदि उस सदृशपन को ही सामान्य (जाति) पदार्थ कहेंगे तब तो हम जैनों को स्वीकार ही है। सिद्धान्त ग्रन्थों में ऐसा वचन है कि पर्यायों करके जो प्राप्त किये जारहे हैं इस कारण वे द्रव्य हैं ऐसी कर्मसाधन निरुक्ति कथन करदेने से द्रव्य शब्द साधु बन जाता है क्योंकि सदृशपरिणाम रूप व्यंजन पर्याय ही द्रव्यत्व पड़ता है सदृश परिणामों से अतिरिक्त अन्य गुण या पर्याय भी द्रव्य के आत्मभूत शरीर हैं।

धर्मादयोनुवर्तंते इति सामानाधिकरण्यात् द्रव्याणीति वचनात्। पुंल्लिगत्वप्रसंग इति चेन्न, आविष्टलिंगत्वाद्द्रव्यशब्दस्य वनादिशब्दवत्।

पूर्व सूत्र में कहे गये धर्मादिक शब्दों की यहां अनुवृत्ति कर ली जाती है इस कारण उनके साथ समानाधिकरणपना होने से "द्रव्याणि" ऐसा बहुवचन से इस सूत्रका निर्देश किया गया है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि उन धर्मादिकों का समानाधिकरणपने से जैसे यहां बहुवचन किया गया है उसी प्रकार पुल्लिंगपनका भी प्रसंग आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि द्रव्य शब्द अपने नियत लिंग को ग्रहण कर रहा आविष्टलिंग है जैसे कि वन, भाजन, पुण्य, आदि शब्द बहुव्रीहि समास के बिना अपने लिंग को कहीं छोड़ते हैं उसी प्रकार द्रव्य शब्द अपने गृहीत नपुंसकलिंग को नहीं छोड़ सकता है।

किं पुनरत्रानेन सूत्रेण कृतमित्याह—

कोई शिष्य पूछता है कि यहां सूत्रकार ने फिर इस सूत्र करके क्या क्या प्रयोजन सिद्ध किया है। इस प्रकार जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान--कार अगली वार्तिक को कहते हैं—

तद्गुणादिस्वभावत्वं द्रव्याणीतीह सूत्रतः।
द्रव्यलक्षणसद्भावात्प्रत्याख्यातमवेयते ॥ १ ॥

सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज ने "द्रव्याणि" इस सूत्र से धर्म आदिकों को आत्मा का गुणपना, अभावपदार्थपना, गुण-समुदायपना, गुणसंद्भाव, आदि उन स्वभावपन का निराकरण कर दिया है, ऐसा जान लिया जाता है क्योंकि पर्यायों करके द्रवे जायं या पर्यायों को सदा प्राप्त करते रहें इस द्रव्य के लक्षण का सद्भाव इन धर्म आदिकों में है।

धर्माधर्मयोरात्मगुणत्वादाकाशस्य च मूर्तद्रव्याभावस्वभावत्वान्न द्रव्यत्वमित्येके मन्यंते, तान् प्रति धर्मादीनां गुणभावस्वभावत्वमनेनात्र प्रत्याख्यातं निश्चीयते। न हि पुण्य-पापे धर्माधर्मौ भ्रमो नाप्याकाशं मूर्तद्रव्याभावमात्रं द्रव्यलक्षणयोगात् तेषां द्रव्यव्यपदेशसिद्धेः। कथमित्याह—

मार्गदर्शक:- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कोई एक विद्वान यों मान रहे हैं। कि वैशेशिक मतानुयायी तो धर्म और अधर्म को आत्मा का विशेषगुण स्वीकार करते हैं उनके यहां चौवीस गुणों में या आत्मा के चौदह गुणों में धर्म, अधर्म, (अदृष्ट) गिनाये गये हैं अतः आत्मा के गुण होने से धर्म, अधर्म, को द्रव्यपना नहीं माना जाता है। पृथिवी आदि नौ ही द्रव्य हैं तथा चार्वाक मत के अनुयायी आकाश को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मान कर मूर्तद्रव्यों का अभाव स्वरूप स्वीकार करते हैं। प्रसज्यवृत्ति से मूर्त द्रव्योंका तुच्छ अभाव आकाश पड़ता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि उन वैशेशिक या नैयायिकों तथा चार्वाक् या बौद्धोंके प्रति धर्म आदिकों का गुण स्वरूप भावस्वभावपना इस सूत्र करके यहां खण्डन कर दिया जा चुका निश्चय कर लिया जाता हैं हम ग्रन्थकार पुण्य और पाप को धर्म और अधर्म नहीं कह रहे हैं तथा मूर्त द्रव्यों के केवल अभाव को आकाश भी नहीं वखान रहे हैं क्योंकि द्रव्य के सिद्धान्तित लक्षण का सम्बन्ध होजाने से उन धर्म अधर्म, और आकाश को द्रव्य का व्यवहार होना युक्तियों से सिद्ध है। किस प्रकार है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य समाधान कहते हैं—

धर्माधर्मौ मतौ द्रव्ये गुणित्वात्पुद्गलादिवत् ।
तथाकाशमतो नैषां गुणाभावस्वभावता ॥ २ ॥
न हेतोराश्रयासिद्धिस्तेषामग्रे प्रसाधनात् ।
नापि स्वरूपतोसिद्धिर्महत्त्वादिगुणस्थितेः ॥ ३ ॥

धर्म और अधर्म (पक्ष) द्रव्य माने गये हैं (साध्य) गुणवान् होने से (हेतु) पुद्गल, आत्मा, आदि द्रव्यों के समान (अन्वय दृष्टान्त) तिसी प्रकार गुणवान् होने से आकाश भी द्रव्य है अतः इन धर्म, अधर्मों, को गुणस्वभावपना और आकाश को अभाव स्वभावपना नहीं माना जा सकता है। गुण-वान्पन हेतुके आश्रयासिद्ध दोष नहीं है क्योंकि उन अतीन्द्रिय धर्म, अधर्म और आकाशकी आगे ग्रन्थ में बहुत अच्छी सिद्धि करदी जावेगी अतः वस्तुभूत पक्ष के प्रसिद्ध होजाने पर हमारा हेतु आश्रयासिद्ध-हेत्वाभास नहीं है "पक्षे पक्षतावच्छेदकाभाव आश्रयासिद्धिः" तथा महापरिमाण, संख्या, संयोग गति-हेतुत्व, अस्तित्व, प्रमेयत्व आदि गुणों की स्थिति वर्त रही होने से गुणसहितपना हेतु स्वरूप से असिद्ध भी नहीं है अर्थात् गुणीपना हेतु पक्ष में वर्तरहा होने से स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं है (पक्षे हेत्वभावः स्वरूपासिद्धिः) सम्पूर्ण वादियों ने गुणवान् पदार्थों को द्रव्य स्वीकार किया है।

द्रव्यत्वे साध्ये धर्मादीनां धर्मिणामप्रसिद्धत्वाद्गुणित्वादित्यस्य हेतोराश्रयासिद्धत्वात्तत एव गुणित्वस्यासंभवात् स्वरूपासिद्धत्वं चेत्येके। तन्न सम्यक् तेषामग्रे प्रमाणतः साधनात् तत्र महत्त्वादिगुणस्थितत्वाच्च। ततः सूक्तं धर्मादयो द्रव्याणीति।

उक्त वार्त्तिकों का विवरण यों है कि कोई एक विद्वान् यहां दोष उठारहे हैं कि धर्म आदिकों का द्रव्यपना साध्य करने पर तो विलक्षण एक धर्मियों को अप्रसिद्ध होजाने से "गुणसहितपन" इस हेतु का आश्रयासिद्धपना है और तिस ही कारण से यानी अब पक्ष ही नहीं रहने से हेतु स्वरूपासिद्ध है। यों पक्ष में हेतु का सम्भव (सद्भाव) नहीं होने से गुणित्व हेतु स्वरूपासिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि विलक्षण एक विद्वान का यह कहना समीचीन नहीं है क्योंकि अगले ग्रन्थ में प्रमाणों से उन धर्म अधर्म, और आकाश का साधन कर दिया जावेगा अतः हमारा हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास नहीं है। तथा उन धर्म आदि तीनों में महत्त्व आदि गुणों की स्थिति होरही होनेसे गुणित्व हेतु स्वरूपासिद्ध भी नहीं है तिस कारण सूत्रकार ने इस सूत्र द्वारा यों बहुत अच्छा कह दिया है कि धर्म आदिक चार पदार्थ द्रव्य हैं अर्थात्-गुण या पर्याय अथवा स्वभाव एवं अविभागप्रतिच्छेद या अभावस्वरूप नहीं हैं किन्तु इन सबके तदात्मकपिंडभूत अखण्ड द्रव्य हैं "नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः। अविभाड्भाव--सम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा" यह गुरु जी समन्तभद्र स्वामी ने द्रव्य का लक्षण बहुत अच्छा कहा है तथा सिद्धान्त-चक्रवर्त्ती नेमिचन्द्र आचार्य ने "एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि। तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं" यों प्राम्नात किया है। अकलंक देव महाराज के राजवार्त्तिक में कहे गये द्रव्यलक्षण से तो ग्रन्थकार की परिपूर्ण सहानुभूति है, ये द्रव्य के लक्षण सब धर्मादि में सुघटित होरहे हैं।

अब क्या उक्त चार पदार्थ ही द्रव्य हैं ? अथवा क्या कोई अन्य पदार्थ भी द्रव्य है ? ऐसा प्रश्न प्रवर्तने पर अन्य द्रव्य का उपादान करने के लिये सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते हैं —

जीवाश्च ॥३॥

जो जीव चुके हैं, जीव रहे हैं, जीवेंगे वे अनन्तानन्त जीव पदार्थ भी द्रव्य हैं। यों पांच ये और कहे जाने वाले काल के साथ सम्पूर्ण द्रव्य छह हो जाते हैं।

द्रव्याणीत्यभिसम्बन्धः। तत्र बहुत्ववचनं जीवानां वैविध्यख्यापनार्थं।

पूर्व सूत्र में कहे गये "द्रव्याणि" इसका विधेय दल की ओर सम्बन्ध कर लिया जाता है। अतः जीवों का उद्देश्य कर द्रव्यपन का विधान कर लिया जाय। उन जीवों में बहुवचनपना तो जीवों के अनेकपन को प्रकट करने के लिये है अर्थात्—अद्वैतवादियों के समान जीव एक ही नहीं है किन्तु संसारी मुक्त, या त्रस स्थावर, सूक्ष्म बादर, आदि भेदों करके अपनी अपनी न्यारी न्यारी सत्ता को धार रहे अनन्तानन्त जीव हैं।

द्रव्याणि जीवा इत्येकयोगकरणं युक्तमिति चेन्न, जीवानामेव द्रव्यत्वप्रसंगात्। धर्मादीनामप्यधिकारात् द्रव्यत्वसंप्रत्यय इति चेन्न, द्रव्यशब्दस्य जीवशब्दावबद्धत्वाद्धर्मादिभिः

सम्बन्धयितुमशक्तेः। सत्यप्यधिकारे अभिप्रेतसम्बन्धस्य यत्नमन्तरेणाप्रसिद्धेः। च शब्दकरणात् तत्सिद्धिरिति चेत्, को विशेषः स्यादेकयोगकरणे ? योगविभाग तु स्पष्टा प्रतिपत्तिरिति स एवास्तु।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यहां कोई तर्क उठाते हैं कि पूर्ववर्त्ती "द्रव्याणि" और इस सूत्र को मिलाकर "द्रव्याणि जीवाः" इस प्रकार दोनों को जोड़कर एक सूत्र करना सूत्रकार को उचित था, दो सूत्र बनाने से और च शब्द डालने से गौरव होता है ? ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जीवों के ही द्रव्यपन का प्रसंग आवेगा अर्थात्—जीव ही द्रव्य हो सकेंगे, धर्म आदिक चार या पांच पदार्थ द्रव्य नहीं हो सकेंगे।

यदि तर्की यों कहे कि धर्म आदिकों का अधिकार चला आ रहा है अतः एक योग होने पर भी धर्मादिकों के द्रव्यपन का भी साथ में समीचीन प्रत्यय हो जाता है और "द्रव्याणि" यह बहुवचन भी तो किसी न किसी रोग की औषधि है। आचार्य कहते हैं कि यह भी तो नहीं कहना क्योंकि एक योग करने पर द्रव्य शब्द जब जीव शब्द के साथ सर्वाङ्गीण बंध जायगा ऐसा होने से उस द्रव्य शब्द का धर्मादिकों के साथ सम्बन्ध नहीं किया जा सकता है, अधिकार चला आ रहा होते हुये भी अभीष्ट पदार्थ के साथ किसी विवक्षित पद के सम्बन्ध करने की विशेष प्रयत्न के बिना लोक व्यवहार या शास्त्रव्यवहार में प्रसिद्धि नहीं है, अतः जीवों को ही द्रव्यपना सिद्ध हो सकेगा। रहा "द्रव्याणि" यह बहुवचन तो बहुत से जीवों को न्यारे न्यारे स्वतन्त्र द्रव्यपन का विधान करते हुये अनन्तानन्त जीव द्रव्यों की सिद्धि कराने के लिये सफल है।

यदि तर्क करने वाले तुम यों कहो कि इस सूत्र में "च" शब्द करने से धर्मादिकों के उस द्रव्यपन की सिद्धि कर दी जायगी, यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि ऐसी दशा में एक योग करने पर या दो सूत्र बनाने पर भला क्या अन्तर रहा ? अर्थात्—कुछ भी नहीं। साठ और तीन-बीसी का अर्थ एक ही है। प्रत्युत योगका विभाग कर दो सूत्र कर देने पर तो धर्मादिकों के द्रव्यपन की अधिक स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाती है इस कारण न्यारे दो सूत्र बनाकर वह योगविभाग करना ही अच्छा बना रहो यों "च" शब्द करना भी सार्थक हो जाता है।

किं पुनरनेन वा व्यवच्छिद्यते इत्याह—

कोई प्रश्न करता है कि प्रायः सभी सूत्र अनिष्ट हो रहे इतर धर्मों की व्यावृत्ति किया करते हैं, सूत्रकार ने इस सूत्र करके भला किसका व्यवच्छेद किया है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार समाधान को कहते हैं।

कल्पिताश्चित्तसन्ताना जीवा इति निरस्यते।
जीवाश्चेतीह सूत्रेण द्रव्याणीत्यनुवृत्तितः ॥१॥

यहां "जीवाश्च" इस सूत्र करके "द्रव्याणि" इस पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति कर देने से बौद्धों द्वारा माने गये कल्पित चित्त सन्तान जीव हैं, इसका निराकरण कर दिया जाता है। अर्थात्—बौद्ध जन अन्वित द्रव्य को स्वीकार नहीं करते हैं असत् का उत्पाद और सत् का विनाश मानते हुये प्रति-

क्षण एक एक विज्ञान परिणाम को उपज रहा स्वीकार करते हैं, उन अनेक ज्ञान-आत्मक चित्तों के कल्पित समुदाय या त्रिकाल सम्बन्धी कल्पित क्षणिक क्षणों की सन्तान को जीव मान बैठे हैं, उसका निराकरण करने के लिये अनेक गुणों के आश्रय हो रहे परमार्थ-भूत जीवों को भी वास्तविक अन्वित द्रव्यपना इस सूत्र द्वारा जताया गया है मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नह्यपरामृष्टभेदा निरन्वयविनश्वरचित्तक्षणा एव पूर्वापरीभूताः सन्ताना जीवाख्यां प्रतिपद्यत इति युक्तं, यतस्तेषां संवृत्या द्रव्यव्यवहारानुरोधतः प्रमाणतः प्रसिद्धान्वयत्वात् । प्रमाणं पुनस्तदन्वयप्रसाधकमेकत्वप्रत्यभिज्ञानं पुरस्तात्समर्थितमिति परमार्थसदेव द्रव्यत्वमनेन जीवानां सूचितं । ततः कल्पिताश्चित्तसन्ताना एव जीवा इत्येतन्निराकृतं वेदितव्यं ।

बौद्ध यों मान रहे हैं कि "अन्वय-रहित हो रहे विनाश-शील ऐसे विज्ञान परमाणुओंके क्षणिक क्षण ही वस्तुभूत हैं जो कि पहले पिछले समयों में आगे पीछे होचुके, हो रहे, हो गये इस ढङ्गसे स्वतन्त्र अकेले अकेले अपने अपने काल में हैं, जिस प्रकार भिन्न सन्तानों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार एक सन्तान मानी जा रही स्वलक्षणों की लम्बी पंक्ति में एक दूसरे का कोई सम्बन्ध नहीं है, परस्पर में सर्वथा भेद पड़ा हुआ है। भेद पड़े होते हुये भी मिथ्या वासनाओं के अनुसार उस भेदका परामर्श नहीं किया गया है अतः समूल-चूल नष्ट हो गये, वर्तमान क्षण में वर्त रहे, और सर्वथा नवीन ढंग से उपजने वाले, ऐसे पहिले पिछले अनेक निरन्वय क्षणिक सन्तानी स्व में पड़े हुये भेद की नहीं विवक्षा करने पर जीव नामक संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं, अतः जीव पदार्थ कल्पित है, न्यारे न्यारे चित्तक्षण ही अकेले अकेले वस्तुभूत हैं।"

आचार्य कहते हैं कि यह बौद्धों का कहना युक्तियों से पूर्ण नहीं है, जिस कारण से कि उन जीव नामक सन्तानों का तुम्हारा यहां व्यवहार या झूंठी कल्पना करके द्रव्यपन के व्यवहार की अनुकूलता से प्रमाणों द्वारा अन्वय प्रसिद्ध हो जायगा अर्थात्--जीवों में द्रव्यपना तुम संवृति से स्वीकार करोगे उसी समय समीचीन युक्तियों द्वारा पूर्वापर अनेक पर्यायों में अन्वितपना अच्छा सिद्ध कर दिया जायगा उस अन्वय को अच्छा साधने वाले एकत्व ग्राहक प्रत्यभिज्ञान के फिर प्रमाणपनका पहिले प्रकरणों में समर्थन किया जा चुका है, इस कारण जीवों का द्रव्यपना वास्तविक सद् ही है।

इस बात को इस सूत्र करके सूचित किया गया है और तैसा हो जाने से "कल्पित चित्त सन्तान ही जीव है" इस प्रकार के इस बौद्ध मन्तव्य का निराकरण कर दिया गया समझ लेना चाहिये "एकसन्तानगाश्चित्तपर्यायास्तत्वतोन्विताः । प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्मृत्पर्याया यथेदृशाः" इत्यादि पहिले वार्त्तिकों का अध्ययन करलो।

पृथिव्यादीन्येव द्रव्याणि न जीवास्तेषां तत्समुदायोत्थजीवत्कायात्मकत्वात्, चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति वचनात् द्रव्यांतरत्वानुपपत्तेरित्यपरः, सोपि तेनैव पराकृत इत्यावेदयति ।

यहां चार्वाक बोल उठे कि पृथिवी आदिक ही चार द्रव्य हैं जीव कोई तत्वान्तरभूत द्रव्य नहीं है क्योंकि वे जीव तो उन पृथिवी, जल, तेज, वायु, के विशिष्ट समुदाय से उपजे हुये काय-आत्मक

हैं। हमारे ग्रन्थों में ऐसा कहा है कि चैतन्य नामक परिणति से विशिष्ट हो रहा यह शरीर ही आत्मा है, अतः जीवों को पृथिवी आदिक से निराला स्वतन्त्र द्रव्यपना युक्तियों से नहीं बन पाता है। अर्थात्-पिठी, गुड़, महुआ, पानी, इनके सड़ाने से मदशक्ति नवीन उपज जाती है, उस मद शक्ति से युक्त हो रहा मद्य उक्त चार पदार्थों से कोई निराला तत्व या द्रव्य नहीं है, इसी प्रकार "पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्वानि" "तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा तेभ्यश्चैतन्यं" यह चैतन्य के उपजने की पद्धति है।

उस चैतन्य से युक्त हो रही काय को ही स्थूल--बुद्धि व्यवहारी जन जीव कह देते हैं इस प्रकार कोई दूसरा पण्डित कह रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि चार्वाक पण्डित भी तिस 'द्रव्याणि' के अधिकार पड़े हुये "जीवाश्च" सूत्र करके पराभव को प्राप्त कर दिया गया समझ लेना चाहिये, इस बात का ग्रन्थकार दूसरी वार्तिक द्वारा निवेदन किये देते हैं—

क्ष्मादिभूतचतुष्काच्च द्रव्यांतरतया गतिः ।
न तु देहगुणत्वादिरिति देहात् परे नराः ॥२॥

पृथिवी आदि चारों भूतों से द्रव्यांतरपने करके जीव की ज्ञप्ति हो रही है, बुद्धि या चैतन्य को देह का गुणपना आदि तो कथमपि नहीं है, इसको कहा जा चुका है। इस कारण शरीर से भिन्न जीव द्रव्य है, यह सिद्धान्त निर्णीत है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पृथिव्यादिभ्यो द्रव्यांतरं जीव इति प्रागुक्तात्साधनाद्भिन्नलक्षणत्वादेर्विनिश्चयः। तथा देहस्य गुणः कार्यं वा चेतनेत्यपि "न विग्रहगुणो बोधः तत्रानध्यवसीयते" इत्यादेर्वा निरस्तत्वान्न देहगुणत्वादिर्जीवानामतो भेदात् द्रव्यांतराण्येव जीवाः। एवं पंचास्तिकायद्रव्याणि धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवाख्यानि प्रसिद्धानि भवंति।

पहिले सूत्र के अवतार प्रकरणों में कहे जा चुके भिन्न लक्षणत्व, भिन्न प्रमाणवेद्यत्व, आदि हेतुओं करके इस बात का विशेषतया निर्णय कर लिया जाता है कि पृथिवी आदिकों से निराला द्रव्य जीव है अर्थात्—"विभिन्नलक्षणत्वाच्च भेदश्चैतन्यदेहयोः। तत्वान्तरतया तोयतेजोवदिति मीयते ॥ भिन्नप्रमाण वेद्यत्वादित्यप्येतेन वर्णितम्। साधितं बहिरन्तश्च प्रत्यक्षस्य विभेदतः ॥" इन वार्त्तिकों द्वारा जीव द्रव्य को पृथिवी आदिक से निराला तत्व साध दिया चुका है चार्वाक उस ग्रन्थ को पढ़ लें।

तथा देह का गुण हो रहा अथवा शरीर का कार्य हो रहा चैतन्य है, यह चार्वाकों का कहना भी 'न विग्रहगुणो बोधस्तत्रानध्यवसायतः। स्पर्शादिवत्स्वयं तद्वदन्यस्यापि तथा गतेः। तद्गुणत्वे हि बोधस्य मृतदेहेऽपि वेदनम्। भवेत्स्वगादिवद्बाह्यकरणज्ञानतो न किम् ॥" इत्यादि वार्तिकों करके पूर्व प्रकरणों में निराकृत किया जा चुका है, अतः जीवों को देह का गुणपना, जीवित शरीर का गुणपना, पृथिवी आदिका साधारण गुणपना, मन का गुणपना, आदि सिद्ध नहीं होपाता है, इस कारण पृथिवी आदि से भिन्न होजाने से जीव पदार्थ न्यारे न्यारे स्वतंत्र द्रव्य हैं किसी की पर्याय या किसी के गुण नहीं हैं और इस प्रकार व्यवस्था होचुकने पर धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव संज्ञा वाले पांच अस्तिकाय द्रव्य प्रसिद्ध हो जाते हैं।

तानि पुनः—

वे द्रव्य फिर कैसे हैं ? इस प्रश्न के अनुसार द्रव्यों की विशेष प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार अगले सूत्र को कहते हैं।

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

धर्म आदिक द्रव्य नित्य हैं अर्थात्–तीनों कालों में वर्त रहे सन्ते कभी नष्ट नहीं होते हैं। पर्यायों का नाश भले ही होजाय किन्तु परिणामी द्रव्य सदा विद्यमान रहते हैं। यदि द्रव्य ही नाश को प्राप्त होने लगते तो संसार में कभी कार्यकारणभाव [illegible] जगत् दिखने में नहीं आता। तथा धर्म आदिक द्रव्य अवस्थित हैं अर्थात्–अपने नियत संख्या के परिमाण का उल्लंघन नहीं करते हैं द्रव्य जितने हैं उतने ही रहते हैं, न एक घटता है और न एक बढ़ता है। सत् का विनाश नहीं होता है और असत् का उत्पाद नहीं होता है, धर्म द्रव्य एक है, अधर्म द्रव्य एक है, आकाश द्रव्य भी एक है, काल द्रव्य असंख्यातासंख्यात हैं, जीव द्रव्य स्वतंत्र होरहे अनन्तानन्त हैं, जीवों से अनन्त-गुणे पुद्गल द्रव्य हैं ये सब संख्यायें नियत हैं, कोई पोल नहीं है जैसे कि मोहमद (मुहम्मद) के अनुसार चाहे जितनी आत्मायें (रूयें) उपजा ली जाती हैं और चाहे जिनको नष्ट कर दिया जाता है।

बौद्ध भी नियत संख्यावाले नित्य द्रव्योंको नहीं मानकर स्व-लक्षणों को क्षण-ध्वंसी ध्वन्सी स्वीकार कर बैठे हैं। बात यह है कि द्रव्य तो अवस्थित हैं ही अन्य भी गुण, पर्याय, अविभागप्रतिच्छेद, स्वभाव, जिसके जिन जिन निमित्तों द्वारा जैसे जैसे कालत्रय में होने योग्य हैं वे भी सब प्रतिनियत हैं सर्वज्ञ के ज्ञान में जैसा जिसका परिणमन झलका है रेफमात्र उससे न्यून, अधिक, नहीं होसकता है। भोले लोग कह देते हैं कि दाने दाने पर छाप पड़ी हुयी है, हम कहते हैं कि दानों पर ही क्या सम्पूर्ण पृथिवी, जल, वायु, जीव, कालाणु, लोहा, चांदी, रेत, मल, बूरा, काठ, अक्षर, आदि सभी पर अपने अपने नियत स्वभावों की छाप पड़ी हुयी हैं, सर्वत्र कथंचित् भेद केवलान्वयी होकर ओत पोत घुस रहा है, गेंहू के एक दाने के हजारों एक एक एक चून के टुकड़ों पर और एक एक टुकड़े के अनन्त परमाणुओं पर तथा एक परमाणु द्रव्य के अनन्तानन्त गुणों पर एवं एक एक गुणकी अनन्त पर्यायों पर तथैव एक एक पर्यायके अनन्तानन्त अविभाग–प्रतिच्छेदों या स्वभावों पर छाप लग रही है "जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हि कालम्मि" इत्यादि ग्रन्थ करके श्री कार्तिकेय स्वामी ने बहुत अच्छा सिद्धान्त कर दिया है। एवं ये उक्त द्रव्य सभी रूपसे रहित हैं। रूपके कहने में उसके अविनाभावी रस आदिका भी ग्रहण होजाता है। भविष्य ग्रन्थ में अकेले पुद्गल को ही रूपी द्रव्य कह देंगे। अतः उससे शेष रहे द्रव्यों को रूपरहित समझाजाय।

तद्भावाव्ययानि नित्यानि, नित्यशब्दस्य ध्रौव्यवचनत्वात् सर्वदेयत्तानिवृत्तेरवस्थितानि, न विद्यते रूपमेतेष्वित्यरूपाणि कुतस्तान्येवमित्याह।

"तद्भावाव्ययं नित्यं" प्रत्यभिज्ञान के हेतु होरहे वह के वही भाव करके व्यय नहीं होते रहने को नित्य कहा जाता है। ये धर्म आदिक द्रव्य "तदेव इदम्" इस प्रत्यभिज्ञान के हेतु-भूत सहभावी गुणों करके या पर्याय और गुणों के अविष्वग्भाव पिण्डस्वरूप करके व्यय को प्राप्त नहीं होते हैं, नित्य शब्द ध्रुवपन का कथन कर रहा है "णिच् प्रापणे" धातु से ध्रुव अर्थ में त्य प्रत्यय कर नित्य शब्द बना लिया जाता है, सदानियत संख्यावाले इतने परिमाणका उल्लंघन नहीं करने से ये द्रव्य अवस्थित कहे जाते हैं। ये द्रव्य अपने नियत प्रदेशों की संख्या का भी उल्लंघन नहीं करते हैं। इन द्रव्यों में रूप गुण विद्यमान नहीं है इस कारण ये अरूप माने जाते हैं। यहां कोई पूछता है कि वे धर्मादिक द्रव्य इस प्रकार उक्त तीन विधेय दलों से किस प्रकार विहित समझे जांय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिकों को कहते हैं—

द्रव्यार्थिकनयात्तानि नित्यान्येवान्वितत्वतः।
अवस्थितानि सांकर्यस्यान्योन्यं शश्वदस्थितेः ॥ १ ॥
ततो द्रव्यांतरस्यापि द्रव्यषट्कादभावतः।
तत्पर्यायानवस्थानान्नित्यत्वे पुनरर्थतः ॥ २ ॥

द्रव्यार्थिकनय से धर्म आदिक (पक्ष) नित्य ही हैं (साध्य) तीनों कालसम्बन्धी गुण और पर्यायों के पिण्ड में परस्पर अन्वय बन चुका होने से (हेतु) इस अनुमान द्वारा धर्मादिकों को नित्य साध दिया गया है तथा धर्मादिक द्रव्य (पक्ष) अवस्थित हैं (साध्य) सर्वदा परस्पर में संकरपन की स्थिति नहीं होने से (हेतु) अर्थात्-एक दूसरे से न्यारे वर्त रहे ये द्रव्य परस्पर में मिल कर अपनी सत्ता को नहीं खो बैठते हैं और मिल मिलाकर अतिरिक्त द्रव्यों को नहीं उपजा लेते हैं, अपने अपने अगुरुलघु गुण द्वारा अन्यूनानतिरिक्त होकर अवस्थित रहते हैं, तिसी कारण छह द्रव्यों से अतिरिक्त अन्य द्रव्योंका अभाव है। द्रव्यार्थिक नय अनुसार परमार्थ रूपसे नित्य या अवस्थित होनेपर यह बात विना कहे ही निकल आती है कि पर्याय-दृष्टि से वे धर्म आदिक अनित्य और अनवस्थित हैं इतर व्यावृत्ति या अतिव्याप्ति का निवारण करने पर ही विशेषण लगाना सफल समझा जाता है।

धर्मादीनि व्याख्यातानि पंच वक्ष्यमाणेन कालेन सह षडेव द्रव्याणि। तानि द्रव्यार्थिकनयादेशादेव नित्यानि, निर्बाधान्वितविज्ञानविषयत्वान्यथानुपपत्तेः। तत एवावस्थितानि तेषामन्योन्यसांकर्यस्याव्यवस्थानात् सर्वदा सप्तमद्रव्यस्यामावाच्चेति सूत्रकारवचनात्। पर्यायार्थादेशान्नित्यानि तान्यनवस्थितानि चेति सामर्थ्यादवगम्यते।

धर्म आदिक पांच द्रव्यों का व्याख्यान किया जा चुका है काल द्रव्य को सूत्रकार आगे कहने वाले हैं यों ये पांच काल के साथ मिलकर छह ही द्रव्य हैं। वे छह द्रव्य द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथन कर देने से ही नित्य हैं क्योंकि अन्वितपने के बाधारहित विज्ञान का विषयपना अन्यथा यानी नित्य माने विना बन नहीं सकता है। तिस ही कारण यानी द्रव्यार्थिक नय अनुसार ये द्रव्य अवस्थित हैं,

क्योंकि उनका परस्पर में संकर होजाने की व्यवस्था नहीं है। एक बात यह भी है कि सूत्रकार ने जब छह ही द्रव्यों का निरूपण किया है तो सदा कालत्रय में सातवें द्रव्य का अभाव होजाने से ये द्रव्य अवस्थित रहते हैं। हां पर्यायार्थिकनय से कथन करने के अनुसार वे धर्म आदिक अनित्य हैं और अनवस्थित हैं, यह सिद्धान्त कण्ठोक्त विना यों ही शब्द--सामर्थ्य से जान लिया जाता है।

भावार्थ—द्रव्य और पर्यायोंका समुदाय वस्तु है जो कि प्रमाणका विषय है। वस्तु के अंशों को जानने वाले नय ज्ञान हैं। द्रव्यार्थिक नय वस्तु के नित्य, अवस्थित, अंशों को और पर्यायार्थिक अनित्य, अनवस्थित अंशों को जानता रहता है। द्रव्यें नित्य हैं, उनकी पर्यायें अनित्य हैं, इसी प्रकार द्रव्यें अवस्थित हैं, हां उनकी पर्यायें अनवस्थित हैं। ब्रह्मचर्य नामक पर्यायमें जैसे सत्यव्रत, अहिंसाव्रत, कृत कारित आदि नौ भंग, क्षमा आदि परिस्थितियों के अनुसार जैसे अनेक उत्तम अंश बढ़ जाते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक पर्याय में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, आदि की अनेक परवशताओं से न्यून, अधिक, अविभाग-प्रतिच्छेदों को लिये अंश अनवस्थित रहते हैं। अत्यन्त छोटे निमित्तसे भी पर्यायें अवस्था से अवस्थान्तर को प्राप्त होरहीं अवस्थित नहीं रह पाती हैं। परिशुद्ध प्रतिभा वाले विचारकोंकी समझ में यह सिद्धान्त सुलभतया आजाता है। न्यायकर्त्ता (हाकिम) ने अपराधी को एक घण्टा, एक दिन, महीना, छह महीना, तीन वर्ष, सात वर्ष, आदि के लिये जो कारावास का दण्ड दिया है वह तादृश अपराध की अपेक्षा अपराधी के भिन्न भिन्न भावों का उत्पादक है, इसी प्रकार एक रुपया, दस, बीस, पांचसौ, हजार, दस हजार आदि का दण्ड विधान भी अपराधी को न्यारी न्यारी परिणतियों का उत्पादक है, एक एक पैसे की न्यूनता या अधिकता उसी समय तादृश भावों की उत्पादक होजाती है। दीपक के प्रकाशमें मन्द कान्ति वाले कपड़े या भाण्डकी स्वल्प कान्तिका परिणमन एक गज, दसगज, बीसगज की दूरी पर न्यारा न्यारा है- यहां तक कि एक प्रदेश आगे पीछे होने पर मन्द चमक के अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या में अन्तर पड़ता रहता है। शिखा, मूछें भौंयें, आदि के बाल यद्यपि निर्जीव हैं फिर भी उनको कैंची या छुरा से काट देने पर मर्यादा तक फिर बढ़ जाते हैं यदि नहीं काटे जांय तो विलक्षण परिणति के अनुसार भीतर से नहीं निकल कर उतने ही मर्यादित बने रहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कहां तक कहा जाय परिणामों का विचित्र नृत्य जितना अन्तः--प्रविष्ट होकर देखा जाता है उतना ही चमत्कार प्रतीत होता है, धन्य हैं वे सर्वज्ञदेव जिन्होंने सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणतियों का प्रत्यक्ष कर अनेक परिणामों का हमें दिग्दर्शन करा दिया है कि अमुक वस्तु का क्या भाव है ? इसका तात्पर्य यही है। कि बाजारमें प्रत्येक वस्तु का मूल्य दिन रात न्यून अधिक होता रहता है इसमें भी बेचने और खरीदने--योग्य वस्तुओं के परिणमन तथा क्रेता, विक्रेताओं की आवश्यकता, अनावश्यकता अथवा सुलभता, दुर्लभता, उपयोगिता, अनुपयोगिता के अनुसार हुये परिणाम ही भाव माने गये हैं। मोक्षमार्ग में भी शुभ भावों की अतीव आवश्यकता है, भावोंको भी चीन्हने वाले व्यापारी के समान मुमुक्षु जीव भी झटिति आत्म--लाभ कर लेता है। कहां तक स्पष्ट किया जाय पदार्थोंके भावोंसे ही सिद्ध अवस्था

और जगत् की चमत्कार चित्र, विचित्र, परिणतियां अनादि से अनन्त काल तक हो रही हैं। अतः पर्यायों को अनवस्थित कहना समुचित ही है, नियत कारणोंसे ही प्रतिनियत पर्यायें ही बनेंगी जैसा कि सर्वज्ञ ज्ञान में झलक रहा है, इस दृष्टि से पर्यायों को अवस्थित कह देना भी बुरा नहीं है "अर्पितानर्पितसिद्धेः, तीन काल के जितने भी अक्षय अनन्तानन्त समय हैं उतने ही तो एक द्रव्य या एक एक गुण के अनन्तानन्त परिणाम होंगे और अधिक क्या चाहते हो ?

एतेन क्षणिकान्येव स्वलक्षणानि द्रव्याणीति दर्शनं प्रत्याख्यातं, प्रकरणतः प्रकृतद्रव्याणां नित्यत्वसिद्धेरन्यत्र प्रतीत्यभावात् । तथैकमेव द्रव्यं सन्मात्रं प्रधानाद्यद्वैतमेव वा नाना द्रव्याणां तत्रानुप्रवेशात् । परमार्थतोऽनवस्थितानि तु नित्यपि मतमपास्तं प्रतिनियतलक्षणभेदात्सर्वदा तेषामवस्थितत्वसिद्धेः ।

द्रव्यों का नित्यपन और पर्यायों का अनित्यपन समझाने वाले इस कथन करके बौद्धों के इस दर्शन का प्रत्याख्यान कर दिया गया है कि स्वलक्षण ही द्रव्य हो रहे क्षणिक ही हैं।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थात्—बौद्धों ने असाधारण, क्षणिक, परमाणु स्वरूप, स्वलक्षणों को ही द्रव्य माना है जो कि प्रत्येक क्षण में ठहरकर दूसरे क्षण में समूल-चूल नष्ट हो जाते स्वीकार किये हैं, आचार्य कहते हैं कि प्रकरण-प्राप्त धर्म आदिक द्रव्यों के नित्यपन की प्रमाणों से सिद्धि हो रही है, अन्य स्वलक्षण, चित्राद्वैत, आदि में प्रतीति होने का अभाव है, अतः बौद्ध दर्शन का प्रत्याख्यान हो जाता है।

तथा अद्वैत-वादियों ने एक ही केवल सत्--स्वरूप परमब्रह्म को द्रव्य माना है। अथवा कपिलों ने प्रकृतिका अद्वैत ही अचेतन द्रव्य स्वीकार किया है, अन्यमतियों ने भी ज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत आदि स्वीकार किये हैं। अद्वैतवाद अनुसार अनेक द्रव्यों का उस अद्वैत में ही विचार करने के पीछे प्रवेश हो जाना माना है। ग्रन्थकार कहते हैं कि द्रव्य-रूप से नित्य और पर्याय-रूप से अनित्य कहने वाले इस प्रकरण से इन सबका निराकरण कर दिया जाता है, साथ में इस मत का भी खण्डन किया जा चुका समझो कि "वे द्रव्य वास्तविकरूप से अनवस्थित हैं" जब कि प्रत्येक में नियत होरहे लक्षणों के भेद से सदा उन द्रव्यों का अवस्थितपना सिद्ध है, तो वे द्रव्य अनवस्थित कथमपि नहीं हैं, पर्यायें भले ही अनवस्थित रहो।

अथारूपाणीति किं सामान्यतो वाविशेषतोऽभिधीयत इत्याशंकमानं प्रत्याह ।

अब कोई शिष्य अच्छी आशंका कर रहा है कि सूत्रकार ने जो "अरूपाणि" कहा है वह क्या सामान्य रूपसे कहा गया है ? अथवा क्या विशेष रूप से धर्मादिकों को रूपरहित कहा गया है ? इस प्रकार आशंका करने वाले के प्रति ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा समाधान को कहते हैं—

अरूपाणीति सामान्यादाह न त्वपवादतः ।
रूपित्ववचनादग्रे पुद्गलानां विशेषतः ॥ ३ ॥

धर्म आदिक पांच द्रव्य रूपरहित हैं, इस बातको सूत्रकारने सामान्यरूप से कहा है, अपवाद यानी विशेषरूप से नहीं। क्योंकि अगले सूत्र में पुद्गलों का विशेष स्वरूप से रूपसहितपन का वचन कहा जाने वाला है। पुद्गल के अतिरिक्त किसी भी द्रव्य में किंचित् भी रूप नहीं है।

न हि विद्यते रूपं मूर्तिर्येषां तान्यरूपाणीत्युत्सर्गतः षडपि द्रव्याणि विशेष्यंते, न पुनर्विशेषतस्तथोक्तं तत्र पुद्गलानां रूपित्वविधानात्।

जिन द्रव्यों के (में) रूप यानी मूर्ति विद्यमान नहीं है वे द्रव्य अरूप हैं, यों उत्सर्ग रूप से यानी सामान्यरूप से छऊ भी द्रव्य "अरूपाणि" इस विशेषण से विशिष्ट होरही हैं किन्तु फिर विशेषरूप से कोई कोई ही द्रव्य या द्रव्यों के अन्तर्भेद स्वरूप कोई नियत द्रव्य ही अरूप नहीं है क्योंकि उत्तर ग्रन्थ में पुद्गलों के रूपसहितपन का विधान कर दिया जावेगा। यों धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और काल ये सभी पांचों द्रव्य रूपरहित कह दी गयी हैं, कर्म और नो-कर्म से बंधे हुये संसारी जीवको अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय से भले ही मूर्त कह दिया जाय इससे हमारी कोई क्षति नहीं है, द्रव्यदृष्टि से सभी जीव अमूर्त हैं।

कश्चिदाह—धर्माधर्मकालाणवो जीवाश्च नामूर्तयो असर्वगतद्रव्यत्वात् पुद्गलवत् स्याद्वादिभिस्तेषामसर्वगतद्रव्यत्वाभ्युपगमान्न त्र सिद्धो हेतुः, नाप्यनैकांतिकः साध्यविपक्षे गगने सुखादौ वा पर्याये तदसम्भवादिति। सोऽत्र पृष्टव्यः का पुनरियं मूर्तिरिति ? असर्वगतद्रव्य-परिणामो मूर्तिरिति चेत् तर्हि न सर्वगत द्रव्यपरिणामवन्तो धर्मादय इति साध्यमायातं तथा च सिद्धसाधनं।

कोई यहां वैशेषिक का एक-देशी कह रहा है कि धर्म, अधर्म, काल-अणु यें, और जीव (पक्ष) अमूर्त नहीं हैं (साध्य) अव्यापक द्रव्य होने से (हेतु पुद्गल के समान (अन्वय दृष्टान्त) इस अनुमान में हेतु पक्ष में वर्त रहा होने के कारण असिद्ध हेत्वाभास नहीं है क्योंकि स्याद्वादियों ने उन धर्म आदिकों का असर्वगत द्रव्य होना स्वीकार किया है, भले ही लोक में व्याप रहे धर्म, अधर्म होंय किन्तु आकाश के समान सर्वव्यापक नहीं हैं, परिच्छिन्न परिमाण वाले द्रव्य अमूर्त नहीं होते हैं "परिच्छिन्न-परिमाणवत्त्वं मूर्त्तत्वं" तथा हम वैशेषिकों का हेतु व्यभिचारी भी नहीं है क्योंकि साध्यके विपक्ष हो रहे अमूर्त आकाश द्रव्य अथवा सुख, बुद्धि आदि पर्यायों में उस असर्वगतद्रव्यपन हेतु का असम्भव है। आचार्य कहते हैं कि यों कह रहा वैशेषिक यहां पूछने योग्य है कि बताओ भाई ! तुम्हारे यहां यह मूर्ति फिर क्या पदार्थ माना गया है। यदि अव्यापक द्रव्य का परिणाम (अपकृष्ट परिमाण गुण) मूर्ति है, तो यों कहने पर हम जैन कहेंगे कि तब तो सर्वगत द्रव्यों के परिणामों को नहीं धार रहे ये धर्म आदिक हैं यह साध्य दल कहना प्राप्त हुआ और वैसा होने पर तुम वैशेषिकों के ऊपर सिद्धसाधन दोष लग बैठा। अर्थात्-जैसा हम जैन मान रहे हैं वैसा ही तुम साधरहे हो, नवीन कार्य कुछ नहीं कर रहे हो। साध्य तो प्रतिवादी को असिद्ध होना चाहिये तथा हम जैनों को अभीष्ट होरहे विषय पर साध्यसम हेतु नामका दोष उठाना हमें उचित नहीं दीखता है तुम उसको भी मन में समझलो। यहां परिणाम के स्थान पर "परिमाण" शब्द अच्छा जचता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अथ स्पर्शादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिस्तद्भावान्नामूर्त्तयो धर्मादय इति साध्यं तदानुमानबाधितः पक्षः कालात्ययापदिष्टश्च हेतुः। तथाहि--धर्मादयो न मूर्तिमन्तः पुद्गलादन्यत्वे सति द्रव्यत्वादाकाशवदित्यनुमानं विवादाध्यासितद्रव्याणाममूर्तिंत्वं साधयत्येव । सुखादिपर्यायेष्वभावाद्भागासिद्धत्वं हेतोरिति चेन्न, तेषामपक्षीकृतत्वात्।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अब तुम वैशेषिक यदि स्पर्श आदि रचना--आत्मक परिणाम को मूर्ति मानोगे और उस मूर्ति का सद्भाव होने से धर्म आदिक द्रव्य अमूर्तिमान् नहीं हैं, यह साधा जायगा तब तो तुम्हारा पक्ष अनुमान प्रमाण से बाधित होजायगा और हेतु कालात्ययापदिष्ट यानी बाधित हेत्वाभास बन जायगा धर्म आदिक में स्पर्श आदि के सद्भाव का अभाव है यानी स्पर्श आदिक नहीं हैं 'पक्षे साध्याभावो बाधः' है, उसी बात को ग्रन्थकार स्पष्ट कर दिखलाते हैं कि धर्म आदिक द्रव्य पक्ष) मूर्ति वाले नहीं हैं (साध्य) पुद्गल से भिन्न होते हुये द्रव्य होने से (हेतु) आकाश के समान (दृष्टान्त यह निर्दोष अनुमान विवाद में अधिरूढ होरहे धर्म आदि द्रव्यों के अमूर्तपन को साध ही देता है, अतः इस निर्दोष अनुमान से वैशेषिकों का (या आर्यसमाजियों का) पक्ष बाधित होजाता है, यदि जैनों के ऊपर वैशेषिक यों दोष उठावें कि सुख, इच्छा आदि पर्यायों में तुम्हारा पुद्गल से भिन्नपन होते हुये द्रव्यपना हेतु विद्यमान नहीं है, अतः हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है, पक्ष के एक देश में नहीं रहने वाला हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन सुखादि पर्यायों को पक्ष नहीं किया गया है, पांच द्रव्योंको ही पक्ष कोटिमें डाला गया है, अतः भागासिद्ध दोष नहीं आता है।

कुतस्तेषाममूर्तित्वसिद्धिः ? साधनान्तरादित्यभिधीयते। सुखादयोऽप्यमूर्तद्रव्यपर्यायाः न मूर्तिमन्तः अमूर्तद्रव्यपर्यायत्वादाकाशपर्यायवत्। मूर्तिमद्द्रव्यपर्यायाणां रूपादीनां कथममूर्तित्वसिद्धिरिति चेन्न कथमपि तेषां स्वयं मूर्तिमत्त्वात्। मूर्त्यंतराभावात् तेषाममूर्तित्वं गुणत्वादेव सिद्ध्यति गुणानां निर्गुणत्वसाधनात्।

यहां यदि कोई यों पूछे कि फिर उन सुख, ज्ञान, उत्साह, आदि पर्यायों का अमूर्तपना भला किससे साधा जायगा ? इस पर हमारा यह कहना है कि अन्य साधनों से सुखादिकों के अमूर्तपन की सिद्धि कर ली जाती है जैसे कि गूढ़ अंगारे की अग्निको धूम से अतिरिक्त किसी अन्य हेतु से साध लिया जाता है सर्वत्र उस साध्य को साधने के लिये एक ही हेतु का ठेका नहीं है, दूसरे दूसरे हेतुओं द्वारा अन्य अनुमान उठा लिये जाते हैं। यहां सुखादिकों में यह अमूर्तपना यों साध लिया जाता है--कि अमूर्त द्रव्यों के पर्याय होरहे सुख आदिक भी (पक्ष) मूर्तिवाले नहीं हैं (साध्य), रूप आदि संस्थान परिणतियों से रहित होरहे अमूर्त द्रव्यों के पर्याय होने से (हेतु), आकाश द्रव्य की पर्याय के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस दूसरे अनुमान द्वारा सुख आदि पर्यायोंके अमूर्तपन को साध दिया जाता है।

यदि यहां वैशेषिक यों कहैं कि 'हमारे यहां और स्याद्वादियों के यहां भी रूप में पुनः रूप, रस, आदि गुण नहीं माने गये हैं, रस में रूपरसादि गुण निर्गुण हुआ करते हैं, ऐसी दशा में हम पूछते हैं कि मूर्तिवाले पुद्गल द्रव्य की पर्याय होरहे रूप आदिकों के अमूर्तपन की सिद्धि भला किस प्रकार करोगे ? अभी तक के दो अनुमानों से तो रूप आदि गुण या काली, नीली, खट्टी, मीठी आदि पर्यायों के अमूर्तपन की सिद्धि नहीं होपायी है, दोनों हेतु रूप आदि सहभावी पर्यायों या क्रमभावी पर्यायों में नहीं वर्तते हैं' यों वैशेषिक के कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि किसी भी प्रकारसे उन रूपादिकों के अमूर्तिपन की सिद्धि नहीं है क्योंकि वे स्वयं मूर्तिमान् पदार्थ हैं पुद्गल जैसे स्वयं मूर्तिमान हैं पुद्गल से कथंचित् अभिन्न होरहे रूप आदि पर्याय भी उसी प्रकार मूर्त हैं, हां प्रकरणप्राप्त उन रूप आदिकों में दूसरे अप्रकृत रूपादि संस्थान स्वरूप मूर्ति के नहीं होने से उन रूप आदिकों के अमूर्तपना तो गुणपना हेतु से ही सिद्ध होजाता है क्योंकि "द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः" गुणों के गुणरहितपन की सिद्धि प्रसिद्ध है।

प्रवचनकार आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

भावार्थ—अघटो घटः ? यहां नञ् का अर्थ यदि अन्योन्याभाव है तब तो यह प्रयोग अशुद्ध है जब कि घट घटस्वरूप है तो वह तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता वाले घट--भेद से युक्त कथमपि नहीं होसकता है "घटो घटः" यह समाचीन ज्ञान "अघटो घटः" इस बुद्धि को नहीं होने देता हां यदि "अघटो घटः" में नञ् का अर्थ अत्यन्ताभाव है तब तो यह प्रयोग ठीक है, संयोग सम्बन्धसे घटवान होरहा भूभाग अघट नहीं होसकता है किन्तु घट के ऊपर या भीतर कोई दूसरा घट संयोग सम्बन्धसे नहीं धरा हुआ है अतः दूसरे घटसे रहित होरहा यह घट अघट है। इसी प्रकार रूप आदिक स्वयं मूर्त हैं, हां रूप आदि में दूसरे मूर्ति पदार्थों के नहीं वर्तने से वे रूप आदि गुण अमूर्त सध जाते हैं। आत्मा ज्ञानवान् है, ज्ञान ज्ञानवान् नहीं है। इसीप्रकार मूर्त द्रव्यों को पर्यायों में अमूर्तपना गुण--पर्यायत्व हेतु से साध लिया जाय। यहां बात यह है कि पुद्गल द्रव्य गुणवान् होते हुये मूर्त हैं, पुद्गल के गुण या उनकी पर्यायें मूर्त नहीं हैं। ग्वालिया गोमान् है गायें दूधवालीं हैं, किन्तु दूध स्वयं गोमान् या दुग्धवान् नहीं है, दण्डी पुरुष डंडे वाला है, स्वयं दंड तो डंडे वाला नहीं है, कथंचित् तादात्म्य मानने पर पुद्गल द्रव्य के गुण या पर्यायें भी मूर्त होजाते हैं, पुद्गल की स्कन्ध या अणुयें ये पर्यायें तो मूर्त हैं ही। मूर्त द्रव्य के साथ बंध जाने पर संसारी जीव को भी मूर्त कह दिया जाता है, शेष चारद्रव्य और उनके गुण या पर्यायें अमूर्त ही हैं यहां भी स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार कथंचित् मूर्तपना लगाना तो अज्ञों की चेष्टा करना है, सर्वत्र विना विचारे 'स्यात्' को लगाने वाला पुरुष अपना उपहास कराता है।

एतेन सामान्यविशेषसमवायानां सदृशेतरपरिणामाविष्वग्भावलक्षणानां मूर्तिमद्द्रव्याश्रयाणां कर्मणां च मूर्तत्वममूर्तित्वं चिंतित बोद्धव्यं। तेषाममूर्तित्वमेवेत्यपि प्रत्याख्यातं तेन यदुक्तं गुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया अमूर्तय एवेति तदयुक्तं, प्रतीतिविरोधात्।

इस उक्त कथन करके इस बात का भी विचार किया जा चुका समझ लेना चाहिये कि सदृशपरिणाम-स्वरूप सामान्य पदार्थ (जाति) और विसदृश परिणाम स्वरूप विशेष पदार्थ तथा अविष्वग्भाव यानी अपृथग्भाव (कथंचित् तादात्म्य) स्वरूप समवाय पदार्थ का भी मूर्तपन और अमूर्तपन है एवं मूर्तिमान् पुद्गल या संसारी जीव द्रव्यों के आश्रित होरहे गमन, भ्रमण, आदि

क्रियाओं का भी मूर्ति-सहित-पना और मूर्तिरहितपना विचार लिया गया समझ लेना चाहिये अर्थात्-वैशेषिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय, यों छह भाव पदार्थ स्वीकार किये हैं, पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच अपकृष्ट--परिमाण वाले मूर्त द्रव्योंको छोड़ करके अवशेष चार व्यापक द्रव्य तथा गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव भी अमूर्त पदार्थ माने गये हैं। वैशेषिकों के छह पदार्थों की [illegible] के अवसर पर [illegible] गया है। द्रव्य, गुण और कर्मों की अच्छी विवेचना की गयी है, नित्य एक और अनेक में रहने वाला ऐसा कोई सामान्य पदार्थ नहीं है, हां सदृश परिणाम या पूर्वापर विवर्तों में व्यापने वाला परिणाम ही सामान्य (जाति) है, तिर्यक् और ऊर्ध्वता उसके भेद हैं। तथा अन्त में होने वाला और नित्य द्रव्य में वर्त रहा विशेष पदार्थ प्रमाणों से सिद्ध नहीं है, हां विलक्षण परिणाम स्वरूप विशेष पदार्थ समुचित है, पर्याय और व्यतिरेक जिसके भेद हो सकते हैं। समवाय भी अयुत--सिद्धों का सम्बन्ध होरहा नित्य संसर्ग नहीं है किन्तु कथंचित् तादात्म्य स्वरूप ही समवाय है। जैन सिद्धान्त अनुसार छहों द्रव्यों में सामान्य, विशेष, समवाय विद्यमान हैं।

हां परिस्पन्द रूप क्रियायें तो जीव और पुद्गल दो द्रव्यों में ही हैं। प्रकरण में यह कहना है कि मूर्त द्रव्यों के गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तो मूर्त हैं क्योंकि मूर्त द्रव्य से कथंचित् अभिन्न हो रहे वे मूर्त ही तो कहे जायंगे, हां इन गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायों में पुनः दूसरे गुण, कर्म, सामान्य, आदिक नहीं रहते हैं और रूप आदि संस्थान--परिणाम भी नहीं है अतः ये अमूर्त भी हैं अमूर्त द्रव्यों के गुण या पर्यायें सब अमूर्त ही हैं ऊर्ध्वगमन काल में मुक्त जीवों की क्रिया भी अमूर्त ही है, अतः जिन वैशेषिकों के यहां उन गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायों का अमूर्तपना ही जो बखाना गया है इस कथन से उस अमूर्तपन के एकान्त का भी खण्डन हो चुका समझ लेना चाहिये। तिस कारण जो वैशेषिकोंने यह कहा था कि गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये पांच पदार्थ अमूर्त ही हैं, इस प्रकार उनका वह कथन अयुक्त है क्योंकि प्रतीतियों से विरोध आता है। देवदत्त के पुत्र का शरीर जैसे देवदत्त का लड़का है उसी प्रकार उस शरीर के हाथ, पांव मस्तक, पेट, को भी देवदत्त का लड़कापन प्राप्त है, मिश्री मीठी है उसका मीठा रस भी मीठा है, हां मीठे रस में पुनः दूसरा मीठा रस नहीं घोल दिया गया है अतः उसको भले ही रसान्तर से रहित कह दिया जाय एतावता मिश्री का रस एकान्त रूप से नीरस नहीं है।

आत्मा ज्ञानवान् है उसका ज्ञान भी ज्ञानवान् है, जिनदत्त की आत्मा पण्डित है साथ में जिनदत्त का शरीर उस शरीर का हाथ, पांव, पेट, मुख, अवयव भी पण्डित है, असद्भूत व्यवहार नय से तो पण्डित की पगड़ी या दुपट्टा भी पण्डित है तभी तो उन की पगड़ी का विनय करते हैं। द्रव्यनिक्षेप के भेदों का विचार कीजिये। अतः प्रतीति के अनुसार वस्तु की व्यवस्था स्वीकार कर लेनी चाहिये कुत्सित आग्रह करने का परिपाक अच्छा नहीं है।

अथोत्सर्गतः पुद्गलानामप्यरूपित्वप्रसक्तौ तदपवादार्थमिदमाह ।

अब सूत्रकार उत्सर्ग यानी सामान्य विधि से पुद्गलों के भी रूप-रहितपन का प्रसंग प्राप्त होने पर उसका अपवाद (प्रतिषेध या विशेष) निरूपण करने के लिये इस अगले सूत्र को कहते हैं—

रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पुद्गल द्रव्य रूपवाले होते हैं अर्थात्—रूप रसादि संस्थान परिणाम वाले पुद्गल द्रव्य मूर्त हैं अतः अपवाद को टालकर उत्सर्ग विधियां प्रवर्तती हैं। यों पुद्गल के अतिरिक्त शेष पांच द्रव्यों में पूर्व सूत्र अनुसार अरूपपना समझा जाय।

रूपशब्दस्यानेकार्थत्वेपि मूर्तिमत्पर्यायग्रहणं, शास्त्रसामर्थ्यात्। ततो रूपं मूर्तिरिति गृह्यते रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्ति-रिति वचनात् गुणविशेषवचनग्रहणं वा रसादीनां तदविनाभावात्तदंतर्भूतत्वादग्रहणाभावात्। रूपमेतेष्वस्तीति रूपिण इति नित्ययोगे कथंचिद्-व्यतरेकिणां रूपतद्वतामिति, पुद्गला इति बहुवचनं भेदप्रतिपादनार्थं तदेवं।

रूप शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी यहां प्रकरण अनुसार मूर्तिमान् पर्याय को कहने वाले रूप शब्द का ग्रहण है क्योंकि अर्हन्तभगवान् करके कहे गये और गणधर देव करके धारण किये गये शास्त्र की सामर्थ्य से अथयह लब्ध हो जाता है कि स्वभाव, अभ्यास, श्रवण तादात्म्य आदि ये रूप शब्द के अर्थ अभीष्ट नहीं हैं, तिस कारण रूप का अर्थ "मूर्ति" यह ग्रहण किया जाता है। रूप, रस आदि संस्थान परिणाम मूर्ति हैं इस प्रकार शास्त्रों में वचन है अथवा गुण विशेष को कथन करने वाले रूप शब्द का यहां ग्रहण है जो कि गुण चक्षुः द्वारा ग्रहण करने योग्य है या काली, नीली, आदि पर्यायों से परिणत होता है।

यहां रूप शब्द उपलक्षण है अतः उस रूप के साथ अविनाभाव सम्बन्ध हो जाने से उस रूप में ही अन्तर्भूत हो जाने के कारण रस, गन्ध आदिकों के नहीं ग्रहण हो सकने का अभाव है अर्थात्—रूप के अविनाभावी सभी रस आदिक परिणाम रूप का ग्रहण करने से पकड़ लिये जाते हैं। इन पुद्गलों में रूप विद्यमान है यों विग्रह कर कथंचित् भेद को धार रहे रूप और उस रूप वाले पुद्गलों का नित्य योग होने पर रूप शब्द से मत्वर्थीय इन् प्रत्यय करते हुये "रूपिणः" यह बहुवचन शब्द बन जाता है।

सूत्रकार ने उद्देश्य दल में "पुद्गलाः यह जस् विभक्ति वाला बहुवचनान्त रूप तो पुद्गल के भेदों की प्रतिपत्ति कराने के लिये कहा है अर्थात्—अणु, स्कन्ध, या परमाणु, संख्यातवर्गणा असंख्यातवर्गणा, आहारवर्गणा भाषावर्गणा आदि पुद्गल के अनेक भेद हैं। तिस कारण इस प्रकार होने पर जो सूत्रकार का अभिप्राय ध्वनित हुआ उसको वार्तिक द्वारा यों समझो कि—

अरूपित्वापवादोऽयं रूपिण. पुद्गला इति ।
रूपं मूर्तिरिह ज्ञेया न स्वभावोखिलार्थभाक् ॥१॥
रूपादिपरिणामस्य मूर्तित्वेनाभिधानतः ।
स्पर्शादिमत्त्वमेतेषामुपलक्ष्येत तत्त्वतः ॥२॥

"रूपिणः पुद्गलाः" यह जो सूत्र है सो पूर्वसूत्र में कहे जा चुके पुद्गल के अरूपीपन का अपवाद है यहां प्रकरण में रूप का अर्थ मूर्ति समझना चाहिये। सम्पूर्ण अर्थों में प्राप्त होरहा स्वभाव तो रूप का अर्थ नहीं है अर्थात्—रूप का अर्थ यदि स्वभाव या स्वरूप पकड़ लिया जाय तब तो सम्पूर्ण पदार्थ या सम्पूर्ण द्रव्य गुण, पर्यायें, रूपी बन बैठेंगीं। अन्य आकर ग्रन्थों में रूप आदि परिणाम को मूर्तिपन करके कथन किया है वस्तुतत्त्व रूप से इन पुद्गलों को उपलक्षणों द्वारा स्पर्श आदि से सहितपना समझ लिया जाता है यानी रूपिणः कहने से रसवन्तः, गन्धवन्तः इत्यादि सब पौद्गलिक गुणों से सहितपना जान लिया जाय। संक्षिप्त सूत्र में अनेक गुणों का नाम कहां तक गिनाया जा सकता है ?

अथ परिणामपि द्रव्याणां नानाद्रव्यत्वमाहोस्विदेकैकद्रव्यत्वमुत केषांचिन्नानाद्रव्यत्वमित्याशंकायामिदमाह ।

कोई शिष्य श्री उमास्वामी महाराज के प्रति शंका उठाता है कि छहों भी द्रव्यों को क्या प्रत्येक के अनेक द्रव्यपना है ? अथवा क्या छहों द्रव्य एक एक द्रव्य स्वरूप ही हैं ? किं वा कोई कोई ही नाना द्रव्य हैं ? इस प्रकार आशंका होने पर सूत्रकार इस अगले सूत्र को स्पष्ट कहे देते हैं—

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

आकाशपर्यन्त एक एक द्रव्य हैं अर्थात्—धर्मद्रव्य एक ही द्रव्य है और अधर्म द्रव्य भी एक ही है तथा आकाश द्रव्य एक ही है, शेष द्रव्य अनेक होंगे यह परिशेषन्याय से लब्ध होजाता है।

अभिविधावाङ्प्रयोगः । एकशब्दः संख्यावचनस्तत्संबंधाद् द्रव्यस्यैकवचनप्रसंग इति चेन्न, धर्माद्यपेक्षया बहुत्वसिद्धेः । एकं च द्रव्यं च तदेकद्रव्यं एकद्रव्यं चैकद्रव्यं च एक द्रव्याणीति धर्माद्यपेक्षया बहुत्वं न विरुध्यते । एकैकमस्तु लघुत्वात् प्रसिद्धत्वाद्द्रव्यगतेरिति चेन्न वा द्रव्यापेक्षयैकत्वख्यापनार्थत्वादेकद्रव्याणीति वचनस्य पर्यायार्थादेशाद्बहुत्वप्रतिपत्तेः ।

इस सूत्र में अभिविधि अर्थ में आङ् का प्रयोग किया गया है "तत्सहितोऽभिविधिः" यों प्रयुज्यमान आकाश का भी ग्रहण हो जाता है। यदि आङ् का अर्थ मर्यादा होता तो आकाश छूट जाता। यहां सूत्र में एक शब्द संख्या अर्थ को कह रहा है। इस पर किसी का प्रश्न है कि यह एक शब्द संख्या को कह रहा है तो उस संख्या-वाचक एक शब्द के साथ सम्बन्ध हो जाने से द्रव्य शब्द के भी एक वचन हो जाने का प्रसंग आवेगा ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि धर्म आदिक कतिपय द्रव्यों की अपेक्षा करके द्रव्य शब्द के बहुवचनपना सिद्ध है, एक हो रहा और जो द्रव्य है, यों विग्रह कर कर्म-धारय वृत्ति अनुसार "एक द्रव्य" शब्द को एक वचनान्त बनालो फिर एक द्रव्य (धर्म) और एक द्रव्य (अधर्म) तथा तीसरा एक द्रव्य (आकाश) यों विग्रह कर एक-शेष-वृत्ति द्वारा "एक द्रव्याणि" यह साधु शब्द बन जाता है, धर्म आदिक तीन द्रव्यों की अपेक्षा बहुवचन का प्रयोग करना विरुद्ध नहीं पड़ता है।

यहां कोई आक्षेप करता है कि "एक द्रव्याणि" ऐसा नहीं कह कर 'एकैकं' इतना ही विधेय दल रहो क्योंकि लाघव गुण है, द्रव्यों का प्रकरण चल रहा है, तथा लोक में आकाश आदिक द्रव्य रूप से प्रसिद्ध ही हैं। इस कारण द्रव्य की ज्ञप्ति विना कहे स्वयं हो ही जायगी, सूत्र में द्रव्य का ग्रहण करना व्यर्थ है ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, द्रव्य शब्द व्यर्थ नहीं है क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा करके एकपन की प्रसिद्धि कराने के लिये 'एक द्रव्याणि' ऐसा सूत्रकार का वचन है, हां पर्यायार्थिकनय अनुसार कथन करने से बहुपने की प्रतिपत्ति होजाती है अर्थात्—धर्म, अधर्म, आकाश, ये द्रव्य तो एक ही एक हैं, किन्तु इनकी सहभावी या क्रमभावी पर्यायें बहुत हैं।

CC-0. आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एकसंख्याविशिष्टानीत्येकद्रव्याणि सूचयन्।
अनेकद्रव्यतां हन्ति धर्मादीनामसंशयम् ॥ १ ॥
आ आकाशादिति ख्यातेः पुद्गलानां नृणामपि।
कालाणूनामनेकत्वविशिष्टद्रव्यतां विदुः ॥ २ ॥

"एकद्रव्याणि" यहां मध्यम पदलोपी समास करके या धर्म से विशिष्टपन का लक्ष्य कर एकत्व संख्या से विशिष्ट होरहे ये एक एक द्रव्य हैं, इस प्रकार सूत्रद्वारा सूचन कर रहे श्री उमास्वामी महाराज तीन धर्मादि द्रव्यों के अनेक द्रव्यपन को संशयरहित नष्ट कर देते हैं। और आकाश पर्यन्त इस प्रकार सूत्रकार द्वारा उत्कृष्ट कथन कर देने से तो पुद्गल और जीवों के भी तथा कालाणुओं के अनेकत्वविशिष्ट द्रव्यपन को विद्वान् समझ लेते हैं।

आ आकाशादेकत्वसंख्याविशिष्टान्येकद्रव्याणीति सूत्रयन्न केवलं द्रव्यापेक्षयानेकद्रव्यतामेषामपास्यति किं तर्हि ? जीवपुद्गलकालद्रव्याणामेकत्वं च ततोनेकत्वविशिष्टद्रव्यतामेषां वार्तिककारादयो विदुः। कथमिति चेत्, उच्यते।

आकाश पर्यन्त एकत्व संख्या से विशिष्ट होरहे एक एक द्रव्य हैं, इस प्रकार सूत्र करते हुये उमास्वामी महाराज उन धर्मादिकों के द्रव्य--अपेक्षा केवल अनेकद्रव्यपन का ही निराकरण नहीं करते हैं किन्तु साथ ही जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य और कालद्रव्यों के एकपन का भी खण्डन कर देते हैं। विशिष्टकरण वादियों को बतलाने वाले अकलंकदेव आदि उत्कृष्ट विद्वान् इन जीव पुद्गल कालाणुओं, के अनेकत्व विशिष्ट द्रव्यपन को समीचीन जान रहे हैं, साथ ही सूत्र अनुसार धर्म, अधर्म, और आकाश का एक एक द्रव्यपना निर्णीत कर चुके हैं। यहां यदि कोई यो पूछे कि इस प्रकार कैसे निर्णीत कर चुके हैं ? यों कथन करने पर तो ग्रन्थकार करके यह युक्ति कही जा रही है कि—

एकद्रव्यमयं धर्मः स्यादधर्मश्च तत्त्वतः।
महत्त्वे सत्यमूर्तत्वात्खवत्तत्सिद्धिवादिनाम् ॥ ३ ॥

यह धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य (पक्ष) एक द्रव्य हैं। (साध्य) तत्त्व स्वरूप से महान् यानी महापरिमाण वाले होते सन्ते अमूर्त होने से (हेतु)। अत्यन्त परोक्ष उस आकाश की सिद्धि को कहने वाले मीमांसक नैयायिक, सांख्य, वैशेषिक आदि वादियों के यहाँ आकाश के समान (अन्वय दृष्टान्त) अर्थात्—वैशेषिकों के महत् परिमाण वाले आकाश को एक द्रव्य स्वीकार किया है, इसी प्रकार धर्म और अधर्म भी एक एक द्रव्य हैं।

महत्त्वादित्युच्यमाने पुद्गलस्कन्धैर्व्यभिचारो मा भूदित्यमूर्तत्ववचनं, अमूर्तत्वादित्युक्ते कालाणुभिर्वादिनः सुखादिभिः प्रतिवादिनोऽनेकांतो मा भूदिति महत्त्वविशेषणं। न चामूर्तत्वमसिद्धं धर्माधर्मयोः पुद्गलादन्यत्वे सति द्रव्यत्वादाकाशवदिति तत्साधनात्। नापि महत्त्वं त्रिजगद्व्यापित्वेन साधयिष्यमाणत्वात्। ततो निरवद्यो हेतुः।

महत्त्वे सति अमूर्तत्व हेतु यह निर्दोष है यदि महत्त्वात् इतना ही कह दिया जाता तो पुद्गल-निर्मित स्कन्धों के साथ व्यभिचार होजाता। वह व्यभिचार नहीं होय इस लिये अमूर्तपन का कथन किया है, अर्थात्—पुद्गल के नभोवर्गणा, महास्कन्धवर्गणा, सुमेरु, स्वयंप्रभाचल पर्वत, स्वयंभूरमण समुद्र, श्रेणीबद्धविमान आदि स्कन्ध महान् हैं। किन्तु अमूर्त नहीं हैं, अतः पुद्गल की स्कन्ध-स्वरूप अनेक पर्यायों में एक द्रव्यपन नहीं ठहराया जा सकता है। यदि अमूर्तत्वात् इतना ही हेतु कह दिया जाता तो वादी विद्वान् जैनों के यहां कालपरमाणुओं या सिद्ध आत्माओं करके व्यभिचार हो जाता तथा इस समय प्रतिवादी बन रहे नैयायिक या मीमांसक के यहां अमूर्त माने गये सुख,इच्छा, आदि करके व्यभिचार होजाता। वह व्यभिचार नहीं होय इस लिये हेतु में महत्त्व नामक विशेषण डाला गया है।

भावार्थ—जैनों के कालाणु और सिद्ध जीवों को अमूर्त माना गया है, किन्तु महा परिमाण वाले नहीं होने से ये एक द्रव्य नहीं हैं। कालाणुयें तो असंख्यात हैं, और सिद्ध अनन्तानन्त हैं। प्रतिवादियों की अपेक्षा काल करके व्यभिचार नहीं होगा क्योंकि वे वैशेषिक या नैयायिक काल द्रव्य को

महापरिमाण वाला और अमूर्त मानते हुये प्रसन्नता पूर्वक एकद्रव्य स्वीकार कर बैठे हैं, अतः उनके यहां अमूर्त होरहे सुख, ज्ञान, क्रिया आदि करके हुये व्यभिचार की निवृत्ति के लिये महापरिमाण यहां विशेषण देना सफल है, धर्म और अधर्म द्रव्य में अमूर्तपना हेतु ठहर रहा है, अतः स्वरूपासिद्ध नहीं है, देखिये धर्म और अधर्म (पक्ष) अमूर्त हैं (साध्य) क्योंकि पुद्गल से भिन्न होते सन्ते द्रव्य हैं। (हेतु) आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस अनुमान से उस अमूर्तपन हेतु को साध दिया जाता है तथा हेतु का महत्त्व विशेषण भी असिद्ध नहीं है, पक्ष में ठहर जाता है, कारण कि तीन जगत् में व्यापक हो रहे-पन करके धर्म और अधर्म में महापरिमाण को भविष्य में साध दिया जावेगा तिस कारण यह महापरिमाण वाले होते हुये अमूर्तपना हेतु निर्दोष है, इसमें कोई हेत्वाभास दोष नहीं आता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

खमुदाहरणमपि न साध्यसाधनधर्मविकलं तत्सिद्धिवादिनां, तदेकद्रव्यत्वस्य साध्यधर्मस्य च महत्त्वामूर्तत्वस्य तत्त्वतस्तत्र प्रसिद्धत्वात्। गगनासत्त्ववादिनां प्रति तस्य तथात्वेनाग्रे साधनाद्धर्माधर्मद्रव्यवत्। तत एव नाश्रयासिद्धो हेतुस्तदाश्रयस्य धर्मस्याधर्मस्य च प्रमाणेन सिद्धत्वात्।

उक्त अनुमान में उस आकाश की सिद्धि को स्पष्ट कहने वाले वादियों के यहां आकाश उदाहरण भी साध्यरूप धर्म और साधन स्वरूप धर्म से रीता नहीं है, क्योंकि उस आकाश में उसके एकद्रव्यपन स्वरूप साध्यधर्म की और तत्त्व रूप से महान् होते हुये अमूर्तपन स्वरूप साधन धर्म की प्रसिद्धि हो रही है। हां गगन का सद्भाव नहीं मानने--वाले चार्वाक आदि वादियों के प्रति उस आकाश को तिस प्रकार साध्य--सहितपन और हेतुसहितपन करके आगे ग्रन्थ में साध दिया जायगा जैसा कि यहां धर्म और अधर्म द्रव्य को, तैसा एक द्रव्यपना और महान् होते हुये अमूर्तपना साध दिया जाता है। तिस ही कारण से यह हेतु आश्रयासिद्ध भी नहीं हैं। क्योंकि उस हेतु के आधारभूत धर्म और अधर्म की प्रमाण करके सिद्धि हो चुकी है, "प्रसिद्धो धर्मी" ऐसा सूत्र है। 'पक्षे पक्षतावच्छेदकाभाव आश्रयासिद्धिः" खर--विषाण आदि असत् पदार्थों में कोई भी वास्तविक स्वकीय धर्म नहीं रहता है यों पक्ष में पक्ष के धर्म का नहीं रहना आश्रयासिद्धि दोष है।

नानाद्रव्यमसौ नानाप्रदेशत्वाद्धरादिवत्।
इत्ययुक्तमनेकांतादाकाशेनैकता हृता॥ ४॥
तस्य नानाप्रदेशत्वसाधनादग्रतो नयात्।
निरंशस्यास्य तत्सर्वमूर्तद्रव्यैरसंगतिः॥ ५॥

यदि कोई पण्डित इस हेतु में सत्प्रतिपक्ष दोष उठाता हुआ यों दूसरा अनुमान बनावे कि वह धर्म या अधर्म (पक्ष) अनेक अनेक द्रव्य हैं, (साध्य) अनेक प्रदेशवाले होने से (हेतु) पृथिवी, जल, आदि द्रव्यों के समान (अन्वय दृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि यह कहना अयुक्त है क्योंकि एक-

पन को हरलेनेवाले या एकता को धारने वाले आकाश करके व्यभिचार होजाता हैं। अर्थात्—आकाश अनेक प्रदेशवान् है, किन्तु नाना द्रव्य नहीं है, एक द्रव्य है। अगले "आकाशस्यानन्ताः" इस ग्रन्थ से अथवा नय युक्तियों से उस आकाश का अनेक प्रदेश सहितपना साध दिया जायगा। इस अंशरहित आकाश को उन सम्पूर्ण मूत द्रव्यों के साथ संगति नहीं होसकती है।

अर्थात्—वैशेषिकों ने आकाश को विभु द्रव्य माना है "सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वं" पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन सम्पूर्ण मूर्तिमत्द्रव्यों के साथ संयोग रखने वाला पदार्थ विभु माना गया है। यदि वैशेषिक आकाश के अंशों को स्वीकार नहीं करेंगे तो निरंश आकाश भला बम्बई, कलिकाता, यूरप, अमेरिका, स्वर्ग, नरक आदि दूर दूर सभी स्थलों पर विराज रहे मूर्तिमान द्रव्यों के साथ कैसे संयुक्त हो सकेगा ? अंशों से सहित होरहा बांस या नापने का गज तो नाना देश में फैल रहे भींत या वस्त्रों पर संयुक्त होजाता है, किन्तु निरंश परमाणु सकृत् भिन्नदेशीय पदार्थों से चिपट नहीं सकता है, (समर्थन)।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ततो न पक्षस्यानुमानेन बाधा तस्याप्रयोजकत्वात्। नापि हेतोः कालात्ययापदिष्टतेति धर्माधर्मयोरेकद्रव्यत्वसिद्धिः।

तिस कारण हम जैनों के पक्ष की इस वैशेषिक के अनुमान करके बाधा नहीं आती है। क्योंकि वह नाना--प्रदेशत्व हेतु नाना द्रव्य--पन का प्रयोजक नहीं है, और हमारे हेतु के कालात्ययापदिष्टपना यानी बाधितहेत्वाभासपना भी नहीं है, इस कारण तीसरी वार्त्तिक द्वारा धर्म और अधर्मके एक द्रव्यपनकी सिद्धि होजाती है आकाश के एक द्रव्यपन में किसी का विवाद ही नहीं है।

यथा च तानि धर्माधर्माकाशान्येकद्रव्याणि तथा।

जिस ही प्रकार वे धर्म, अधर्म, और आकाश द्रव्य रूप से एक एक हैं, उसी प्रकार और भी कुछ विशेषता को लिये हुये हैं। इस बात को समझने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं—

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

धर्म, अधर्म, और आकाश ये तीन द्रव्य क्रियाओं से रहित हैं, अर्थात्—धर्म, अधर्म, आकाश ये केवल एक द्रव्य ही नहीं हैं, साथ में देशसे देशान्तर होना रूप क्रिया से रहित भी हैं, जीव पुद्गलों के समान अपने स्थान को छोड़ कर परक्षेत्र में नहीं चले जाते हैं।

उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशांतरप्राप्तिहेतुः क्रिया, न पुनः पदार्थान्तरं तथाऽप्रतीयमानत्वात् गुणसामान्यविशेषसमवायवत्।

अन्तरंग कारण मानीगयी क्रिया परिणमन शक्ति और वहिरंग होरहे संयोग आदि इन दोनों निमित्त कारणों की अपेक्षा रखते हुए द्रव्य का जो पर्याय विशेष देश से देशान्तर प्राप्ति का कारण है, वह क्रिया है। फिर कोई स्वतंत्र न्यारा पदार्थ क्रिया नहीं है, क्योंकि तिसप्रकार स्वतंत्र तत्त्व रूप

करके या अन्य पदार्थ--पने करके कर्म की प्रतीति नहीं होरही है। जैसे कि गुण, सामान्य, विशेष और समवाय स्वतंत्र होकर नहीं जाने जारहे हैं। अर्थात्— वैशेषिकों ने द्रव्य से सर्वथा भिन्न स्वीकार कर गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इनको स्वतंत्र तत्त्व माना है, आचार्य कहते हैं, कि क्रिया अथवा गुण, सामान्य, विशेष, समवाय भी द्रव्य की ही विशेष पर्यायें हैं। निराले तत्त्व नहीं हैं, अतः यह क्रिया का लक्षण निर्दोष किया गया है।

ननु क्रिया द्रव्यात्पदार्थान्तरं तद्भिन्नलक्षणत्वाद्गुणादिवदिति। पदार्थांतरत्वेनाप्रतीयमानत्वमसिद्धमिति चेत्, कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वस्य द्रव्यव्यक्तिभिरनेकांतात्। कालादिद्रव्यव्यक्तीनां न द्रव्याद्भिन्नलक्षणत्वं क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणस्य तत्र भावादिति चेन्न, कालादिषु क्रियावत्त्ववर्जितस्य द्रव्यलक्षणस्योपगमात् पृथिव्यादिषु तदवर्जितस्य तस्य व्याख्यानात् कथंचित्तेषां द्रव्यलक्षणभेदसिद्धेः। पदार्थान्तरत्वे तु द्रव्यव्यक्तीनां गुणादिव्यक्तीनामपि पदार्थांतरत्वप्रसक्तेः कुतः षट्पदार्थनियमः ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यहां वैशेषिक स्वपक्ष का अवधारण इस प्रकार कहते हैं कि क्रिया (पक्ष) द्रव्य से सर्वथा भिन्न निराला पदार्थ है (साध्य) उस द्रव्य के लक्षण से सर्वथा भिन्न लक्षण को धार रही होने से (हेतु) गुण, जाति, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। "क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं" इस द्रव्य के लक्षण से "एक द्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणं" यह कर्म का लक्षण भिन्न है, अतः अन्य पदार्थपन करके नहीं प्रतीत होरहापन क्रिया में असिद्ध है, यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि तुम वैशेषिकों के भिन्नलक्षणत्व का अर्थ यदि कथंचित् भिन्न भिन्न लक्षणवानापन है। तब तो द्रव्य की व्यक्तियों करके व्यभिचार होजायगा, देखिये द्रव्य के पृथिवी, जल, तेज, आदि ये भेद हैं, पृथिवी के भी घट, पट, पुस्तक आदि अनेक भेद तुम्हारे यहां माने गये हैं। इन में कथंचित् भिन्न-लक्षणपना हेतु विद्यमान है, किन्तु सर्वथा पदार्थान्तरपना साध्य नहीं है, अतः वैशेषिकों का हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

यदि वैशेषिक यों कहें कि द्रव्य के काल, आत्मा, पृथिवी, आदि व्यक्ति विशेषों का लक्षण द्रव्य के लक्षण से भिन्न नहीं है जो क्रियावान् है और गुणवान् है, तथा कार्योंका समवायि कारण है, वह द्रव्य है, द्रव्य के इस लक्षण का उन काल आदिकों में सद्भाव है। अतः व्यभिचार नहीं आयगा, ग्रन्थकार कहते हैं। कि यह तो नहीं कहना क्योंकि काल आदि चार व्यापक द्रव्यों में क्रियावान्पने से रहित होरहे द्रव्य लक्षण को स्वीकार किया गया है, और पृथिवी आदि पांच मूर्तों में उस क्रियावत्त्व को नहीं छोड कर उस पूरे द्रव्य लक्षण को बखाना गया है। अतः उन द्रव्य व्यक्तियों के घटित होरहे द्रव्य लक्षणों का कथंचित् भेद सिद्ध होजाता है।

अर्थात्—कणादमुनि प्रणीत वैशेषिक दर्शन में "क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति" द्रव्य का लक्षण कहा है, यह पूरा लक्षण पृथिवी, जल, तेज वायु और मन में घट जाता है, आकाश आदि व्यापक द्रव्यों में क्रिया नहीं मानी गयी है, अतः क्रियावत्त्व नहीं, आद्यक्षणावच्छिन्न अवयवी में गुण

वत्त्व भी नहीं माना गया है, कार्य से कारण एक क्षण पूर्व में रहता है, गुण उपजने के प्रथम द्रव्य निर्गुण है। यों द्रव्य के विशेष नौ भेदों में कथंचित् भिन्न लक्षणपना वर्त रहा है, अतः व्यभिचार दोष तदवस्थ है, व्यभिचार की निवृत्ति के लिये यदि वैशेषिक द्रव्यों की विशेष व्यक्तियों को स्वतंत्र तत्त्व रूप से न्यारे न्यारे पदार्थ स्वीकार करेंगे तब तो गुण के रूप, रसादि, व्यक्तियों को या कर्म के उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि व्यक्तियों को एवं पर-जाति, अपर-जाति, इन सामान्य व्यक्तियों अथवा अनन्त विशेष व्यक्तियों को भी स्वतंत्र तत्त्व रूप से पदार्थान्तर पने का प्रसंग प्राप्त होगा, ऐसा होने पर छहों भाव पदार्थ होने का नियम भला कैसे ठहर सकता है? सैकड़ों या अनन्ते मूलतत्त्व बन बैठेंगे।

द्रव्यत्वप्रतीतिमात्र द्रव्यलक्षणं सकलद्रव्यव्यक्तीनामभिन्नं तस्य कर्माणि मनागप्यभावात् सर्वथा तद्भिन्नलक्षणत्वं हेतुरिति चेत्, प्रतिवाद्यसिद्धः सद्द्रव्यलक्षणमिति कर्मण्यपि द्रव्यप्रत्ययमात्रस्य भावादन्यथा तदसत्त्वप्रसंगात्।

वैशेषिक कहते हैं, कि द्रव्यत्व जाति स्वरूप करके जातिमान् द्रव्य की प्रतीति होजाना केवल इतना ही द्रव्य का लक्षण तो द्रव्य के पृथिवी आदि सम्पूर्ण नौऊ व्यक्ति विशेषों के अभिन्न है उस द्रव्य के लक्षण का कर्म में कदाचित् भी सद्भाव नहीं पाया जाता है, अतः उस द्रव्य से सर्वथा भिन्न लक्षणपना हेतु ठीक है, क्रिया में वर्त्त रहा हेतु द्रव्य से पदार्थान्तरपने को साध देगा, यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं, कि कथंचित् भिन्न लक्षणत्व हेतु में व्यभिचार दोष दिया जा चुका है, हां सर्वथा भिन्नलक्षणत्व हेतु को कहो तो प्रतिवादी विद्वान जैनों के प्रति असिद्ध है। पक्ष में हेतु नहीं ठहरता है। 'सद्द्रव्यलक्षणं' द्रव्य का लक्षण सत् है इस प्रकार सत् स्वरूप द्रव्य की केवल प्रतीति करा देना इस द्रव्य का लक्षण सद्भाव कर्म में भी विद्यमान है, अन्यथा यानी सत् स्वरूप द्रव्य के लक्षण को यदि कर्ममें नहीं माना जायगा तो खरविषाण के समान उस कर्म के असत्त्व का प्रसंग होजावेगा, अतः "सर्वथा भिन्न लक्षणत्व" हेतु पक्षभूत कर्म में नहीं ठहरा इस कारण तुम्हारा हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

न हि सत्तामहासामान्यमेव द्रव्यमिति स्याद्वादिनां दर्शनं तस्याः शुद्धद्रव्यत्वोपगमात्। गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्यशुद्धद्रव्यलक्षणस्य कर्मण्यभावेपि कथंचिदेकद्रव्याभिन्नलक्षणत्वं तस्य सिद्ध्येन्न सर्वथा। तच्च कथंचित्पदार्थान्तरत्वं साधयेदिति विरुद्धसाधनाद्विरुद्धं परैः सर्वथा पदार्थांतरत्वस्य तत्र साध्यत्वात्।

"सद्द्रव्यलक्षणं" इस सूत्र अनुसार सत्ता नामका महासामान्य ही द्रव्य है, यह स्याद्वादियों का सिद्धान्त नहीं है। उस महासत्ता को तो हमने शुद्ध द्रव्यपन करके स्वीकार किया है, अर्थात्—शुद्ध द्रव्यों का निरूपण सत्स्वरूप करके किया जाता है, अनेक शुद्ध द्रव्यों में प्रत्येक होकर वर्त्त रहे अनेक अस्तित्व गुणों के परसंग्रह नय द्वारा किये गये आपेक्षिक पिण्ड को महासत्ता कह दिया जाता है। अतः सूत्रकार करके कहा जाने वाला "सद्द्रव्यलक्षणं" यह शुद्ध द्रव्यों का लक्षण समझा जाय जो कि

कथंचित् अभेद दृष्टि अनुसार शुद्ध द्रव्य की ओर लक्ष्य रखते हुये यावत् गुण, क्रिया, अशुद्धद्रव्य, पर्याय इन सम्पूर्ण सत्पदार्थों में घटित होजाता है।

हां गुण और पर्याय वाला द्रव्य होता है, इस अशुद्ध द्रव्य के लक्षण का कर्म में अभाव होने पर भी कथंचित् एक द्रव्य के साथ अभिन्न लक्षणपना उस कर्म के सिद्ध होजावेगा अतः सर्वथा द्रव्य के लक्षणपना नहीं सिद्ध होसका। वैशेशिकों का द्वितीय पक्ष अनुसार सर्वथा भिन्न लक्षणपना हेतु स्वरूपासिद्ध है, और प्रथम पक्ष अनुसार कथंचित् भिन्नलक्षणपना हेतु तो कर्म में द्रव्य से कथंचित् पदार्थान्तर को साध सकेगा, इस कारण इष्ट होरहे साध्य से विरुद्ध साध्य को सिद्धि कर देने से वैशेषिकों का हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि दूसरे विद्वान् वैशेषिकों ने उस कर्म में सभी प्रकारों से पदार्थान्तरपन यानी न्यारेपन को साध्य कर रखा है, अतः वैशेषिकों का भिन्न--लक्षणत्व हेतु अनैकान्तिक, असिद्ध और विरुद्ध दोषों से युक्त है। मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कर्म सर्वथा न द्रव्यात्पदार्थान्तरं कथंचित्तद्भिन्नलक्षणत्वाद्गुणादिवदिति परमतसिद्धेः न चात्र कर्माप्रतिपन्नं येनाश्रयासिद्धिः साधनस्य। नापि सर्वथा पदार्थांतरत्वेन द्रव्यात्प्रतिपन्नं कुतश्चित्प्रमाणात् स्याद्वादिभिः, येन धर्मिग्राहकप्रमाणबाधा। तस्य कथंचित्पदार्थांतरत्वेनैव प्रतिपन्नत्वात् न चैवं सिद्धांतविरोधः, कर्मणः पर्यायत्वेन द्रव्यात्कथंचित्पदार्थांतरत्वव्यवस्थितेरुत्पादविनाशत्वलक्षणस्य ध्रौव्याद्द्रव्यलक्षणाद्भेदसिद्धेः। कर्मगुणसामान्यविशेषसमवायानां पर्यायलक्षणसद्भावात् पर्यायपदार्थत्ववचनादन्यथातिप्रसक्तेः। प्रागभावादीनां विशेषणविशेष्यभावादीनां च पदार्थांतरत्वप्रसंगात् पदार्थशेषत्वकल्पनायामेकेनैव पदार्थेन पर्याप्तत्वादन्येषां पदार्थशेषावस्थिते सूत्रेवधारणाभावादित्युक्तप्रायं।

वैशेषिकों के अनुमान का बाधक यह अनुमान है कि कर्म (पक्ष) द्रव्य से सर्वथा न्यारा भिन्न पदार्थ नहीं है (साध्य) उस द्रव्य के लक्षण से कथंचित् भिन्न, अभिन्न होरहे लक्षण को धारने वाला होने से (हेतु) गुण, सामान्य, आदि के समान। इस अनुमान द्वारा पर-मत की यानी जैनमत की सिद्धि होजाती है। इस अनुमान में पक्ष हो रहा कर्म (क्रिया) पदार्थ अपरिज्ञात नहीं है जिससे कि हेतु के आश्रयासिद्धि नामका दोष लग बैठता अर्थात् बाल गोपालों तक को क्रिया प्रसिद्ध होरही है अतः हमारा " कथंचित् भिन्नलक्षणत्व " हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास नहीं है और स्याद्वादियों करके जिस किसी भी प्रमाण द्वारा वह कर्म से सर्वथा भिन्न तत्त्वपने करके भी ज्ञात नहीं है जिससे कि धर्मी को ग्रहण कराने वाले प्रमाण से बाधा आती।

हां द्रव्यसे कथंचित् भिन्न पदार्थपने करके ही उस कर्मकी प्रतिपत्ति होचुकी है भावार्थ -वैशेषिक यदि हमारे हेतु में यों बाधा उठाना चाहें कि जिस प्रमाण करके धर्मी कर्म जाना जायगा वह प्रमाण द्रव्य से भिन्न होरहे ही कर्म को जान पायगा ऐसी दशा में द्रव्य से सर्वथा भिन्न पदार्थान्तरपन के अभाव का साधने वाला हेतु बाधित होजायगा, हम स्याद्वादी कहते हैं कि घोड़े कादौड़ना, आम

फल का पतन होना, चक्की का भ्रमण होना, अग्निज्वाला का ऊपर जाना, जल या वायु का तिरछा बहना. ये सब क्रियायें क्रियावान् पदार्थों से सर्वथा भिन्न नहीं दीख रहीं हैं, हाँ पहिले घोड़ा स्थिर था अब चलने लगगया। स्थिर चाकी पीछे भ्रमण करने लग जाती है, यों क्रियावान् द्रव्यसे क्रिया का कथंचित् भेद ही निर्णीत है, सर्वथा भेद नहीं है, इस प्रकार कहनेसे हम अनेकान्त--वादियों के यहाँ कोई जैन सिद्धान्त से विरोध नहीं आता है क्योंकि क्रिया होना एक पर्याय विशेष है, अतः पर्याय होने के कारण क्रिया को द्रव्य से कथंचित् पदार्थान्तरपना व्यवस्थित है। सुवर्ण के कड़े का सुवर्ण से सर्वथा भेद नहीं है। द्रव्य और पर्याय का समुदाय सत् है. उत्पाद व्यय और ध्रौव्यों से तदात्मक युक्त होरहा सत् पदार्थ माना गया है। पर्याय के उत्पाद और विनाश लक्षण हैं, द्रव्य में ध्रुवपना ओतपोत होरहा है, अतः कर्म के उत्पाद, विनाश--स्वरूप लक्षण का द्रव्य के लक्षणांश होरहे ध्रौव्य से भेद सिद्ध होरहा है। क्रिया, गुण, सामान्य, विशेष और समवा- के पर्याय का लक्षण विद्यमान है, अतः जैन सिद्धान्त में परिस्पन्द रूप क्रिया, सहभावी-क्रमभावी पर्याय स्वरूप गुण, सदृश परिणाम या परापर विवर्त-व्यापी परिणाम, स्वरूप सामान्य, पर्याय व्यतिरेक--स्वरूप विशेष और अविष्वग्भाग सम्बन्ध--स्वरूप समवाय इन सब के पर्याय का लक्षण विद्यमान है, अतः इनको जैन सिद्धान्त में पर्याय पदार्थ कहा गया है, अन्यथा यानी--कर्म, गुण, आदि को पर्यायें नहीं मान कर स्वतंत्र तत्त्व (पदार्थ) माना जायगा तो अतिप्रसंग होजायगा। आपेक्षिक गुण, अविभागप्रतिच्छेद, प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व, आदि को भी न्यारे न्यारे पदार्थ होने का प्रसंग आजायगा। प्रागभाव, प्राग्सता, पश्चात्--सत्ता आदि को और विशेष्य-विशेषणभाव, आधार आधेयभाव, स्वरूप सम्बन्ध, तादात्म्य सम्बन्ध आदि को भी न्यारे न्यारे पदार्थ होजाने का प्रसंग आवेगा। यों अनन्त मूल पदार्थ होजाने पर भला वैशेषिकों के यहाँ छह या सात पदार्थों की ही व्यवस्था कहाँ रही ?

यदि वैशेषिक यों कहें कि पदार्थों की संख्या के प्रतिपादन करने वाले "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य--वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसम्" इस कणाद ऋषि प्रणीत सूत्र में हमने एवकार द्वारा कोई अवधारण नहीं किया है। दार्शनिक बेचारा कहाँ तक अनेक पदार्थों को गिना सकता है ? छह, सात, नौ, सोलह, पच्चीस आदि कितने ही पदार्थ गिनाये जांय तो भी सैकड़ों, हजारों, पदार्थ शेष पड़े रहते हैं विद्वान जन उपरिष्टात् उन वेशेष्य-विशेषणभाव आदि पदार्थों को मान ही लेते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार उक्त उपलक्षण पदार्थों के शेषपन करके यदि अतिरिक्त पदार्थों की कल्पना की जायगी तब तो एक ही उपलक्षणभूत पदार्थ करके पर्याप्तपना है। यानी सभी प्रयोजन सिद्ध हो जायंगे क्योंकि पदार्थ--प्रतिपादक सूत्र में छह ही भाव पदार्थों का अवधारण नहीं है, अतः कण्ठोक्त एक या दो पदार्थों से अतिरिक्त शेष अनेक पदार्थों के अवस्थित हो जाने पर सभी पदार्थ समझाये जा सकते हैं। इस बात को हम "जीवाजीवास्रव" इत्यादि सूत्र का विवरण करते समय कह चुके हैं, प्रकरण अनुसार और भी कई वार ऐसा विवेचन किया जाचुका है।

सामान्यसमवायौ कथं पर्यायौ ? नित्यत्वादिति चेन्न, तयोरपि गुणकर्मविशेषवद-नित्यत्वोपगमात् । सदृशपरिणामो हि सामान्यं स्याद्वादिनां अविष्वग्भावश्च द्रव्यपर्याययोः समवायः, सचोत्पाद-विनाशवानेव सदृशव्यक्त्युत्पादे सादृश्योत्पादप्रतीतेस्तद्विनाशे च तद्विना-शमात्रभावात् ।

कलुषित--चित्त होकर वैशेषिक पूंछते हैं कि तुम जैनों के यहाँ सामान्य और समवाय भला किस प्रकार पर्याय माने गये हैं ? क्योंकि तुम्हारे यहाँ उत्पाद व्यय वालीं पर्यायें अनित्य मानीं गयीं हैं किन्तु नित्य होता हुआ, अनेकों में समवेत होरहा सामान्य और नित्य सम्बन्ध माना गया समवाय तो नित्य है अतः ये दोनों स्वतंत्र तत्त्व होने चाहिये । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन सामान्य और समवाय दोनों को भी गुण, कर्म, और विशेष पदार्थों के समान अनित्यपना स्वी-कार होजाता है । अथवा वैशेषिकों के यहाँ अनित्य द्रव्यों के सम्पूर्ण गुणों और नित्य द्रव्यों के भी कतिपय गुणों तथा सम्पूर्ण कर्मों को जैसे अनित्य माना गया है उसी प्रकार सामान्य और समवाय भी अनित्य मानने पड़ेंगे । विशेष पदार्थ भी दृष्टान्त समझ लिया जाय जब कि स्याद्वादियों के यहाँ सदृशपरिणाम ही सामान्य माना गया है तथा द्रव्य और पर्यायों का कथंचित् तदात्मक अपृथग्भाव ही समवाय सम्बन्ध है, तब तो वह उत्पादवान् और विनाशवान् ही है क्योंकि सदृश व्यक्तियों का उत्पाद होने पर सादृश्य (सामान्य) की उत्पत्ति होना प्रतीत होता है और उन सदृश व्यक्तियों का विनाश होने पर उस सदृशपन (जाति) का पूरा विनाश होरहा देखा जाता है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सादृश्यस्य व्यक्त्यंतरेषु दर्शनान्नित्यत्वमितिचेन्न, वैसादृश्यस्य विशेषस्य गुणस्य कर्मणश्चैवं नित्यत्वप्रसंगात् । नष्टोत्पन्नव्यक्तिभ्यो व्यक्त्यंतरेषु न तदेव वैसादृश्यादि दृश्यते ततोन्यस्यैव दर्शनादिति चेत्, सादृश्यादि परमेव किन्न भवेत् तथाप्रतीतेरविशेषात् । ततो द्रव्य-पर्याय एव क्रिया ।

यदि वैशेषिक यों कहें कि एक व्यक्ति के नष्ट होने पर भी अन्य दूसरी दूसरी व्यक्तियों में सदृशपना देखा जा रहा है, अतः सादृश्यस्वरूप सामान्य भी नित्य ही होना चाहिये । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि इस प्रकार तो विसदृशपन--स्वरूप विशेष पदार्थ को और गुण को तथा कर्म को भी नित्य होजाने का प्रसंग आवेगा । देखो, विलक्षण पदार्थ के नष्ट होजाने पर भी दूसरे विसदृश पदार्थ विद्यमान हैं । एक काले, पीले, या खट्टे, मीठे, गुण के विनश जाने पर भी अन्य पृथि-वियों में काले आदि गुण विद्यमान हैं, हलन, चलन, आदि कर्म भी सदा किसी न किसी के होते हो रहते हैं, अतः ये भी नित्य बन बैठेंगे ।

यदि वैशेषिक यों कहैं कि नष्ट होरहीं या उत्पन्न होरहीं व्यक्तियों से निराली अन्य विद्यमान व्यक्तियों में वे ही तो वैसादृश्य, गुण, क्रिया, आदि नहीं देखे जा रहे हैं, जो कि नष्ट या उत्पन्न व्यक्तियों में हैं किन्तु उन नष्ट या उत्पन्न व्यक्तियों में वर्त रहे वैसादृश्य आदिसे दूसरे भिन्न वैसादृश्य आदि का ही अन्य व्यक्तियों में दर्शन होरहा है, अतः ये अनित्य हैं, यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो न्यारे न्यारे वैसादृश्य आदि के समान फिर सादृश्य, समवाय, आदि भी निराले ही क्यों नहीं होजायंगे क्योंकि तिस प्रकार न्यारे सादृश्य या निराले वैसादृश्य आदि की प्रतीति होने का कोई अन्तर नहीं है तिस कारण सिद्ध होता है कि द्रव्य की पर्यायविशेष ही क्रिया है, द्रव्य से निराला स्वतंत्र तत्त्व कोई कर्म पदार्थ नहीं है।

गुणादीनां क्रियात्वप्रसंग इति चेन्न, ततो विशेषलक्षणसद्भावात्। द्रव्यस्य हि देशांतरप्राप्तिहेतुः पर्यायः क्रिया न सर्वः। सर्वत्र सर्वदा कर्मान्न स्यादिति चेन्न, उभयनिमित्तापेक्षत्वात् क्रियायास्तद्भाव एव भावात् पर्यायांतरवत्। निष्क्रांतानि क्रियायाः निष्क्रियाणि धर्माधर्माकाशानि। कुत इत्याह।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वैशेषिक कहते हैं कि द्रव्य की पर्याय को यदि क्रिया कहा जायगा तब तो गुण या सामान्य आदि को क्रिया होजाने का प्रसंग आजायगा। जैन सिद्धान्त अनुसार गुण आदि भी द्रव्य के पर्याय हैं, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस क्रिया से गुण आदि में विशेष लक्षणों का सद्भाव पाया जाता है। द्रव्य को प्रकृत देश से अन्य देशान्तर की प्राप्ति का कारण होरहा द्रव्य की पर्याय तो क्रिया है, द्रव्य की शेष सभी पर्यायें क्रिया नहीं हैं। यदि यहां कोई आक्षेप करे कि जब क्रिया द्रव्य का अन्तरंग परिणाम है तो सर्व देशों में सभी कालों में द्रव्य की देशान्तर प्राप्ति जो होती रहनी चाहिये सो किस कारण से नहीं होती है बताओ? आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि द्रव्य की क्रिया नामक परिणति अन्तरंग, बहिरंग, दोनों निमित्तों की अपेक्षा रखती है जब अन्तरंग, बहिरंग, कारणों की योग्यता प्राप्त होगी तब उसके होने पर ही तो क्रिया की उत्पत्ति होसकेगी जैसे कि द्रव्य की अन्य पर्यायें सर्वत्र सर्वदा नहीं होतीं फिरतीं हैं किन्तु नियत कारणों के अनुसार क्वचित्, कदाचित्, ही होतीं हैं। यहाँ तक यह निर्णीत कर दिया गया है कि परिस्पन्द स्वरूप क्रिया से निष्क्रान्त हो रहे धर्म, अधर्म, और आकाश द्रव्य निष्क्रिय हैं। किस कारण से ये तीन द्रव्य क्रियाओं से रहित हैं बताओ? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं—

निष्क्रियाणि च तानीति परिस्पंदविमुक्तितः।
सूत्रितं त्रिजगद्व्यापिरूपाणां स्पंदहानितः॥ १॥

देश से देशान्तर होना--स्वरूप परिस्पन्द से छूट जाना होने के कारण सूत्रकार ने उन धर्म, अधर्म, और आकाश को इस सूत्र द्वारा " निष्क्रिय " ऐसा सूचित किया है क्योंकि तीनों जगत् में व्यापने वाले स्वरूपको धारने वाले पदार्थ के हलन, चलन, आदि स्पन्द होने की हानि है, जो तीनों जगत् में ठसाठस भर रहा है वह कहाँ जाय ? और कहाँ से कहाँ आवे ? यानी कहीं नहीं।

धर्माधर्मौ परिस्पन्दलक्षणया क्रियया निष्क्रियौ सकलजगद्व्यापित्वादाकाशवत्। परिणामलक्षणया तु क्रियया सक्रियावेव, अन्यथा वस्तुत्वविरोधात। स्वरूपासिद्धो हेतुरिति चेन्न, धर्माधर्मयोः सकललोकव्यापित्वस्याग्रे समर्थनात्।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य (पक्ष) परिस्पन्द स्वरूप क्रिया करके रहित होरहे निष्क्रिय हैं (साध्य) क्योंकि सम्पूर्ण जगत् में व्याप रहे हैं (हेतु) आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त)। हाँ अपरिस्पन्द--आत्मक अनेक परिणाम स्वरूप क्रिया करके तो वे सहित होरहे सक्रिय ही हैं अन्यथा यानी धर्म आदि में यदि अपरिस्पन्दपरिणामात्मक क्रियायें भी नहीं स्वीकार जायगीं तब तो अपरिणामी पदार्थों के वस्तुपन का विरोध होजायगा जैसे कि खर-विषाण कोई वस्तु नहीं है। यदि यहाँ कोई यों आपेक्ष करे कि पक्ष में नहीं वर्त्तने से जैनों का सकल जगत्--व्यापीपना हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कह बैठना क्योंकि धर्म, अधर्म के सम्पूर्ण लोक में व्याप--रहेपन का अग्रिम ग्रन्थ में समर्थन कर दिया जावेगा, उतावले मत होओ।

सामर्थ्यात्सक्रियौ जीवपुद्गलाविति निश्चयः।
जीवस्य निष्क्रियत्वे हि न क्रियाहेतुता तनौ ॥ २ ॥

धर्म, अधर्म, आकाश, इन तीन द्रव्य या काल को मिला देने से चार द्रव्यों के निष्क्रियपन की सूत्र द्वारा सूचना होचुकने पर विना कहे ही अन्य शब्दों की सामर्थ्य से यह निश्चय कर लिया जाता है कि जीव द्रव्य और पुद्गल-द्रव्य क्रियासहित हैं। पुद्गल को क्रियासहित माननेमें प्रायः किसी का विवाद नहीं है। हाँ वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य विद्वान् आत्मा में क्रिया होना नहीं मानते हैं कोई अक्रिया-वादी पण्डित तो किसी भी पदार्थ में क्रिया को नहीं मानते हैं, सिनेमा में देखे जारहे चित्रों की क्रियाओं के ज्ञान समान सभी क्रियाओं के ज्ञान भ्रान्त हैं, अन्य अन्य प्रदेशों पर पदार्थ दूसरा, तीसरा, उपज जाता है। पूर्व प्रदेशों पर का पदार्थ वहां ही समूल--चूल नष्ट होजाता है। इस पर हम जैनों का यह कहना है कि यदि जीव को क्रियारहित माना जायगा तो शरीर में क्रिया करने का हेतुपना जीव के घटित नहीं होसकेगा। भावार्थ—हाथ, पाँव, आदि शरीर में जीव ही क्रिया को उपजाता है, यथार्थ बात तो यह है कि हम हाथ को उठाते हैं यहां हाथ में ओत पोत घुस रहे आत्मा या आत्मा के प्रदेशों को ही हम उठा रहे हैं, आत्मा के उठ जाने पर उससे चिपट रहा हाथ भी उठ जाता है। बैलगाड़ी का ऊपरला भाग बैलों द्वारा खींचा जाता है, उससे चिपट रहे पहिये भी घिसटते जाते हैं गाड़ी पर बैठेहुए मनुष्य भी लदे जारहे हैं, आत्मा शरीर की हड्डियों में उलझरहे मांस, रक्त,

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
(खून) चर्म आदि धातु उपधातु, और मलों में भी क्रिया उपजाती है। जहां तक पूंछ पहुँच जाती हैं, वहां पर तो घोड़ा पूंछ से ही डांस को उड़ा देता है, हां इसके अतिरिक्त शरीर प्रदेश पर कभी मच्छर के बैठ जानेपर घोड़े की सक्रिय आत्मा वहीं चर्म में कंप क्रिया पैदा कर मक्खी को उड़ा देता है। स्वयं क्रिया-रहित पदार्थ दूसरों में क्रिया उपजाने का प्रेरक निमित्त नहीं होसकता है। अपने अपने शरीर बराबर परिमाण को धार रहे जीव के हलन, चलन, आदि क्रियाओं का होना प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

प्रकृतेषु पंचसु द्रव्येष्वाकाशांतानां त्रयाणां निष्क्रियत्ववचने सामर्थ्याज्जीवपुद्गलौ सक्रियौ सूत्रितौ वेदितव्यौ।

प्रकरण प्राप्त पांच द्रव्यों में आकाश पर्यन्त तीन द्रव्यों के निष्क्रियपन का कथन करने पर उमास्वामी महाराज ने विना कहे ही सामर्थ्य से जीव और पुद्गल के क्रिया--सहितपन का सूचन कर दिया है, यह समझ लेना चाहिये। गम्यमान पदार्थ को पुनः कण्ठोक्त शब्दों द्वारा कहना व्यर्थ है, अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों द्वारा बहुत प्रमेय को कह देने वाले सूत्रकार महाराज का तो यह लक्ष्य रहना ही चाहिये।

ननु पुद्गलाः क्रियावत्त्वोपलभ्यमानाः क्रियावंत इति युक्तं, जीवस्तु न सक्रियस्तस्य तथानुपलभ्यमानत्वादिति न चोद्यं, तस्य निष्क्रियत्वे शरीरे क्रियाहेतुत्वविरोधात्। ततः क्रियावानात्मान्यत्र द्रव्ये क्रियाहेतुत्वात् पुद्गलद्रव्यवदित्यनुमानाज्जीवस्य क्रियावत्त्वोपलम्भान्न तस्य सक्रियत्वमयुक्तं।

यहां किसी का प्रश्न है कि क्रियासहितपन करके देखे जा रहे गाड़ी, वायु, बादल, समुद्रजल, आदि पुद्गल क्रियावान हैं, यों जैनों का कहना युक्ति-पूर्ण है किन्तु जीव क्रियावान् हैं, यह कहना तो उचित नहीं क्योंकि उस जीव की तिस प्रकार क्रिया-सहितपने करके उपलब्धि नहीं हो रही है। आत्मा सर्व व्यापक है, एक देश से दूसरे देश में नहीं जा सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह कुचोद्य उठाना ठीक नहीं है, कारण कि उस आत्मा को क्रिया रहित मानने पर शरीर में क्रिया करने के हेतु होरहेपन का विरोध होजायगा। स्वयं दरिद्र मनुष्य दूसरे को धन देकर धनी नहीं बनासकता है। स्पर्शरहित आकाश दूध या पानी को उष्ण नहीं कर सकता है। तिस कारण से सिद्ध होजाता है कि आत्मा (पक्ष) क्रियावान् है (साध्य), अन्य पुद्गलद्रव्य में क्रिया का हेतु होने से (हेतु), पुद्गल द्रव्य के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्—जैसे क्रियावान् हो पुद्गल दूसरे पुद्गल में क्रिया को उपजा सकता है, क्रियावान् ऐंजिन गाड़ी के डब्बों में क्रिया कर देता है, इस प्रकार अनुमान से जीव के क्रिया--सहित--पन का उपलम्भ होजाने के कारण उस जीव को क्रिया--सहितपना अभीष्ट करना अयुक्त नहीं है।

कालेन व्यभिचारान्न हेतुर्गमको वेति चेन्न, कालस्य क्रियाहेतुत्वाभावात्। क्रियानिर्वर्तकत्वं क्रियाहेतुत्वमिह साधनं न पुनः क्रियानिमित्तमात्रत्वं तस्य कालादौ सद्भावाभा-

नात्र व्यभिचारः । कालो हि क्रियापरिणामिनां स्वयं निमित्तमात्रं स्थविरगतौ यष्ठिवत्, न पुनः क्रियानिर्वर्तकः पर्णादौ पवनवत् ।

यदि यहाँ कोई यों दूषण उठावे कि काल तो सम्पूर्ण गति आदि परिणतियों का कारण होरहा निष्क्रिय माना गया है अतः काल करके व्यभिचार होजाने से जैनों का अन्यत्र द्रव्ये क्रिया-हेतुत्व नामका हेतु अपने सक्रियत्व साध्य का ज्ञापक नहीं है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि काल को क्रिया का प्रेरकहेतुपना नहीं है क्रिया का प्रेरक होकर सम्पादन करा देना यहाँ "क्रियाहेतुत्व,, साधन का अर्थ है किन्तु फिर क्रिया का केवल उदासीन निमित्तकारणपना क्रिया-हेतुत्व नहीं है, अतः क्रियाके उस प्रेरक निमित्तपन हेतु का काल आदि में सद्भाव नहीं है इस कारण व्यभिचार दोष नहीं होता है ।

यों समझिये कि काल तो स्वयं स्वकीय अभ्यन्तर बहिरंग कारण या नियत उपादान कारणों अनुसार क्रिया स्वरूप परिणत होरहे पदार्थों का केवल उदासीन निमित्त है । जैसे कि अति वृद्ध पुरुष को गमन करने में लठिया थोड़ा सहारा मात्र देती है, या चाक को घुमाने में नीचे की पतली कीली साधारण सहायक है । बैठे हुये बुड्ढे को लठिया बलात्कार से नहीं चला देती है । दण्ड करके कुम्हार के घुमाये विना विचारी स्थिर कील चाक को नहीं घुमा देती है, इसी प्रकार काल क्रिया का उदासीननिमित्त है । जैसे तिनका आदि में वायु प्रेरक निमित्त होरहा है उस प्रकार काल क्रिया का स्वातंत्र्यवृत्ति से सम्पादक नहीं है । यद्यपि जीवों के साथ बंध रहा पुण्य, पाप, भी स्वयं गतिरहित होकर अन्य इष्ट, अनिष्ट, वस्तुओं को गति करने में सहायक होजाता है तथापि अप्राप्यकारी वह निमित्त कारण भले ही रहो किन्तु प्रेरक निमित्त नहीं है ।

तारों में बह रहा बिजली का प्रवाह जैसे पंखा, ट्राम गाड़ी, आदि की गतियों का निर्वर्तक बनानेवाला है वैसा अदृष्ट नहीं है, इसी प्रकार चुम्बक पाषाण, भले ही लोहे का आकर्षण कर उसको चिपटा लेवे किन्तु यहाँ वहाँ गमन किये विना स्वतंत्रता-पूर्वक लोहे को ठेड़ा, तिरछा, ऊंचा, नीचा, नहीं चला सकता है, बोइलर से निकल रही भाप स्वयं गतिमान् होती हुई ऐंजिन को चलाने में प्रेरक कारण होजाती है । सत्य बात यह है कि मंत्रशक्ति, ऋद्धि, अतिशय, अदृष्ट, तंत्र आदि पदार्थ इस क्रिया के निमित्त कारण भले ही होजांय किन्तु प्रेरक कारण वे ही द्रव्य हैं जो स्वयं क्रियावान् हैं हम जैन क्रियारहित कारण से दूसरे में क्रिया होजाने का निषेध नहीं करते हैं । आदिभूत क्रियारहित कारणों से ही पहिली क्रिया उपजेगी हाँ जो प्रकृष्ट प्रेरक होकर दूसरे पदार्थ में क्रिया को करेगा वह स्वयं क्रियावान् अवश्य होना चाहिये । प्रकृत में जीव द्रव्य शरीर में क्रिया का प्रेरक सम्पादक है अतः वह क्रियावान् अवश्य होना चाहिये जैसे कि पत्तों आदिक में क्रियाओं का सम्पादक वायु स्वयं क्रियावान् है । धीवर पालकी में वैद्य जी को लिये जा रहे हैं यहाँ वैद्य जी में क्रिया पालकी द्वारा होरही है, पालकी में क्रिया को धीवर कर रहे हैं धीवरों के शरीर में क्रियाओं को उनकी आत्मायें

कर रही हैं। उत्साह, इच्छा, वेग, पुरुषार्थ, शक्ति इन करके छाती में क्रिया होरही घीवरों की टांगों को ढकेलती जाती है अथवा कौर लीला जाता है यानी गटक लिया जाता है, यहां भी क्रियावान् ही आत्मा अपने हाथ, जबड़ा, गलकाक आदि शरीर के अवयवों में क्रिया का सम्पादक है, भले ही आत्मा की क्रिया स्वय निष्क्रिय होरहे इच्छा, प्रयत्न, उत्साह आदि से होजाय। अतः विचारशील विद्वानों को यहां ग्रन्थकार के "अन्यत्र द्रव्ये क्रियाहेतुत्वात्, इस हेतु का अन्तरतल में अवगाह कर विचार कर लेना चाहिये।

प्रयत्नादिगुणस्तद्धान्न हेतुरिति चेन्न वै।
गुणोस्ति तद्धतो भिन्नः सर्वथेति निवेदितम्।। ३ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि आत्मा में, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और भावना नामक संस्कार ये चौदह गुण हैं तिन में से प्रयत्न आदि तीन गुण ही शरीर में क्रिया करने के हेतु हैं उन गुणोंवाला आत्मा तो शरीर में क्रिया करने का हेतु नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो कथमपि नहीं कहना क्योंकि उस गुणों वाले आत्मा से सर्वथा भिन्न होरहा कोई गुण नहीं है, पूर्व प्रकरणों में हम इस बातका निर्णय कर चुके हैं। अर्थात्-गुणी से गुण भिन्न नहीं है, जब आत्मा के गुण शरीर में क्रिया के सम्पादक हैं तो उनसे अभिन्न होरहा आत्मा भी क्रिया का हेतु बन बैठा।

नात्मा शरीरादौ क्रियाहेतुर्निर्गुणस्यापि मुक्तस्य तद्धेतुत्वप्रसंगात् ततोऽसिद्धो हेतुः प्रयत्नो धर्मोऽधर्मश्चात्मनो गुणो हि तन्वामन्यत्र वा द्रव्ये क्रियाहेतुरिति परेषामाशयो न युक्तः, प्रयत्नस्य गुणत्वासिद्धेः, वीर्यान्तरायक्षयोपशमादिकारणापादितो ह्यात्मप्रदेशपरिस्पंदः प्रयत्नो नः क्रियैवेति स्याद्वादिभिर्निवेदनात्। तथा धर्माधर्मयोरपि पुद्गलपरिणामत्वसमर्थनादात्मगुणत्वं।

इस कारिका का विवरण यों है वैशेषिकों का यह अभिप्राय है कि शरीर आदि में क्रिया का कारण आत्मा नहीं है किन्तु गुण है यदि शरीर में क्रिया का कारण आत्मा को माना जायगा तो गुणों से रहित मुक्त आत्मा को भी उस क्रिया के हेतुपन का प्रसंग होजावेगा, तिस कारण जैनों का हेतु स्वरूपासिद्ध है "आत्मा क्रियावान् अन्यत्र द्रव्ये क्रियाहेतुत्वात्" यह हेतु पक्ष में नहीं वर्तता है। हाँ प्रयत्न, धर्म, और अधर्म ये आत्मा के तीन गुण ही शरीर में अथवा अन्य वस्त्र, भूषण, ठेला, सूक्ष्म शरीर आदि द्रव्यों में क्रिया के हेतु हैं। इस प्रकार दूसरे वैशेषिकों का यह आशय है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह उनका अभिप्राय समुचित नहीं है क्योंकि प्रयत्न को गुणपना असिद्ध है, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम, इच्छा, आदि कारणों करके सम्पादित किया गया आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द

होजाना ही प्रयत्न है वही हमारे यहाँ प्रयत्न आत्मा की क्रिया मानी गयी है, इस प्रकार स्याद्वादी विद्वानों करके निवेदन कर दिया गया है। अर्थात्- आत्मा का प्रयत्न ही आत्मा की क्रिया है जो कि आत्मा की पर्याय आत्मस्वरूप ही है यदि कोई धनिक घोड़ागाड़ी में बैठा (लदा) जा रहा है या कोई रोगी डोली में बैठा जा रहा है यद्यपि परनिमित्त से उस धनिक या रोगी की आत्माओं में क्रिया होरही है किन्तु यह उनका प्रयत्न नहीं है, अतएव प्रयत्न-स्वरूप क्रिया से युक्त होरहे आत्मा को शरीर आदिक अन्य द्रव्यों में क्रिया का हेतुपना कहा गया है तथा दूसरे तीसरे कारण माने गये धर्म, अधर्म, भी पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं, इस बात का हम प्रथम अध्याय में समर्थन कर चुके हैं, अतः ये धर्म अधर्म आत्मा के गुण नहीं हैं, ऐसी दशा में वैशेषिकों का आक्षेप सफल नहीं होसका।

सन्नप्यसौ प्रयत्नादिरात्मगुणः सर्वथात्मनो भिन्नो न प्रमाणसिद्धोस्तीति निवेदनात् कथंचित्तदभिन्नस्तु स तत्र क्रियाहेतुरित्यात्मैव तद्धेतुरुक्तः स्यात्। तथा च कथमसिद्धो हेतुः ?

" अस्तुतोष न्याय " से उन प्रयत्न आदि को आत्मा का गुण भी मान लिया जाय तो भी वे प्रयत्न धर्म, और अधर्म ये आत्मा से सर्वथा भिन्न होरहे तो प्रमाणों से सिद्ध नहीं है, आत्मा से कथंचित् अभिन्न हो रहे ही प्रयत्न या भावपुण्य, एवं भावपाप होसकते हैं, इसका हम निवेदन कर चुके हैं। उस आत्मा से कथंचित् अभिन्न होरहे प्रयत्न आदिक उन शरीर या अन्य द्रव्य में क्रिया के कारण हैं, यों कहने पर तो वह आत्मा ही उस क्रिया का कारण है, यों कह दिया गया समझा जाता है। अभेद पक्ष के अनुसार एक की बात दूसरे कथञ्चित् अभिन्न में भी लागू होजाती है। और तिस प्रकार आत्मा को शरीर आदि की क्रिया का कारणपना सध जाने पर हम जैनों का ' द्रव्ये क्रियाहेतुत्व " यह हेतु भला असिद्ध हेत्वाभास कैसे होसकता है ? अर्थात्-नहीं।

क्रियाहेतुगुणत्वाद्धा लोष्ठवत्सक्रियः पुमान्।
धर्मद्रव्येण चेदस्य व्यभिचारः परश्रुतौ ॥ ४ ॥
न तस्य प्रेरणाहेतुगुणयोगित्वहानितः।
निमित्तमात्रहेतुत्वात्स्वयं गतिविवर्तिनाम् ॥ ५ ॥

अथवा आत्मा को क्रिया-सहित सिद्ध करने का दूसरा अनुमान यों समझिये कि आत्मा (पक्ष) सक्रिय है (साध्य) क्रिया के हेतु होरहे गुणों को धारने वाला होने से (हेतु) डेल के समान (अन्वय दृष्टान्त)। यदि यहां कोई वैशेषिक पण्डित दूसरे विद्वान् जैनों के शास्त्रों की सम्मति अनुसार धर्मद्रव्य करके इस हेतु का व्यभिचार उठावे कि जीव, पुद्गलों की गति का कारण धर्म द्रव्य है या गति के हेतु होरहे " गति-हेतुत्व " नामक गुण को धारने वाला धर्म द्रव्य है किन्तु वह सक्रिय नहीं

माना गया हैं, अभी इसी सूत्र में धर्म द्रव्य को क्रियारहित साधा जा रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह दोष उठाना ठीक नहीं क्योंकि उस धर्म द्रव्य को क्रिया की प्रेरणा करनेवाला हेतुभूत गुण के योगीपन की हानि है। अर्थात्-क्रिया का प्रेरक कारण धर्म द्रव्य नहीं है, हां स्वयं गति--स्वरूप परिणमन कर रहे जीव पुद्गलों की गति--क्रिया का केवल सामान्य रूप से निमित्त कारण धर्म द्रव्य है, हेतु के शरीर में प्रेरकपना घुसा हुआ है, अतः व्यभिचार दोष नहीं आता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्रियाहेतुगुणत्वस्य हेतोः क्रियावत्त्वं साध्यं गगननानैकांत इत्ययुक्तं, तस्य क्रियाहेतुगुणायोगात्। वायुसंयोगः क्रियाहेतुरिति चेन्न, तस्य क्रियावति तृणादौ क्रियाहेतुत्वेन दर्शनात्। निष्क्रिये व्योमादौ तथात्वेनाप्रतीतेः। न च य एव तृणादौ वायुसंयोगः स एवाकाशेस्ति, प्रतिसंयोगि–संयोगस्य भेदात् वायुसंयोगसामान्यं तु न क्वचिदपि क्रियाकारणं, मंदतमवेगवायुसंयोगे सत्यपि पादपादौ क्रियानुपलब्धेः।

वैशेषिक जन व्यभिचार दोष उठाने के लिये पुनः अपनी घर-मानी प्रक्रिया अनुसार चेष्टा करते हैं कि क्रिया के हेतुभूत गुण से सहितपन हेतु का क्रियासहितपन साध्य करनेपर आकाश करके व्यभिचार होजायगा। आचार्य कहते हैं कि यह कहना अयुक्त है क्योंकि उस आकाश के क्रियाके हेतुभूत होरहे गुण का योग नहीं है। यदि वैशेषिक यों कहैं कि आकाश और वायुका, संयोग नामका गुण क्रिया का हेतु होरहा आकाश में विद्यमान है जैसे तृणवायुसंयोग तृण में क्रिया को कर देता है। संयोग दो आदि द्रव्यों में ठहरता है, चल रही वायु में जो ही संयोग है वही संयोग वहां के आकाश में विद्यमान है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वह वायु संयोग तो क्रियावान् मानेगये तिनके, पत्ता, शाखा, आदि में क्रिया करने के हेतुपने करके देखा गया है, क्रियारहित आकाश आदि में तिस प्रकार क्रिया के हेतुपने करके उस वायुसंयोग की प्रतीति नहीं होती है।

दूसरी बात यह है कि जो ही वायु--संयोग तृण आदि में क्रिया का हेतु है वही वायु-संयोग तो आकाशमें नहीं है, कारण कि प्रत्येक संयोगी द्रव्य की अपेक्षा संयोग भिन्न भिन्न हैं, घट और पट का संयोग होजाने पर घट का संयोग गुण न्यारा है और पट का संयोग न्यारा है, दो द्रव्यों का एक गुण साझे का नहीं होसकता है, अलीक है। हां सामान्य होने से दो गुणों को एक गुण भले ही व्यवहार में कह दिया जाय, वैशेषिकों ने भी दो, तीन, आदि पदार्थों में प्रत्येक में न्यारी न्यारी द्वित्व, त्रित्व, संख्या का समवाय सम्बन्ध से वर्तना स्वीकार किया है। पर्वत में अग्नि संयोगसम्बन्ध से रहती है, यहां प्रतियोगिता सम्बन्ध से अग्नि में संयोग रहता है और अनुयोगिता सम्बन्ध से पर्वत में संयोग रहता माना गया है, वस्तुतः ये संयोग दो होने चाहिये, अतः दो संयोगियों की अपेक्षा वायु संयोग उन में न्यारा न्यारा है।

हाँ सामान्य रूप से मात्र वायुसंयोग तो किसी भी द्रव्य में क्रिया का कारण नहीं माना गया है, देखिये अतीव मन्द वेगवाले वायु का संयोग होने पर भी कदाचित् वृक्ष आदि में क्रिया नहीं देखी जाती है अर्थात्—जीवनोपयोगी वायु सदा बहती ही रहती है कभी अर्द्धरात्रि के समय या वर्षा की आदि में अथवा अन्य अवसरों पर भी सर्वथा मन्द वायु चलती है, तब वृक्ष, दीपक, आदि पदार्थों में भी क्रिया देखने में नहीं आती है, पुष्ट भींत या दृढ़ थम्भों को तो तीव्र वेग वाले वायु का संयोग भी हिला, डुला, नहीं सकता है, अतः आकाश करके "क्रिया-हेतु गुणत्व" हेतु का व्यभिचार दोष नहीं आता है।

स्यान्मतं, न क्रियावानात्मा सर्वगतत्वादाकाशवदित्यनुमानबाधितः क्रियावान् पुरुष इति पक्षः, कालात्ययापदिष्टश्च हेतुरिति। तदसत्, पुरुषस्य सर्वगतत्वासिद्धेः। सर्वगतः पुरुषो द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वाद्गगनवदिति चेन्न, परेषां कालद्रव्येण व्यभिचारात् साधनस्य। कालस्य पक्षीकरणाददोष इति चेन्न, पक्षस्यानुमानागमबाधानुषङ्गात्।

वैशेषिकों का यों मन्तव्य भी होय कि आत्मा (पक्ष) क्रियावान् नहीं है (साध्य) सर्वत्र व्यापक होने से (हेतु) आकाश के समान (दृष्टान्त)। इस अनुमान से तुम जैनों का "आत्मा क्रियावान् है" यह पक्ष बाधित होजाता है और "क्रियाहेतु-गुणत्वहेतु" कालात्ययापदिष्ट (बाधित हेत्वाभास) होजाता है। आचार्य कहते हैं कि यह उनका कहना असत्य है प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि पुरुष के सर्वव्यापकपन की सिद्धि नहीं होसकी है अर्थात् सभी आत्मायें अपने अपने गृहीतशरीर बराबर मध्यम परिमाणवाले हैं। मुक्त आत्मायें चरम शरीर से किंचित् न्यून लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, को धार रहीं हैं केवल लोकपूरण अवस्थामें आत्मा तीन लोकमें व्याप जाती है। यदि वैशेषिक आत्मा को व्यापक सिद्ध करने के लिये यों अनुमान उठावें कि आत्मा (पक्ष) सर्वत्र फैल रहा व्यापक है (साध्य) द्रव्य होते हुये अमूर्त होने से (हेतु) आकाश के समान (दृष्टान्त)।

यहाँ रूप आदि गुणों या क्रिया, सामान्य, आदि में व्यभिचार की निवृत्ति के लिये द्रव्यपन विशेषण देना और पृथिवी आदि में व्यभिचार के निवारणार्थ अमूर्त्तत्व कहना सार्थक है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह अनुमान तो ठीक नहीं। क्योंकि दूसरे विद्वान् जैनों के यहाँ स्वीकार किये गये काल द्रव्य करके तुम्हारे हेतुका व्यभिचार दोष आता है। भावार्थ--वादी, प्रतिवादी, दोनोंको हेतु अभीष्ट होना चाहिये अन्यथा वह साध्य कोटि में धर दिया जाता है। सवारी का घोड़ा वह होना चाहिये जो स्वयं चलता हुआ अश्ववार को भी अभीष्ट स्थान पर ले पहुँचे किन्तु जो घोड़ी का निर्बल बच्चा (बछेड़ा) स्वयं सिर पर धरना पड़े वह गमक (ले जाने वाला वाहन) नहीं होसकता है। देखो काल बेचारा द्रव्य है और अमूर्त भी है किन्तु सर्वगत नहीं है। यदि वैशेषिक यों कहें कि काल को भी हम पक्ष कोटि में कर लेंगे, वह भी व्यापक द्रव्य है, अतः कोई दोष नहीं आता है। आचार्य कहते हैं

कि यह ढंग तो ठीक नहीं। व्यभिचार स्थल को पक्षकोटि में डालने का विचार रखना अच्छा नहीं है, काल को सर्वगत मानने पर तुम्हारे पक्ष की अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाण से बाधा आजाने का प्रसंग आता है।

तथाहि—कालोऽसर्वगतो नानाद्रव्यत्वात्-पुद्गलवदिति अनुमानं पक्षस्य बाधकं। न चात्रासिद्धो हेतुः तस्य नानाद्रव्यत्वेन स्याद्वादिनां सिद्धत्वात्। नानाद्रव्यं कालः प्रत्याकाशप्रदेशं युगपद्व्यवहारकालभेदान्यथानुपपत्तेः। प्रत्याकाशप्रदेशं भिन्नो व्यवहारकालः सकुस्कुरुक्षेत्राकाशलंकाकाशदेशयोर्दिवसादिभेदान्यथानुपपत्तेः। तत्र दिवसादिभेदः पुनः क्रियाविशेषभेदात् नैमित्तिकानां लौकिकानां च सुप्रसिद्ध एव। स च व्यवहारकालभेदो गौणः परैरभ्युपगम्यमानो मुख्यकालद्रव्यमंतरेण नोपपद्यते। यथा मुख्यसत्त्वमंतरेण क्वचिदुपचरितसत्त्वमिति। प्रतिलोकाकाशप्रदेशं कालद्रव्यभेदसिद्धिस्तत्साधनस्यानवद्यत्वात् अन्यथानुपपन्नत्वसिद्धेः।

इसी बात को स्पष्ट कह कर यों दिखलाया जाता है कि काल द्रव्य (पक्ष) अव्यापक है (साध्य) अनेक द्रव्य होने से (हेतु) पुद्गल के समान (दृष्टान्त)। यह निर्दोष अनुमान तुम्हारे पक्ष का बाधक है, इस अनुमान में पड़ा हुआ हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि उस काल को नाना द्रव्यपने करके स्याद्वादियों के यहां सिद्ध कर दिया है। और भी लीजिये कि काल (पक्ष) अनेक द्रव्य है (साध्य) आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक ही समय में भिन्न भिन्न व्यवहार कालों की अन्यथा यानी कालको नाना द्रव्य माने विना, सिद्धि नहीं होपाती है। इस अनुमान का हेतु भी असिद्ध नहीं है, देखिये व्यवहार काल (पक्ष) प्रत्येक आकाश के प्रदेशों पर भिन्न भिन्न वर्त रहा है (साध्य) क्योंकि एक ही समय उत्तर प्रान्तवर्त्ती कुरुक्षेत्र सम्बन्धी आकाश और दक्षिण प्रान्तवर्त्ती लंका सम्बन्धी आकाश प्रदेशों में दिवस आदिका भेद अन्यथा यानी भिन्न भिन्न व्यवहार कालको माने विना नहीं बन पाता है।

यह भी हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि उन कुरुक्षेत्र, लंका आदि देशों में फिर दिवस आदि का भेद तो क्रियाविशेषों के भेद से होरहा निमित्तशास्त्रज्ञाता, ज्योतिषी पण्डित और लौकिक पुरुषों के यहां बहुत अच्छा प्रसिद्ध ही है अर्थात्—सूर्यके उदय और अस्त की अपेक्षा लंका और कुरुक्षेत्र का स्वल्प अन्तर पड़ जाता है। शीत और उष्णता में भी अन्तर है, आम्र आदि फलों का आगे पीछे पकना इत्यादि क्रियायें भी विशेषताओं को लिये हुये हैं। यों क्रियाविशेषों के अनुसार दिवस आदि भेद और न्यारे न्यारे स्थलों पर दिवस आदि भेदों करके उन व्यवहार कालों का भेद तथा व्यवहार कालों के भेद से काल को नाना द्रव्यपन साध दिया जाता है।

भिन्न, भिन्न, व्यवहार काल तो वैशेषिक, मीमांसक, आदि सबको मानने पड़ते हैं और वह दूसरे विद्वानों करके गौण होकर स्वीकार कर लिया भिन्न भिन्न व्यवहार काल तो मुख्य काल--द्रव्यके

विना नहीं बन सकता है। जैसे कि वैशेषिकों के यहां पर द्रव्य, गुण, कर्म में मुख्य सत्ताको माने विना कहीं सामान्य, विशेष, आदि में उपचरित (गौण) सत्ता नहीं बन पाती है इस कारण लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर भिन्न भिन्न काल द्रव्य की सिद्धि होजाती है क्योंकि अन्यथानुपपत्ति की सिद्धि होजाने से काल के उस नाना द्रव्यपने को साधने वाला हेतु निर्दोष है। नाना द्रव्यपनसे पुनः काल का अव्यापकपना सध जाता है। अतः आत्मा को व्यापकपना साधने में दिया गया वैशेषिकों का "द्रव्य होते हुये अमूर्तपना" हेतु काल द्रव्य करके व्यभिचारी है। स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष से भी आत्मा का अपने अपने शरीर--परिमाण वाले का ही अनुभव होरहा है।

कालस्यासर्वगतत्वेऽनिष्टानुषंगपरिजिहीर्षया प्राह।

काल को अव्यापक द्रव्य मानने पर अनिष्ट का प्रसंग होजायगा, यों वैशेषिकों के अभिप्राय के परिहार करने की इच्छा करके ग्रन्थकार अगली वार्तिक को सुन्दर कह रहे हैं।

कालोऽसर्वगतत्वेन क्रियावान्नानुषज्यते।
सर्वदा जगदेकैकदेशस्थत्वात् पृथक् पृथक् ॥ ६ ॥

कणाद मत-अनुयायी कहते हैं, कि काल को यदि असर्वगत द्रव्य माना जायगा तब तो इस हेतु करके परमाणु, मन, डेल, गोली आदि के समान काल को भी क्रियावान् बनने का प्रसंग आ जावेगा किन्तु हम और जैनभी कालको क्रिया-रहित मानते हैं आचार्य कहते हैं कि यह प्रसंग नहीं आपाता है क्योंकि सदा लोक के एक एक प्रदेश पर पृथक् पृथक् होकर कालाणु स्थित होरहे हैं। बात यह है कि कालाणुओं के अतिरिक्त सुमेरु पर्वत, ध्रुवतारा, मनुष्य लोक से बाहर के सूर्य चन्द्र विमान, अन्य भी विले, भवन, कुल-पर्वत, आदिक अव्यापक पदार्थ जहाँ के तहाँ नियत होरहे स्थित हैं, हलन, चलन, नहीं करते हैं। उसी प्रकार असंख्यात कालाणुयें भी अनादि काल से अनन्त काल तक अपने अपने नियत स्थानों पर अडिग होकर व्यवस्थित हैं, उन में क्रिया होने का अन्तरंग कारण सर्वथा नहीं है। कोई वेगयुक्त पदार्थ कालाणुओं में आघात भी करै तो वह अमूर्त कालाणुओं में से अव्याघात होकर परली ओर निकल जायगा, जैसे से कि स्वच्छ कांच चलाया, फिराया, गया फैल रही धूप को हिला, डुला, नहीं सकता है, धूप वहां की वहां ही रहती है, कांच से उसका व्याघात या देशान्तर कर देना नहीं हो पाता है।

क्रियावान् कालोऽसर्वगतद्रव्यत्वात् पुद्गलवदित्यनिष्टानुषंजनमयुक्तं, सर्वदा लोकाकाशैकैकप्रदेशस्थत्वेन पृथक्-पृथक् कालाणूनां प्रसाधनात्। ते हि प्रत्याकाशप्रदेशं प्रतिनियतस्वभावस्थितयोऽभ्युपगन्तव्याः परीक्षकैरन्यथा व्यवहारकालभेदप्रतिनियतस्वभावस्थित्यनुपपत्तेः कदाचित्तत्परावृत्तिप्रसंगात्।

वैशेषिक अनिष्ट प्रसंग को उठा रहे हैं कि काल द्रव्य (पक्ष) क्रियावान् हो जाना चाहिये (साध्य) अव्यापक द्रव्य होने से (हेतु) पुद्गल के समान (दृष्टांत)। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह हम तुम दोनों को अनिष्ट हो रहे काल के क्रिया-सहित पन का प्रसंग उठाना अनुचित है क्योंकि सदा लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर स्थित हो रहेपन करके पृथक्-पृथक् कालाणु द्रव्यों की अच्छी सिद्धि कर दी गयी है। वे कालाणुयें आकाश के प्रदेश पर अपने प्रतिनियत स्वभावों करके स्थित हो रहीं परीक्षक विद्वानों करके अवश्य स्वीकार करनी पड़ती हैं, अन्यथा यानी--प्रत्येक प्रदेश पर प्रत्येक कालाणु के नहीं मानने पर तो प्रतिनियत स्वभावों को लिये हुये व्यवहार काल के भेदों की स्थिति नहीं बन पाती है। यों तो कभी कभी उन व्यवहार काल के विशेषों की परावृत्ति हो जाने का प्रसंग हो जायगा किन्तु परावृत्ति (रद्दोबदल) होती नहीं है, अतः कालाणुओंको क्रिया-रहित और प्रत्येक प्रदेश पर

प्रवचनकार-लेखनकर्ता-प्रकाशक-विद्यासागर जी महाराज

अणुपरिमाणानि च तानि कालद्रव्याणि स्कंधाकारत्वेन कार्यानुमितिप्रतीयमानस्य कार्यस्य प्रत्याकाशप्रदेशं सकृद्द्रव्यव्यवहारकालभेदलक्षणस्याणुनापि कालद्रव्येण कर्तुं शक्यत्वात्। एतेन सर्वगतः काल इति पक्षस्यागमबाधोपदर्शिता। कथं ? "लोयायासपएसे एक्केक्के जे ठिया हु एक्केका। रयणाणं रासी इव ते कालाणू मुणेयव्वा" इत्यागमस्यावधितस्य सिद्धेः। अत एव द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादिति हेतुः कालात्ययापदिष्टः कालोऽसर्वगत एव व्यवतिष्ठते। तथा चात्मनः परममहत्त्वे साध्येऽस्यैव हेतोः कालेन व्यभिचारः सिद्ध्यतीति नातस्तत्सिद्धिर्येन क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणत्वाल्लोष्टवदित्यनुमानमनवद्यं न भवेत्। पक्षस्यानुमानबाधनानवतारादुक्तोश्च कालात्ययापदिष्टत्वाभावादिति सूक्तमाकाशान्तानां निष्क्रियत्वं तद्वचनेन सामर्थ्याज्जीवपुद्गलानां सक्रियत्वप्रतिपादनं च कालस्य वक्ष्यमाणस्य निष्क्रियत्वात्।

वे काल द्रव्य अणु परिमाण वाले हैं क्योंकि स्कन्ध आकारपने करके कार्य अनुमिति द्वारा प्रतीत किया जा रहा जो प्रत्येक आकाश के प्रदेश पर युगपत् व्यवहार काल के अनेक भेद-स्वरूप कार्य है वह अणु-स्वरूप भी काल द्रव्य करके किया जा सकता है। इस कार्यके लिये व्यापक काल या लम्बे चौड़े काल द्रव्य की आवश्यकता नहीं है।

इस उक्त कथन करके वैशेषिकों के काल सर्वगत है, इस पक्ष की आगमप्रमाणसे आ रही बाधा दिखलाई जा चुकी है। अनुमान प्रमाण से तो वैशेषिकों के पक्ष की बाधा हो ही चुकी।

आगम प्रमाण से बाधा किस प्रकार आती है ? उसको यों सुनो। प्राचीन किसी सिद्धान्त ग्रन्थ की गाथा है श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने भी द्रव्य-संग्रह ग्रन्थ में उल्लेख किया है "लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक होकर जो रत्नों की राशि के समान स्थित हो रहीं हैं वे कालाणुयें समझ लेनी चाहिये। इस अबाधित हो रहे आगम की सिद्धि है।

यों काल को भी पक्ष कोटि में डालकर व्यापक सिद्ध कर रहे वैशेषिकों के पक्ष की अनुमान से बाधा दिखला दी जा चुकी थी, अब आगम से भी उस पक्ष की बाधा को प्रसिद्ध कर दिया है।

इसी कारण से काल को पक्ष कोटि से डालकर "द्रव्य होते हुये अमूर्तपन" यह हेतु बाधित हेत्वाभास हो जाता है क्योंकि काल द्रव्य अव्यापक ही व्यवस्थित हो रहा है और तैसा होनेपर आत्मा को परम महापरिणाम वाला (सर्वव्यापक) साध्य करनेपर इस 'द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्व' हेतु का काल द्रव्य करके व्यभिचार सिद्ध हो जाता है, इस कारण इस द्रव्यत्व सति अमूर्तत्वहेतु से आत्मा के उस सर्वगतपने की सिद्धि नहीं हो पाती है जिससे कि हम स्याद्वादियों का "आत्मा क्रियावान है क्रियाके हेतुभूत गुणों का धारने वाला होने से डेल के समान" यह अनुमान निर्दोष नहीं होता।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थात्—जैनियों का अनुमान निर्दोष है क्योंकि हमारे पक्ष के ऊपर अनुमान प्रमाणों द्वारा बाधाओं का अवतार नहीं है और इसी ही कारण हमारा हेतु कालात्ययापदिष्ट नहीं है। अतः सूत्रकार ने यह बहुत अच्छा कहा था कि आकाश पर्यन्त द्रव्यों के क्रिया-रहितपन है तथा उस कथन करके परिशेष न्याय द्वारा विना कहे ही अन्य उक्त शब्दों की सामर्थ्य से जीव और पुद्गल द्रव्यों का क्रियासहितपना समझा दिया गया है और भविष्य ग्रन्थ में कहे जानेवाले काल द्रव्य को क्रिया-रहितपना भी निर्णीत कर दिया है जो कि सूत्रकार के अभिप्राय के अनुसार यह छटवां वार्त्तिक और उसका विवरण काल के निष्क्रियपन का प्रतिपादन कर रहा है।

नन्वेवं निःक्रियत्वेपि धर्मादीनां व्यवस्थिते।
न स्युः स्वयमभिप्रेता जन्मस्थानव्ययक्रियाः ॥७॥
तथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति लक्षणं।
तत्र न स्यात्ततो नैषां द्रव्यत्वं वस्तुतापि च ॥ ८ ॥
इत्यपास्तं परिस्पंदक्रियायाः प्रतिषेधनात्।
उत्पादादिक्रियासिद्धेरन्यथा सत्त्वहानितः ॥ ९ ॥
परिस्पंदक्रियामूला नचोत्पादादयः क्रियाः।
सर्वत्र गुणभेदानामुत्पादादिविरोधतः ॥ १० ॥
स्वपरप्रत्ययौ जन्मव्ययौ यदि गुणादिषु।
स्थितिश्च किं न धर्मादिद्रव्येष्वेवमुपेयते ॥ ११ ॥

अब यहां किन्हीं दूसरे ही विद्वानों का प्रश्न है कि इस प्रकार प्रमाणों द्वारा धर्म आदि द्रव्यों के क्रिया--रहितपन की भी व्यवस्था होचुकने पर फिर स्वयं जैनों को अभीष्ट हो रहीं उत्पत्ति, स्थिति, और व्यय स्वरूप क्रियायें उनमें नहीं हो सकेंगी और ऐसी दशा में सूत्रकार द्वारा कियां गया तिस प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों से युक्त पदार्थ सत् है, यह द्रव्य का लक्षण उन धर्म आदिकों में घटित नहीं होसकेगा, तिस कारण इन धर्म आदिकों का द्रव्यपना और वस्तुपना भी नहीं बन पाता है, अर्थात्—धर्म आदिकों में जब कोई क्रिया नहीं पायी जाती है तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप क्रियाओं के भी अभाव हो जाने पर धर्म आदिक न तो द्रव्य और न वस्तु सध सकेंगे, खर-विषाण के समान असत् हो जायंगे।

आचार्य कहते हैं कि यह शंकाकार का कहना यों निराकृत होजाता है, कि सूत्रकार

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री, सुविधिसागर जी महाराज

ने "निष्क्रियाणि च" इस सूत्र द्वारा हलन, चलन, कम्प आदि परिस्पन्द--स्वरूप क्रिया का धर्म आदिक द्रव्यों में प्रतिषेध किया है, शुद्ध धात्वर्थ--स्वरूप या अपरिस्पन्द--आत्मक उत्पाद आदि क्रियायें तो उनमें सिद्ध हैं, अन्यथा धर्म आदिकों के सत्पने की ही हानि होजायगी। उत्पाद, व्यय, आदिक क्रियायें परिस्पन्द--स्वरूप क्रिया को मूल कारण मान कर नहीं होती हैं। यदि हलन, चलन, आदि क्रिया की भित्ति पर उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य माने जायंगे तो गुणों के रूप पीत आदि भेद प्रभेदों के उत्पाद आदि होनेका विरोध हो जायगा। भावार्थ—वैशेषिकों ने द्रव्यों में ही उत्क्षेपण आदि परिस्पन्द स्वरूप क्रियायें मानी हैं। "गुणादिर्निर्गुणक्रियः" गुणों में क्रियायें नहीं रहती हैं, ऐसी दशा में क्रिया--रहित गुणों में तुम्हारे विचार अनुसार उपजना, नशना, ठहरना, बढ़ना, घटना, आदि क्रियायें नहीं हो सकेंगी।

यदि आप गुण आदिकों में स्व और पर को कारण मान कर होरहे उत्पाद, व्यय और स्थिति को मानेंगे तो इसी प्रकार धर्म आदि द्रव्यों में उत्पाद, व्यय, स्थितियों को क्यों नहीं स्वीकार करलिया जाता है। भावार्थ—परिस्पन्द क्रिया के विना जैसे गुण आदिकों में अनेक अपरिस्पन्द-आत्मक क्रियायें होरहीं हैं, ज्ञान उपजता है, घटता है, बढता है, सुख ठहर रहा है, भावना दृढ़ होरही है आदि उसी प्रकार परिस्पन्द के विना भी धर्म आदि द्रव्यों में उत्पाद आदि क्रियायें सध जाती हैं। शुद्ध परमात्मायें, आकाशद्रव्य, कालाणुयें, धर्म, अधर्म, इन द्रव्यों में हलन, चलन, आदि के विना अनेक अपरिस्पन्द क्रियायें होरहीं हैं, षट्स्थान-पतित हानि वृद्धियों के अनुसार अन्तरंग, बहिरंग कारण-वश अनेक उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते रहते हैं। अतः इनमें वस्तुपना, द्रव्यपना, बाल बाल रक्षित होरहा अक्षुण्ण है।

गतिस्थित्यवगाहानां परत्र न निबंधनं।
धर्मादीनि क्रियाशून्यस्वभावत्वात्खपुष्पवत्॥ १२॥

क्रियावत्त्वप्रसंगो वा तेषां वायुधरांबुवत् ।
इत्यचोद्यं बलाधानमात्रत्वाद्गमनादिषु ॥ १३ ॥
धर्मादीनां स्वशक्त्यैव गत्यादिपरिणामिनां ।
यथेन्द्रियं बलाधानपात्रं विषयसंनिधौ ॥ १४ ॥

किसी विद्वान् का आचार्यों के ऊपर आक्षेप है, कि धर्म आदिक तीन द्रव्य (पक्ष) दूसरे द्रव्यों में गति स्थिति, और अवगाह के कारण नहीं होसकते हैं, (साध्य) क्रियारहितपना स्वभाव होने से (हेतु) आकाश के फूल समान (दृष्टान्त) । यदि धर्म, अधर्म और आकाश को यथाक्रम से गति, स्थिति, और अवगाह देना इनका कारण माना जायगा तो वायु, पर्वत, और जल के समान उन धर्म आदिकों के क्रिया--सहितपन का प्रसंग होजावेगा अर्थात्—वायु क्रियासहित हो रही ही तृण आदिकों की गति का निबन्ध है, पर्वत क्रिया करने की सामर्थ्य को धार रहा हो पक्षी, पशु, आदि की स्थिति का अवलम्ब होरहा है। जल भी स्वयं क्रियावान् होरहा मछली, डेल, आदि के अवगाह का हेतु होरहा है। इसी प्रकार धर्म आदिक भी क्रियावान् होजायंगे ।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह चोद्य उठाना ठीक नहीं है। क्योंकि अपनी शक्ति करके गति आदि स्वरूप परिणत होरहे पदार्थों के गमन, स्थिति, आदि में धर्म आदि द्रव्यों को केवल बलाधायकपना है, जिस प्रकार कि रूप रस, आदि विषयों के सन्निधान होने पर चक्षु आदि इन्द्रियां चाक्षुषप्रत्यक्ष आदि की उत्पत्ति में आत्माके केवल बल का आधान कर देती हैं। भावार्थ—जैसे कि आत्मा को ज्ञान करने में इन्द्रियां थोडा सहारा लगा देती हैं, उसी प्रकार गति, स्थिति, अवगाह क्रियाओं में धर्म आदिक तीन द्रव्य स्वल्प सहारा लगाने वाले उदासीन कारण हैं, समर्थ कारण तो गति-परिणत या स्थिति--परिणत अथवा अवगाह--परिणत पदार्थ ही हैं। अतः धर्म आदिकों के परिस्पन्द क्रिया से सहितपन का प्रसंग नही आपाता है ।

पुंसः स्वयं समर्थस्य तत्र सिद्धेर्न चान्यथा ।
तथैव द्रव्यसामर्थ्यान्निष्क्रियाणामपि स्वयं ॥ १५ ॥
धर्मादीनां परत्रास्तु क्रियाकारणमात्रता ।
नचैवमात्मनः कालक्रियाहेतुत्वमापतेत्॥१६॥
सर्वथा निष्क्रियस्या पि स्वयं मानविरोधतः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आत्माहिप्रेरकोहेतुरिष्टःकायादिकर्मणि ॥
तृणादिकर्मणीवास्तु पवनादिश्च सक्रियः ॥१७॥ (षट्पदी)

विशेष शक्तिशाली कारणों की अपेक्षा विचार किया जाय तो उन चाक्षुष-प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों में स्वयं समर्थ हो रहे आत्मा की ही सिद्धि है, अन्य प्रकारों से ज्ञान नहीं उपजता है। यानी-आत्मा के बिना मृत शरीर में वत रहीं इन्द्रियां ज्ञानों को नहीं उपजा सकती हैं।

तिस ही प्रकार द्रव्य की सामर्थ्य से स्वयं क्रिया--रहित हो रहे भी धर्म आदिकों को दूसरे जीव आदिकों की गति आदि में क्रिया का केवल सामान्य कारणपना रहो।

यदि यहां कोई वैशेविक अवसर पाकर यों बोल उठे कि इस प्रकार तो क्रिया--रहित ही आत्मा को भी शरीर में क्रिया का हेतुपना आ पड़ेगा (प्राप्त हो जावेगा) अर्थात् क्रिया--रहित धर्म आदिक जैसे दूसरे पदार्थों में क्रियाओं को कर देते हैं, उसी प्रकार क्रिया-रहित जीव भी शरीरमें क्रिया को उपजा देगा, फिर 'शरीरे क्रिया-हेतुत्व' हेतु आप जैनों ने आत्मा में क्रिया-सहितपन को क्यों साधा था ? आचार्य कहते हैं कि यह नहीं समझ बैठना क्योंकि सर्वथा भी स्वयं क्रियाओं से रहित हो रहे आत्मा को मानने पर प्रमाणों से विरोध आता है जब कि शरीर आदि की क्रिया करने में आत्मा प्रेरक कारण इष्ट किया गया है जैसे कि तृण पत्ता आदि की क्रियाओं में वायु, जल, बिजली आदिक प्रेरक कारण माने गये हैं, दूसरों में क्रियाओं के प्रेरक कारण पवन आदिक क्रिया--सहित ही हैं तो उसी प्रकार आत्मा भी क्रिया--सहित होना चाहिये तभी शरीर आदि में क्रिया करने का वह प्रेरक-हेतु हो सकता है।

वीर्यांतरायविज्ञानावरणच्छेदभेदतः।
सक्रियस्यैव जीवस्य ततोंगे कर्महेतुता ॥१८॥

तिस कारण से सिद्ध हुआ कि वीर्यान्तराय कर्म और ज्ञानावरण कर्म के (का) विशेष क्षयोपशम हो जाने से क्रियासहित हो रहे ही जीव को शरीर में क्रिया का हेतुपना प्राप्त होता है।

हस्ते कर्मात्मसंयोगप्रयत्नाभ्यामुपेयते।
यैस्तेपि च प्रतिक्षिप्तास्तयोस्तच्छक्त्ययोगतः ॥१९॥
निष्क्रियो हि यथात्मैषां क्रियावद्भैसदृश्यतः।
कालादिवत्तथैवात्मसंयोगः सप्रयत्नकः ॥२०॥

गुणः स्यात्तस्य तद्वच्च निष्क्रियत्वाविशेषतः।
गुणाःकर्माणि चैतेन व्याख्यातानीति सूचनात् ॥२१॥
नतावदात्मसंयोगः केवलःकर्मकारणं।
नुःप्रयत्नस्य हस्तादौ क्रियाहेतुत्वहानितः ॥२२॥
नैकस्य तत्प्रयत्नस्य क्रियाहेतुत्वमीक्ष्यते।
शरीरायोगिनोन्यस्य ततः कर्मप्रसंगतः ॥२३॥

आत्मा के हो रहे संयोग से और प्रयत्न से हाथ में कर्म (क्रिया) उपज जाती है, यह सिद्धान्त जिन वैशेषिकों करके स्वीकार किया गया है वे कणाद मतानुयायी भी उक्त कथन करके प्रतिक्षेप को प्राप्त कर दिये गये हैं क्योंकि उन आत्मा के संयोग और आत्मा के प्रयत्न में हाथ में उस क्रिया को करने की शक्ति का योग नहीं है अर्थात् कणाद ऋषि प्रणीत वैशेषिक दर्शन के पांचवें अध्याय का पहिला सूत्र है "आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म" आत्मा के संयोग और आत्माके प्रयत्न से हाथ में क्रिया उपज जाती है, क्रिया का समवायी कारण हाथ है, प्रयत्न वाले आत्मा का संयोग असमवायी कारण है और प्रयत्न निमित्त कारण है। वैशेषिकों ने पांचवें अध्याय के अगले सूत्रों में भी कर्म पदार्थ की परीक्षा की है। हम ग्रन्थकार को यह कहना है कि साधर्म्य, वैधर्म्य अनुसार प्रमेय निरूपण करने वाले इन वैशेषिकों के यहां क्रियावान् पदार्थों के साथ विसदृशपना होने से जिस प्रकार निष्क्रिय हो रहा आत्मा बेचारा काल आदि के समान क्रियाओं का सम्पादक नहीं है उसी प्रकार प्रयत्न का साथी हो रहा आत्माका संयोग नामक गुण भी क्रिया का कारण नहीं है क्योंकि उस आत्म-संयोग या प्रयत्न को उन काल आदिक के समान क्रियारहितपन का कोई अन्तर नहीं है "दिक्कालावाकाशञ्च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि" चकारादात्मसंग्रहः। इसके लगे हाथ ही वैशेषिकों के इस प्रकार सूत्र करने से कि इस क्रियावान् के साथ विधर्मापन करके गुण और कर्मों का भी निष्क्रियपने करके व्याख्यान किया जा जा चुका है, केवल आत्मसंयोग तो कर्म का कारण नहीं हो सकता है।

अर्थात—वैशेषिक दर्शन में पांचवें अध्याय के दूसरे आन्हिक का वाईसवां सूत्र "एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः" है, इस सूत्र के अनुसार कोई भी गुण भला क्रिया का कारण या अधिकरण नहीं हो सकता है ऐसी दशा में केवल आत्म-संयोग भी तो उत्क्षेपण आदि कर्म का कारण नहीं बन पाता है, आत्मा के प्रयत्न को भी हाथ आदि क्रिया के हेतुपन की हानि है क्योंकि उस आत्मा के अकेले प्रयत्न को क्रिया का हेतुपना नहीं देखा जाता है, कोरा प्रयत्न यदि क्रिया का कारण होता तो शरीर का सम्बन्ध नहीं रखने वाले अन्य प्रदेशवर्त्ती व्यापक आत्मा के उस प्रयत्न से भी क्रिया होने का प्रसंग आवेगा।

अर्थात्—आत्मा को व्यापक मानने वाले वैशेषिकों के यहां शरीर से अतिरिक्त थम्भ या भीत में भी आत्मा विद्यमान है आत्मा का प्रयत्न गुण भी वहां आत्मा में समवेत हो रहा है किन्तु भीत में क्रिया नहीं देखी जाती है जो गुण बेचारे स्वयं क्रिया रहित हैं वे अन्य द्रव्यों में क्रिया के प्रेरक-कारण नहीं हो सकते हैं व्यापक द्रव्यका गुण किसी एक देशवर्ती स्वकीय शरीर नामक उपाधिमें ही क्रिया का प्रेरक कारण नहीं बन सकता है या तो सम्पूर्ण स्वसंयोगी पदार्थों में क्रिया को उपजावे अथवा कहीं भी क्रिया को नहीं उपजावे।

बात यह है कि वैशेषिकों के यहां स्वीकृत व्यापक आत्मा या उसके संयोग और प्रयत्न गुण भला हाथ आदि में क्रिया की उत्पत्ति नहीं करा सकते हैं।

सहितावात्मसंयोगप्रयत्नौ कुरुतः क्रियाः।
हस्तादावित्यसंभाव्यमन्धयोः सहदृष्टिवत् ॥ २४ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि आत्मा का अकेला संयोग या प्रयत्न गुण तो हाथ में क्रिया को नहीं उपजा सकते हैं, हाँ आत्मा के संयोग और प्रयत्न दोनों सहित होते हुये हाथ, पांव, आदि में क्रियाओं को कर देते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह असम्भव है। जैसे कि दो अन्धे पुरुष साथ होकर भी दर्शन को नहीं कर पाते हैं अर्थात्-अकेला अकेला अन्धा भी देख नहीं सकता है और दो अन्धे मिल कर भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं, इसी प्रकार मिलकर आत्मसंयोग और आत्मप्रयत्न भी हाथ में क्रियाओं को नहीं उपजा सकते हैं।

अदृष्टापेक्षिणौ तौ चेदकुर्वाणौ क्रियां नरि।
हस्तादौ कुरुतः कर्म नैवं क्वचिददृष्टितः ॥ २५ ॥

यदि वैशेषिक पुनः यों कहें कि अदृष्ट यानी विशेष पुण्य, पाप की अपेक्षा को कर रहे वे संयोग और प्रयत्न भले ही आत्मा में क्रिया को नहीं कर रहे हैं किन्तु हाथ, शिर आदि में क्रिया को कर देते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार कहीं भी नहीं देखा गया है, विना देखी हुयी बात को केवल तुम्हारी प्रतिज्ञा-मात्र से स्वीकार करने की हमें टेव नहीं है।

उष्णापेक्षो यथा वन्हिसंयोगः कलशादिषु।
रूपादीन् पाकजान् सूते न वन्हौ स्वाश्रये तथा ॥ २६ ॥
नृसंयोगादिरन्यत्र क्रियामारभते न तु।
स्वाधारे नरि तस्येत्थं सामर्थ्यादिति चेन्न वै ॥ २७ ॥

वैषम्यादस्मदिष्टस्य सिद्धेः साध्यसमत्वतः ।
प्रतीतिबाधनाच्चैतद्विपरीतप्रसिद्धितः ॥ २८ ॥
साध्ये क्रियानिमित्तत्वे दृष्टांतो ह्यक्रियाश्रयः ।
स्यादेव विषमस्तावदग्निसंयोग उष्णभृत् ॥ २९ ॥

पुनः अपि वैशेषिक बोलते हैं कि उष्णता की अपेक्षा रखता हुआ अग्नि का संयोग जिस प्रकार घट आदिकों में पाक से जायमान रूप, रस, आदिकों को उपजा देता है किन्तु वह वन्हि-संयोग अपने आधार भूत अग्नि में रूप आदिकों को नवीन नहीं उपजाता है, उसी प्रकार आत्म-संयोग आदि गुण भी अन्य हाथ, पांव, आदि में क्रिया को बना देते हैं परन्तु अपने आधार होरहे आत्मा में क्रिया को नहीं उपजा पाते हैं क्योंकि उन आत्म--संयोग, प्रयत्न, आदि की इसी प्रकार सामर्थ्य है, कार्यकारणभाव के नियतपन में आप जैन भी व्यर्थ झगड़ा नहीं उठावेंगे। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि निश्चय से आपका दृष्टान्त विषम पड़ता है उससे तो हमारे ही इष्ट की सिद्धि होजाती है। वैशेषिकों के ऊपर साध्य-सम दोष भी लगता है और प्रतीतियों से बाधा आती है तथा वैशेषिकों के इस अभीष्ट मन्तव्य से विपरीत होरहे सिद्धान्त की अच्छी सिद्धि होजाती है। देखिये प्रकरण में क्रिया का निमित्तपना साध्य किया जा रहा है उस अवसर पर क्रिया का आश्रय नहीं ऐसा अग्निसंयोग दृष्टान्त दिया जा रहा है, अतः उष्णता के साथीपन को धार रहा यह अग्नि-संयोग विषम दृष्टान्त है। विषमदृष्टान्त इष्ट साध्य को नहीं साध पाता।

यथा च स्वाश्रये कुर्वन् विकारं कलशादिषु।
करोति वन्हिसंयोगः पुंसो योगस्तथा तनौ ॥ ३० ॥
इत्यस्मदिष्टसंसिद्धिः क्रियापरिणतस्य नुः
काये क्रियानिमित्तत्वसिद्धेः संयोगिनि स्फुटं॥ ३१ ॥

दूसरी बात यह है कि अग्नि-संयोग जिस प्रकार अपने आश्रय होरहे अग्नि में विकार को कर रहा सन्ता ही घट, ईट, रन्ध-रहे भात आदि में विकार को कर देता है, उसी प्रकार आत्मा का संयोग भी आत्मा में क्रिया को करता सन्ता ही शरीर में क्रिया को कर देवेगा, इस प्रकार क्रिया-परिणत आत्मा के संयोगी शरीर में क्रिया के निमित्तपन की सिद्धि होजाने से हम जैनों के इष्ट साध्य की भली सिद्धि होजाती है। आत्मा का क्रियासहितपना मन्दबुद्धि बाल गोपालों तक में स्पष्ट रूप से परिज्ञात होरहा है। भावार्थ—अवा या भट्टा में लग रही आग का संयोग घट या ईंट में कठिनता,

रक्ति या पक्वता को उपजा देता है, साथ में अग्नि के भी अनेक विकार कर देता है। अग्नि पर मोटी रोटी को सेकने से अग्नि की दशा का निहारिये वह निर्बल, निस्तेज, होजाती है किन्तु वैशेषिक अग्नि में विकार होने को स्वीकार नहीं करते हैं, अतः साध्यसम दोष लागू होता है यहां तक ग्रन्थकार वैशेषिकों के ऊपर विषमता, अस्मदिष्ट-सिद्धि और साध्यसमता का आपादन कर चुके हैं, अब चौथी प्रतीतिबाधा को उठा रहे हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संयोगोर्थान्तरं वन्हेः कुपदेश्च तदाश्रितः।
समवायात्ततो भिन्नप्रतीत्या वाध्यते न किं ॥ ३२ ॥
घटादिष्वामरूपादीन् विनाशयति स स्वयं।
पाकजान् जनयत्येतत्प्रतिपद्येत कः सुधीः ॥ ३३ ॥

उस अग्नि या घट आदि के आश्रित होरहा अग्नि या घट आदि का संयोग तो समवाय-सम्बन्ध होजाने के कारण भला उन आधारों से भिन्न माना गया है तब भी कथंचित् अभिन्न होने की प्रतीति करके वह सर्वथा भिन्न संयोग क्यों नहीं बाधित हो जावेगा ? थोड़ा इस बात को विचारो कि वह अग्निसंयोग स्वयं घट, ईंट आदि में कच्चे, रूप, रस, आदिकों को विनाश देता है और पाक से जायमान पक्के रूप, रस, आदिको उत्पन्न कर देता है कौन बुद्धिमान् ऐसी अयुक्त बात की प्रतिपत्ति कर लेवेगा ? अर्थात्-कोई नहीं। अग्नि के कार्य को बेचारा निर्गुण, निष्क्रिय अग्नि-संयोग नहीं कर सकता है।

न चैषा पाकजोत्पत्तिप्रक्रि । व्यवतिष्ठते।
वन्हेः पाकजरूपादिपरिणामाः कुटादिषु ॥ ३४ ॥
स्वहेतुभेदतः सर्वः परिणामः प्रतीयते।
पूर्वाकारपरित्यागादुत्तराकारलब्धितः ॥ ३५ ॥
कुटेऽपाकजरूपादिपरित्यागेन जायते।
वन्हेः पाकजरूपादिस्तथा दृष्टेरबाधनात् ॥ ३६ ॥
नौष्ण्यापेक्षस्ततो वन्हिसंयोगोऽत्र निदर्शनं।
नुः क्रियाहेतुतासिद्धौ विपरीतप्रसिद्धितः ॥ ३७ ॥

वैशेषिकों के यहाँ मानी गयी यह पाकजपदार्थों की उत्पत्ति की प्रक्रिया व्यवस्थित नहीं हो पाती है। भावार्थ-परमाणु में ही पाक होने को मानने वाले पीलुपाक-वादी वैशेषिकों के यहाँ तथा परमाणु और अवयवी दोनों में पाक होने को कहने वाले पिठर-पाक--वादी नैयायिकों के यहाँ पाक-जन्य रूप आदिकों के उपजने की यह प्रक्रिया है कि प्रथम अग्नि-संयोग से परमाणुओं में क्रिया उपजती है, क्रिया होजानेसे दूसरे परमाणु करके विभाग होजाता है, उस विभाग से द्वयणुक को बनाने वाले संयोग का नाश होजाता है, पश्चात्-द्वयणुकों का नाश होजाता है, उसके पीछे परमाणु में श्याम आदिका नाश होजाता है, २--पुनः परमाणु में रक्त आदि की उत्पत्ति होती है, ३-तत्पश्चात्-द्वयणुक द्रव्य को बनाने के अनुकूल लाल परमाणुओं में क्रिया उपजती है, ४-पुनः विभाग होता है, ५ पश्चात्-परमाणुओं में पहिले होरहे संयोग का नाश होता है, ६-पीछे द्वयणुकों को आरम्भ करने वाला संयोग उपजता है, ७-उसके पीछे द्वयणुकों की उत्पत्ति होती है, उसके पीछे द्वयणुकोंमें रक्त आदि की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार और भी कई प्रक्रियायें हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नैयायिकों के यहां भी पाकज रूप, रस, गन्ध, स्पर्शों की उत्पत्ति करने में न्यून--अधिक, वैसी प्रक्रिया इष्ट की गयी है, ये अवयवी में भी पाक को मानते हैं किन्तु यह सब प्रमाण-बाधित है अवे में घड़ा या भट्टा में ईंट विचारी टूट फूट कर परमाणुस्वरूप टुकड़े टुकड़े नहीं होजाते हैं यदि कोई ईंट पिघल जाय या बिखर जाय तो फिर वह वैसी ही छिन्न, भिन्न, होकर पक जाती है क्वचित् होने वाला कार्य सर्वत्र के लिये लागू नहीं होता है, अतः यह वैशेषिकों की प्रक्रिया व्यर्थ घोषणामात्र है। बात यह है कि अग्निसंयोग से नहीं किन्तु वैशेषिकों के मतानुसार मानी गयी अग्नि नामक द्रव्य से और जैन मतानुसार अग्नि नामक अशुद्ध द्रव्य या पर्याय से घट, ईंट, आदि में पाक-जन्य रूप, रस, आदिक परिणाम उपज जाते हैं। जगत् में अपने अपने विशेष हेतुओं से सम्पूर्ण परिणाम होरहे प्रतीत किये जाते हैं। पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणः परिणामः, जैनसिद्धान्त में पूर्वआकार का त्याग और उत्तर आकार का ग्रहण तथा ध्रौव्य अंशों करके स्थिति होने को परिणाम कहागया है, पूर्व--आकारों का परित्याग और उत्तर--वर्त्ती आकारों की प्राप्ति होजाने से घट में पहिले के पाकजन्य नहीं ऐसे अपाकज रूप आदिका परित्याग करके पुनः अग्नि के द्वारा पाकज रूप आदिक उपज जाते हैं यों तिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से दीख जाने की कोई बाधा नहीं आती है तिसकारण यहाँ उष्णता की अपेक्षा रखता हुआ अग्निसंयोग नामक वैशेषिकों का दृष्टान्त देना ठीक नहीं है क्योंकि इस दृष्टान्त की सामर्थ्य से आत्मा के क्रियाहेतुपन की सिद्धि होजाने पर वैशेषिकों के मन्तव्य से विपरीत होरहे सिद्धान्त की प्रसिद्धि होजाती है, अतः वैशेषिकों के ऊपर प्रतीतिबाधा और विपरीतप्रसिद्धि का आपादन किया गया समझो।

अनुष्णाशीतरूपश्चाप्रेरकोनुपघातकः
कुटः प्राप्तः कथं रूपाद्युच्छेदोत्पादकारणं ॥ ३८ ॥

वैशेषिकों ने उष्णता की अपेक्षा रखते हुये अग्नि--संयोग को पाकज रूप आदिकों का कारण बताया है, उसमें हमारा यह कहना है जब कि अनुष्णाशीत स्पर्श वाला और काले रूप वाला पूर्ववर्ती कच्चा घड़ा तुम वैशेषिकों ने प्रेरक भी नहीं माना है और उपघातक भी नहीं माना है, ऐसी दशा में वह घड़ा पूर्व--वर्त्ती रूप आदिकों के उच्छेद का कारण और उत्तर-वर्त्ती पाकज रूप आदिकों के उत्पाद का कारण कैसे प्राप्त होसकता है ? अर्थात्–घट यदि प्रेरक होता तब तो नवीन रूप आदिकों का उत्पाद कर देता और यदि उपघातक होता तो पूर्ववर्त्ती रूप आदिकों का नाश कर देता किन्तु यह सब कार्य आपने वन्हिसंयोग के ऊपर रख छोड़ा है, ऐसी दशा में समवायिकारण होरहे घट की गाँठका कोई बल रूप आदिकों के उत्पाद या विनाश में कार्यकारी नहीं हो पाता है।

मार्गदर्शक :– आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

गुरुत्वं निष्क्रियं लोष्ठे वर्तमानं तृणादिषु ।
क्रियाहेतुर्यथा तद्वत्प्रयत्नादिस्तथेक्षणात् ॥ ३९ ॥
ये त्वाहुस्तेपि विध्वस्ताः प्रत्येतव्या दिशानया ।
स्वाश्रये विक्रियाहेतौ ततोन्यत्र हि विक्रिया ॥ ४० ॥
द्रव्यस्यैव क्रियाहेतुपरिणामात्पुनः पुनः ।
क्रियाकारित्वमन्यत्र प्रतीत्या नैव बाध्यते ॥ ४१ ॥

" आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म " इस सिद्धान्त को पुष्ट कर रहे वैशेषिक पुनः कहते हैं कि जिस प्रकार डेल में विद्यमान होरहा गुरुत्व नाम का गुण स्वयं क्रियारहित है किन्तु तृण, पत्ता, आदि में क्रिया को उपजाने का हेतु है उसी के समान प्रयत्न, संयोग, आदि निष्क्रिय भी हैं परन्तु आदि में क्रिया के उत्पादक हो जायंगे क्योंकि तिस प्रकार देखा जा रहा है, डेल के साथ बन्ध रहा हलका तिनका या पत्ता भी नीचे गिर जाता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो कोई वैशेषिक पण्डित कह रहे हैं वे भी तो इसी उक्त कथन के ढंग करके निराकृत कर लिये गये समझ लेने चाहिये। अर्थात्--केवल भारीपन किसी भी क्रिया का सम्पादक नहीं है, गिर रहा क्रियासहित डेल ही तिनका आदि में क्रिया को उपजाता है, विक्रिया के हेतु होरहे स्वकीय आश्रय में विक्रिया होते हुये ही उस विक्रियावान् द्रव्य से अन्य पदार्थों में विशेष क्रिया होसकती है, अन्यथा नहीं। बात यह है कि द्रव्य की ही बड़ी देर तक पुनः पुनः क्रिया के हेतुपन करके परिणति होती रहती है तभी वह द्रव्य अन्य हाथ, शरीर, तिनका, आदि पदार्थों में क्रिया को करा देता है, यह द्रव्य का क्रियाकारीपना प्रतीतियों करके बाधित नहीं होता है, अतः क्रियासहित आत्मा को ही शरीर आदि में क्रिया का हेतुपना है, यह निर्णीत समझो।

पुरुषस्तद्गुणो वापि न क्रियाकारणं तनौ ।
निष्क्रियत्वाद्यथा व्योमेत्युक्तिर्यात्मनि बाधकं ॥ ४२ ॥
नानैकांतिकता धर्मद्रव्येणास्य कथंचन ।
तस्या प्रेरकतासिद्धेः क्रियाया विग्रहादिषु ॥ ४३ ॥

सक्रिय जीव को क्रिया का हेतु मानने वाले जैनों के ऊपर कोई बाधा उठा रहे हैं कि आत्मा अथवा उसका प्रयत्न आदि गुण भी (पक्ष) शरीर में क्रिया का कारण नहीं है (साध्य) क्रिया-रहित होने से (हेतु) जैसे कि आकाश (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो आत्मा में क्रिया के कारणपन का बाधक कथन किया गया है वह हमारे सिद्धान्त का बाधक नहीं होसकता है क्योंकि अनुमान में पड़े हुये इस निष्क्रियत्व हेतु का धर्म द्रव्य करके व्यभिचार है। देखिये उस धर्म द्रव्य को शरीर आदि में क्रिया का किसी न किसी प्रकार उदासीनरूप से अप्रेरकहेतुपना सिद्ध है। दूसरी बात यह है कि निष्क्रियत्व हेतु भागासिद्ध भी है क्योंकि पुरुष के क्रियासहितपना साधा जा चुका है, गुण को तुम भले ही निष्क्रिय मानते रहो।

एवं सक्रियतासिद्धावात्मनो निर्वृतावपि ।
सक्रियत्वं प्रसक्तं चेदिष्टमूर्ध्वगतित्वतः ॥ ४४
यादृशी सशरीरस्य क्रिया मुक्तस्य तादृशी ।
न युक्ता तस्य मुक्तत्वविरोधात् कर्मसंगतेः ॥ ४५ ॥
क्रियानेकप्रकारा हि पुद्गलानामिवात्मनां ।
स्वपरप्रत्ययायत्तभेदा न व्यतिकीर्यते ॥ ४६ ॥

वैशेषिक आक्षेप करते हैं कि इस प्रकार आत्मा का क्रियासहितपना सिद्ध होजाने पर तो मोक्ष में भी आत्मा के क्रियासहितपन का प्रसंग आवेगा। यों कहने पर तो हम जैनों को कहना पड़ता है कि यह प्रसंग हमको अभीष्ट है, हम आत्मा का ऊर्ध्वगमन स्वभाव मानते हैं, आठ कर्मों का नाश तो मनुष्य लोक में ही होजाता है पुनः ऊर्ध्वगमनस्वभाव करके मुक्त जीव सिद्धलोक में विराजमान होजाते हैं। हां इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि स्थूल, सूक्ष्म, शरीरों से सहित होरहे संसारी जीव की जिस प्रकार की क्रिया है वैसी मुक्त जीव की क्रिया मानना समुचित नहीं है, नहीं तो उसके मुक्तपन का विरोध होजावेगा अर्थात्--औदारिक, वैक्रियिक, शरीर-धारी जीव ऊपर, नीचे, तिरछे, चलते हैं, घूमते हैं, नाचते कूदते हैं, अथवा सूक्ष्मशरीर--धारी विग्रहगति के जीव भी ऋजुगति, पाणिमुक्ता, लांगलिका, गोमूत्रिका, गतियों जैसे जाते आते हैं, वैसे मुक्त जीव क्रिया को नहीं करते हैं।

कर्मों का क्षय होते ही उसी समय ऊर्ध्वगति स्वभाव करके सात राजु ऊंचा गमन करके सिद्धलोक में विराजमान होजाते हैं, अले ही सिद्धों में ऊर्ध्वगतिस्वभाव सदा विद्यमान है किन्तु ऊपर धर्म द्रव्य का अभाव होनेसे सिद्ध भगवान् पुनः ऊपर अलोकाकाश में गमन नहीं कर पाते हैं। ज्ञानावरण आदि कर्मों के साथ संगति होजाने से पुद्गलों के समान संसारी आत्माओं की परिस्पन्द-स्वरूप क्रियायें अनेक प्रकार की हैं, स्व और पर कारणों के अधीन होकर अनेक भेदों को धार रहीं वे क्रियायें परस्पर मिश्रित नहीं होजाती हैं। भावार्थ--स्वकीय और परकीय कारणों के वश होरहीं वे क्रियायें न्यारी न्यारी है, घोड़े पर चढ़ा हुआ अश्ववार स्वयं और घोड़े को निमित्त पाकर नाना प्रकार की भिन्न भिन्न क्रियाओं को कर रहा है, वे क्रियायें अश्ववार से कथंचित् भिन्न अभिन्न स्वरूप हैं।

सान्यैव तद्वतो येषां तेषां तद्द्वयशून्यता।
क्रियाक्रियावतोर्भेदेनाप्रतीतेः कदाचन॥ ४७॥

वह क्रिया उस क्रियावान् से सर्वथा भिन्न ही है यह सिद्धान्त जिन वैशेषिकों के यहाँ स्वीकार किया गया है उन वैशेषिक या नैयायिकों के यहाँ उन क्रिया और क्रियावान् दोनों का शून्यपना प्राप्त होता है क्योंकि क्रिया और क्रियावान् की भिन्नपने करके कदाचित् भी प्रतीति नहीं होती है। अर्थात्-जैसे अग्नि को उष्णता से सर्वथा भिन्न मानने पर उष्णता के विना अग्नि की कोई सत्ता नहीं और आश्रय अग्नि के विना उष्णता भी ठहर नहीं पाती है, दोनों का अभाव होजाता है, उसी प्रकार क्रियावान् द्रव्य को क्रिया से भिन्न मानने पर क्रिया और क्रियावान् दोनों पदार्थ शून्य होजाते हैं। कोई क्रिया या क्रियावान् को न्यारा दिखा तो दे?।

क्रियाक्रियाश्रयौ भिन्नौ विभिन्नप्रत्ययत्वतः।
सह्यविंध्यवदित्येतद्भिदैकांतसाधनं॥ ४८॥
धर्मिग्राहिप्रमाणेन हेतोर्बाधननिर्णयात्।
कथंचिद्भिन्नयोस्तेन तयोर्ग्रहणतः स्फुटं॥ ४९॥

वैशेषिक अनुमान बनाते हैं कि क्रिया और क्रिया का आश्रय होरहा क्रियावान् द्रव्य (पक्ष) ये दोनों सर्वथा भिन्न हैं (साध्य)। विशेष रूप से 'भिन्न है' "भिन्न हैं" इस ज्ञान का विषय होनेसे (हेतु) सह्यपर्वत और विंध्य पर्वत के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस प्रकार यह क्रिया और क्रियावान् के सर्वथा भेद को एकान्त से साधने वाला अनुमान है। आचार्य कहते हैं कि इस अनुमान में पड़े हुये हेतु की धर्मी को ग्रहण करने वाले प्रमाण करके बाधा होजाने का निर्णय होरहा है क्योंकि पक्ष कोटि में पड़े हुये कथंचित् भिन्न होरहे ही उन क्रिया और क्रियावान् का उस धर्मी ग्राहक प्रमाण करके स्पष्ट रूप से ग्रहण होरहा है। क्रिया और क्रियावान न्यारे न्यारे किसी को नहीं दीख रहे हैं, क्रिया के नहीं उपजने पर भी अथवा क्रिया के नष्ट होजाने पर भी क्रियावान पदार्थ विद्यमान रह

सकता है, अतः क्रिया से क्रियावान को सर्वथा अभिन्न भी नहीं कह सकते हैं, अतः क्रिया और क्रियावान में कथंचित् भेद स्वीकार करना ही बुद्धिमानों को सन्तोष कराने वाला है।

विभिन्नप्रत्ययत्वं च सर्वथा यदि गद्यते।
तत एव तदा तस्यासिद्धत्वं प्रतिवादिनः॥ ५०॥
कथंचित्तु न तत्सिद्धं वादिनामित्यसाधनं।
विरुद्धं वा भवेदिष्टविपरीतप्रसाधनात्॥ ५१॥

वैशेषिकों ने क्रिया और क्रियावान के सर्वथा भेद को साधने में विभिन्नप्रत्ययपना हेतु दिया है, प्रत्यय शब्द का अर्थ ज्ञान पकड़ा जाय तो भिन्न भिन्न ज्ञान का गोचरपना अर्थ निकलता है और प्रत्यय का अर्थ कारण करने पर क्रिया और क्रियावान के कारण भिन्न भिन्न हैं, यह हेतु का अर्थ प्रतीत होता है, अस्तु—वैशेषिक चाहे किसी भी अर्थको अभिप्रेत करें हमें केवल इतना ही कहना है कि विभिन्न प्रत्ययपना क्रिया और क्रियावान् में सर्वथा कहा जा रहा है तब तो तिस ही कारण से यानी कथंचित् विभिन्न प्रत्ययपना उन क्रिया, क्रियावानों में ज्ञात होजाने से प्रतिवादी होरहे जैनों के यहां वह सर्वथा भिन्न प्रत्ययपना हेतु असिद्ध हेत्वाभास है अर्थात्—जैन सिद्धान्त अनुसार सर्वथा भिन्न प्रत्ययपना हेतु तो पक्षभूत क्रिया और क्रियावान् में नहीं ठहर पाता है, अतः वैशेषिकों का हेतु स्वरूपासिद्ध है। हां यदि कथंचित् भिन्न प्रत्ययपना हेतु कहा जाय तो प्रतिवादी जैनों को तो सिद्ध है किन्तु। वादी होरहे वैशेषिकों के यहां वह कथंचित् विभिन्न प्रत्ययपना हेतु सिद्ध नहीं है, इस कारण फिर भी वह हेतु समीचीन साधन नहीं बन सका। दूसरी बात यह है कि कथंचित् विभिन्नप्रत्ययपना हेतु क्रिया और क्रियावान् में कथंचित् भेद को ही साधेगा, अतः इष्ट होरहे सर्वथा भेद से विपरीत कथंचित् भेद का अच्छा साधन कर देने से वैशेषिकों का कथंचित् भिन्न प्रत्ययपना हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होजायगा

साध्यसाधनवैकल्यं दृष्टांतस्यापि दृश्यताम्।
सत्त्वेनाभिन्नयोरेव प्रतीतेः सह्यविंध्ययोः॥ ५२॥

वैशेषिकों के द्वारा प्रयुक्त किये गये सह्य और विंध्य पर्वत दृष्टान्तों के भी साध्यविकलता और साधनविकलपा देखी जा रही है। सत्पने करके अभिन्न होरहे ही सह्य और विंध्य पर्वतों की बाल गोपालों तक को प्रतीति होती है। अर्थात्—सह्य पर्वत सद्भूत है और विंध्याचल भी सद्भूत है सत्पने करके या वस्तुत्व, पदार्थत्व रूप से सह्य और विंध्य अभिन्न हैं, यदि सत्पने करके भी सह्य और विंध्य को भिन्न मान लिया जायगा तो दोनों में से एक के आकाश-पुष्प समान असत्पने का प्रसंग आजावेगा, अतः दृष्टान्त में वैशेषिकों का "सर्वथाभिन्नत्व" नामक साध्य नहीं रहा और सर्वथा भिन्नप्रत्ययपना हेतु भी नहीं ठहरा जिन स्कन्ध या परमाणुओं से सह्य या विंध्य पर्वत बनेहुये हैं। उनमें भी पुद्गलपने करके अभेद है, इस कारण साध्यविकल और साधनविकल द्रष्टान्त होगया।

विरुद्धधर्मताध्यासादित्यादेरप्यहेतुता।
प्रोक्तेतेन प्रपत्तव्या सर्वथाप्यविशेषतः ॥ ५३ ॥

यदि वैशेषिक दूसरे, तीसरे, आदि अनुमान यों उठावें कि क्रिया और क्रियावान् (पक्ष) सर्वथा भिन्न हैं (साध्य) भिन्न भिन्न विषयों में अधिष्ठित होरहे होने से (हेतु) पुद्गल और आत्मा के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अथवा क्रिया और क्रियावान् भिन्न हैं विभिन्न-कर्तृक होने से १ या विभिन्नकालवर्त्ती होने से २ अथवा भिन्न भिन्न कार्यों के सम्पादक होने से ३ (हेतु)। आचार्य कहते हैं कि इस ही से यानी-भिन्न प्रत्ययपन हेतु का विचार कर देने से विरुद्ध धर्माध्यास, भिन्नकर्तृकत्व, भिन्नकार्यकारित्व आदिक हेतुओं का भी असद्धेतुपना बढ़िया कह दिया गया, भली भांति समझ लेना चाहिये क्योंकि उक्त हेतु से इन हेतुओं में सभी प्रकारों से कोई विशेषता नहीं है। अर्थात्--विभिन्न प्रत्ययत्व हेतु पर जैसा विचार चलाया गया है उसी विचार अनुसार विरुद्धधर्माध्यास आदि हेतु भी असिद्ध, विरुद्ध,--हेत्वाभास हैं और उन अनुमानों के दृष्टान्त भी साध्यविकल और साधन-विकल होजाते हैं, यों विभिन्नप्रत्ययत्व हेतु से इन हेतुओं का कोई अन्तर नहीं है।

क्रियाक्रियावतोनन्यानन्यदेशत्वतः क्रिया।
तत्स्वरूपवदित्येके तदप्यज्ञानचेष्टितं ॥ ५४ ॥
लौकिकानन्यदेशत्वं हेतुश्चेद्व्यभिचारिता।
वातातपादिभिस्तस्यानन्यदेशैर्विभेदिभिः ॥ ५५ ॥

वैशेषिकों के पक्ष से प्रतिकूल सर्वथा अभेद-वादी कोई एक विद्वान् कह रहे हैं कि क्रियावान् पदार्थ से क्रिया अभिन्न है (प्रतिज्ञा) दोनों का अभिन्न देश होने से (हेतु) क्रिया और उस क्रिया के स्वरूप समान (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि कापिलों का वह कहना भी अज्ञान पूर्वक चेष्टा करना है। यहां अभेद--वादियों से हम स्याद्वादी पूछते हैं कि अभिन्नदेशपना हेतु यदि लोक में प्रसिद्ध होरहा अभिन्नदेश में वृत्तिपना माना जायगा तब तो वायु और धूप या शर्बत में घुल रहे बूरा और जल अथवा तिल और उसमें प्रविष्ट होरहे तैल आदि करके तुम्हारे उस हेतु को व्यभिचारि-हेत्वाभासपना प्राप्त होजायगा, देखो वे वात, आतप आदिक पूरे अभिन्न देश में वर्त्त रहे हैं किन्तु वे वात, आतप आदिक परस्पर में विशेष रूप से भिन्न हैं, अतः हेतु के रहजाने पर भी साध्य के नहीं ठहरने से व्यभिचार दोष हुआ।

शास्त्रीयानन्यदेशत्वं मन्यते साधनं यदि।
न सिद्धमन्यदेशत्वप्रतीतेरुभयोस्तयोः ॥ ५६ ॥

तद्धेशा क्रिया तद्वान्स्वकीयाश्रयदेशकः ।
प्रतीयते यदा तत्र देशत्वं कथमेतयोः ॥ ५७ ॥

मार्गदर्शक

यदि अभेद-वादी पण्डित यों कहैं कि शास्त्र युक्ति अनुसार सिद्ध होरहे अनन्यदेशपन को हम हेतु इष्ट करते हैं। वायु और धूप में लौकिक देश की अपेक्षा भले ही अभिन्नदेशपना हो किन्तु शास्त्र-दृष्टि से वायु का देश न्यारा है और धूप का आश्रय होरहा देश न्यारा है, सम्पूर्ण अवयवी अपने अपने समवायिकारण होरहे अवयवों में निवास करते हैं, बूरा अपने अवयवों में है और जल अपने अवयवों में आश्रित होरहा है, अतः कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है। आचार्य कहते हैं कि शास्त्रीय अभिन्न-देशपना यदि हेतु माना जा रहा है तब तो वह हेतु सिद्ध नहीं है अर्थात्-पक्ष में नहीं वर्त्तने से अनन्यदेशत्व साधन असिद्ध हेत्वाभास है क्योंकि उन दोनों क्रिया और क्रियावान् का भिन्न-देशवृत्तिपना प्रतीत होरहा है। देखिये क्रिया तो उस क्रियावाले देश (द्रव्य) के आश्रित होरही प्रतीत होती है और वह क्रियावान् पदार्थ तो अपने आश्रय-भूत पदार्थ में वर्त रहा देखा जाता है। क्रिया दौड़ते हुये घोड़े में है और क्रियावान् घोड़ा तो समवाय सम्बन्ध से स्वकीय आधार होरहे अवयवों में या संयोगसम्बन्ध से भूमि देश में आश्रित होरहा है. जब ऐसी दशा है तो भला इन क्रिया और क्रियावान् का भिन्न देश में वृत्तिपना किस प्रकार बन सकता है ? अर्थात्--नहीं। ऐसी दशा में तुम्हारा हेतु असिद्धहेत्वाभास है। 'अन्यौ देशौ ययो स्तावन्यदेशौ तयोर्भावः अन्य-देशत्वं' यों बहुव्रीहि समास करना। न्यायशास्त्र में बहुव्रीहि समास को अधिक स्थल मिलते हैं: " न कर्मधारयः स्यान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेदर्थप्रतिपत्तिकरः "।

सर्वथानन्यदेशत्वमसिद्धं प्रतिवादिनः ।
कथंचिद्वादिनस्तत्स्याद्विरुद्धं चेष्टहानिकृत् ॥ ५८ ॥
धर्मिग्राहिप्रमाणेन वाधा पक्षस्य पूर्ववत् ।
साधनस्य च विज्ञेया तैरेवातीतकालता ॥ ५९ ॥

क्रिया और क्रियावान् के अभेद को साधने वाले वादी ने अभिन्न-देशपना हेतु दिया था उस पर हमारा यह प्रश्न है कि सर्वथा अभिन्नदेशपना यदि हेतु है ? तब तो प्रतिवादी होरहे जैनों के प्रति यह हेतु असिद्ध है। जैन सिद्धान्त--अनुसार क्रिया और क्रियावान् का अधिकरणभूत देश सर्वथा अभिन्न नहीं है। लकड़ी को छील रहे तक्षक (बढ़ई) की क्रिया का आधारभूत देश न्यारा है और क्रियावान् तक्षण का अधिकरण स्थान उससे भिन्न है। हाँ यदि कथंचित् अभिन्नदेशपना हेतु कहा जायगा तब तो वह वादी को विरुद्ध पड़ेगा कथंचित् अभिन्नदेशपना हेतु सर्वथा अभेद को नहीं साधता हुआ कथंचित् अभेद को साधेगा यों वह हेतु सर्वथा अभेद-वादी के इष्टसिद्धान्त की हानि को करने वाला हुआ। एक बात यह भी है कि धर्मी को ग्रहण करने वाले प्रमाण करके तुम्हारे पक्ष की बाधा उपस्थित होजाती है जैसे कि पूर्व में क्रिया और क्रियावान का सर्वथा भेद मानने वाले को

बाधा उपस्थित हुई थी, जो प्रमाण पक्ष में हुये क्रिया और क्रियावान् को ग्रहण करेगा वह उनको कथंचित् अभिन्न ही जानेगा तथा तुम्हारे सर्वथा अभिन्नदेशपन हेतु का उन वायु, धूप, आदि करके ही कालात्ययापदिष्टपना भी समझा जाता है अर्थात्--क्रिया और क्रियावान् प्रमाणों द्वारा सर्वथा अभिन्न नहीं प्रतीत होरहे हैं, अतः सर्वथा अनन्यदेशत्व हेतु बाधित हेत्वाभास है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज

निष्क्रियाः सर्वथा सर्वे भावाः स्युः क्षणिकत्वतः।
पर्यायार्थतया लब्धि प्रतिक्षणविवर्तवत् ॥ ६० ॥
इत्याहुर्ये न ते स्वस्थाः साधनस्याप्रसिद्धितः।
न हि प्रत्यक्षतः सिद्धं क्षणिकत्वं निरन्वयं ॥ ६१ ॥
साधर्म्यस्य ततः सिद्धेर्बहिरन्तश्च वस्तुनः।
इदानींतनता दृष्टिर्न क्षणक्षयिणः क्वचित् ॥ ६२ ॥
कालांतरस्थितेरेव तथात्वप्रतिपत्तिनः। (षट् पदी) ॥ ६३ ॥

यहाँ बौद्ध कह रहे हैं कि सम्पूर्ण पदार्थ (पक्ष) सब ही प्रकारों से क्रिया--रहित हैं (साध्य) क्षणिक होने से (हेतु)। पर्यायार्थ स्वरूप से आत्मा लाभ कर रहे प्रतिक्षण होने वाले परिणाम के समान (दृष्टान्त)। अर्थात्—बौद्ध लोग किसी भी पदार्थ में क्रिया को नहीं मानते हैं, फेंका जा रहा डेल या दौड़ता हुआ घोड़ा उन उन प्रदेशों में सर्वथा नवीन ढंग से उपजता जा रहा है, पूर्व समय में जिन आकाश के प्रदेशों पर घोड़ा उपजा था, दूसरे समय में उसका सर्वथा विनाश होकर अगले प्रदेशों पर नवीन घोड़े का असत् उत्पाद हुआ है, यही ढंग कोसों तक के प्रदेशों पर सत् का विनाश और असत् का उत्पाद करते हुये मान लेना चाहिये। पर्याय–पदार्थ ही आत्मलाभ करता है, द्रव्य कोई वस्तु नहीं है, प्रतिक्षण में होने वाली तद्देशीय पर्याय जैसे क्रियारहित है उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ क्रिया-रहित हैं। सिनेमा में फिल्म के वही चित्र दौड़ते नहीं हैं केवल दूसरे दूसरे चित्र आते जाते हैं, और देखने वालों को उन्हीं के दौड़ने, घूमने, नाचने का भ्रम होजाता है।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो कह रहे हैं वे बौद्ध भी स्वस्थ नहीं हैं, रोगी पुरुष ही ऐसी अण्ट सण्ट अयुक्त बातों को कह सकता है, क्योंकि उनके कहे हुये क्षणिकत्व हेतु की प्रमाणों से सिद्धि नहीं हुई है, देखिये निरन्वय क्षणिकपना प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध नहीं है बहिरंग घट, पर्वत, काष्ठ, सुवर्ण, आदि वस्तुओं के और अन्तरंग आत्मा आदि वस्तुओं के सधर्मापन यानी अन्वयसहित-पन की उस प्रत्यक्ष से सिद्धि होरही है जो कोई पदार्थ एक ही क्षण तक स्थायी होकर क्षणिक होता तो इस ही काल में वृत्तिपने करके उसका दर्शन होता किन्तु कहीं भी क्षणमात्र में क्षय होजाने वाले पदार्थ का इस एक ही समय काल में वृत्तिपने करके दर्शन नहीं होता है। कालान्तर तक स्थिति की ही तिस प्रकारपने करके प्रतिपत्ति होरही है। बिजली, प्रदीप, बुद्बुदा, आदि पदार्थ भी अनेक क्षणों तक स्थित रहते हैं, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से अन्वय–रहित होरहे सर्वथा क्षणिकपन की प्रतीति नहीं होती है।

नानुमानाच्च तत्सिद्धं तद्धेतोरनभीक्षणात्।
सत्त्वोत्पत्त्यादिहेतुश्चेन्न तत्रागमकत्वतः ॥ ६४ ॥
विरुद्धादितया तस्य पुरस्तादुपवर्णनात्।
प्रपंचेन पुनर्नेह तद्विचारः प्रतन्यते ॥ ६५ ॥

दूसरे अनुमानप्रमाण से भी वह क्षणिकपना सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि उस क्षणिकपन को साधने वाला समीचीन हेतु नहीं देखा जा रहा है, यदि बौद्ध यों कहें कि हम क्षणिकत्व को साधने के लिये सत्त्वात् उत्पत्तिमत्त्वात्, कृतकत्वात्, यानी--सत्पना, उत्पत्तिसहितपना, कृतपना आदि आदि हेतु देंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस क्षणिकपन को साधने में वे हेतु गमक अर्थात् साध्य के ज्ञापक नहीं हैं, विरुद्ध, बाधित, आदि हेत्वाभास रूप से उन हेतुओं का पहिले प्रकरणों में विस्तार से वर्णन किया जा चुका है, यहाँ उनके विचार को पुनः नहीं फैलाया जाता है, अतः क्षणिकत्व हेतु से सम्पूर्ण पदार्थों में सर्वथा निष्क्रियपना सिद्ध करना उचित नहीं है। जो कि "निष्क्रियाः सर्वथा सर्वे भावाः स्युः क्षणिकत्वतः" बौद्धों करके कहा गया था।

कथंचिन्निष्क्रियत्वेन साध्ये स्यात्सिद्धसाधनं।
तन्निश्चयनयादेशात्प्रसिद्धं सर्ववस्तुषु ॥ ६६ ॥
व्यवहारनयात्तेषां सक्रियत्वप्रसिद्धितः।
भूतिर्येषां क्रिया सैवेत्ययुक्तं सान्वयत्वतः ॥ ६७ ॥

यदि सम्पूर्ण भावों को कथंचित् क्रियारहितपन करके साधा जायगा तब तो हम जैन तुम्हारे ऊपर सिद्धसाधन दोष उठा देवेंगे क्योंकि निश्चयनय की अपेक्षा कथन करने से सम्पूर्ण वस्तुओं में वह क्रियारहितपना प्रसिद्ध ही है, अर्थात् निश्चयनय से सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने शुद्ध स्वरूप में सदा तिष्ठते हैं। जाना, आना, घटना, बढ़ना, ठहरना, ठहराना, आदि क्रियायें उसमें नहीं होती हैं, व्यवहारनय से ही उन पदार्थों के क्रियासहितपन की प्रसिद्धि होरही है, निश्चयनय तो वस्तु के शुद्ध निर्विकल्प अंशों को ग्रहण करता है, जिन वादियों के यहाँ पदार्थों के भवन यानी नवीन उत्पत्ति को ही क्रिया माना गया है, वह सर्वथा असत् पदार्थों की उत्पत्ति स्वरूप क्रिया भी युक्त नहीं है क्योंकि पदार्थों के अन्वयसहितपना विद्यमान है, पूर्वकालवर्त्ती पर्यायों में ओत-प्रोत होकर द्रव्य या गुणों का अन्वय प्रविष्ट होरहा है, सर्वथा असत् का उत्पाद होना अलीक है ॥

नित्यत्वात्सर्वभावानां निष्क्रियत्वं तु सर्वथा।
यैरुक्तं तेप्यनेनैव हेतुना दूषिता हताः ॥ ६८ ॥

सर्वथा तन्मतध्वंसात्प्रमाणाभावतः क्वचित् ।
कथंचिन्नित्यताहेतुर्यदि तस्य विरुद्धता ॥ ६९ ॥
कथंचिन्निष्क्रियत्वस्य साधनात् क्षणिकादिवत् ।
ततः स्युर्निष्क्रियाः सर्वे भावाः स्यात्सक्रियाः सह ॥ ७० ॥

हां तो जिन पण्डितों ने कूटस्थ नित्य होने के कारण सम्पूर्ण पदार्थों का सर्वथा क्रियारहितपना बखान दिया है वे पण्डित भी इस हेतु करके दूषित कर दिये जा चुके हैं, इस ही कारण वे हर लिये गये हैं अर्थात्--आचार्यों ने क्षणिक-वादी बौद्धों के असत्-वाद का खण्डन करके जैसे पदार्थों के क्रियारहितपन को नहीं सधने दिया है, उसी प्रकार सर्वथा सत्-वाद का प्रत्याख्यान कर नित्यवादियों के यहाँ पदार्थों के निष्क्रियत्वकी सिद्धि नहीं हो पाती है। सभी प्रकारों से नित्य-वादियों के मत का खण्डन होजाता है, किसी भी घट, घोड़ा, गाड़ी, बाण, आदि पदार्थ में सर्वथा नित्यत्व या निष्क्रियत्व को साधने वाला कोई प्रमाण नहीं है। हाँ कथंचित् नित्यत्व उनमें अवश्य पाया जाता है, अतः यदि कथंचित् नित्यपन को हेतु कहोगे तब तो वह हेतु विरुद्ध होजावेगा, जैसे कि क्षणिकत्व, कृतकत्व, आदिक हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होगये थे। क्योंकि कथंचित् नित्यपना हेतु तो सर्वथा निष्क्रियपन के विपरीत कथंचित् निष्क्रियपन का साधन करेगा। तिस कारण अब तक सि हुआ कि सम्पूर्ण पदार्थ "स्यात् (कथंचित्) निष्क्रिय" हैं और साथ ही "स्यात्सक्रिय" हैं, यह स्याद्वाद सिद्धान्त श्रेयस्कर है।

विरोधादिप्रसंगश्चेन्न दृष्टे तदयोगतः ।
चैत्रैकज्ञानवत्स्वेष्टतत्त्ववद्वा प्रवादिनाम् ॥ ७१ ॥
स्वेष्टं तत्त्वमनिष्टात्मशून्यं सदिति ये विदुः ।
सदसद्रूपमेकं ते निराकुर्युः कथं पुनः ॥ ७२ ॥

पदार्थों को निष्क्रिय और साथ ही सक्रिय साधने में विरोध, वैयधिकरण्य, संशय, उभय, संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति, अभाव, आदि दोषों का प्रसंग आवे, यह तो नहीं समझना क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा अनेक धर्म-आत्मक देखे गये पदार्थ में उन विरोध आदि दोषों का योग नहीं है, जैसे कि बौद्ध प्रवादियों के यहाँ नील, पीत, आदि अनेक आकार वाला एक चित्रज्ञान स्वीकार किया गया है, अथवा अन्य नैयायिक, मीमांसक, आदि प्रवादियों के यहाँ अपने अपने इष्ट तत्त्व जैसे स्वीकार किये जाते हैं। भावार्थ—श्लेष्म रोगी को दूध हानिप्रद है, और नीरोग पुरुष को दूध लाभप्रद है, साहूकार को दीपक इष्ट है, चोर को अनिष्ट है, चलतीहुई रेलगाड़ी में बैठा हुआ मनुष्य चल भी रहा है, यों क्रियासहित होरहा भी क्रियारहित है। बौद्धों ने अनेक आकार वाले एक चित्रज्ञान को इष्ट किया है, उस ज्ञान में नानापन के साथ एकपना विद्यमान है वैशेषिक या नैयायिकों ने

भी सामान्य के विशेष होरहे द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, आदि को माना है, सभी प्रवादी विद्वान् अनिष्टतत्त्व से रहित होरहे, इष्ट तत्त्व को स्वीकार करते हैं, अतः वह इष्ट तत्त्व विचारा स्वरूप की अपेक्षा सत्‌रूप है, और पररूप होरहे अनिष्ट तत्त्व की अपेक्षा असत्‌रूप है, जो विद्वान् अनिष्टरूप पदार्थों से शून्य होरहे अपने 'इष्ट तत्त्व को सत् इस प्रकार जान रहे हैं वे आचार्यों करके सिद्धान्तित किये गये सत्स्वरूप और असत्स्वरूप एक पदार्थ का फिर किस प्रकार निराकरण कर सकेंगे ? अर्थात्--नहीं ।

निष्क्रियेतरताभावे वहिरंतः कथंचन ।
प्रतीतेर्वाधशून्यायाः सर्वथाप्यविशेषतः ॥ ७३ ॥

वहिरंग पदार्थ और अन्तरंग पदार्थों में निष्क्रियपन और उससे भिन्न सक्रियपन के सद्भाव होने में वाधकों से शून्य होरही प्रतीति होरही है, अतः पदार्थों को कथंचित् निष्क्रिय और सक्रिय स्वीकार कर लेना चाहिये, सभी प्रकार से कोई विशेषता नहीं है । क्रियासहितपन और क्रियारहितपन दोनों की अन्तररहितप्रसिद्धि होरही है, इस प्रकरण में आत्मा को सक्रिय मानना युक्तिपूर्ण है । यहाँ तक इस सूत्र का विवरण समाप्त हुआ ।

" अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः " इस सूत्र में काय शब्द का ग्रहण कर देने से इन द्रव्यों के नाना प्रदेशों का अस्तित्व तो निश्चित हुआ किन्तु उन प्रदेशों की ठीक संख्या का परिज्ञान नहीं होसका है, कि किस द्रव्य के कितने कितने प्रदेश हैं ? अतः उन प्रदेशों की नियत संख्या का ज्ञान कराने के लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं— ।

"असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य तथा एक जीव द्रव्य के असंख्याते प्रदेश हैं, अर्थात्--जगत् में धर्म द्रव्य एक ही है, और अधर्म द्रव्य भी एक ही है, जीवद्रव्य अनन्तानन्त हैं, अतः पूरे धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य तथा एक जीव द्रव्य इन में से प्रत्येक के लोकाकाश के प्रदेशों बराबर मध्यम असंख्याता-संख्यात गिनती वाले असंख्याते प्रदेश हैं, पुद्गल परमाणु जितने स्थान को घेरती है बरफी के समान उतने घन चौकोर आकाश स्थल को प्रदेश कहा जाता है, संकोच, विस्तार स्वभाववाला जीव भले ही कर्मों से निर्मित छोटे या बड़े शरीर के बराबर होय किन्तु केवल-समुद्घात करते समय लोकपूरण अवस्था में सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप लेता है ।

प्रदेशेयत्तावधारणार्थमिदं धर्माधर्मयोरेकजीवस्य च । कुतः पुनरसंख्येयप्रदेशता धर्मादीनां प्रसिद्धयतीत्यावेदयति ।

धर्म, अधर्म, और एक जीव के प्रदेशों की इतनी परिमाणपन-संख्या का अवधारण करने के लिये यह सूत्र प्रारम्भा गया है । यहाँ कोई शिष्य प्रश्न करता है कि धर्म आदिकों का फिर असं-

ख्यातप्रदेशीपना भला किस प्रमाण से प्रसिद्ध होजाता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिकों द्वारा समाधान का निवेदन करे देते हैं।

प्रतिदेशं जगद्व्योमव्याप्तयोग्यत्वसिद्धितः ।
धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयप्रदेशता ॥ १ ॥
लोकाकाशवदेव स्याच्चासंख्येयप्रदेशभृत् ।
तदाधेयस्य लोकस्य सावधित्वप्रसाधनात् ॥ २ ॥
अनन्तदेशतापायात् प्रसंख्यातुमशक्तितः ।
न तत्रानंतसंख्यातप्रदेशत्वविभावना ॥ ३ ॥

लोक-सम्बन्धी आकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर व्यापने की योग्यता की सिद्धि होजाने से धर्म, अधर्म, और एक जीव के असंख्यात प्रदेशों से सहितपना है. धर्म और अधर्म से घिरा हुआ तथा एक एक जीव से घिर जाने योग्य यह परिमित जगत् बेचारा लोकाकाश के समान ही असंख्याता-संख्यात प्रदेशों को धार रहा है, क्योंकि जिस अधिकरणभूत लोक के धर्म, अधर्म. और एक जीव द्रव्य, ये आधेय होरहे हैं, उस लोक का छहों ओर अवधि-सहित पना बढ़िया साध दिया है। अनन्त प्रदेशी-पन का अभाव होजाने से इन तीन द्रव्यों के अनन्त प्रदेशों से सहितपन का विचार करना नहीं चाहिये। और एक, दो, तीन, चार आदि ढंग से बढिया गिनती करने के लिये सामर्थ्य नहीं होने से संख्यात प्रदेशीपन का भी विचार नहीं करना चाहिये। तब तो अनन्त और संख्यात से शेष बचे असंख्यात प्रदेश ही इन तीन द्रव्यों में स्वीकार करने योग्य हैं. जगत् श्रेणी के घन-प्रमाण मध्यम असंख्यातासंख्यात प्रदेश धर्मादिकों के प्रसिद्ध होजाते हैं।

न ह्ययं लोको निरवधिः प्रतीतिविरोधात् । पृथव्या उपरि सावधित्वदर्शनात् पार्श्वतोधस्ताच्च सावधित्वसंभवनात् तद्वदुपरि लोकस्य सावधित्वसिद्धेः । सर्वतः अपर्यंता मेदिनीति साधने सर्वस्य हेतोरप्रयोजकत्वापत्तेः । प्रसिद्धे च सावधौ लोके तदधिकरणस्याकाशस्य लोकाकाशसंज्ञकस्य सावधित्वसिद्धेः ।

यह लोक छहों ओर मर्यादारहित नहीं है। मर्यादारहित मानने पर समीचीन प्रतीतियों से विरोध आजावेगा क्योंकि पृथवी के ऊपर मर्यादासहितपना देखा जाता है, और पसवाड़ों में या नीचे भी अवधिसहितपन की सम्भावना होरही है, इसी प्रकार (के समान) अधिक ऊपर देशों में भी लोक का अवधिसहितपना सिद्ध होजाता है। " यह पृथवी सब ओर से पर्यन्तरहित है, " इस बात को साधने में जितने भी हेतु दिये जावेंगे, अपने अपर्यन्तपन साध्य के साथ अनुकूल तर्क नहीं मिलने के कारण सभी हेतुओं के अप्रयोजकपन का प्रसंग आजावेगा यों वे अपने साध्य को नहीं साध सकेंगे। अतः इस लोक के अवधिसहितपन की प्रसिद्धि होजाने पर उस जगत् के अधिकरण होरहे लोकाकाश नामक आकाश का अवधिसहितपन सिद्ध होजाता है।

परिशेषादसंख्येयप्रदेशत्वसिद्धिः। तथाहि न तावल्लोकाकाशमनंतप्रदेशं शश्वदसंहरणधर्मत्वे सति सावधित्वात् पंचाणुकाकाशवत्। असंहरणधर्मत्वादित्युच्यमानेऽलोकाकाशेन व्यभिचार इति सावधित्ववचनं, सावधित्वादित्युक्तेपि पुद्गलस्कंधेनानंतपरमाणुकेनानेकांतो माभूदिति शश्वदसंहरणधर्मकत्वे सतीति विशेषणं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

परिशेष न्याय से लोकाकाश के असंख्यातप्रदेशीपन की सिद्धि होजाती है। उसी को विशद-रूप से यों समझिये कि सब से पहिले लोकाकाश अनन्तप्रदेशवाला तो नहीं है, (प्रतिज्ञा) सर्वदा संहार धर्म से रहित होते संते अवधिसहितपना होने से (हेतु) पांच अणुओं करके बने पंचाणुक से घिरे हुए पांचप्रदेशी आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त)। यह अनुमान प्रशस्त है, यदि वैशेषिकों के मतानुसार पंचाणुक दृष्टान्त लिया जायगा तो एक सौ बीस परमाणुओं का पंचाणुक माना जायगा क्योंकि दो परमाणुओं का एक द्वयणुक और तीन द्वयणुको का एक त्र्यणुक तथा चार त्र्यणुकों का एक चतुरणुक एवं पांच चतुरणुको का एक पंचाणुक। यों एक पंचाणुक ने आकाश के अधिक से अधिक एक सौ बीस प्रदेशों को घेर लिया है, अस्तु, लौकिक या परीक्षकों की समानबुद्धि का विषय होरहा किसी भी ढंग का पंचाणुक दृष्टान्त बना लिया जाय।

इस अनुमान में कहे गये हेतु के यदि केवल असकोचधर्मपन इतने विशेषण दल को ही हेतु कहा जायगा, तब तो अलोकाकाश करके व्यभिचार होजायगा। देखिये अलोकाकाश संहारधर्मवाला नहीं है, किन्तु अनन्त-प्रदेश वाला है, अतः हेतु के रहने पर और साध्य के नहीं ठहरते हुये व्यभिचार दोष हुआ।

इस व्यभिचार की निवृत्ति के लिये हेतु का विशेष्य दल अवधिसहितपना कहा गया है, अलोकाकाश अवधिसहित नहीं है. अवधिसहितपना इतना केवल विशेष्यदल के कथन करने पर भी अनन्त परमाणु वाले पुद्गल स्कन्ध करके व्यभिचार नहीं होजावे, इस लिये सर्वदा असंहरणधर्मपना होते सन्ते ऐसा विशेषण दल प्रयुक्त कियागया है। अनन्त परमाणु से बना हुआ पुद्लस्कन्ध घड़ा या लड्डू अवधिसहित है किन्तु अनन्तप्रदेशीपन के अभाव वाला नहीं है, सदा असंहार धर्म वाला होते सन्ते इस विशेषण से व्यभिचार का वारण होजाता है, क्योंकि घड़ा, लड्डू, आदि पुद्गल स्कन्ध तो संकुचित होजाने वाले या नाशशील हैं। यों हम जैनों का प्रयुक्त हेतु निर्दोष है।

न चैतदसिद्धं साधनसद्भावात्। शश्वदसंहरणधर्मकं लोकाकाशमजीवत्वे सत्यमूर्तद्रव्यत्वादलोकाकाशवत्। न ह्यलोकाकाशं कदाचित्संहरणधर्मं सर्वदा परममहत्त्वाभावप्रसंगात् तथा न संख्यातप्रदेशं लोकाकाशं गणनया प्रसंख्यातुमशक्यत्वादलोकाकाशवदेवेति नानंतसंख्यातप्रदेशत्वं तस्य विभावयितुं शक्यं। परिशेषादसंख्येयप्रदेशं लोकाकाशं सिद्धं। ततो धर्माधर्मैकजीवा स्वसंख्येयप्रदेशाः प्रतिप्रदेशं तावदसंख्येयप्रदेशलोकाकाशव्याप्तियोग्यत्वात् यन्न तथा तन्न तथा, यथैकपरमाणुरिति निरवद्यो हेतुः, अन्यथानुपपत्तिसद्भावात्।

यह हेतु पक्ष में वर्त्त रहा है, असिद्ध हेत्वाभास नहीं है क्योंकि हेतु को साधने वाले दूसरे अनुमान का सद्भाव है। लीजिये, लोकाकाश (पक्ष) सर्वदा असंहार धर्मवाला है, (साध्य) अजीव होते सन्ते अमूर्त द्रव्य होने से (हेतु) अलोकाकाश के समान (अन्वय दृष्टान्त)। अलोकाकाश कदाचित् भी संहार धर्म वाला नहीं है, क्योंकि अलोकाकाश को संहार धर्मी मानने पर सदा परममहत्त्व परिमाण के अभाव का प्रसंग होजायगा, कदाचित् भी संकुचने वाला पदार्थ सदा परम महापरिमाण का आश्रय नहीं बना रह सकता है, अतः लोकाकाश अनन्त-प्रदेशी नहीं है, यह सिद्ध हुआ तथा वह लोकाकाश (पक्ष) संख्याते प्रदेशों वाला भी नहीं है (साध्य)। क्योंकि लोकाकाश के प्रदेशों की एक, दो, तीन, चार, सौ, पांचसौ, हजार, लाख, कोटि, आदि गिनती करके अच्छी संख्या करने के लिये किसी की सामर्थ्य नहीं है (हेतु), अलोकाकाश के ही सम न (अन्वय दृष्टान्त)। इस प्रकार उस लोकाकाश के अनन्तप्रदेशीपन और संख्यात-प्रदेशीपन का सद्विचार नहीं किया जा सकता है, परिशेष से असंख्यात प्रदेश वाला ही लोकाकाश सिद्ध होजाता है।

भावार्थ- संख्या-प्रमाण के संख्यात, असंख्यात और अनन्त तीन भेद हैं, तिनमें असंख्य और अनन्त के परीत, युक्त और द्विकवार यों तीन भेद हैं। उक्त सातसंख्याओं के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, यों तीन तीन भेद कर इकईस भेद वाला संख्या-मान है, इन में से मध्यम असंख्यातासंख्यात का विशेष भेद यहाँ लिया गया है। तिस कारण से इस सूत्र द्वारा यह सिद्ध हुआ कि धर्म, अधर्म, और एक जीव द्रव्य तो (पक्ष) असंख्यात प्रदेश वाले हैं (साध्य)। क्योंकि उतनी ही असंख्यातासंख्यात रूप संख्या को धार रहे असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश के प्रत्येक प्रत्येक प्रदेश पर इन तीन द्रव्यों के व्यापने की योग्यता है (हेतु), अर्थात्—जितने ही धर्म आदि के प्रदेश हैं। ठीक उतने ही लोकाकाश के प्रदेश हैं, जो तिस प्रकार साध्य वाला नहीं है। यानी असंख्यातप्रदेशी नहीं है, वह तिस प्रकार हेतुमान् नहीं है, यानी लोकाकाश को व्यापने की योग्यता नहीं रखता है। जैसे कि एक परमाणु (व्यतिरेकदृष्टान्त) इस प्रकार हमारा हेतु अन्यथानुपपत्ति का सद्भाव होने से निर्दोष है। असिद्धि, व्यभिचार आदि कोई भी दोष इस हेतु में नहीं है।

नन्वत्र जीवस्यैकविशेषणं किमर्थमित्यारेकायामिदमाह।

यहाँ किसी की शंका है कि सूत्रकार ने इस सूत्र में जीव का विशेषण 'एक' किस लिये दिया है। इस प्रकार आशंका होने पर ग्रन्थकार इस समाधान को कहते हैं—

एक जीववचः शक्तेर्नासंख्येयप्रदेशता।
नानात्मनामनंतादिप्रदेशत्वस्य संभवात्॥ ४॥

सूत्र में एक जीव के कथन की सामर्थ्य से सिद्ध होजाता है, कि अनेक जीवों को असंख्यात प्रदेशीपना नहीं है। नाना जीवों के तो अनन्त आदि प्रदेश होते सम्भवते हैं। अर्थात्—यहाँ आदि पद को यों घटित किया जा सकता है कि जघन्य युक्तानन्त प्रमाण अभव्य जीवों के मिल कर सम्पूर्ण प्रदेश मध्यम युक्तानन्त प्रमाण होजाते हैं। समस्त सिद्धों के प्रदेश इन से भी अनन्तानन्त गुणे मध्यम अन-

न्तानन्त रूप हैं। तथा सम्पूर्ण जीवों के तो इनसे भी अनन्त गुणे मध्यम अनन्तानन्त प्रदेश हैं. जीवों की राशि और असंख्यात प्रदेशों का गुणा करने पर विवक्षित जीवों के पिण्ड के प्रदेशों की संख्या निकल आती है, हां किसी भी एक जीव के प्रदेश तो असंख्याते ही हैं।

एकजीववचनसामर्थ्यान्न नानाजीवानामसंख्येयप्रदेशत्वं तेषां अनंतप्रदेशत्वस्यानंतानंतप्रदेशत्वस्य च संभवात्।

सूत्रकार द्वारा एक जीव के वचन की सामर्थ्य से नाना जीवों का असंख्यात प्रदेशीपना नहीं सिद्ध होपाता है, क्योंकि उन नाना जीवों के अनन्तप्रदेशीपना और अनन्तानन्तप्रदेशीपना सम्भव रहा है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कुतः पुनर्धर्मादीनां सप्रदेशत्वं सिद्धं यतोऽसंख्येयप्रदेशता साध्यत इत्याशंकां निराचिकीर्षुराह।

पुनः किसी विनीत शिष्य को शंका है, कि फिर यह बताओ कि धर्मादिकों का प्रदेशों से सहितपना भला किस प्रमाण से सिद्ध होजाता है ? जिससे कि उनका असंख्येयप्रदेशों से सहितपना साधा जाता है, इस प्रकार की आशंका का निराकरण करने की इच्छा रखते हुये ग्रन्थकार अगली वार्त्तिक को कहते हैं।

सप्रदेशा इमे सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंगमात्।
सकृदेवान्यथा तस्यायोगादेकाणुवत्ततः ॥ ५ ॥

ये धर्म, अधर्म, आदिक द्रव्य (पक्ष) प्रदेशों से सहित ही हैं, (साध्य) एक ही वार में सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ सम्बन्धी होजाने से (हेतु)। अन्यथा-यानी इन धर्मादिकों को सप्रदेशी माने विना उन सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ उनके सम्बन्ध होजाने का अयोग होजावेगा जैसे कि एक परमाणु प्रदेश सहित नहीं होने के कारण सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ युगपत् सम्बन्ध नहीं कर पाता है (व्यतिरेकदृष्टान्त)। तिस कारण से ये धर्म आदिक अनेक प्रदेश वाले हैं, (निगमन) यों यह उक्त सिद्धान्त पुष्ट होजाता है।

न हि सकृत्सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंगमः देसप्रशत्वमंतरेण घटते धर्मादीनामेकपरमाणुवत्। ततोमी धर्माधर्मैकजीवास्ते सप्रदेशा एव।

प्रदेशों से सहितपन के विना धर्मादिकों का युगपत् सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ संयोग होजाना घटित नहीं होपाता है, जैसे कि प्रदेशों के विना निरंश एक परमाणु का एक ही समय में सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ सम्बन्ध नहीं होपाता है, तिसकारण से ये जो धर्म, अधर्म, और एक जीव द्रव्य हैं वे स्वात्मभूत प्रदेशों से सहित ही हैं।

मुख्यप्रदेशाभावादुपचरिताः प्रदेशास्तेषामिति चेत् कुतस्तत्र तदुपचारः ? सकृन्नानादेशद्रव्यसंबन्धादेव तस्य सप्रदेशे कांडपटादौ दर्शनादिति चेत् तद्वन्मुख्यप्रदेशसद्भावे को

दोषो ? अनित्यत्वप्रसंगः सावयवस्यानित्यत्वप्रसिद्धेर्घटादिवदिति चेत्, कथंचिदनित्यत्वस्येष्टत्वाददोषोयं । सर्वथानित्यत्वेर्थक्रियाविरोधात् । सर्वस्य कथंचिदनित्यत्वस्य व्यवस्थापनात् ।

कोई पंडित कहते हैं कि उन धर्म आदिकों के प्रदेश मुख्य नहीं हैं, अतः उपचार से ही उनके प्रदेश मान लिये जाओ। यों कहने पर तो ग्रन्थकार पूछते हैं, कि उन धर्मादिकों में किस कारण से उन प्रदेशों का उपचार किया जाता है, बताओ ? यदि तुम यों कहो कि धर्म आदिकों का एक ही समय में नाना देशों में वर्त रहे द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होरहा है, इस ही कारण इन में प्रदेशों का उपचार है क्योंकि प्रदेशों से सहित होरहे ही डेरा, परदा, बांस आदि में उस अनेक देश-वर्ती द्रव्यों के साथ युगपत् सम्बन्ध होजाने का दर्शन होरहा है।

यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उन्हीं डेरा आदिकों के समान धर्म आदिक में भी मुख्य प्रदेशों का सद्भाव मानने पर भला कौनसा दोष आता है, बताओ । यदि तुम यों कहो कि मुख्य प्रदेश मानलेने पर काण्ड पट आदि द्रव्यों के भी अनित्यपन का प्रसंग आजायगा क्योंकि अवयवों से सहित होरहे सावयव पदार्थों का अनित्यपना प्रसिद्ध है, जैसे कि सावयव घट, पट, आदिक अनित्य हैं। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि धर्म आदिकों का कथंचित्-अनित्यपन यह हमारे यहां कोई दोष नहीं है, कथंचित्-अनित्यपना धर्म आदिकों के इष्ट किया गया है, यदि धर्म आदिकों को सर्वथा नित्य माना जायगा तो कूटस्थ नित्य पदार्थ के अर्थक्रिया होने का विरोध होजावेगा, पर्यायों की अपेक्षा सम्पूर्ण पदार्थों के कथंचित्-अनित्यपन की व्यवस्था करा दी गयी है, अतः धर्म आदिकों के अनित्यपन का भय करना व्यर्थ है।

जीवस्य सर्वतद्द्रव्यसंगमो न विरुध्यते ।
लोकपूरणसंसिद्धेः सदा तद्योग्यतास्थितेः ॥ ६ ॥

एक जीव का भी सम्पूर्ण उन मूर्तिमान द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होना विरुद्ध नहीं पड़ता है, केवलि-समुद्घात के अवसर पर लोक-पूरण अवस्था में एक समय तक सम्पूर्ण मूर्तद्रव्यों के साथ सम्बन्ध होजाना भले प्रकार सिद्ध है, और अन्य अवस्थाओं में भी सर्वदा उस सर्व मूर्तिमद्द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होने की योग्यता अवस्थित रहती है, अर्थात्—जैसे तीन गज लम्बा फैला हुआ चादरा तीन गज भूमि को छूरहा है, छोटीसी घरी कर देने पर भी संकुचित चादरे में तीन गज भूमि को स्पर्श करने की योग्यता सदा विद्यमान है. इसी प्रकार चींटी, मक्खी, घोड़ा आदि अवस्थाओं में भी जीव के तीनों लोक में फैल जाने की योग्यता विद्यमान है। हां जीव के अलोकाकाश में व्यापने-योग्य अनन्तानन्त प्रदेश नहीं हैं। वैशेषिकों ने भी "सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगित्वं व्यापकत्वं" यों आत्मा का व्यापकपना इष्ट किया है, अन्तर इतना ही है कि वैशेषिक या नैयायिक तो सम्पूर्ण आत्माओं का सर्वदा व्यापक बना रहना अभीष्ट करते हैं और हम स्याद्वादी आत्मा का परिमाण तत्कालीन गृहीत शरीरों के बराबर स्वीकार करते हैं। हां वैक्रियिक समुद्घात, मारणान्तिकसमुद्घात, केवलिसमुद्घात, अवस्थाओं में आत्मा के प्रदेश लोक में बहुत फैल जाते हैं, लोक-पूरण अवस्था में तो तीन सौ तेतालीस

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

घन राजू प्रमाण लोक को कोई एक जीव व्याप्त कर लेता है, हो सम्पूर्ण लोक में फैल जाने की योग्यता सम्पूर्ण जीवों के सदा विद्यमान है।

जीवो हि लोकपूरणावस्थायां सकृत्सर्वमूर्तिमद्द्रव्यैः संबध्यते इति सिद्धान्तसद्भावाच्च स्याद्वादिनां तस्य सकृत्सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंगमो विरुध्यते, शेषावस्थास्वपि तद्योग्यताव्यवस्थापनात्। एतेन धर्माधर्मयोः सर्वथा प्रतिदेशं लोकाकाशव्याप्तिवदेकजीवस्यापि तद्व्याप्तियोग्यत्वस्थितेरसंख्येयप्रदेशत्वसाधने हेतोरसिद्धिः परिहृता वेदितव्या। तथा योग्यतामंतरेण धर्मादीनां शश्वत्तद्व्याप्तिविरोधात्। परमाणुवत् कालाणुवद्वा तद्व्याप्तिः साधयिष्यते चाग्रतः।

जीव नियम से लोक-पूरण अवस्था में सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ युगपत्सम्बन्ध कर लेता है, इस प्रकार सिद्धान्त का सद्भाव होने से स्याद्वादियों के यहां उस जीव का युगपत् सम्पूर्ण मूर्त द्रव्यों के साथ संयोग होना विरुद्ध नहीं पड़ता है क्योंकि लोकपूरण के अतिरिक्त शेष अवस्थताओं में भी जीव के उस सर्वमूर्तिमद्द्रव्य-सम्बन्ध की योग्यता का व्यवस्थापन होजाता है। इस कथन करके धर्म और अधर्म के सभी प्रकारों से लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर व्यापजाने के समान एक जीव के भी उस लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर व्यापने की योग्यता स्थित होजाती है, इस कारण असंख्येय प्रदेशों के सहितपना साधने पर हेतु के स्वरूपासिद्ध दोष का परिहार कर दिया गया समझ लेना चाहिये क्योंकि तिस प्रकार लोक-व्यापकपन की योग्यता के विना धर्मादिकों के सर्वदा उस लोकमें व्यापकपन का विरोध होजावेगा जैसे कि पुद्गल परमाणु अथवा कालाणु के लोक में व्यापकपन की योग्यता का विरोध है, और भी अग्रिम ग्रन्थों से (में) इन धर्म आदिकों का उस लोक में व्यापकपन साध दिया जावेगा, यहां इतना ही कथन पर्याप्त है। धर्माधर्मैक-जीवाः (पक्ष) असंख्येय-प्रदेशाः (साध्य) प्रतिप्रदेशं तावदसंख्येय-लोकाकाशव्याप्तियोग्यत्वात् (हेतु) इस अनुमान का हेतु पक्ष में विद्यमान है, जो कि अपने साध्य को पक्ष में साध देता है।

अथाकाशस्य कियंतः प्रदेशा इत्याह।

अब महाराज यह बताओ कि आकाश द्रव्य के कितने प्रदेश हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रकार उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं—

आकाशस्यानंताः ॥ ६ ॥

आकाश द्रव्य के अनन्त प्रदेश हैं। अर्थात्—यहां अनन्त पद से जिन-दृष्ट कोई मध्यम अनन्तानन्त ग्रहण करना चाहिये, अनन्त नाम को एक संख्या विशेष है। जिसका अन्त नहीं आवे ऐसा अनन्त यहां अभीष्ट नहीं है। उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात से एक बढ़ा देने पर ही जघन्य अनन्त होजाता है, केवलज्ञान या श्रुतज्ञान की अपेक्षा इकईसों भी संख्याओं का परिमाण किया जा सकता है, कोई अशक्यता नहीं है। हां अक्षय-अनादि अक्षय-अनन्त को उसी स्वरूप से जान लेना या गिन

लेना प्रमाणज्ञान का कार्य है। जीव राशिसे अनन्तगुणी पुद्गल राशि है, पुद्गलों से अनन्त-गुणी काल समयों की राशि है। भूत, भविष्यत काल के समयों से अनन्तानन्तगुणे श्रेणीरूप अलोकाकाश के प्रदेश हैं, इनके घन प्रमाण सम्पूर्ण आकाश के अनन्तानन्त प्रदेश हैं। यों परिमाण किया जा सकता है, कोई पोल नहीं है। हाँ जिसका अन्त नहीं वह अनन्त है, यह केवल अनन्त शब्द की निरुक्ति की जा सकती है। प्रकृत्यर्थ नहीं करना चाहिये।

प्रदेशा इत्यनुवर्तते। पूर्वसूत्रे वृत्त्यकरणात्तत्र वृत्तिनिर्देशे हि प्रदेशानामसंख्येय-शब्दोपाधीनां व्यवस्थानात्केवलानामिहानुवृत्तिर्न स्यात्, तत एवासंख्येयप्रदेशा इति वृत्तिनिर्देशे लाघवेपि वाक्यनिर्देशोऽसंख्येयाः इति कृत इहोत्तरसूत्रेषु च प्रदेशग्रहणं मा भूदतो गौरवमिति।

पूर्व सूत्र से " प्रदेशाः " इस पद की अनुवृत्ति कर ली जाती है, तिस ही कारण से पहिले सूत्र में प्रदेश शब्द की असंख्येय शब्द के साथ कर्मधारयवृत्ति नहीं की गयी है। यदि वहां कर्मधारय समास वृत्ति अनुसार निर्देश कर दिया जाता तो " असंख्येय-प्रदेशाः " पद बन जाता " विशेषणं विशेष्येण बहुलं " के अनुसार असंख्येय शब्द को विशेषण रखने वाले विशेष्यभूत प्रदेशों की व्यवस्था होजाने से केवल प्रदेशों की यहाँ अनुवृत्ति नहीं होसकेगी " एकयोग--निर्दिष्टानां सह वा निवृत्तिः सह वा प्रवृत्तिः " या तो असंख्येय और प्रदेश दोनों शब्दों की अनुवृत्ति होती या एक की भी नहीं होपाती। तिस ही कारण से यद्यपि समास करने पर " असंख्येय--प्रदेशाः " इस प्रकार समास वृत्ति पूर्वक कथन करने में लाघव है, फिर भी सूत्रकार ने " असंख्येयाः " यह पद न्यारा रखते हुये वाक्य का कथन किया है। यहाँ " आकाशस्यानन्ताः " इस सूत्र में और अगले दो सूत्रों में पुनः प्रदेश शब्द का ग्रहण नहीं होवे जिससे गौरव होजाता अर्थात्—गौरव दोष का परिहार करने के लिये " प्रदेशाः " शब्द को असमसित रखा है, उसकी यहाँ अनुवृत्ति कर ली जाती है।

अंतोऽवसानमिह गृह्यते, अविद्यमानो अंतो येषां त इमेऽनंताः प्रदेशा इत्यन्यपदार्थ-निर्देशोयं। ते चाकाशस्येति भेदनिर्देशः कथंचित्प्रदेशप्रदेशिनोर्भेदोपपत्तेः? सर्वथा तयोर-भेदे प्रदेशिनः स्वप्रदेशादेकस्मादर्थान्तरत्वाभावात् प्रदेशमात्रत्वप्रसंग इति प्रदेशिनोऽसत्त्वं। तदसत्त्वे प्रदेशस्याप्यसत्त्वमित्युभयासत्त्वप्रसक्तिः।

यहाँ सूत्र में अन्त का अर्थ अवसान ग्रहण किया जाता है, जिनप्रदेशों का अन्त विद्यमान नहीं है, वे प्रदेश, ये अनन्त हैं, इस प्रकार बहुव्रीहि समास द्वारा अन्य पदार्थ को कथन करने वाला इस सूत्र में " अनन्ताः " यह निर्देश है। वे अनन्त प्रदेश आकाश द्रव्य के हैं, इस प्रकार षष्ठ्यन्त और प्रथमान्त पदों के अनुसार सूत्रकार द्वारा भेदपूर्वक कथन किया गया है, क्योंकि अंगभूत प्रदेश और अंगी होरहे प्रदेशी इनका कथंचित्-भेद होना युक्तियों से सिद्ध है। यदि सभी प्रकारों से उन प्रदेश और प्रदेशी द्रव्यों का अभेद माना जायगा तब तो प्रदेशवाले द्रव्य को अपने एक प्रदेश से भेद नहीं होने के कारण केवल एकप्रदेशधारीपन का प्रसंग होगा, यों प्रदेशी द्रव्य का अभाव हुआ जाता है, और उस प्रदेशी का असद्भाव होजाने पर प्रदेश का भी असत्त्व होजाता है। इस प्रकार प्रदेश और

प्रदेशी दोनों के असत्वका प्रसंग आया। भावार्थ—प्रदेशी द्रव्य का एक प्रदेश के साथ अभेद मानने पर "द्रव्य" एक--प्रदेशवान् हुआजाता है, एक प्रदेश वाला द्रव्य तो परमाणु के समान प्रदेशी नहीं कहा जा सकता है, तब प्रदेशी कोई नहीं रहा तब प्रदेश भी कोई नहीं ठहर सकता है, यों दोनों का अभाव होजायगा, अतः एक आकाश और उसके अनन्त प्रदेशों का सर्वथा अभेद नहीं मान कर कथंचित् अभेद स्वीकार करना चाहिये।

सर्वथा तद्भेदे पुनराकाशस्य च द्रव्यप्रदेशा द्रव्याणि वा स्युर्गुणादयो वा? यदि द्रव्याणि तदाकाशस्यानेकद्रव्यत्वप्रसंगो घटादिवत्। तथा च सादिपर्यवसानत्वं तद्वदेव न ह्यनेकद्रव्यारब्धं द्रव्यं किंचिदनाद्यनंतं दृष्टमिष्टं वा परस्य। गुणाः प्रदेशा इति चेन्न, गुणांतराश्रयत्वविरोधात् साधारणगुणा हि संयोगविभागसंख्यादयस्तत्रेष्यंते घटसंयोगोन्यस्याकाशप्रदेशस्य कुड्यसंयोगोन्यस्य करविभागोऽन्यस्य दंडविभागोन्यस्येति संयोगविभागयोः प्रतीतेः। एकः खस्य प्रदेशो द्वौ चेति संख्यायाः संप्रत्ययात् परो गगनप्रदेशोऽपरो वेति परत्वापरत्वयोरवबोधात् पृथगेतस्मात् पाटलिपुत्राकाशप्रदेशाच्चित्रकूटाद्याकाशप्रदेश इति पृथक्त्वस्योपलम्भात् तथाघटाकाशप्रदेशान्महान् मन्दराकाशप्रदेश इति परिमाणस्य सन्निर्णयात्।

यदि फिर आकाश और उसके प्रदेशों का सर्वथा भेद माना जायगा तब तो बताओ वे आकाशद्रव्य के सर्वथा भिन्न पड़े हुये प्रदेश भला द्रव्यपदार्थ हैं? अथवा क्या गुण, कर्म, सामान्य, आदि पदार्थ माने जायंगे? बताओ यदि वे अनेक प्रदेश द्रव्यरूप हैं, तब तो आकाश को अनेक-द्रव्यपन का प्रसंग आवेगा जैसे कि घट आदिक अनेक द्रव्य माने गये हैं, किन्तु वैशेषिकों ने आकाश को एक द्रव्य स्वीकार किया है "तत्त्वं भावेन"॥ २९॥ "शब्दलिंगाविशेषाद्विशेषलिंगाभावाच्च" ३०॥ इन दो सूत्रों से आकाश का एकद्रव्यपना साधा गया है, आकाश के प्रदेशों को द्रव्य मानने पर आकाश अनन्त द्रव्य हुये जाते हैं, और तैसा होने पर उन घट आदिकों के ही समान आकाश को सादिपना और सान्तपना भी प्राप्त होजायगा अनेक द्रव्यों से आरम्भा जा चुका कोई भी द्रव्य अनादि और अनन्त नहीं देखा गया है।

तथा उन दूसरे पण्डित वैशेषिकों के यहां अनेक द्रव्यों से बनाये गये घट, पट, आदि द्रव्यों का अनादि अनन्तपना इष्ट भी नहीं कियागया है। यदि उन प्रदेशों को द्रव्य नहीं मान कर गुणस्वरूप माना जाय तो यह भी ठीक नहीं पड़ेगा क्योंकि तब तो उन गुणस्वरूप प्रदेशों में अन्य गुणों के आश्रयपन का विरोध होजायगा, गुणों में दूसरे गुण नहीं रहा करते हैं "निर्गुणाः गुणाः" "गुणादिर्निर्गुणक्रियः" ऐसा जैनों ने और वैशेषिकों ने स्वीकार किया है। जब कि आकाश-सम्बन्धी उन प्रदेशों में संयोग, विभाग, संख्या, आदि साधारण गुण वर्त रहे वैशेषिकों ने इष्ट किये हैं।

देखिये आकाश के अन्य प्रदेश का घट के साथ संयोग होरहा है, और आकाश के दूसरे ही अन्य प्रदेश का भीत के साथ संयोग होरहा है, यों प्रदेशों में संयोग गुण ठहर जाता है। तथा आकाश के अन्य प्रदेशों का हाथ से विभाग होरहा है, और आकाश के दूसरे अन्य प्रदेश का दण्ड के साथ

विभाग होरहा है, यह प्रदेशों में विभाग गुण रह गया। इस प्रकार आकाश के प्रदेशों में संयोग और विभाग गुणों की प्रतीति होरही है। आकाश का एक प्रदेश और आकाश के दो प्रदेश, तीन प्रदेश, इत्यादि ढंग से प्रदेशों में संख्या गुण का भी भले प्रकार प्रत्यय होरहा है। यह आकाश का दूर-वर्त्ती प्रदेश परे है, और यह निकट-वर्त्ती प्रदेश अपर है, यों आकाश के प्रदेशों में परत्व और अपरत्व गुणों का परिज्ञान होरहा है। तथैव पटना-सम्बन्धी आकाश के इस प्रदेश से चित्रकूट, मथुरा, उज्जैन आदि के आकाशप्रदेश पृथक् हैं, इस प्रकार आकाश के प्रदेशों में पृथक्त्व गुण का उपलम्भ होरहा है। तथा घट-सम्बन्धी आकाश के प्रदेश से मन्दराचल-सम्बन्धी आकाश का प्रदेशस्थल महान् है, यों प्रदेशों में परिमाण गुणका अच्छा निर्णय होरहा है।

इस ढंग से प्रदेशों में संयोग, विभाग, संख्या, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, परिमाण, ये सात सामान्य-गुण पाये जाते हैं। वैशेषिकों के यहां बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, रूप, रस, गंध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व और शब्द, ये सोलह विशेष गुण हैं, और सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, वेग और नैमित्तिकद्रवत्व ये दस सामान्यगुण हैं द्रवत्व और संस्कार के विशेषभेद दोनों और आगये हैं यों चौबीस गुणों की संख्या छब्बीस होगयी है। अतः गुणवान् होने से आकाश के प्रदेश गुणस्वरूप नहीं होसकते हैं।

प्रदेशिन्येवाकाशे संयोगादयो गुणा न प्रदेशेष्विति चेन्न, अवयवसंयोगपूर्वकावयविसंयोगोपगमाद्द्वि-तंतुकवीरणसंयोगवत्। पटादीनामाकाशप्रदेशसंयोगमंत्रेणाकाशप्रदेशसंयोगोऽपरः एकवीरणस्यासिद्धः। सिद्धे तन्त्वेकसंयोगे द्वितंतुकसंयोगप्रसंगात् संयोगज संयोगाभावः।

प्रदेशों और प्रदेशी के भेद को माननेवाले वैशेषिक कहते हैं कि प्रदेशों वाले आकाश में ही संयोग, विभाग, आदिक गुण हैं प्रदेशों में कोई गुण नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि अवयवों के संयोग-पूर्वक होरहा अवयवी का संयोग तुम्हारे यहाँ स्वीकर किया गया है, जैसे कि दुसूता और वीरण का संयोग है। अर्थात्-हस्त पुस्तक सयोग से शरीर पुस्तक संयोग जो हुआ है वह अवयव संयोग-पूर्वक अवयवी का संयोग वैशेषिकों के यहाँ माना गया है, तृण या डशीर से बने हुये और तन्तुओं को स्वच्छ या विरल करने वाले साधन को वीरण (ब्रुश) कहते हैं। एक तन्तु और वीरण के संयोग से हुआ दो दो तन्तुओं के साथ वीरण का संयोग संयोगज संयोग है। वैशेषिकों ने संयोग के एक कर्मजन्य, उभयकर्मजन्य और संयोगज--संयोग यों तीन भेद माने हैं, बाज पक्षी और पर्वत का संयोग अन्यतर कर्म-जन्य है। यहां एक बाज में क्रिया हुयी है, पवत में नहीं। लडने वाले दो मेंढ़ाओं का उभय-कर्मजन्य संयोग है। क्योंकि दोनों मेंढ़ाओं में क्रिया होकर वह संयोग हुआ है, कपाल और वृक्ष के संयोग से घट और वृक्ष का संयोग तो संयोगजसंयोग है। यह अवयव के संयोग पूर्वक हुआ अववयी का संयोग है। पट आदिकों का आकाश के प्रदेशों के साथ संयोग होजाने विना आकाश प्रदेश में दूसरा संयोग असिद्ध है। प्रदेशों के विना एकतन्तु और वीरण का संयोग भी असिद्ध है, एक तन्तु के साथ संयोग सिद्ध होने पर दो तन्तुओं के साथ संयोग होने का प्रसंग है, अतः आकाश में संयोगजसंयोग का अभाव हुआ। भावार्थ—आकाश के प्रदेशों में संयोग को नहीं मानने वाले वैशे-

[illegible] आकाश में एक कर्मजन्य संयोग को नहीं मान सकते हैं, क्योंकि आकाश में तो क्रिया है नहीं। और दूसरा संयुक्त होने वाला द्रव्य यदि क्रिया को करे भी तो जहाँ वह पहिले था वहाँ भी आकाश विद्यमान था, ऐसी दशा में दो में से एक की क्रिया को लेकर [illegible] तथा उभय कर्मजन्य संयोग भी आकाश में अलोक है, तीसरा संयोगजसंयोग तभी बन सकता है जब कि अवयव सारिखे आकाश प्रदेशों में संयोग माना जाय। यदि वैशेषिक पण्डित आकाश के प्रदेशों में संयोग को नहीं मानते हैं, तो आकाश में संयोगजसंयोग नहीं बन पाता है, ऐसी दशा होने पर आकाश में संयोग गुण का अभाव हुआ।

एतेन विभागजविभागाभावः प्रतिपादितः। संख्या पुनर्द्वित्वादिकाकाशे प्रदेशिन्यनुपपन्नैव तस्यैकत्वात्। एतेन परत्वापरत्वपृथक्त्वपरिमाणभेदाभावः प्रतिनिवेदितः तत्रैकत्र तदनुपपत्तेः। ततः स्वप्रदेशेष्वेवैते गुणाः सिद्धा इति न गुणाः प्रदेशा गुणित्वात् पृथिव्यादिवत्।

इस ही कथन करके आकाश में विभागजन्य विभाग का अभाव भी प्रतिपादन कर दिया गया समझो। अर्थात्—हस्त और वृक्ष का विभाग होजाने से शरीर और वृक्ष का विभाग हुआ विभागज विभाग कहलाता है, जब आकाश के प्रदेशों में विभाग गुण नहीं माना जाता है, तो वैशेषिकों के यहाँ आकाश में भला विभागज विभाग कैसे ठहर पायेगा ?। अन्यतर कर्म-जन्य चील और पर्वत का विभाग है, केवल चील उड़ कर पर्वत से अलग होजाती है तथा उभयकर्मजन्य भिड़े हुये दोनों मेंढों का विभाग एवं कारणमात्र विभागजन्य विभाग और कारणाकारण विभागजन्य विभाग ये विभागजविभाग हैं। आकाश के प्रदेशों में विभाग माने विना आकाश में विभाग गुण का अभाव होजाता है। तीसरा गुण फिर द्वित्व, आदिक संख्यातो प्रदेशवाले आकाश से असिद्ध ही है, क्योंकि वह आकाश द्रव्य एक माना गया है, आकाशके प्रदेशों में ही द्वित्व आदिक संख्यायें ठहर सकती हैं। इस उक्त कथन करके परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, और परिमाण विशेषों का अभाव भी आकाश में है, प्रतिवादी के सन्मुख इस बात का बहुत अच्छा निवेदन कर दिया गया है क्योंकि उस अकेले आकाश में उन परत्व, अपरत्व. आदि की सिद्धि नहीं होपाती है, तिस कारण से आकाश के प्रदेशों में ही संयोग, विभाग, संख्या, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, परिमाण. ये गुण सिद्ध होजाते हैं। इस कारण आकाश के प्रदेश (पक्ष) गुण पदार्थ नहीं हैं (साध्य) गुणवान् होने से (हेतु) पृथिवी. जल. आदि द्रव्यों के समान (अन्वयदृष्टान्त)। यहां तक आकाश के प्रदेशों का गुणपना निषिद्ध कर दिया है।

नापि कर्माणि तत एव परिस्पन्दात्मकत्वाभावाच्च। नापि सामान्यादयोनुवृत्तिप्रत्ययादिहेतुत्वाभावात्। पदार्थांतराणि स्वप्रदेशा इत्ययुक्तं। षट्पदार्थनियमविरोधात्।

आकाश के प्रदेश तिस ही कारण से यानी गुणवान् होने से तीसरे माने गये कर्मपदार्थ स्वरूप भी नहीं हैं क्योंकि कर्म गुणों के धारी नहीं हैं, दूसरी बात यह है कि परिस्पन्द-आत्मकपन का अभाव होजाने से वे प्रदेश कर्मपदार्थ स्वरूप नहीं हैं, कर्म होते तो हलन, चलन, आदि किसी भी क्रियास्वरूप होते किन्तु यह वैशेषिकों ने इष्ट नहीं किया है। तथा आकाश के वे प्रदेश सामान्य,

विशेष, समवाय और अभाव पदार्थ स्वरूप भी नहीं हैं क्योंकि अनुवृत्तिप्रत्यय आदि के हेतुपन का अभाव है, अर्थात्—यह घट है, और यह घट है, तथा यह भी घट है, इत्यादिक अनुवृत्ति प्रत्यय का हेतु जैसे घटत्व सामान्य है, वैसे अनुवृत्त ज्ञान के कारण प्रदेश नहीं हैं और यह इससे व्यावृत्त है, यह इससे व्यावृत्त है, ऐसे व्यावृत्तिज्ञान के कारण नहीं होने से वे प्रदेश विशेष पदार्थ भी नहीं हैं अयुतसिद्ध पदार्थों का "यहां यह है" इस ज्ञान के कारण नहीं होने से वे प्रदेश समवाय पदार्थ भी नहीं हैं, भाव पदार्थ-स्वरूप प्रदेश भला अभाव पदार्थ-स्वरूप कैसे होसकते हैं ?। गुणवान् होने से भी प्रदेश इन सामान्य आदि पदार्थ-स्वरूप नहीं हैं क्योंकि सामान्य आदि में गुण नहीं पाये जाते हैं। यदि वैशेषिक यों कहें कि आकाश के प्रदेश इन छह पदार्थों से अतिरिक्त अन्य पदार्थ स्वरूप होजायगे ग्रन्थकार कहते हैं। कि यह इनका कहना अयुक्त है क्योंकि "जगत् के सम्पूर्ण भाव पदार्थ छह ही हैं" जो कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, उनके यहां माने गये हैं, इस नियम का विरोध होजायगा।

अत एव न मुख्याः खस्य प्रदेशा इति चेन्न, मुख्यकार्यकरणदर्शनात्। तेषामुपचरितत्वे तदयोगात्। न ह्युपचरितोग्निः पाकादावुपयुज्यमानो दृष्टस्तस्य मुख्यत्वप्रसंगात्। प्रतीयते च मुख्यं कार्यमनेकपुद्गलद्रव्याद्यवगाहकलक्षणं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पुनः वैशेशिक यदि यों कहैं कि इस ही कारण यानी छह पदार्थों के नियम का विरोध नहीं होय, अतः आकाश के प्रदेश वास्तविक मुख्यपदार्थ कोई नहीं हैं, कल्पित या उपचरित हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन प्रदेशों करके मुख्य कार्य का करना देखा जाता है, वस्तुभूत कार्य का कारण उपचरितपदार्थ नहीं होसकता है, उन प्रदेशों के कल्पित होने पर उस मुख्य कार्य के किये जाने का अयोग है। देखिये मिट्टी का अग्नि रूप बना हुआ खिलौना या अग्नि का चमकीले पदार्थ में पड़ाहुआ प्रतिबिम्ब अथवा "अग्निर्माणवकः" आदि उपचरित अग्नि है, यह कल्पित अग्नि पकाने, जलाने, सुखाने आदि कार्यों में उपयोगी होरही नहीं देखीगयी है, यदि कल्पित अग्नि पाक आदिको कर देती तो उसको मुख्य अग्निपनेका प्रसंग आजावेगा किन्तु आकाशके प्रदेशोंसे होरहा अनेक पुद्गलद्रव्य, जीवद्रव्य आदिका अवगाह करदेना स्वरूप मुख्य कार्य प्रतीत होता है।

निरंशस्यापि विभुत्वाच्चयुक्तमिति चेत् कथं विभुर्निरंशो वेति न विरुद्ध्यते। ननु प्रमाणसिद्धत्वाद्वादिप्रतिवादिनोराकाशे विभुत्वाभावान्न विप्रतिषिद्धं। तत एव निरंशत्वसिद्धिः। तथाहि-निरंशमाकाशादि सर्वजगद्व्यापित्वात् यन्न निरंशं न तत्तथा दृष्टं यथा घटादि सर्वजगद्व्यापि चाकाशादि तस्मान्निरंशमिति कश्चित्। तदसमीचीनं, हेतोः पक्षाव्यापकत्वात् परमाणौ निरंशे तदभावात्।

यदि वैशेषिक यों कहें कि मुख्य प्रदेशों से रहित होरहे निरंश भी आकाश के व्यापक होने के कारण वह अनेक द्रव्यों को अवगाह देना युक्त बन जाता है। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि आकाश को विभु कहना और निरंश कहना यह किस प्रकार पूर्वापर विरुद्ध नहीं पड़ेगा ? अर्थात्-

जो अंशों से रहित है, वह परमाणु के समान सम्पूर्ण स्थानों में कैसे फैल सकता है ? अथवा जो व्यापक होरहा है वह निरंश कैसे होसकता है ? यह तुल्य-बल विरोध है। पुनरपि वैशेषिक अपने पक्ष का अवधारण करते हैं, कि वादी, प्रतिवादी, होरहे वैशेषिक और जैन दोनों के यहाँ आकाश में व्यापकपन का सद्भाव प्रमाणों से सिद्ध है, अतः निरंशपन और विभुपन का कोई तुल्यबल वाला विरोध नहीं प्राप्त हुआ, तिस ही करण से यानी विभुपन से ही आकाश के निरंशपन की सिद्धि होजाती है, उसको स्पष्ट रूप से यों समझिये कि आकाश, काल, आदि पदार्थ (पक्ष) अंशों से रहित हैं (साध्य) सम्पूर्ण जगत् में व्यापनेवाले होने से (हेतु) जो पदार्थ अंशों से रहित नहीं है, वह तिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में व्याप रहा नहीं देखा गया है, जैसे कि घट, पट, आदि हैं (व्यतिरेक दृष्टान्त)। सम्पूर्ण जगत् में व्यापनेवाले आकाश आदि हैं (उपनय) तिस कारण से आकाश आदि निरंश हैं (निगमन)। इस प्रकार यहाँ तक कोई वैशेषिक कह रहा है।

आचार्य कहते हैं कि वैशेषिक का वह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि पक्ष के एक देश में हेतु नहीं व्यापता है निरंश परमाणु में उस हेतु का अभाव है, अतः सर्व जगत् व्यापकपना हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है। "पक्षैकदेशेहेत्वभावो भागासिद्धिः" यह भागासिद्धि का लक्षण है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तस्या विवादगोचरत्वादपक्षीकरणाददोष इति चेन्न, सांशपरमाणुवादिनस्तत्रापि विप्रतिपत्तेः पक्षीकरणोपपत्तेः। साधनांतरात्तत्र निरंशत्वसिद्धेरिहापक्षीकरणमिति चेत्, एवं तर्हि न कश्चित्पक्षाव्यापको हेतुः स्यात्। चेतनास्तरवः स्वापात् मनुष्यवदित्यत्रापि तथा परिहारस्य संभवात्। शक्य हि वक्तुं रेणु तरुषु न स्वापादयोऽसिद्धास्त एव पक्षीक्रियंते, नेतरे तत्र हेत्वंतरात्चेतनत्वप्रसाधनात् ततो न पक्षाव्यापको हेतुरिति।

वैशेषिक कहते हैं कि वह परमाणु तो वैशेषिक, नैयायिक, जैन, मीमांसक, किसी के यहाँ भी विवाद का विषय नहीं है, सभी विद्वान् परमाणु को निरंश मानते हैं, अतः परमाणु को पक्ष कोटि में नहीं किया गया है, तब तो भागासिद्ध दोष नहीं आया। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि परमाणुओं को अंशों से सहित कहने वाले वादी पण्डित का उस परमाणु में भी निरंशपन का विवाद खड़ा हुआ है। प्रथम जैन विद्वान् ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, यों छहों ओर से अन्य छह परमाणुओं को चिपटाने वाले छह पहलों करके सहित होरहे परमाणु को शक्ति की अपेक्षा षडंश मान लेते हैं, अतः विवाद पड़जाने से परमाणु का भी पक्षकोटि में कर लेना बन जाता है, उस में हेतु के नहीं वर्तने से वैशेषिकों के ऊपर भागासिद्ध दोष खड़ा हुआ है।

यदि वैशेषिक यों कहैं कि उस परमाणु में अन्य चरमावयवत्व आदि हेतु से निरंशपन की सिद्धि करली जायगी, अतः यहाँ इस अनुमान में परमाणु का पक्षकोटि में ग्रहण करना उचित नहीं जंचा है। आचार्य कहते हैं कि यों कहोगे तब तो इस प्रकार कोई भी हेतु पक्ष में अव्यापक (भागासिद्ध) नहीं होसकेगा। देखिये भागासिद्ध का प्रसिद्ध उदाहरण यह है कि वृक्ष (पक्ष) चेतन हैं (साध्य) स्वाप यानी शयन करना पाया जाने से (हेतु) सो रहे मनुष्यों के समान (अन्वयदृष्टान्त) यों सोते हुये वृक्षों में तो स्वाप हेतु है और निद्रा कर्म की उदय उदीरणा से रहित होरहे, जागते वृक्षों

में स्वाप हेतु नहीं ठहरा किन्तु सभी वृक्षों को पक्ष बनाया गया है, अतः यह हेतु पूरे पक्ष में नहीं व्यापने के कारण भागासिद्ध हेत्वाभास है। यहां भी तिस प्रकार भागासिद्ध दोष के परिहार का सम्भव होरहा है। देखिये वादी के द्वारा यों कहा जासकता है कि जिन वृक्षों में आहार, भक्षण, संरोहण, आदि परिणाम असिद्ध नहीं हैं, वे ही वृक्ष यहां पक्ष कोटि में किये जाते हैं अन्य स्वाप आदि से रहित होरहे कम्पित या जागृत वृक्ष यहां पक्ष नहीं किये गये हैं। उन जागते वृक्षों में आहार करना, फलना, फूलना, आदि हेतुओं से चेतनपन की अच्छे ढंग से सिद्धि करादी जावेगी, तिस कारण यह स्वाप हेतु भी पक्ष में अव्यापक यानी भागासिद्ध नहीं हो सकेगा। यहां तक वैशेषिकों के "सर्वजगत्-व्यापित्व" हेतु को भागासिद्ध बता दिया गया है।

किल कालात्ययापदिष्टो हेतुर्निरंशत्वसाधने सर्वजगद्व्यापित्वादिति पक्षस्यानुमानागमबाधितत्वात् सांशमाकाशादि सकृदभिन्नदेशद्रव्यसंबन्धत्वात्काण्डपटादिवदिति गगनादेः सांशत्वानुमानवचनात्। अत्र हेतोः सामान्यादिभिर्व्यभिचारासंभवात्। तेषां सकृद्भिन्नदेश-द्रव्यसंबंधस्य प्रमाणसिद्धस्याभावात्। तथा धर्माधर्मैकजीवलोकाकाशानां तुल्य संख्येयप्रदेश-त्वात् प्रदेशसमवाय इत्याद्यागमस्यापि तत्सांशत्वप्रतिपादकस्य सुनिश्चित संभवद्बाधकस्य सद्भावाच्च।

वैशेषिकों का आकाश आदि के निरंशपन को साधने में दिया गया "सर्वजगद्व्यापकपना होने से" यह हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधित) हेत्वाभास भी है, क्योंकि 'आकाश आदि निरंश हैं' इस पक्ष को अनुमान और आगम प्रमाणों से बाधितपना है। आकाश, आत्मा आदिक पदार्थ (पक्ष) अंशों से सहित हैं, (साध्य) एक ही बार में भिन्न भिन्न देशवर्ती द्रव्यों के साथ सम्बन्ध कर रहे होंने से (हेतु) काण्डपट, पदी, कनात, भींत आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इसप्रकार आकाश आदि के सांशपन को साधने वाले अनुमान का वचन है, इस अनुमान में पड़े हुये हेतु का सामान्य (जाति) विशेष, आदि करके व्यभिचार दोष होजाने का असम्भव है, क्योंकि उन सामान्य आदिकों के एक ही बार में भिन्न देशीय द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होजाने की प्रमाणों से सिद्धि नहीं होपाती है, वैशेषिकों द्वारा माना गया नित्य, एक, अनेकानुगत, सर्वगत, ऐसे सामान्य की प्रमाणों से सिद्धि नहीं होसकी है, घट या पट के पूरे देशों में व्याप रहे सदृशपरिमाण--स्वरूप घटत्व, पटत्व आदि सामान्य यदि कतिपय भिन्नदेशीयद्रव्यों से सम्बन्ध रखते हैं तो वे सामान्य साथ में सांश भी हैं, अतः व्यभिचार दोष की सम्भावना नहीं है, यह वैशेषिकों के अनुमान की इस अनुमान से बाधा प्राप्त हुई। तथा वैशेषिकों के अनुमान की आगम-प्रमाण से यों बाधा आती है कि धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य और लोकाकाश के तुल्य रूप से असंख्यातासंख्यात प्रदेश हैं, इस कारण इन चारों का समप्रदेशत्व रूप से सम्बन्ध होरहा है, इत्यादिक आकाश आदि को सांशपने के प्रतिपादक आगम का भी सद्भाव है, जिन आगमों के बाधक प्रमाणों के असम्भवने का बहुत अच्छा निर्णय होचुका है।

भावार्थ—द्वादशांगों के विषय का वर्णन करते हुये आचार्यों ने समवायांग का निरूपण करते समय धर्म, आदिक चार के तुल्य असंख्यात प्रदेशी होने से द्रव्यसमवाय इष्ट किया है। राजवा-

त्तिक में भी "श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदं" इस सूत्र के व्याख्यान में लिखा है कि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय तथा लोकाकाश एवं एक जीव के तुल्य संख्या रूप असंख्यात प्रदेश होने के कारण एक प्रमाण (नाप) करके द्रव्यों का समवाय होजाने से परस्पर में द्रव्यसमवाय है, इस प्रकार अनुमान और आगम प्रमाणों से बाधित होरहा वैशेषिकों का आकाश में निरंशत्व को साधने वाला हेतु कालात्ययापदिष्ट है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यदप्युच्यते निरंशमाकाशादि सदावय वानारभ्यत्वात् परमाणुवदिति तदप्यनेन निरस्तं, हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वाविशेषात्। किं च यदि सर्वथा सदावयवानारभ्यत्वं हेतुस्तदा प्रतिवाद्यसिद्धः पर्यायार्थादेशात् पूर्वपूर्वाकाशादिप्रदेशेभ्य उत्तरोत्तराकाशादिप्रदेशोत्पत्तेरारभ्यारंभकभावोपपत्तेः। अथ कथंचित्सदावयवानारभ्यत्वं हेतुस्तदा विरुद्धः, कथंचिन्निरंशस्य सर्वथा निरंशत्वविरुद्धस्य साधनात्। कथंचिन्निरंशत्वस्य साधने सिद्धसाधनमेव पुगद्लस्कंधवत्सर्वदावयवतिभागाभावात् सावयवत्वाभावोपगमात्

और भी वैशेषिकों द्वारा जो यह कहा जाता है कि आकाश आदि (पक्ष) निरंश हैं, (साध्य) सदा अवयवों से नहीं आरम्भने योग्य होने से (हेतु) परमाणु के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस प्रकार वैशेषिकों का यह अनुमान भी इसी कथन करके निराकृत होगया समझो, क्योंकि पूर्व अनुमान के हेतु समान इस अनुमान के हेतु का भी कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभासपना अन्तररहित है, दूसरी बात यह भी है कि वैशेषिक यदि सर्वथा सदा अवयवों से अनारभ्यपन को हेतु कहेंगे तब तो प्रतिवादी होरहे जैनों को यह वैशेषिकों का हेतु असिद्ध (हेत्वाभास) पड़ेगा क्योंकि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथन करने से पूर्व पूर्व समय--वर्त्ती आकाश आदि के प्रदेशों से उत्तरोत्तर समयवर्ती आकाश आदि के प्रदेशों की उत्पत्ति होरही मानी जाती है, अतः आरभ्य, आरम्भक भाव बन रहा है।

भावार्थ—पर्याय--दृष्टि से आकाश या उसके प्रदेश आदि सभी पदार्थ प्रतिक्षण उपजते रहते हैं, पूर्व समय--वर्त्ती पर्याय कारण होती है, और उत्तर समय--वर्त्ती पर्याय कार्य मानी जाती है आकाश के प्रदेश भी उत्तर समय--वर्त्ती आकाशीय प्रदेशों को या प्रदेशों के पिण्ड आकाश को उपजाते रहते हैं, ऐसी दशा में सभी प्रकारों से अवयवों द्वारा अनारभ्यपना हेतु आकाश में नहीं रहता है, अतः वैशेषिकों का हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। हाँ अब यदि कथंचित् सदा अवयवों से अनारभ्यपन को हेतु कहोगे तब तो वैशेषिकों का हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होगा क्योंकि वह हेतु साध्य किये गये सर्वथा निरंशत्व से विरुद्ध होरहे कथंचित् निरंशत्व का साधना करेगा। तथा आकाश में कथंचित् निरंशपन का साधन करने में हम जैनों की ओर से वैशेषिकों के ऊपर सिद्धसाधन दोष ही भी है, क्योंकि जिस प्रकार पुद्गल स्कन्धों में सदा अवयवों का विभाग है, वे टूट, फूट, जाते हैं जुड़ मिल जाते हैं, उस प्रकार आकाश में सदा अवयवों का विभाग नहीं है, अतः आकाश में सावयवपने के अभाव को हम जैनों के यहां नहीं स्वीकार किया गया है, इस कारण जिस कथंचित् निरंशपन को हम जैन प्रथम से ही मानते आरहे हैं, उसके लिये ही आप पुनः अनुमान रचने का घोर परिश्रम कर रहे हैं, जो कि व्यर्थ है।

स्यान्मतं, नाकाशादीनां प्रदेशा मुख्याः संति स्वतोऽप्रदिश्यमानत्वात् परमाणुवत् । पटादीनां हि मुख्याः प्रदेशाः स्वतोऽवधार्यमाणाः सिद्धा इति । तदयुक्तं, परमाणोरेकप्रदेशाभावप्रसंगात् छद्मस्थैः स्वतोऽप्रदिश्यमानत्वाविशेषात् । परमाणुरेकप्रदेशोत्यन्तपरोक्षत्वादस्मदादीनां स्वतोऽप्रदिश्यमान इतिचेत् तत एवाकाशादिप्रदेशाः स्वतोऽप्रदिश्यमानाः संत्वस्मदादिभिः । अतींद्रियार्थदर्शिनां तु यथा परमाणुरेकप्रदेशः स्वतःप्रदेश्यस्तथाकाशादिप्रदेशोपीति स्वतोऽप्रदिश्यमानत्वादित्यसिद्धो हेतुः । पटादिद्व्यणुकाद्यवयवैरनेकांतिकश्च, तेषामस्मदादिभिः स्वतोऽप्रदिश्यमानानामपि भावात् ।

सम्भव है वैशेषिकों का यह मन्तव्य होय कि आकाश आदिकों के प्रदेश (पक्ष) मुख्य नहीं हैं (साध्य) स्वतः एक एक प्रदेश द्वारा नापने के ढंग से नहीं प्रदेशित किये जारहे होने से (हेतु) परमाणु के समान (अन्वय दृष्टान्त) । जिस कारण से कि पट, घट, वृक्ष, आदिकों के मुख्य प्रदेश हैं तिस ही कारण से वे स्वतःप्रदिष्ट होकर अवधारण किये जा रहे सिद्ध हैं । आकाश में यह बात नहीं है अतः आकाश के मुख्य प्रदेश नहीं हैं । आचार्य कहते हैं कि वैशेशिकों का यह कथन युक्तिरहित है क्योंकि यों तो परमाणु के माने जा रहे एक प्रदेश के अभाव का प्रसंग होजावेगा, कारण कि अल्पज्ञ छद्मस्थ जीवों करके परमाणु में भी स्वतः अप्रदिश्यमानपना आकाश के समान अन्तररहित विद्यमान है । यदि वैशेषिक यों कहैं कि परमाणु तो एक प्रदेशवाला है ही, किन्तु अत्यन्तपरोक्ष होने से हम आदि छद्मस्थ जीवों को स्वतःनापने योग्य प्रदिश्यमान नहीं होपाता है अथवा परमाणु का एक प्रदेश तो अनुमान या आगम से स्वीकार करने योग्य है, अंगुलिनिर्देश करने के समान सूक्ष्म परमाणु के प्रदेश का स्वतःप्रदेशद्वारा अंकित नहीं किया जा सकता है ।

आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारण से यानी अत्यन्त परोक्ष होने से आकाश, काल, आदि के प्रदेश भी हम आदि अल्पज्ञ जीवों करके स्वतः नहीं प्रदेशने योग्य होरहे होजाओ, हाँ अतीन्द्रियअर्थों का प्रत्यक्ष करने वाले सर्वज्ञ जीवों के तो तिसप्रकार एक प्रदेश वाला परमाणु अङ्गुलिनिर्देश से भी अत्यधिक स्वतःप्रदेशने योग्य है, तिस प्रकार आकाश आदि के प्रदेश भी स्वतः प्रदेश करने योग्य हैं । इस प्रकार वैशेषिकों का " स्वतःअप्रदिश्यमानत्वात् " यह हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है । तीसरा दोष यह है कि पट आदि के समान द्व्यणुक, त्र्यणुक, आदिकों करके यह हेतु व्यभिचारी भी है, क्योंकि हम आदिकों करके स्वतः नहीं प्रदेशित किये जारहे भी उन द्व्यणुक का सद्भाव है अर्थात्— द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि अथवा पट आदि के भी एक परमाण्ववगाही प्रदेशों का स्वतःप्रदिश्यपना नहीं है, फिर भी उनके प्रदेश माने गये हैं, अतः हेतु के रहने पर द्व्यणुकादिकों में साध्य के नहीं बरतने से वैशेषिकों का स्वतःअप्रदिश्यमानत्व हेतु व्यभिचारी हेत्वाभास है ।

किं च कथंचित्सांशमाकाशादि परमाणुभिरेकदेशेन युज्यमानत्वात् स्कंधवत् । तस्य तैः सर्वात्मना संयुज्यमानत्वे परमाणुमात्रत्वप्रसंगात् । तथा चाकाशादिबहुत्वापत्तिः ।

एक बात यह भी है कि आकाश आदि द्रव्य (पक्ष) कथंचित् अंशों से सहित हैं (साध्य) अनेक परमाणुओं के साथ एक एक प्रदेश करके संयुक्त होरहे होने से (हेतु) घट, पट, आदि स्कन्ध

के समान (दृष्टान्त)। यदि आकाश को सांश नहीं माना जायगा और उस आकाश का उन परमाणुओं के साथ सम्पूर्ण स्वरूप से संयोग होरहा स्वीकार किया जायगा तब तो आकाश को परमाणु के बराबर होने का प्रसंग आजायगा अर्थात्—देखो, विचारो, जो पदार्थ एक प्रदेशीय या निरंश परमाणु के साथ भीतर बाहर ऊपर, नीचे, सर्वात्मना संयुक्त होरहा है, वह परमाणु के बराबर ही है। यदि परमाणु से उस संयुक्त पदार्थ का परिमाण बढ़ जायगा तो समझ लेना चाहिये कि उस संयुक्त पदार्थ का कुछ अंश परमाणु के साथ चिपटा नहीं था जैसे कि एक रुपये का दूसरे रुपये के साथ एक भाग में संयोग होजाने से दो रुपयों की लम्बाई बढ़ जाती है, सर्वांग रूप से एक रुपये का दूसरे रुपये के साथ संसर्ग मानने पर तो दो रुपये मिल कर भी एक रुपये बराबर ही होंगे। केशाग्र मात्र भी बढ़ नहीं सकेंगे। इसी प्रकार आकाश का सर्वांग रूप से एक परमाणु के साथ संयोग होजाने पर वह आकाश परमाणु के बराबर होजायगा और तैसा होने पर अनेक परमाणुओं के साथ आकाश का सर्वात्मना सम्बन्ध मानने पर आकाश धर्म आदि द्रव्यों के अनेकपनकी आपत्ति होगी जो कि हम, तुम, दोनों को इष्ट नहीं है।

स्यान्मतं, नैकदेशेन सर्वात्मना वा परमाणुभिराकाशादियुज्यते। किं तर्हि? युज्यते एव यथावयवी स्वावयवैः सामान्यं वा स्वाश्रयैरिति। तदसत् साध्यसमत्वान्निदर्शनस्य तस्याप्यवयव्यादेः सर्वथा निरंशत्वे स्वावयवादिभिरेकांततो भिन्नैर्न संबंधो यथोक्तदोषानुषंगात् कात्स्न्यैकदेशव्यतिरिक्तस्य प्रकारांतरस्य तत्संबंधनिबंधनस्यासिद्धेः। कथंचित्तादात्म्यस्य तत्संबंधत्वे स्यादादिमतसिद्धिः, सामान्यतद्वतोरवयवावयविनोश्च कथंचित्तादात्म्योपगमात्। न चैवमाकाशादेः परमाणुभिः कथंचित्तादात्म्यमित्येकदेशेन संयोगोभ्युपगंतव्यः। तथा च सांशत्वसिद्धिः।

धांधलवाजी करते हुये वैशेषिकों का यह मत होय कि परमाणु आदिकों के साथ आकाश आदि द्रव्य न तो एक देश करके संयुक्त होते हैं। जिससे कि आकाश आदि सांश होजांय और सर्वांग रूप से भी आकाश आदिक द्रव्य उस परमाणु के साथ संयुक्त नहीं होजाते हैं। जिससे कि आकाश का परिमाण परमाणु के समान होजाता या अनेक परमाणुओं के साथ संयुक्त होजाने से आकाश द्रव्य अनेक होजाते। तो यहां किस ढंग से परमाणु आदिकों के साथ आकाश आदिक युक्त होते हैं? इस शंका पर हम वैशेषिकों का संक्षेप से यही राजाज्ञा-स्वरूप उत्तर है, कि वे आकाश आदिक द्रव्य परमाणुओं के साथ संयुक्त हो ही जाते हैं। जैसे कि अपने अवयवों के साथ अवयवी सम्बन्धित हो जाता है। अथवा सामान्य (जाति) अपने द्रव्य, गुण या कर्म नामक आश्रयों के साथ सम्बन्धित होजाता है।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वैशेषिकों का वह कथन प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि उनका दिया हुआ अवयवी या सामान्य स्वरूप दृष्टान्त साध्यसम है, अर्थात्—जैसे परमाणुओं के साथ आकाश

आदि का संयोग किसी ढंग से साधा जारहा है। उसी प्रकार अवयवी और सामान्य का अपने अवयव या आश्रयों के साथ संसर्ग करना भी साधने योग्य है। उनका संसर्ग जैसा आप मानते हैं, वैसा कोई निर्णीत नहीं होसकता है। बौद्धोंने अवयवों में अवयवी के वर्तने पर जो आक्षे। किये थे उस पर भी वैशेषिकों ने कोरी प्रचण्ड नरपति की आज्ञा के समान युक्तियों से रीता उत्तर दिया है। बात यह है कि अवयवों में अवयवी रहता है, सामान्यवान् में सामान्य रहता है, किन्तु वैशेषिक जिस ढंग से कहते हैं उस रीति से नहीं। वैशेषिकों के अनुसार उस अवयवी या सामान्य, आदि को भी यदि सर्वथा निरंश मानलिया जायगा तो एकान्त रूप से भिन्न होरहे स्वकीय अवयव आदिकों के साथ सम्बन्ध नहीं होसकता है, क्योंकि ऊपर कहे गये अनुसार दोषों का प्रसंग आता है। पूर्णरूप से या एक देश से इन दो के अतिरिक्त उस सम्बन्ध के कारण होरहे अन्य प्रकारों की असिद्धि है, अतः वैशेषिकों के दृष्टान्त में भी वे ही दोष खड़े हुये हैं, असिद्ध दृष्टान्त से साध्य की सिद्धि नहीं होसकती है।

यदि कथंचित् तादात्म्य को उनका सम्बन्ध स्वीकार किया जायगा तब तो स्याद्वादियों के मत की सिद्धि होजाती है क्योंकि सामान्यवान् का एवं अवयवों और अवयवी का कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध हमारे यहाँ स्वीकार किया गया है। किन्तु इस प्रकार परमाणुओं के साथ आकाश आदि का कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है क्योंकि ये सर्वथा भिन्न द्रव्य हैं, कथंचित् भिन्नाभिन्न पदार्थों में तो कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध बन सकता है, अब अनेक परमाणु के साथ एक आकाश द्रव्य का एक देश करके ही संयोग स्वीकार करना पड़ेगा और तैसा होने पर एक देश, एक देश यों अनेक देश होजाने से आकाश के सांशपन की सिद्धि होजाती है।

किं च सांशमाकाशादि श्येनभेषाद्यन्यतरोभयकर्मजसंयोगविभागान्यथानुपपत्तेः। श्येनेन हि स्थाणोः संयोगो विभागश्चान्यतरकर्मजस्तत्रोत्पन्नं कर्म स्वाश्रयं श्येनं तदाकाशप्रदेशाद्वियोज्य स्थाण्वाकाशदेशेन संयोजयति ततो वा विभिद्याकाशदेशांतरेण संयोजयतीति प्रतीयते, न चाकाशस्यैकदेशाभावे तद्घटनात्, कर्मणः स्वाश्रयान्याश्रययोरेकदेशत्वात्।

एक बात यह भी है कि आकाश आदिक पदार्थ (पक्ष) स्वकीय अंशों से सहित हैं (साध्य) संयुक्त या विभक्त द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य में हुई क्रिया से उत्पन्न हुआ श्येन (बाज पक्षी) या मनुष्य आदि का संयोग और विभाग तथा संयुक्त या विभक्त दोनों द्रव्यों में उपजी क्रिया से जन्य मेंढा, मल्ल, आदि के संयोग और विभाग ये अन्यथा यानी आकाश आदि को सांश माने विना नहीं बन सकते हैं (हेतु)। जब कि बाज पक्षी के साथ स्थाणु (ठूंठ) का संयोग और विभाग भला अन्यतरकर्म से जन्य हुआ है। यहां यों समझिये कि उस श्येन में उत्पन्न हुआ कर्म अपने आधार होरहे श्येन को आकाश के उस प्रदेश से वियोग करा कर स्थाणु से अवच्छिन्न होरहे आकाश के प्रदेश के साथ संयोजित करा देता है. अथवा वह अन्यतर कर्म उस संयुक्त प्रदेश से विभिन्न कर यानी विभाग कर आकाश के अन्य प्रदेश के साथ संयुक्त करादेता है. इस प्रकार प्रतीति होरही है। आकाश के एक एक देश को माने विना उस एक एक प्रदेश के साथ हुये संयोग या विभाग की घटना नहीं होसकती है, क्रिया भी स्वकीय आश्रय में हो या अन्य आश्रय में उपज गयी होय, आकाश के एक देश में वर्त

रहे द्रव्य ही में पायी जा सकती है, आकाश के सर्वदेशवर्ती द्रव्य में क्रिया नहीं होपाती है। क्योंकि ऐसा कोई क्रियावान् द्रव्य ही नहीं है।

एतेन मेषयोरुभयकर्मजः संयोगो विभागश्चाकाशस्याप्रदेशत्वे न घटत इति निवेदितं, क्रियानुपपत्तिश्च तस्याः देशांतरप्राप्तिहेतुत्वेन व्यवस्थितत्वात् देशांतरस्य चाऽसंभवात्। तत एव परत्वापरत्वपृथक्त्वाद्यनुपपत्तिः पदार्थानां विज्ञेया। तत्सकलमभ्युपगच्छतांजसा सांशमाकाशादि प्रमाणयितव्यं।

सर्वाधिकार © आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस उक्त कथन करके इस बात का भी निवेदन कर दिया जा चुका समझलो कि दो मेंढाओं का दोनों की क्रियाओं से उपजा संयोग अथवा विभाग ही आकाश को प्रदेशरहित मानने पर नहीं घटित होपाता है। दूसरी बात यह है कि आकाश को निरंश मानने पर पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन में से किसी भी द्रव्य की कोई क्रिया नहीं बन सकती है, क्योंकि वह क्रिया तो अन्य देशों की प्राप्ति का कारण होकरके व्यवस्थित होरही है। अर्थात्—जब आकाश के प्रदेश नहीं हैं, तो प्रकृत देश से दूसरे देशों में प्राप्ति कराने वाली क्रिया कथमपि नहीं बन सकती है। किस देश से कौनसे दूसरे देशों पर पदार्थ को रक्खे ? आकाश को निरंश मानने वालों के यहाँ देशान्तर का तो असम्भव है। तथा तिस ही कारण से यानी देशान्तरोंका असम्भव होने से पदार्थोंके परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, द्रवत्व, गुरुत्व आदि की असिद्धि होना समझ लेना चाहिये अर्थात्—आकाश के प्रदेश होने पर ही सहारनपुर से काशी की अपेक्षा अयोध्या अपर है, पटना पर है, यों पटनासम्बन्धी परत्व और अयोध्या सम्बन्धी अपरत्व गुण बन सकते है अन्यथा नहीं।

सप्रदेश आकाश के देश, देशान्तर मानने पर ही पदार्थों का एक दूसरे से पृथग्भाव बनता है, वस्त्र से मैल पृथक होगया, अंगुलीसे नख को पृथक कर दिया, ये सब आकाशके अनेक-प्रदेश मानने पर ही सम्भवते हैं। वैशेषिकों ने आद्य स्पन्दन (बहना) का असमवायी कारण द्रवत्व गुण माना है, और आद्य पतन का असमवायी-कारण गुरुत्व गुण स्वीकार किया है, जब आकाश के प्रदेश ही नहीं हैं तो कौन द्रव्य कहां से बह कर कहाँ जाय ? और भारी पदार्थ कहां से गिर कर कहां पडे ? समझ में नहीं आता है। तिसकारण उन संयोग, विभाग, क्रिया, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व आदि सम्पूर्ण सुव्यवस्थाओं को स्वीकार करने वाले वैशेषिक या अन्य वादी करके आकाश, आत्मा, आदि द्रव्यों को अतिशीघ्र प्रामाणिक मार्ग अनुसार सांश स्वीकार कर लेना चाहिये।

कुतः पुनराकाशस्यानंताः प्रदेशा इत्यावेदयति।

महाराज फिर यह बताओ कि आकाश के अनन्त प्रदेश भला किस ढंग से सिद्ध कर लिये जाते हैं ? सम्भव है कि सप्रदेश सिद्ध करदिये गये आकाश के संख्यात या असंख्यात ही प्रदेश होवें ? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा आवेदन करते हैं।

अनंतास्तु प्रदेशाः स्युराकाशस्य समंततः।
लोकत्रयाद्बहिः प्रांताभावात्तस्यान्यथागतेः॥ १॥

छहों ओर से या सब ओर से आकाश के प्रदेश तो अनन्तानन्त ही हो सकते हैं (प्रतिज्ञा) तीनों लोक से बाहर नियत प्रान्त का अभाव होने से (हेतु)। अन्यथा यानी लोक से बाहर प्रान्त का अभाव नहीं मानने पर तो उस आकाश की गति यानी ज्ञप्ति नहीं होसकेगी। वैशेषिकों के मत अनुसार सर्वगतपना भी नहीं सम्भवेगा, अल्प देशों में वर्त रहा आकाश अल्पगत बन बैठेगा।

अनंतप्रदेशमाकाशं लोकत्रयाद्बहिः समंततः प्रांताभावात् यन्नानंतप्रदेशं न तस्य ततो बहिः समन्ततः प्रांताभावो यथा परमाण्वादेः इत्यन्यथानुपपत्तिलक्षणो हेतुः स्वसाध्यं साधयत्येव। ततो बहिः समंततः प्रांताभावस्य साधने पुनराकाशस्य गत्यभावप्रसंगात् भावेपि कथमाकाशस्य गतिरित्याह।

आकाश द्रव्य (पक्ष) अनन्त प्रदेशवान् है (साध्य) तीनों लोक से बाहर सब ओर से प्रान्त का अभाव होजाने से (हेतु)। जो अनन्त प्रदेश वाला नहीं है, उसका उस तीनों लोक से बाहर सब ओर प्रांत का अभाव नहीं पाया जाता है जैसे कि परमाणु, घट, पट, आदिका प्रांताभाव नहीं है, (व्यतिरेक दृष्टान्त)। इस प्रकार अन्यथानुपपत्ति नामक असाधारण लक्षण से युक्त होरहा हेतु अपने साध्य को साध ही देता है। उस लोकत्रय से बाहर समन्ततः आकाश के प्रान्ताभाव का अभाव माना जायगा यानी प्रान्तभाग मान लिये जांयगे तो फिर आकाश द्रव्य की ज्ञप्ति होने के अभाव का प्रसंग आजायगा। कोई प्रश्न करता है कि लोक से बाहर आकाश के प्रान्तों के अभाव का सद्भाव मानने पर भी भला आकाश की ज्ञप्ति किस प्रकार होजायगी ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य महाराज उत्तर वार्तिक को कहते हैं।

जगतः सावधेस्तावद्भावो बहिरवस्थितिः।
संतानात्मा न युज्येत सर्वथार्थक्रियाक्षमः॥ २॥
न गुणः कस्यचित्तत्र द्रव्यस्यानभ्युपायतः।
तदाश्रयस्य कर्मादेरपि नैवं विभाव्यते॥ ३॥
द्रव्यं तु परिशेषात्स्यात्तन्नभो नः प्रतिष्ठितं।
प्रसक्तप्रतिषेधे हि परिशिष्टव्यवस्थितिः॥ ४॥

सब से प्रथम यहाँ विचार करना है कि चराचर वस्तुओं का पिण्ड होकर यह जगत् मर्यादा-सहित है, चाहे तीन लोक माने जांय या सात भुवन अथवा चौदहभुवन आदि माने जांय इनकी अवधि अवश्य मानी जायगी। अवधिसहित इस जगत् से बाहर भी कोई भावात्मक पदार्थ अवस्थित है जो कि कल्पित सन्तानस्वरूप तो नहीं उचित है, क्योंकि अर्थक्रिया करने में वह समर्थ है, कल्पित पदार्थ सभी प्रकार से अर्थक्रिया को नहीं कर सकता है, " नहि मृण्मयो गौर्वाह--दोहादावुपयुज्यते " अतः वह भाव--पदार्थ बौद्धों के यहां माने गये अनुसार कल्पित सन्तान स्वरूप नहीं माना जा सकता

। पृथिवी, जल, आदिस्वरूप भी वह नहीं है, क्योंकि ये सब लोक के भीतर ही हैं। लोक से बाहर का भाव पदार्थ रूप, रस, आदि गुण-स्वरूप भी नहीं होसकता है क्योंकि उस गुण के आश्रयभूत किसी भी एक पृथिवी आदि द्रव्य को वहां स्वीकार नहीं किया गया है। इसी प्रकार कर्म (क्रिया), सामान्य (जाति) आदि के सम्भवने का भी वहाँ विचार नहीं किया जा सकता है क्योंकि उनके आश्रयभूत हो रहे द्रव्य का अभाव है, द्रव्य के बिना ये बिचारे कहां ठहर पायेंगे ? । हाँ पृथिवी, वायु, आत्मा, गुण, आदि का निषेध करते हुये " परिशेषन्याय " से जो कोई द्रव्य वहां जगत् के बाहर ठहर पायेगा वही तो हम स्याद्वादियों के यहां आकाश द्रव्य प्रतिष्ठित है, " प्रसक्तप्रतिषेधे परिशिष्ट-संप्रत्ययहेतुः परिशेषः " क्योंकि प्रसंग-प्राप्त पदार्थों का युक्तियों से निषेध कर चुकने पर अन्त में जो परिशिष्ट (बच) रह जाता है, उसकी "परिशेषन्याय" अनुसार व्यवस्था कर दी जाती है। अर्थात्-जगत् के बाहर कोई पृथिवी आदि द्रव्य नहीं है, केवल आकाश द्रव्य है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनंता लोकधातवः इत्याकाशत्ववादिनां दर्शनमयुक्तं प्रमाणाभावात । स्वभावविप्रकृष्टानां भावाभावनिश्चयासंभवात संभवे वा स्वतः क्षतिप्रसंगात् तदागमस्य प्रमाणभूतस्यानभ्युपगमात् । ततः सावधिरेव लोको व्यवतिष्ठते तस्य च स्वतो बहिः समंतादभावस्तावत्सिद्धः स च नीरूपो न युज्यते प्रमाणाभा त् । भा धर्मस्वभावो न गुणः, कर्म, सामान्यं, विशेषो वा, कस्यचिद्द्रव्यस्य तदाश्रयस्यानभ्युपगमात् परिशेषाद्द्रव्यमिति विभाव्यते । प्रसक्तप्रतिषेधे परिशिष्टव्यवस्थितेः तदस्माकमाकाशं सर्वतोऽवधिरहितमित्यनंतप्रदेशसिद्धिः ।

लोक नामक धातुयें अनन्त हैं अर्थात्—लोक तीन, सौ, हजार लाख, आदि इतने ही नहीं हैं किन्तु संख्यात, असंख्यात, से भी बढ़ कर अनन्त हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार आकाशतत्व को मानने वालों का दर्शन अयुक्त है क्योंकि इस में कोई प्रमाण नहीं है, अथवा आकाश को तत्व मानने वालों के यहां लोकों को भी अनन्त कहने वाला दर्शन अयुक्त है, इस विषय का कोई प्रत्यक्ष या अनुमान अथवा आगम प्रमाण नहीं है। स्वभाव से विप्रकृष्ट (व्यवहित) होरहे चाहे किन्हीं भी अतीन्द्रिय पदार्थों के भाव या अभाव का निश्चय करना असम्भव है, फिर भी चाहे किसी भी अतीन्द्रिय पदार्थ का सद्भाव मान लिया जायगा तो सभी दार्शनिकों के यहाँ स्वतः ही क्षति होने का प्रसंग आजावेगा, चाहे कितने भी मन-माने सूक्ष्म पदार्थ मान लिये जावेंगे और चाहे किसी भी परमाणु, आकाश, कर्म, काल द्रव्य आदि स्वभावविप्रकृष्ट पदार्थोंका अभाव कर दिया जा सकता है। प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से तो अनन्त लोकों की सिद्धि नहीं होसकती है, और जिस आगम में लोक अनन्त लिखे हुये हैं, उस आगम को प्रमाणभूत स्वीकार नहीं किया गया है, तिस कारण से मर्यादासहित ही लोक व्यवस्थित होता है।

उस पञ्च द्रव्य समुदाय या षट् द्रव्यसमूह-स्वरूप मर्यादित लोक का अपने से बाहर सब ओर अभाव तो सिद्ध ही है किन्तु वह लोक का अभाव निःस्वरूप या प्रसज्यपक्ष अनुसार तुच्छ अभाव रूप माना जाय यह तो उचित नहीं है क्योंकि इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है। इस परिमित लोक के बाहर भी कोई भाव-पदार्थ ठहर सकता है, पर्युदास नामक अभाव के अनुसार वह लोक के बाहर

लोक का अभाव माना गया भाव धर्म स्वभाव होरहा पदार्थ किसी रूप आदि चौवीस गुण स्वरूप भी नहीं है, अथवा उत्क्षेपण आदि पांच कर्म स्वरूप भी नहीं है, इसी प्रकार वैशेषिकों के यहाँ माने गये सामान्य अथवा विशेष पदार्थ--स्वरूप भी नहीं है, क्योंकि उन गुण आदि के आश्रय होरहे किसी भी द्रव्य को वहाँ स्वीकार नहीं किया गया है, स्वमतविरोधका भय होनेसे [illegible] ठहरें ? । तब तो परिशेषन्याय से वह कोई द्रव्य ही विचारा जा सकता है । प्रसंग--प्राप्तों का निषेध कर चुकने पर बच रहे परिशिष्ट पदार्थ की व्यवस्था होजाती है, अतः वही द्रव्य हम स्याद्वादियों के यहां आकाश माना जा रहा है, अर्थात्—लोक के बाहर पृथिवी, जल आदि तो हो नहीं सकते हैं, क्योंकि वहां उनके ठहरने या गमन का हेतु अधर्म या धर्म द्रव्य नहीं है, इस कारण से वहां जीव द्रव्य भी नहीं है, जहां पुगदल, जीव, धर्म अधर्म, और कालद्रव्य पाये जाते हैं वह तो लोक ही है, लोक से बाहर सब ओर से अवधिरहित होरहा आकाशद्रव्य है, इस कारण आकाश के अनन्तानन्त प्रदेशों की सिद्धि होजाती है, यों आकाश की ज्ञप्ति और आकाश के प्रदेशों की सिद्धि कर दी गयी है ।

परेषां पुनरनन्ता लोकधातवः संतोपि यदि निरंतरास्तदा अंतरालप्रतीतिर्न स्यात् सर्वथा तेषां निरंतरत्वे वैकं लोकधातुमात्रं स्यात् । परेषां लोकधातूनां तत्र नुप्रवेशात् । देशेन नैरन्तर्ये सावयवत्वं तदवयवेनापि तदवयवांतरैः सर्वात्मना नैरंतर्ये तदेकावयवमात्रं स्यात्, तदेकदेशेन नैरन्तर्ये तदेव सावयवत्वमेवमनन्तपरमाणूनां सर्वात्मना नैरन्तर्ये परमाणुमात्रं जगद्भवेत् तदेकदेशेन नैरंतर्ये सावयवत्वं परमाणूनां । तन्नाभिष्टं इति सांतरा एव लोकधातवः प्रतिपरमाणु वक्तव्याः । तदन्तर एवाकाशमेवोक्तव्यापादनादनंतप्रदेशमायातं ।

दूसरे वादी पण्डितों के यहाँ फिर लोकधातुयें अनन्त होरहे सन्ते भी यदि वे अन्तररहित हैं, तब तो उनके मध्य में पड़े हुये अन्तराल की प्रतीति नहीं होनी चाहिये । दूसरी बात यह है कि सर्वथा उनका अन्तररहितपना माननेपर केवल एक ही लोकधातु हो सकेगा, अनेक लोक कथमपि नहीं माने जासकेंगे क्योंकि अन्तररहित अवस्था में अन्य सम्पूर्ण लोक धातुओं का उस एक ही लोक में अनुप्रवेश होजायगा । जैसे कि एक लोक में पड़े हुये प्रान्त या देशों का उसी लोक में अन्तर्भाव होजाता है, यदि लोकों का परस्पर में एक देश करके अन्तररहितपना माना जायगा तब तो लोक सावयव होजायंगे क्योंकि अवयवों से सहित होरहे पदार्थों का एकदेश या प्रान्तदेश अथवा मध्यदेश करके निरंतरपना या सान्तरपना सम्भवता है । तथा उस अवयवी के एक देश होरहे अवयव करके उसके अन्य अवयवों के साथ सम्पूर्ण रूप से यदि निरंतरपना माना जायगा तो वह पूरा अवयवी केवल एक अवयव-प्रमाण (बरोबर) होजायगा ।

इसी प्रकार उस छोटे अवयवी स्वरूप अवयव के एक देश करके अन्तराल का अभाव माना जायगा तो फिर वही अवयव-सहितपना प्राप्त होता है । इस प्रकार अन्त में जाकर सब से छोटे चरमावयव होरहे अनन्त परमाणुओं का सम्पूर्ण स्वरूप से निरन्तरपना स्वीकार करने पर यह जगत् केवल एक परमाणु-बरोबर होजायगा । यदि परमाणु के बरोबर उस जगत् का फिर एक देश करके अन्तरालाभाव माना जायगा तो परमाणुओं को अवयव से सहितपन का प्रसंग प्राप्त होता है, जो कि

किसी भी वादी, प्रतिवादी, विद्वान् को इष्ट नहीं है, इस कारण निरन्तरपन के पक्ष का परित्याग कर
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
लोक धातुओं को अन्तरसहित ही स्वीकार कर लेना अच्छा है। सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर प्रत्येक परमाणु को अन्तर-सहित कहना उचित पड़ता है, प्रत्येक प्रत्येक परमाणु अनुसार वे लोकधातुयें अन्तराल सहित हैं और वह अन्तर यानी व्यवधान ही तो आकाश है, या वह अन्तर आकाश ही तो है, इस प्रकार अनन्त लोक-धातुओं को मानने वाले वादी के उक्त मन्तव्य का खण्डन कर देने से यह प्राप्त होता है, कि एक आकाशद्रव्य अनेक प्रदेशों में फैल रहा अनन्तानन्त प्रदेशों वाला है।

आलोकतमःपरमाणुमात्रमतरमिति चेन्न, आलोकतमःपरमाणुभिरपि सान्तरैर्भवितव्यं। तच्चैरंतर्ये प्रतिपादितदोषानुषंगात्। तदंतराण्याकाशप्रदेशा एवेत्यवश्यंभावि नभोऽनंतप्रदेश।

यदि कोई यों कहै कि लोकधातुओं या परमाणुओं को न्यारा न्यारा करने के लिये अन्तर-सहित मानना ठीक है किन्तु वह अन्तराल आकाश पदार्थ स्वरूप नहीं मानकर केवल अवश्य माने जा हे आलोक. अन्धकार, और परमाणुस्वरूप ही अन्तर माना जाय अथवा प्रकाश होने पर आलोक के परमाणुओं स्वरूप और अन्धकार में तमः के परमाणुओं स्वरूप वह अन्तराल मान लिया जाय व्यर्थ में अत्यन्तपरोक्ष आकाश द्रव्य के मानने की आवश्यकता नहीं दीखती है। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि आलोक के और अन्धकार के परमाणुएँ भी तो खण्ड, खण्ड, होकर न्यारे न्यारे द्रव्य हैं, उनको भी अन्तरालसहित होना चाहिये तभी उन छोटे छोटे परमाणुओं के स्वतंत्र द्रव्यपन की रक्षा होसकती है, यदि उन आलोक परमाणुओं या अन्धकारपरमाणुओं का निरन्तरपना स्वीकार किया जायगा तो अभीकहे जा चुके दोषों का प्रसंग होगा।

अर्थात्—एक देशकरके निरन्तरपना मानने पर अनेक परमाणुओं का सावयवपना मानना-पड़ेगा और सर्वात्मना निरन्तरपना (संसर्ग) मानने पर केवल परमाणु के बरावर जगत् हुआ जाता है, जोकि किसी को भी इष्ट नहीं है, अतः लोकधातुओं अथवा प्रत्येकपरमाणुओं तथा आलोकपरमाणुयें और तमःपरमाणुयें उन सब के अन्तर होरहे आकाश प्रदेश ही हैं, इस कारण लोक के बाहर अनन्तानन्त प्रदेशों वाला आकाश द्रव्य अवश्यंभावी है, लोक के बाहर एक अखण्ड आकाश द्रव्य अनन्तानन्त क्षेत्र में फैल रहा है। घी से भरी हुई कढ़ाई में दसों पूड़ियों को डाल देने पर उन पूड़ियों के सब ओर फैल रहा घृत जैसे उनके परस्पर में अन्तर है, उसी प्रकार अनेक पदार्थों का अन्तर आकाशद्रव्य होसकता है, हाँ अन्तरालरहित पदार्थों में आकाश का अन्तर मानना कोई प्रयोजनसाधक नहीं है, भले ही उन अखण्ड, अच्छिद्र, स्कन्ध आदि पदार्थों में भीतर बाहर सब ओर आकाश द्रव्य ओत पोत घुस रहा है या वे पदार्थ उस आकाश में सर्वाङ्ग डूब रहे हैं।

आगमज्ञानसंवेद्यमनुमानविनिश्चितं।
सर्वज्ञैर्वा परिच्छेद्यमप्यनंतप्रमाणभाक् ॥ ४ ॥

आकाश द्रव्य का अनन्तप्रदेशीपना निर्दोष आगम प्रमाण से जानने योग्य है, तथा निर्दोष हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान प्रमाण द्वारा भी आकाश का अनन्तप्रदेशीपना विशेषरूप से निश्चित कर लिया जाता है, अथवा सर्वज्ञ जीवों करके भी अनन्त प्रदेशीपना विषय करने योग्य है, इस प्रकार आगम, अनुमान, और प्रत्यक्ष प्रमाणों करके जाना जा रहा आकाश अनन्तप्रदेशों के परिमाण को धार रहा है ।

मार्गदर्शक :- [illegible]

यद्विज्ञानपरिच्छेद्यं तत्सांतमिति योब्रवीत् ।
तस्य वेदो भवादिर्वा नानंत्यं प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥

यहां कोई कुतर्क उठाता है कि जो विज्ञान करके जानने योग्य है, वह सान्त ही है, अनन्त नहीं । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो कटाक्ष कह चुका था उस पण्डितके यहां वेद अथवा महेश्वर, काल, बीज, वृक्ष सन्तान आदिक पदार्थ फिर अनन्तपन को नहीं प्राप्त होसकेंगे । अर्थात्-ज्ञान से परिच्छेद्य वेद है, ईश्वर को भी आगम ज्ञान से जाना जाता है, युक्तियों से सन्तान का ज्ञान होजाता है किन्तु ये ज्ञेय होकर भी अनन्त माने गये हैं । इसी प्रकार आकाश द्रव्य भी परिच्छेद्य होकर अनन्त होसकता है, ये बात दूसरी है कि अनन्त को अनन्तपने करके ही जाना जायगा, सान्तपने करके नहीं । यों कुतर्की का सान्तत्व को साधने में दिया गया " विज्ञान परिच्छेद्यत्व हेतु व्यभिचारी हुआ " ।

स्वयं वेदस्येश्वरस्य पुरुषादेर्वा अनाद्यनन्तत्वं कुतश्चित्प्रमाणात् परिच्छिदन्नपि तत्सादिपर्यन्तत्वं प्रतिक्षिपन्नाकाशस्यानुमानागमयोर्गप्रत्यक्षैः परिच्छिद्यमानस्यानंतत्वं प्रतिक्षिपतीति कथं स्वस्थः ? प्रमाणस्य यथावस्थितवस्तुपरिच्छेदनस्वभावत्वादनंतस्यानंतत्वेनैव परिच्छेदने को विरोधः स्यात् संख्यातासंख्यातादेस्तथा परिच्छेदनवत् । ततः सूक्ष्मस्याकाशस्यानंताः प्रदेशा इति ।

वेद का, ईश्वर का, अथवा आत्मा, प्रकृति, आदि का, अनादि अनन्तपना किसी भी प्रमाण से स्वयं जान रहा सन्ता भी और उन वेद आदि के सादि सान्तपन का खण्डन कर रहा सन्ता भी यह वादी फिर अनुमान, आगम, और सर्वज्ञप्रत्यक्ष इन प्रमाणों करके जाने जा रहे आकाश के अनन्तपन का खण्डन कर देता है, इस प्रकार कहने वाला वादी स्वस्थ किसप्रकार कहा जासकता है । किसी ज्ञेय पदार्थ को अनन्त माने और दूसरे ज्ञेय पदार्थ को यों ही मनमाना सान्त कह दे, वह वादी उन्मत्त ही कहा जा सकता है । भाई बात यह है कि प्रमाण का स्वभाव तो जो पदार्थ-जैसे व्यवस्थित है, उस वस्तु का उसी अन्यून, अनतिरिक्त, रूप से ज्ञान कर लेना है, अनन्त पदार्थ का अनन्तपने करके ही ज्ञान करने में भला कौन सा विरोध आजायगा ? अर्थात्-कोई नहीं । जिस प्रकार संख्यात या असंख्यात आदि की तिसप्रकार संख्यातपने या असंख्यातपने आदि करके ठीक परिच्छित्ति होजाती है, अथवा असंख्यातासंख्यात की असंख्यातासंख्यात रूप करके ज्ञप्ति है, उसी प्रकार आकाश के प्रदेशों का अनन्तानन्तरूप से ज्ञान होजाता है किसी स्थूलबुद्धिवाले पुरुष को यदि कोई सूक्ष्म पदार्थ या कठिन पदार्थ समझ में नहीं आकर अज्ञेय होरहा है, फिर भी उस अज्ञेय पदार्थ को अज्ञेय--पने करके ज्ञेय कह सकते हैं, केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद सबसे बड़ी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नामकी संख्या वाले हैं,

अलौकिक गणित अनुसार वे भी इकईसवें संख्यामान द्वारा परिमित हैं, आकाश के अनन्तानन्त प्रदेश भी सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष में हस्तामलकवत् देखे जारहे परिमित हैं, हां वे अनन्तानन्त अवश्य हैं, तिस कारण सूत्रकार ने यों इस सूत्र में बहुत अच्छा कहा था कि आकाश द्रव्य के अनन्तानन्त प्रदेश हैं। यहां तक इस सूत्र का व्याख्यान समाप्त हुआ।

धर्म, अधर्म, एक जीव और आकाश यों चार अमूर्त द्रव्यों के प्रदेशों का परिमाण जाना जा चुका है, अब महाराज बताओ कि मूर्त पुद्गलों के प्रदेशों का परिमाण कितना है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

पुद्गल द्रव्यों में से किसी के संख्यात प्रदेश हैं, किसी अशुद्ध पुद्गल द्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं, और च शब्द करके समुच्चय किये गये अनन्त प्रदेश भी किसी पुद्गल स्कन्ध के माने जाते हैं।

प्रदेशा इत्यनुवर्तते। च शब्दादनंताश्च समुच्चीयते। कुतस्ते पुगद्लानां तथेत्याह।

इस सूत्र में "असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मेकजीवानाम्" इस सूत्र से प्रदेशाः इस पद की अनुवृत्ति होरही है और च शब्द से पूर्वसूत्रोक्त "अनन्ताः" इस वाच्यार्थ का समुच्चय कर लिया जाता है, ऐसी दशा में इस सूत्र का यों अर्थ होजाता है कि पुद्गलों के संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रदेश हैं। कोई यहां यदि यों प्रश्न करै कि पुद्गलों के तिस प्रकार संख्यात, असंख्यात, और अनन्ते वे प्रदेश किस प्रमाण से भला सिद्ध होजाते हैं बताओ ? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार उत्तर-वार्त्तिक को कहते हैं।

संख्येयाः स्युरसंख्येयास्तथानंताश्च तत्त्वतः।
प्रदेशाः स्कंधसंसिद्धेः पुगद्लानामनेकधा ॥ १ ॥

पुद्गल द्रव्यों के प्रदेश संख्यात और असंख्यात तथा अनन्त होसकते हैं, (प्रतिज्ञा) क्योंकि वास्तविक रूप से पुद्गलों के अनेक प्रकार के स्कन्धों की अच्छी सिद्धि होरही है, (हेतु)। अर्थात्—जितने परमाणुओं से जो स्कन्ध बनेगा उस-स्कन्ध में उतने परमाणुवर्गाही प्रदेश कहे जायेंगे। पुद्गलस्कन्ध में आकाश के प्रदेशों की लम्बाई, चौड़ाई, अनुसार प्रदेश नहीं माने गये हैं जैसे कि धर्म, अधर्म, एक जीव और आकाश में माने गये थे किन्तु पुद्गलों में तो परमाणुओं की गिनती अनुसार प्रदेशों की संख्या नियत की गयी है, भले ही आकाश का क्षेत्र उनमें बहुत थोड़ा होय या अधिक से अधिक परमाणुओं की संख्या बराबर संख्यातप्रदेशी या असंख्यात प्रदेश वाला होय। अनन्त प्रदेश वाले आकाश में तो कोई पुद्गल द्रव्य ठहरता ही नहीं है क्योंकि पुद्गलों का अवस्थान असंख्यात प्रदेशवाले लोकाकाश में ही है अलोकाकाश में नहीं।

संख्येयपरमाणवारब्धानामनेकधा--स्कंधानामसंख्यातानंतानंतपरमाणवारब्धाना च संसिद्धः पुद्गलानां स्युरेवं संख्येयाश्चासंख्येयाश्चानंताश्च प्रदेशास्ततः सकलबाधवैधुर्यात्।

संख्याते परमाणुओं करके आरम्भे गये अनेक प्रकार के स्कन्धों की भले प्रकार प्रमाणों से सिद्धि होरही है तथा असंख्यात परमाणुओं या अनन्त-परमाणुओं अथवा अनन्तानन्त परमाणुओं से बनाये जा चुके अनेक प्रकारके पौद्गलिक स्कन्धो की भलो सिद्धि होरहा है, इस कारण से पुद्गलों के इस प्रकार संख्येय और असंख्येय तथा अनन्त प्रदेश होसकते हैं क्योंकि तात्त्विक रूप से सम्पूर्ण बाधाओं का रहितपना देखा जाता है अर्थात् बाधा-रहित प्रमाणों से जिसकी सिद्धि है उस पदार्थ का सद्भाव अवश्य स्वीकार करने योग्य है। जैसे कि स्वकीय या पर के सुखदुःखों का अस्तित्व जान लिया जाता है।

ननु च स्कंधस्य ग्रहणं तदारंभकावयवग्रहणपूर्वकं तदग्रहणपूर्वकं वा ? प्रथमपक्षेऽनंतशः परमाणूनां तदवयवानामतींद्रियत्वादग्रहणे स्कंधाग्रहणमिति सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः, द्वितीयपक्षेऽत्र सकलावयवशून्येपि देशेऽवयविग्रहणप्रसंगः कतिपयावयवग्रहणपूर्वकेपि स्कंधग्रहणे सर्वाग्रहणमेव कतिपयावयवानामप्यनंतशः परमाणूनां व्यवस्थानात्तेषां च ग्रहणासंभवात्। ततो न परमार्थतः स्कंधसंसिद्धिः अनाद्यविद्यावशादत्यासन्नेषु संसृष्टेषु बहिरंतश्च परमाणुषु तदाकारप्रतीतेः तादृशकेशादिष्वप्यन्याकारप्रतीतिवदिति कश्चित्

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यहाँ कोई अवयवी को नहीं मानने वाला बौद्ध-वादी शंका करता हुआ स्वपक्ष का अवधारण करता है कि स्कन्ध का ग्रहण क्या उसको बनाने वाले अवयवों के ग्रहणपूर्वक होगा ? अथवा क्या उसके आरम्भक अवयवों का पूर्व में ग्रहण नहीं कर झटिति अवयवी का ग्रहण होजावेगा ? बताओ। प्रथम पक्ष ग्रहण करने पर उस स्कन्ध के अवयव होरहे कई बार अनन्ते अनन्ते परमाणुओं का अतीन्द्रियपना होने के कारण नहीं ग्रहण होने पर स्कन्ध का ग्रहण नहीं होसकता है, इस कारण सम्पूर्ण पदार्थों का ग्रहण नहीं होसका क्योंकि अवयवी पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकी है। अर्थात्—परमाणुभूत अवयव तो अतीन्द्रिय हैं और अवयवीको हम बौद्ध मानते नहीं हैं, ऐसी दशा में किसी भी पदार्थ का ग्रहण नहीं हुआ। यहां दूसरा पक्ष लेने पर तो यानी-पूर्व में अवयवोंका ग्रहण नहीं होते हुये भी स्कन्ध का ग्रहण होजाता है यों मानने पर सम्पूर्ण अवयवों से रीते होरहे भी देश में अवयवी के ग्रहण होजाने का प्रसंग आवेगा।

यदि जैन या नैयायिक यों तीसरा पक्ष उठावें, कितने ही एक थोड़े से अवयवों का ग्रहण पूर्व में होने पर पुनः स्कन्ध का ग्रहण होजाता है तो भी हम बौद्ध कहते हैं कि यों मानने पर भी सभी अवयवों या अवयवियों का अग्रहण ही होगा क्योंकि स्कन्ध के कतिपय अवयव होरहे भी तो अनन्ते परमाणुओं की आप जैनों के यहाँ व्यवस्था की गयी है, अतः कितने ही एक अवयवभूत अनन्ते परमाणुओं का ग्रहण करना असम्भव है, तिस कारण वास्तविक रूप से स्कन्ध की समीचीन सिद्धि नहीं होसकती। हाँ अनादि काल से लगी हुई अविद्या के बल से जीवों को अति निकटवर्त्ती हो रहे किन्तु एक दूसरेके साथ नहीं संसर्गित हुये बहिरंग परमाणु और अन्तरंग परमाणुओंमें उस स्कन्ध आकार की

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रतीति होजाती है जो कि भ्रान्त है जैसे कि तिस प्रकार के अति निकट--वर्ती और परस्पर नहीं सम्बन्धित होरहे केश धान्य, वालुका कण आदि में भी उन आकारों से न्यारे आकारों की प्रतीति-कीजाती है। भावार्थ-न्यारे न्यारे केशों के अति निकट होजाने पर कवरी, वैनी, चुट्ट, जटा, आदि प्रतीतियां होजाती हैं, न्यारे न्यारे अनेक धान्यों को मनुष्य एक धान्यराशि कह देते हैं, इसी प्रकार न्यारे न्यारे परमाणुओं के समीपवर्ती होजाने पर उनको भ्रान्तिवश जन स्कन्ध कह देते हैं। वस्तुतः सूक्ष्म, असाधारण, क्षणिक परमाणुयें ही यथार्थ हैं, कालान्तरस्थायी, स्थूल, साधारण, माना जा रहा अवयवी या स्कन्ध तो वस्तुभूत पदार्थ नहीं है, यहां तक कोई बौद्ध पण्डित कह रहा है।

तस्यापि सर्वग्रहणमवयव्यसिद्धेः। परमाणवो हि बहिरंतर्वाऽबुद्धिगोचरा एवा-तींद्रियत्वात् न चावयवी तदारब्धोभ्युपगतः इति सर्वस्य बहिरंगस्यातरंगस्य चार्थग्रहणं कथं विनिवार्यते ?।

अब आचार्य कहते हैं कि उस बौद्ध पण्डित के यहां भी (हो) सम्पूर्ण पदार्थों का ग्रहण नहीं होपाता है क्योंकि अवयवी पदार्थ की सिद्धि उन्हों ने नहीं मानी है, तथा बहिरंग और अन्तरंग स्वलक्षण परमाणुयें अथवा विज्ञानपरमाणुयें तो अतीन्द्रिय होने के कारण बुद्धि के विषय ही नहीं हैं और उन परमाणुओं से बनायागया अवयवी पदार्थ बौद्धों ने स्वीकृत नहीं किया है, इस प्रकार सम्पूर्ण बहिरंगपदार्थ और अन्तरंग पदार्थों का ग्रहण नहीं होसकना भला किस प्रकार दूर किया जा सकता है ? अर्थात्—बौद्धों के यहाँ किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं होपाता है।

अथ केचिन्संचिताः परमाणव एव स्वप्रत्ययनिशेषादिंद्रियज्ञानपरिच्छेद्यस्वभावा जायंते तेषां ग्रहणसिद्धेर्न सर्वग्रहणमिति मतं तदपि न समीचीनं, कदाचित्कचित्कस्यचित्परमा-णुप्रतीत्यभावात् एकाहि ज्ञानपरिवेशी स्वधियानाकारः परिस्फुटमवभासते। परमाणव एव चेतनात्मन्यविद्यमानमप्याकारं स्थवीयांसं कुतश्चिद्विभ्रमाद्दर्शयंतीति चेत्, कथंचित्प्रतिभातास्ते तमुपदर्शयेयुरप्रतिभाता वा ? न तावदप्रतिभाताः सर्वत्र सर्वदा, सर्वथा सर्वस्य तदुपदर्शनप्रसंगात्, प्रतिभ ता एव ते तमुपदर्शयंत सत्त्वादिनाकेशादिवादात चेन्न। परमाणुत्वादिनापि तेषां प्रति-भातत्वप्रसंगात्।

अब बौद्ध यों कहते हैं कि हम परमाणुओं की सदा उत्पत्ति मानते रहते हैं कोई कोई एकत्रित हुये परमाणु ही स्वकीय कारणों की विशेषता से इन्द्रियजन्य ज्ञानों करके जानने योग्य स्वभाव वाले उपज जाते हैं, उनका ग्रहण होना सिद्ध है इस कारण सम्पूर्ण पदार्थोंका अग्रहण नहीं हुआ, कतिपय दृष्टव्य परमाणुओं का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होचुका है, बौद्धों का यह मत है। अब आचार्य कहते हैं कि बौद्धों का वह मन्तव्य भी समीचीन नहीं है क्योंकि कभी भी, कहीं भी, किसी भी, अल्पज्ञ व्यक्ति को परमाणुओं की प्रत्यक्ष प्रतीति होने का अभाव है। जब कि एक ही स्कन्ध बेचारा ज्ञान में स्थूल रचनाओं को धारने वाला प्रतीत होरहा है, जो कि अपने को जानने वाली बुद्धि करके अनाकार होरहा पूर्ण स्पष्ट रूप से प्रतिभास रहा है अर्थात्-अर्थों के प्रतिविम्बों के नहीं धाररहा और सब को

भी जानने वाला ज्ञान अनाकार है हां उस ज्ञान द्वारा स्थूल आकार वाला एक अवयवी स्पष्ट जान लिया जाता है।

यदि बौद्ध यहां यों कहें कि परमाणुयें ही चेतन आत्मा में नहीं विद्यमान होरहे भी अति स्थूल आकार को किसी एक भ्रान्तिज्ञान से दिखला देती हैं जैसे कि स्थूलदर्शक मोटे काच करके छोटा पदार्थ भी बहुत बडा दीखने लग जाता है, यों कहने पर तो आचार्य बौद्ध से पूछते हैं कि वे परमाणुयें किसी न किसी प्रकार प्रतिभासित होचुकीं सन्ती उस स्थूल आकार को दिखलावेंगी ? अथवा क्या नहीं प्रतिभासित होरहीं परमाणुयें भी अविद्यमान, स्थूल, आकार को चेतन आत्मामें दिखल देवेंगी ? बताओ। द्वितीय पक्ष अनुसार नहीं प्रतिभासित हुयीं परमाणुयें तो विज्ञान में स्थूल आकार को नहीं दिखला सकती हैं क्योंकि यों मानने पर तो सभी स्थानों पर सभी कालों में, सभी प्रकार, सम्पूर्ण जीवों के, उस स्थूल आकार के दीख जाने का प्रसंग आवेगा क्योंकि परमाणुओं का अप्रतिभास तो सर्वत्र सर्वदा सब जीवों के सुलभतया विद्यमान है। हां प्रथम पक्ष अनुसार आप बौद्ध यों कहें कि वे परमाणुयें सत्त्व, वस्तुत्व, आदि करके प्रतिभासित हो रहीं सन्तीं ही उस स्थूल आकार को दिखला देती हैं, जैसे कि सत्त्व, पदार्थत्व, आदि रूप करके प्रतिभासित होरहे ही केश, धान्य, सूत, आदिक उन कबरी, धान्यराशि, रस्सा आदि स्थूल आकारों को दिखला देते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जब आप बौद्ध परमाणुओं को सर्वांगीण प्रतिभासित कर चुके हैं, तो परमाणुत्व, सूक्ष्मत्व क्षणिकत्व, स्वलक्षणत्व आदि स्वरूप--करके भी उन परमाणुओं के प्रतिभासित हो चुकनेपन का प्रसंग आयगा किन्तु यह बात अलीक है, किसी भी अर्वाग्दर्शी को परमाणु का परमाणुपन आदि धर्मों करके स्पष्ट प्रतिभास नहीं होपाता है।

सत्यं, तेनाप्रतिभाता एव परमाणवः " एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य स्वतः स्वयं। कोन्यो न दृष्टो भागः स्याद्वा प्रमाणैः परीक्ष्यते" ॥ इतिवचनात् केवलं तथा निश्चयानुत्पत्तेस्तेषामप्रतिभातत्वमुच्यते। " तस्माददृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः। भ्रांतेनिश्चीयते नेति साधनं संप्रवर्तते " ॥ इति वचनात् सत्त्वादिनैव स्वभावेन तत्र निश्चयोत्पत्तेरभ्यस्प्रकरणबुद्धिपाटवार्थित्वलक्षणस्य तत्कारणस्य भावाद्वस्तुस्वभावात्। वस्तुस्वभावो ह्येष परं प्रति प्रातीतिकानुभवपटीयान् क्वचिदेव स्मृतिबीजमाधत्ते प्रबोधयति चांतरं संसारमिति चेत्, कथमेवं सत्त्वादेरणुत्वादिस्वभावः परमाणुषु भिन्नो न भवेद्विरुद्धधर्माध्यासात् सह्यविंध्यवत्।

बौद्ध कहते हैं कि आप जैनों का कहना सत्य है उस परमाणुत्व आदि स्वभाव करके नहीं प्रतिभासित होरहे ही परमाणुयें उस आकार को दिखलाते हैं यह द्वितीयपक्ष हमको अभीष्ट है, हमारे बौद्धग्रन्थों में इसप्रकार का कथन है कि अर्थ के एकस्वभाव का जब स्वतः ही अपने आप प्रत्यक्ष ज्ञान होगया है, तो उस पदार्थ का कौनसा अन्यभाग देखा जा चुका, भला प्रमाणों करके परितः नहीं देखा गया है ? अर्थात्—पदार्थों में अनेक स्वभाव तो नहीं हैं किसी का एक बार प्रत्यक्ष कर लेने पर उस पदार्थ का पूर्णरूप से प्रत्यक्ष होजाता है, कोई भाग अदृष्ट नहीं रहता है, केवल इतनी बात है कि तिस प्रकार निश्चय की उत्पत्ति नहीं होने से उन परमाणुओं का अप्रतिभासितपना कह दिया जाता है, हमारे ग्रन्थों में यह भी कथन है कि तिसकारण देखे जा चुके पदार्थ के सम्पूर्ण गुण देखे जा चुके समझ

चाहिये, हाँ कदाचित् भ्रान्ति होजाने से यदि किसी गुण का निश्चय नहीं किया जा सकता है तो साधन की प्रवृत्ति होती है, यानी--हेतु के द्वारा उस अनिर्णीत गुण का निश्चय कर लिया जाता है। भावार्थ--जैसे असाधारण, सूक्ष्म, परमाणु स्वरूप, स्वलक्षण के क्षणिकपन का ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा उसी समय हो चुका था क्योंकि देखे जा चुके पदार्थ में कोई न्यारे न्यारे अनेक अंश नहीं हैं। जिसमें कि कुछ अंशों को जान लिया जाय और कतिपय स्वभावों को छोड़ दिया जाय। बात यह है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष करके पदार्थका सर्वांगीण प्रत्यक्ष होजाता है किन्तु अनादि--कालीन वासना से जीवों के उत्पन्न होगये भ्रान्ति ज्ञान अनुसार उस क्षणिक पदार्थ में कालान्तरस्थायीपन या नित्यपन स्थूलपन आदि का ज्ञान हो जाता है, इस भ्रान्ति को दूर करने की सामर्थ्य निर्विकल्पक ज्ञानमें नहीं है, अतः " सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् कृतकत्वाद्वा " इस निश्चयज्ञानात्मक अनुमान करके देखे जा चुके ही क्षणिकत्व का निर्णय कर लिया जाता है, इसी प्रकार परमाणु को जान चुकने पर ही उसके सम्पूर्ण स्वभावों का उसी समय दर्शन होचुका था, केवल कुछ गुणों का तिस प्रकार निश्चय नहीं उपजने से परमाणुओं को अप्रतिभासित कह दिया जाता है।

सत्व, पदार्थत्व, आदि स्वभावों करके ही उन परमाणु स्वरूप विषयों में निश्चय की उत्पत्ति होती है क्योंकि वस्तु के स्वभाव अनुसार उस निश्चय के कारण होरहे १ अभ्यास, २ प्रकरण, ३ बुद्धि-पाटव और ४ अर्थित्व स्वरूपों का वहाँ सद्भाव है। वस्तु का यह स्वभाव है कि प्रतीति के अनुसार अनुभव कराने में अतीव दक्ष होरहा वह स्वभाव वस्तु के किसी ही अभ्यस्त अंश में दूसरे स्मरण करता जीव के प्रति स्मृति के बीज का आधान कर देता है, अन्य अनभ्यस्त या अबुद्धि--गोचर अंशों में नहीं। और संसार--वर्त्ती प्राणियों को अभिन्न परमाणु में भी यों अन्तर--प्रबोध करा देता है। अर्थात्- परमाणु के सत्त्वगुण में अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपटुता और अभिलाषुकतायें विद्यमान हैं, अतः परमाणु के सत्त्व--स्वभाव की प्रतीति झटिति होजाती है, किन्तु परमाणु के अणुत्व या क्षणिकत्व स्वभाव में अभ्यास आदिक नहीं हैं, अतः उसका शीघ्र स्मरण नहीं होपाता है, एक परमाणु में भी संसारी जीव स्वभावों करके भेद को समझ बैठते हैं, अतः हम बौद्धों का कहना ठीक है कि अप्रतिभासित परमाणु भी अपने में अविद्यमान होरहे स्थूल आकार को किसी विभ्रम से दिखला देते हैं, यों बौद्धों के कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार परमाणुओं में अणुत्व, क्षणिकत्व, आदि स्वभाव भला सत्व आदि स्वभावों से भिन्न क्यों नहीं होजायंगे क्योंकि निश्चितत्व और अनिश्चितत्व धर्मों का उनमें अध्यास होरहा है जैसे कि सह्य और विन्ध्य पर्वत विरुद्ध धर्मों से अधिरूढ़ होने के कारण भिन्न भिन्न माने गये हैं, परमाणु के कुछ धर्मों का निश्चय है, और अन्य स्वभावों का निश्चय नहीं, ऐसी दशा में परमाणु के स्वभावों का भेद होजाना अनिवार्य है। बौद्धों के कहने से ही परमाणु में अनेक अंश सध जाते है।

यदि पुनर्निश्चयस्यावस्तुविषयत्वान्न तद्भावाभावाभ्यां वस्तुस्वभावभेद इति मतं, तदा कथं दर्शनस्य प्रमाणेतरभावव्यवस्था निश्चयोत्पत्त्यनुत्पत्तिभ्यां विपर्ययोपजननानुपजननाभ्यामिति तद्व्यवस्थानुषंगात्।

यदि फिर बौद्ध यों कहैं कि निश्चय ज्ञान तो वस्तु को विषय नहीं किया करता है, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही वस्तु को छूता है, निश्चय द्वारा कल्पित अंश जाने जाते हैं इस कारण उस निश्चय

के सद्भाव और अभाव करके वस्तु के स्वभावों में भेद नहीं होसकता है। आचार्य कहते हैं कि बौद्धों का यदि यह मत है तब तो निश्चय की उत्पत्ति करके निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के प्रमाणपन और अप्रमाणपन की व्यवस्था भला किस प्रकार होगी ? यों तो विपर्यय ज्ञान की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति करके भी दर्शन के उस प्रमाणपन या अप्रमाणपन की व्यवस्था होजाने का प्रसंग आवेगा। भावार्थ--बौद्धों ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में निश्चय ज्ञान की उत्पत्ति होजाने से प्रमाणपना स्वीकार किया है, और जिस देखे हुये भी विषय में पश्चात् निश्चय उत्पन्न नहीं हुआ है, उस दर्शनका अप्रमाणपना व्यवस्थित किया है जैसे कि नीलस्वलक्षण का प्रत्यक्ष कर पीछे यह नील ही है, ऐसा निश्चय उपज गया तब तो उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की प्रमाणता मानी जायगी और यदि स्वलक्षणत्व या क्षणिकत्व का पीछे निश्चय ज्ञान नहीं उपज सका है तो उनका निर्विकल्पक दर्शन हो चुकने पर भी उस दर्शन की अप्रमाणता ही समझी जाती है. इसपर हमें यह कहना है कि दर्शन में प्रमाणता और अप्रमाणता के व्यवस्थापक निश्चय को वस्तु का निश्चय करने वाला नहीं माना जाय यह आश्चर्य है, यदि वस्तु को नहीं विषय करने वाले झूठे ज्ञानों को प्रमाणता या अप्रमाणता का व्यवस्थापक मान लिया जायगा तो विपर्ययज्ञान या संशय भी प्रमाणपन और अप्रमाणपन की व्यवस्था करा देंगे। मूर्ख या अपराधी पुरुष भी न्यायके गद्दी पर बैठ कर अनिष्ट शासन करने लगजावेगा कौन रोकता है ?

दर्शनप्रामाण्यहेतुर्यथार्थनिश्चय एव दृष्टार्थाध्यवसायित्वान्न विपर्ययः संशयो वा तद्विपरीतत्वादिति चेदेतद्व्याहतमेतत् स्वलक्षणानालम्बनश्च निश्चयो दृष्टार्थाध्यवसायी चेति तत्स्वलक्षणाध्यवसायी स्वलक्षणालंबन एवेति वस्तुविषयो निश्चयोन्यथानुपपत्तेः सिद्धः। एवं च तद्भावाभावाभ्यां वस्तुस्वभावभेदोवश्यंभावीति सत्त्वद्रव्यत्वादि-स्वभावेन निश्चीयमानाः परमाणवो अणुत्वादिस्वभावेन चाऽनिश्चीयमाना नानास्वभावाः सिद्धा एव। केशादित्वेन निश्चीयमानाः प्रविरलत्वादिना चाऽनिश्चीयमानाः प्रतिपत्तव्याः। सर्वथा तदनिश्चये तत्र विभ्रमाभावप्रसंगात् तद्भावे अतिप्रसक्तेः।

बौद्ध कहते हैं कि दर्शन में प्रमाणपन का कारण तो यथार्थनिश्चय ही है क्योंकि निर्विल्पक-प्रत्यक्ष द्वारा देखे जा चुके अर्थ का अध्यवसाय (निर्णय) करने वाला निश्चय ज्ञान है, विपर्ययज्ञान अथवा संशय ज्ञान तो निर्विकल्पक दर्शन में प्रमाणता के सम्पादक नहीं हैं क्योंकि वे उससे विपरीत हैं, यानी दृष्ट अर्थ का अध्यवसाय नहीं करा सकते हैं। यों बौद्धोंके कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि यह कहना परस्पर व्याघात दोष युक्त है, एकान्त-वादी बौद्धों को ऐसी बात कथमपि नहीं कहनी चाहिये। एक ओर निश्चय को स्वलक्षण को नहीं विषय करने वाला कहा जाता है, और दूसरी ओर निश्चय को दृष्ट अर्थ का अध्यवसाय करने वाला माना जाता है, इसमें उसी प्रकार व्याघात दोष आता है, जैसे कि अपनेको अज्ञानी मानता हुआ कोई पुरुष स्वयंको सर्वज्ञ कहबैठे। देखो जो निश्चय-ज्ञान तुम बौद्धों के यहाँ वस्तुभूत माने गये स्वलक्षण को आलम्बन नहीं करेगा वह दृष्ट अर्थ का अध्यवसाय करने वाला नहीं है, और जो ज्ञान दृष्ट अर्थ का अध्यवसाय करता है, वह स्वलक्षण को विषय अवश्य करता है।

स्वलक्षण को विषय करने वाला ही स्वलक्षण-अध्यवसाय करसकता है, तिस कारण सिद्ध हुआ कि स्वलक्षण का अध्यवसाय करने वाला ज्ञान (निश्चय) स्वलक्षण को आलम्बन (विषय) करने वाला ही होना चाहिये। इसप्रकार अन्यथानुपपत्ति से यह सिद्ध हुआ कि निश्चय ज्ञान वस्तुभूत को विषय--करने वाला है, अन्यथा यानी वस्तु को विषय करने वाला नहीं मानने पर अनुपपत्ति यानी निश्चय ज्ञान करके इष्ट अर्थ के अध्यवसाय की सिद्धि नहीं होपाती है। और इस प्रकार उस निश्चय के सद्भाव और अभाव करके परमाणस्वरूप वस्तु के स्वभावों का भेद अवश्य ही होजावेगा, इस कारण सत्व, द्रव्यत्व, पदार्थत्व आदि स्वभावों करके निश्चय किये जारहे और परमाणुत्व क्षणिकत्व, असाधारणत्व, सूक्ष्मत्व आदि स्वभावों करके नहीं निश्चय किये जा रहे परमाणुयें अवश्य अनेक स्वभाव वाले सिद्ध हो ही जाते हैं, जैसे कि केश, धान्य, आदिपने करके निश्चय को प्राप्त होरहे और विरलपन, असंसृष्टपन, सान्तरालपन, आदि करके नहीं निश्चय किये जारहे वे परमाणु समझ लेने योग्य हैं।

यदि सभी प्रकारों से उन परमाणुओं का निश्चय नहीं माना जायगा जो कि बौद्धों ने परमाणुओं के अप्रतिभातपन का पक्ष लेरखा है, तब तो विभ्रम के भी अभाव होजाने का प्रसंग होगा ऐसी दशा में बौद्धों का यह कहना शोभा नहीं पायगा कि परमाणुऐं ही अविद्यमान होरहे स्थूल आकार को किसी विभ्रम से दिखला देती हैं, यदि बौद्ध परमाणुओं का सर्वथा अनिश्चय होने पर भी उन में भ्रान्तिज्ञान होने को स्वीकार कर लेंगे तब तो अतिप्रसंग होजायगा यानी--मरीचिकाचक्र के नहीं होने पर भी जल की भ्रान्ति उपज जानी चाहिये, सीप के नहीं होनेपर भी या सोते हुये पुरुष को भी रजत चांदी का भ्रान्तिज्ञान होजाना चाहिये, बात यह है कि लम्बी पड़ी हुयी वस्तु को जानकर ही रस्सी में सांप का ज्ञान होसकता है, अन्यथा नहीं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सत्त्वादिना च निश्चयमानोवयवी बहिर्न परमाणव इत्ययुक्तं, सर्वानिश्चयेऽवयव्यसिद्धेः। तर्ह्यमूल्यदानक्रयिणः परमाणवः। प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं च न समर्पयंति प्रत्यक्षतां च स्वं कुर्वन्तीति ततः परमार्थसंतः पुगद्लानां स्कंधा द्व्यणुकादयोऽनेकविधा इति तेषां संख्येयादिप्रदेशाः प्रतीतिका एव।

बौद्ध कहते हैं कि सत्व, द्रव्यत्व, आदि स्वभावों करके अवयवी का निश्चय किया जा रहा है जो कि अवस्तुभूत है, इसका ज्ञान भी अज्ञान सारिखा है किन्तु बहिरंग परमाणुयें तो सत्व आदि करके नहीं निश्चय की जा रही हैं, अतः वे अप्रतिभात ही रहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि बौद्धों का यह कहना युक्तियों से रीता है, क्यों कि तुम्हारे पूर्व कथन--अनुसार सम्पूर्ण पदार्थों का निश्चय नहीं होने पर अवयवी को भी सिद्धि नहीं है, जब तुम बौद्ध सत्व आदि करके भी परमाणु का निश्चय होना नहीं मानते हो तबतो वे परमाणु मूल्य नहीं देकर खरीदने वाले हुये, यह बड़ा भारी दोषआया। प्रत्यक्षबुद्धि में परमाणुयें अपने को समर्पण नहीं करती हैं, और अपना प्रत्यक्ष होजानापना स्वीकार कर रही हैं यह " अमूल्यदान क्रयित्व " दोष है, तिस कारण से पुगद्लों के अनेक प्रकार द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि स्कन्ध आप बौद्धों को परमार्थ रूप से सद्भूत मानने पड़ेंगे। यों इस सूत्र द्वारा कहे गये उन पौगद्लिक स्कन्धों के संख्येय, असंख्येय आदि प्रदेश तो प्रतीतियों अनुसार सिद्ध ही होजाते हैं कतिपय

स्थूल स्कन्धों का चक्षुओं से प्रत्यक्ष होरहा है, किन्तु सूक्ष्म स्कन्ध या परमाणुओं को अनुमान या आगम ज्ञान से जान लिया जाता है, प्रतीतियों के अनुसार सार वस्तुकी व्यवस्था है, और वस्तु की व्यवस्थिति अनुसार समीचीन प्रतीतियां होजाती हैं। ज्ञापकपक्ष में एक को जानकर उससे अज्ञात को जानने में कोई अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता है॥

" संख्येयासंख्येयाश्च पुगद्लाना " इस सूत्र में सामान्य रूप से पुद्गलों के प्रदेशों का निरूपण किया गया है, यों अविशेष रूप से कथन होने के कारण एक पुद्गल परमाणु के भी उस प्रकार अनेक प्रदेश होजायं, ऐसी आशंका उपस्थित हो ने पर उसका निषेध करनेके लिये सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते हैं।

नाणोः ॥ ११ ॥

परमाणु के प्रदेश नहीं हैं। अर्थात्-अणु केवल एक प्रदेश परिमाण वाली है, अतः जैसे आकाश के एक प्रदेशके पुनः अन्य प्रदेश नहीं हैं, उसी प्रकार एक अविभागी परमाणु का भी अप्रदेश-पना जान लेना चाहिये। जब कि परमाणु से कोई छोटा पदार्थ जगत् में नहीं है तो इस परमाणु के प्रदेश कैसे भिन्न किये जा सकते हैं ? अतः " अत्तादि अत्त मज्झं अत्तत्तं णेव इन्दियेगेज्जं " ऐसे सूक्ष्म अणु के दो तीन आदि कितने भी प्रदेश नहीं माने गये हैं।

संख्येयासंख्येयाश्च प्रदेशा इत्यनुवर्तनात्त एवाणोः प्रतिषिध्यंते। तथा च—

पूर्व सूत्र से संख्येय, असंख्येय तथा च शब्द करके लिये गये अनन्त और प्रदेश इन पदों की अनुवृत्ति कर लेने से वे संख्यात, असंख्यात, और अनन्त प्रदेश ही अणु के इस सूत्र द्वारा प्रतिषिद्ध किये जाते हैं और तैसा होने पर सूत्र का अर्थ ऐसा होजाता है कि—

नाणोरिति निषेधस्य वचनान्नाप्रदेशता।
प्रसिद्धौ वैकदेशत्वात्तस्याणुत्वं न चान्यथा ॥ १ ॥

अणु के प्रदेश नहीं हैं इस प्रकार सूत्रकार द्वारा निषेध का कथन कर देने से उस अणु का अप्रदेशपना या प्रदेशरहितपना नहीं प्रसिद्ध होजाता है क्योंकि उस अणु का एक प्रदेश माना जा रहा है, अन्यथा यानी अणु का एक भी प्रदेश नहीं मानने पर तो खर-विषाण के समान उसका अणुपना ही नहीं रक्षित रह सकेगा अर्थात्-जब अणु स्वयं एकप्रदेश परिमित है तो फिर उसके दूसरे प्रदेश नहीं होसकते हैं अकेला रुपया पुनः दो,तीन, आदि रुपयों वाला नहीं है। एक बात यह भी है कि एयादीया गणना वीयादीया हवंति संखेज्जा। तीयादीणं णियमा कदित्ति सण्णा मुणेदव्वा " जैन सिद्धान्त में संख्यातों को दो से प्रारम्भ किया गया है, गुण जैसे स्वयं निर्गुण हैं उसी प्रकार एक प्रदेश वाला भी अणु स्वयं दो आदि प्रदेशों से रहित होरहा सन्ता अप्रदेश है।

नह्येकप्रदेशोऽप्यणुर्न भवतीति युक्तं तस्यावस्तुत्वप्रसंगात्। ननु चाणोः प्रदेशत्वे प्रदेशी कः स्यात् स एव स्पर्शादिगुणाश्रयत्वाद्गुणीति ब्रूमः। कथं स एव प्रदेशः प्रदेशी च ? विरोधादिति

चेत् तदुभयस्वभावत्वोपपत्तेः । प्रदेशित्वस्वभावस्त्वस्यति स्कंधावस्थायां तद्भावान्यथानुपपत्तेः प्रदेशत्वस्वभावः पुद्गलद्रव्यत्वात् । एकेन प्रदेशेन पुद्गलद्रव्यस्याप्रदेशित्वे द्व्यादिप्रदेशैरप्यप्रदेशित्वप्रसंगात् विरुद्धं चेदं परमाणुरेकप्रदेशोऽप्रदेशी चेति प्रदेशप्रदेशिनोरन्योन्याविनाभावात् प्रदेशिनमंतरेण प्रदेशस्यासंभवात् खपुष्पवत् प्रदेशमंतरेण च प्रदेशिनोनुपपत्तेस्तद्वदेव ।

एक प्रदेशवाला भी अणु नहीं होता है, यह कहना तो उचित नहीं है क्योंकि यों तो उस परमाणु के अवस्तुपन का प्रसंग आजावेगा सर्वथा एक भी प्रदेश से रहित तो खर--विषाण आदि असत् पदार्थ ही हैं । यहां किसी की शंका है, कि यदि अणु को एक प्रदेशस्वरूप माना जायगा तो भला प्रदेशवाला प्रदेशी यहां कौन पदार्थ होसकेगा ? प्रदेशी के विना कोई एक भी प्रदेश स्थिर नहीं रह सकता है । इसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं, कि स्पर्श, रस, आदि गुणों का आश्रय होने से वह गुणवान् परमाणु ही प्रदेशी है, ऐसा हम जैन सिद्धान्ती सिंहगर्जना करते हुये बोलते हैं । शंकाकार पुनः कहता है, कि वह प्रदेश होरहा ही परमाणु भला प्रदेशी किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि विरोध है, स्वयं धन ही तो धनवान् नहीं होजाता है, स्वयं बच्चा बच्चे--वाला नहीं है ।

यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस परमाणु में दोनों स्वभावों से सहितपना बन रहा है । देखिये प्रदेशीपन स्वभाव तो इस परमाणु के विद्यमान है. अन्यथा स्कंध अवस्था में परमाणुओं के उस प्रदेशीपन भाव की सिद्धि नहीं होसकेगी, परमाणु में प्रदेशीपन आत्मभूत है । तभी तो कतिपय परमाणुओं के बंधजाने पर स्कन्ध दशा में वह प्रकट होजाता है, तथा पुद्गल द्रव्य होने से प्रदेशपन स्वभाव स्पष्ट ही है । शुद्ध पुद्गल द्रव्य एक प्रदेश स्वरूप परमाणु ही तो है, यदि पुद्गल द्रव्य को एक प्रदेश करके प्रदेशीपना नहीं माना जायगा तो दो, तीन, आदि प्रदेशों करके भी उसके अप्रदेशीपन (प्रदेशी नहीं होसकने) का प्रसंग आवेगा । यहां किसी का यह कहना विरुद्ध है कि परमाणु एक प्रदेश वाला होरहा अप्रदेशी है, जैन--सिद्धान्त अनुसार प्रदेश और प्रदेशी का परस्पर में अविनाभाव होरहा है । प्रदेशी के विना प्रदेश का असम्भव है, जैसे कि आकाश का फूल प्रदेशी नहीं होता स्वयं प्रदेश भी नहीं है । तथा प्रदेश के विना प्रदेशी की भी सिद्धि नहीं है, उस ख पुष्प के समान हो समझलो अतः प्रदेश होता हुआ भी परमाणु प्रदेशी है ।

तत एव न प्रदेशो नापि प्रदेशी परमाणुरिति चेन्न, द्रव्यत्वविरोधात् गुणादिवत् । न चाद्रव्यं परमाणुर्गुणवत्त्वात् स्कंधवत् । न चाप्रदेशप्रदेशिस्वभाव किंचिद्द्रव्यं सिद्धं । गगनादिसिद्धमिति चेन्न, तस्यानंतादिप्रदेशत्वसाधनेन प्रदेशित्वव्यवस्थापनात् ।

यहां नैयायिक कहते हैं तिस ही कारण यानी प्रदेश और प्रदेशी का अविनाभाव होने से हमारे यहां परमाणु प्रदेश स्वरूप भी नहीं है । और प्रदेशवान् भी परमाणु नहीं माना गया है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों कहने से परमाणु के द्रव्यपन का विरोध होजायगा जैसे कि गुण, कर्म आदिक पदार्थ प्रदेश न होते हुये भी प्रदेशी नहीं हैं । अतः वे द्रव्य नहीं हैं, इसी प्रकार परमाणु भी द्रव्य नहीं हो सकेगा किन्तु यह परमाणु अद्रव्य तो नहीं है । क्योंकि स्पर्श आदि

गुणों से सहित है जैसे कि गुणवान होने से पुद्गल स्कन्ध द्रव्य माना जाता है। दूसरी बात यह है, कि प्रदेश और प्रदेशी स्वभावों से रहित तो जगत् में कोई द्रव्य ही सिद्ध नहीं है। यदि वैशेषिक यों कहैं कि आकाश, आत्मा, आदिक द्रव्य न तो प्रदेशस्वरूप हैं और न प्रदेशीस्वरूप हैं किन्तु वे द्रव्य रूप से सिद्ध हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन आकाश आदि के अनन्त, असंख्यात, अनन्तानन्त आदि प्रदेशों से सहितपन का साधन कर देने से प्रदेशीपन की व्यवस्था करा दी गयी है।

स्यादाकूतं ते अनेकप्रदेशः परमाणुर्द्रव्यत्वाद् घटाकाशादिवदिति। तदसत्-धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् पक्षस्य कालात्ययापदिष्टत्वात् हेतोः कालेन व्यभिचाराच्च। स्याद्वादिनां मीमांसकानां च शब्दद्रव्येणानेकान्तात्।

यदि तुम कटाक्ष-कर्ताओं का यह चेष्टित होय कि परमाणु (पक्ष) अनेकप्रदेशों वाला है, (साध्य) द्रव्य होने से (हेतु) घट, आकाश, आत्मा, आदि के समान। ग्रन्थकार कहते हैं कि तुम्हारा वह कथन प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि पक्ष होरहे परमाणु स्वरूप धर्मी को ग्रहण करने वाले प्रमाण करके बाधित होजाने से द्रव्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधितहेत्वाभास) है अर्थात्-जो कोई प्रमाण परमाणु को जानेगा वह चरमावयव होरहे परमाणु को केवल एक प्रदेश रूप ही जान पावेगा यदि इसमें भी अनेक प्रदेश माने जायंगे तो उन अनेक प्रदेशों में पड़े हुये एक प्रदेश का जहां सद्भाव होगा वह परमाणु व्यवस्थित किया जायगा बहुत दूर भी जाकर जब कभी परमाणु सिद्ध होगा वह एक प्रदेश स्वरूप ही निर्णीत किया जायगा, ऐसी दशा में भी परमाणुके अनेक प्रदेश स्वीकार करते जाना कालात्ययापदिष्ट है, यानी एक प्रदेशपन, इस की सिद्धि होचुकी पुनः साधनकाल के अभाव होजाने पर तुमने हेतु प्रयुक्त किया है, यों साध्याभाव का निर्णय होचुकने पर द्रव्यत्व हेतु से अनेकप्रदेशत्व की सिद्धि नहीं होसकती है। दूसरा दोष यह है कि द्रव्यत्व हेतु का काल द्रव्य करके व्यभिचार आता है, काल भला द्रव्य तो है किन्तु अनेक प्रदेशों वाला नहीं है। तीसरी बात यह है कि स्याद्वादी और मीमांसकों के यहाँ माने गये शब्द द्रव्य करके व्यभिचार आता है, वैशेषिक या नैयायिक भले ही शब्द को गुण मानें किन्तु स्पर्श, वेग, संयोग, आदि गुणों का धारी होने से शब्द का द्रव्यपना निर्णीत है। अथवा इस पंक्ति का अर्थ यों कर दिया जाय कि स्याद्वादियों के यहाँ काल द्रव्य से व्यभिचार है, और मीमांसकों के यहाँ माने गये शब्द द्रव्य करके व्यभिचार आता है, मीमांसक द्रव्य मानते हुये शब्द को प्रदेशों से रहित स्वीकार करते हैं किन्तु स्याद्वादी तो शब्द को अशुद्ध द्रव्य मानते हुये साथ ही अनेकप्रदेशी भी इष्ट कर लेते हैं।

तथाहि—घटादिर्भिद्यमानपर्यन्तो भेद्यत्वान्यथानुपपत्तेः योऽसौ तस्य पर्यन्तः स परमाणुरिति परमाणुग्राहिणा प्रमाणेनानेकप्रदेशित्वं बाध्यते तस्यानेकप्रदेशत्वे परमाणुत्व-विरोधात्।

ग्रन्थकार ने वैशेषिकों के द्रव्यत्व हेतु को बाधित कहा था उसी को स्पष्ट कर यों दिखलाते हैं कि घट, पट, आदिक पदार्थ (पक्ष) छोटे छोटे अवयव रूप से छिन्न, भिन्न, किये जारहे पर्यन्तभूत किसी चरमावयव पदार्थ को धार रहे हैं, अन्यथा यानी अन्तपर्यन्त उनके छोटे छोटे टुकड़े होजाना

नहीं माना जायगा तो भेद्यपना नहीं बन सकता है (हेतु) जो भी कोई पदार्थ सब से अन्त में जाकर उस घटादि अवयवों का पर्यन्त होगा वह परमाणु है, इस प्रकार परमाणु को ग्रहण करने वाले प्रमाण करके अनेक प्रदेशी पना बाधित होजाता है। यदि उस अन्तिम अवयव को अनेकप्रदेश वाला माना जायगा तो उसके परम अणुपनका विरोध होजावेगा। परम अणुतो वही होसकता है जिससे फिर कोई छोटा अवयव न कभी हुआ, न है, न होगा, " अणोरप्यणीयान् न परो वर्तते "।

अष्टप्रदेशरूपाणुवादोऽनेन निवारितः।
तत्रापि परमस्कन्धविदभावप्रसंगतः ॥ २ ॥

इस उक्त कथन करके रूप--परमाणु के आठ प्रदेशों के प्रवाद का निवारण किया जा चुका समझ लो। एक कारण यह भी है कि उस अणु के आठ प्रदेश मानने के प्रवाद में भी बड़े लम्बे चौड़े स्कन्ध की प्रतीति होने के अभाव का प्रसंग आता है। भावार्थ--आठ दिशा, विदिशाओं, से दूसरे दूसरे आठ परमाणुओं का बंध होजाने की अपेक्षा जो परमाणु के आठ प्रदेश माने गये हैं, वहां भी एक देश या सर्व देश का विकल्प उठा देने पर परमाणु का प्रदेशों से रहितपना ही सिद्ध होता है। वस्तुतः परमाणु का एक ही प्रदेश है, और उस प्रदेश की व्यञ्जन पर्याय बरफी के समान छह पैल वाली है, तदनुसार एक परमाणु के साथ चार दिशाओं और ऊपर नीचे यों छह परमाणु बंधसकते हैं, अनेकान्त वाद में परमाणु के एक देश या सर्व देश करके दूसरे परमाणु का बंध जाना घटित होजाता है। शक्ति की अपेक्षा छह अंश वाला परमाणु साधा जा चुका है, परमाणु के आठ अंश मानने वाले को ऊर्ध्व और अधः अंश अवश्य मानने पड़ेंगे इस में एक बड़ाभारी दोष यह भी होगा कि आठ पैल वाले अनेक पदार्थ छिद्र रहित होकर सघन बन्ध नहीं सकते हैं जैसे कि गोल गोल पदार्थों का छिद्ररहित पिण्ड नहीं बन सकता है, तथा दिशा विदिशाओं सम्बन्धी आठ पैल वाले पदार्थ का ऊपर और नीचे का पैल बहुत बड़ा होजाता है किन्तु परमाणु के अंश एक से होने चाहिये यदि परमाणु के समतल में छह पैल माने जांय और ऊपर नीचे दो पैल मानकर यों आठ प्रदेशों की कल्पना की जायगी तो यद्यपि छह पैल वाले पदार्थों का अच्छे ढंग से समतल में छिद्ररहित बन्ध होसकता है किन्तु ऊपर नीचे के पैल बहुत बड़े होजाने से अंशों में छोटापन, बड़ापन आजाता है परमाणु को घन समचतुरस्र (बरफी के समान) मानने पर ये कोई आपत्तियां नहीं आती हैं अतः परमाणु के आठ अंश या दश अंश अथवा गोल आकार का मानना ठीक नहीं जंचता है।

परमाणुनामनेकप्रदेशत्वाभावे सर्वात्मनैकदेशेन च संयोगे पिण्डेपि अणुमात्रप्रसक्तेः सावयवत्वेऽनवस्थाप्रसंगाच्च परमस्कंधस्य प्रतीतिविरोधादष्टप्रदेशरूपाणुर्भिद्यमानपर्यन्तः सर्वदा स्वयमभेद्यः सिद्धयति न पुनरनंशः परमाणुस्तस्य बुद्धया परिकल्पनादिति केषांचिदष्टप्रदेशरूपाणुवादः सोप्यनेनैव प्रदेशपरमाणुस्कंधस्य वचनेन विचारितो द्रष्टव्यः, रूपाणोरष्टप्रदेशस्य सर्वदाप्यभेद्यन्यायागात्। तथाहि--भेद्यो रूपाणुः मूर्तत्वे सत्यनेकावयवत्वात् घटवत्। नात्र हेतोराकाशादिभिरनेकांतो मूर्तिमच्चे सतीति विशेषणात्तेषाममूर्तत्वात्। ततः परमाणुरेकप्रदेश एव भिद्यमानपर्यन्तः सिद्धः।

परमाणु के आठ प्रदेश को मानने वाले कहते हैं कि यदि परमाणुओं के अनेक प्रदेशों से सहितपना नहीं माना जायगा तो सर्वांगरूप से संयोग होजाने पर पिण्ड में भी केवल अणु बराबर बनेरहने का प्रसंग आवेगा क्योंकि एक परमाणु दूसरे परमाणु में सर्वांगीण प्रविष्ट होजायगी और उसी में तीसरी, चौथी, आदि अणुयें सर्वात्मना अन्तःप्रविष्ट होजांयगी तो ऐसी दशा में सुमेरु पर्वत भी अणु के बराबर छोटा बन बैठेगा और यदि एक देश करके परमाणुओं का संयोग माना जायगा तब तो सावयवपना होने पर अनवस्था दोष का प्रसंग आवेगा कारण कि पहिले से ही जिस पदार्थ के कतिपय अवयव होते हैं, उसी पदार्थ के कई एक एक देशों की कल्पना करके उसका एक देश करके संयोग होजाना बन सकता है, और यों पहिले से ही कतिपय अवयवों करके गढ़ गया वह अवयवी पदार्थ हुआ उन पूर्ववर्ती अवयवों के संयोग में भी एक देश करके संयोग होने की कल्पना करते करते यों लम्बी धारा बढ़ती चलीजायगी, इस प्रकार अनवस्था होजाती है, याहे सर्वात्मना संयोग मानो याहे एकदेशेन संयोग तुमको बड़ा स्कन्ध कभी प्रतीति होने का विरोध आता है, अतः हम कहते हैं कि वह आठ प्रदेशों वाला रूपाणु उत्तरोत्तर भेदा जा रहा अन्त में जाकर सिद्ध होजाता है जो कि सदा किसी करके भी स्वयं पुनः भेदने योग्य नहीं है, किन्तु वह परमाणु फिर अंशों से रहित नहीं है, अस्मदादि जीवों को प्रत्यक्षज्ञान द्वारा अवेद्य होरहे उस सांश परमाणु की बुद्धि करके परिकल्पना कर ली जाती है। इस प्रकार किन्हीं विद्वानों का रूपाणु के आठ प्रदेशों का मानने वाला प्रवाद है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि वह कुत्सित पक्ष का परिग्रह भी इस ही प्रदेश--स्वरूप परमाणुओं से बनजाने योग्य स्कन्ध के कथन करके विचार कर दिया गया देख लेना चाहिये। अर्थात्—स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार एक प्रदेश वाले परमाणु का सर्वात्मरूप से या एक देश रूप से संयोग होजाने पर अनेक अणु अणुमात्र भी होसकते हैं और बड़े स्कन्ध स्वरूप भी परिणम जाते हैं, कोई दोष नहीं आता है, तुम्हारे आठ प्रदेशवाले रूपाणु के सदा भी अभेद्यपन का अयोग है, आठ प्रदेश वाले पदार्थ के पुनरपि कतिपय टुकड़े होसकते हैं, इसी बात को स्पष्ट करके यों अनुमान द्वारा दिखलाया जाता है कि रूपाणु (पक्ष) भेदने योग्य है, (साध्य) मूत होते सन्ते अनेक अवयवों वाला होने से (हेतु) घट के समान (अन्वयदृष्टान्त)।

यहां हमारे हेतु का आकाश आदि करके व्यभिचार दोष नहीं आता है क्योंकि मूर्तिवाला होते सन्ते इस प्रकार हेतु में विशेषण दे रखा है, वे आकाश आदि तो अमूर्त हैं, तिस कारण घट, कपाल, कपालिका, षडणुक, पंचाणुक यों भेद को प्राप्त होरहा सन्ता सब से अन्त में जाकर एकप्रदेशवाला ही परमाणु सिद्ध होता है, अतः अष्ट प्रदेशवादी भले ही उसको रूपाणु कहें या बौद्ध उसको स्वलक्षण कहें, नैयायिक परमाणुक कहें, जैन उसको अणु कहें। बात यह है कि अन्तिम सब से छोटा अवयव केवल एक प्रदेश स्वरूप है, हां उसकी व्यंजनपर्याय समघनचतुरस्र है, झगड़ा बढ़ाना व्यर्थ है, परोक्ष पदार्थों का निर्णय आप्तोक्त आगमों से बहुत बढ़िया होता है।

नन्वेवं परमस्कन्धप्रतीत्यभावप्रसंग इति चेन्न, तस्याष्टप्रदेशाणवादेपि समानत्वात्।

तथाहि—

परमाणु को आठ प्रदेश का कहने वाले पण्डित यहां शंका करते हैं कि इस प्रकार परमाणु का एक ही प्रदेश मानने पर तो बड़े लम्बे चौड़े महान् स्कन्ध की प्रतीति होने के अभाव का प्रसंग आवेगा क्योंकि परमाणु के अनेक प्रदेश तो नहीं हैं, ऐसी दशा में अनेक परमाणुओं के संयुक्त होजाने पर भी पिण्ड अणुमात्र ही बना रहेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वह बड़े स्कन्ध की प्रतीति नहीं होना तो तुम्हारे आठ प्रदेश वाली अणु को कहने वाले प्रवाद में भी समान है, आठ प्रदेश वाले अणु का एक देश करके संयोग मानने पर छिद्र रह जाते हैं, ऊपर नीचे के स्थल भर नहीं पायंगे और एक देश का पक्ष लेने पर अनवस्था दोष भी आता है, अतः सम्पूर्ण रूप से संयोग मानने वाला दूसरा पक्ष ही लेना पड़ेगा। ऐसी दशा में पिण्ड अणु मात्र रह जायगा और बड़े पिण्ड की प्रतीति नहीं होसकेगी, इस बात को ग्रन्थकार स्वयं विशद रूप से अग्रिम वार्तिकों द्वारा कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यथाणुरणुभिर्नानादिक्कैः संबंधमादधत्।
देशतोवयवी तद्वत्प्रदेशोन्यैः प्रदेशतः ॥ ३ ॥
सर्वात्मना च तैस्तस्यापि संबंधेणुमात्रकः।
पिंडः स्यादन्यथोपात्तदोषाभावः समो न किम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार एक मध्य-वर्ती परमाणु इधर उधर नाना दिशाओं में वर्त्तरहे नाना परमाणुओं के साथ सम्बन्ध को सब ओर से धारण कर रहा सन्ता एक एक देश की अपेक्षा से वह प्रदेश यानी परमाणु अवयवी हुआ जाता है, उसी के समान उस अवयवी के पहिले से भी अनेक देश थे उन अन्य प्रदेशों के साथ भी एक एक देश करके सम्बन्ध धारने पर अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। हां द्वितीय पक्ष अनुसार सम्पूर्ण रूप से भी उन नाना दिशा-वर्ती अनेक परमाणुओं के साथ उस मध्य-वर्त्ती परमाणु का सम्बन्ध मानने पर तो पिण्ड अणु मात्र होजायगा अन्यथा यानी जैन सिद्धान्त अनुसार अन्यप्रकारों से सम्बन्ध मानने पर यदि गृहीत दोषोंका अभाव किया जायगा तो प्रदेशमात्र परमाणु को मानने वालों के यहां भी वह दोष का अभाव क्यों नहीं समान रूप से लागू होगा ? अर्थात्-द्रव्य रूप से निरंश और शक्ति रूप से सांश परमाणु का अन्य दिशा-वर्ती परमाणुओं के साथ बन्ध होजाने पर महान स्कन्ध की प्रतीति होजाती है, यह आचार्यों करके माना गया निर्दोष मार्ग है।

अष्टप्रदेशोपि हि रूपाणुः पूर्वादिदिग्गतरूपाण्वंतरप्रदेशैरेकशः संबंधमधितिष्ठन्नेकदेशेन कात्स्न्र्येन वाधितिष्ठेत् ? एकदेशेन चेदवयवी प्रदेशः स्यात्परमाणुवत् तथा चानवस्था परापरप्रदेशपरिकल्पनात् कात्स्न्र्येन चेत् पिण्डोऽणुमात्रः स्यात् रूपाणुप्रदेशेष्वष्टासु रूपाण्वंतरप्रदेशानां प्रवेशात्तेषां च परस्परानुप्रवेशात्। तथा च परमस्कंधप्रतीत्यभावः।

यहां हम जैन प्रश्न उठाते हैं कि आठ प्रदेशों वाला भी रूपाणु पूर्व आदि दिशाओं में प्राप्त होरहे अन्य अन्य रूपाणु स्वरूप प्रदेशों के साथ एक ही बार सम्बन्ध को प्राप्त होरहा सन्ता क्या एक देश करके अथवा क्या पूर्ण रूप करके ही संसर्गित होगा बताओ यदि रूपाणु एक देश करके अन्य रूपाणुओं के साथ सम्बन्धित होगा तब तो परमाणु के समान तुम्हारे यहां माना गया प्रदेश स्वरूप

रूपाणु अवयव अवयवी होजावेगा अवयवी के ही एक देश हुआ करते हैं और तिस प्रकार उस अवयवी के भी पूर्व अवयवों के साथ एक एक देश करके सम्बन्ध-व्यवस्था मानने पर उत्तरोत्तर अनेक प्रदेशों की कल्पना करने से अनवस्था दोष आता है। द्वितीय पक्ष अनुसार सर्वांग रूप से सम्बन्ध मानने पर तो अनेक प्रदेशों का पिण्ड विचारा केवल अणु के समान परिमाणवाला होजायगा क्योंकि प्रकरणप्राप्त रूपाणु के आठों प्रदेशों में अन्य रूपाणुओं के प्रदेशों का सर्वाङ्गीण प्रवेश हो जायगा और उनका भी परस्पर में अनुप्रवेश होजावेगा तो असंख्य परमाणुओं का परस्पर में परिपूर्णरूप से सम्बन्ध होजाने पर पिण्ड एक परमाणु के बराबर ही बन जायगा और तैसी दशा में घट, पट, पर्वत, भींत आदि बड़े बड़े स्कन्धों की प्रतीति होने का अभाव होजायगा।

मुनिश्री अभयसागर जी महाराज

अथ महतः स्कन्धस्य प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रकारांतरेण रूपाणुप्रदेशानामन्यरूपाणुप्रदेशैः संबंधसिद्धेः कात्स्न्यैंकदेशपक्षोपात्तदोषाभावो विभाव्यते परमाणूनामपि प्रकारांतरेण संबंधस्तत एवेति समानस्तत्पक्षोपात्तदोषाभावः। वक्ष्यते च परमाणूनां बंधपरिणामहेतुः स्निग्धरूक्षत्वादिति परिणामविशेषः प्रकारान्तरमिति नेहोच्यते—

अब यदि आप यों विचार करें कि बड़े बड़े स्कन्धों की प्रतीति का होना अन्यथा बन नहीं सकता है, अतः एक देश और सम्पूर्ण देश इन दो प्रकारों से अतिरिक्त तीसरे रूपाणु के प्रदेशों का अन्य रूपाणु प्रदेशों के साथ सम्बन्ध होजाने की सिद्धि कर ली जाती है, अतः सर्वांगीणता या एक देश इन दो पक्षों में उपादान किये गये दोषों का अभाव विचार लिया जाता है, तब तो हम जैन कहेंगे कि तिस ही कारण से तुम्हारी रूपाणुओं के समान हमारे यहां मानी गयी परमाणुओं का भी उसी तीसरे प्रकार करके यानी कथंचित् एकदेश और कथंचित् सर्वदेश अथवा स्निग्धरूक्षपन इस ढंग करके-सम्बन्ध स्वीकार कर लिया जाता है, इस कारण उस पक्ष में उपादान किये गये दोषों का अभाव समान है।

अर्थात्—आठ प्रदेश वाली परमाणु को मानने वालों के यहाँ जिस ढंग से अनवस्था दोष का निवारण कर दिया जाता है, तथा पिण्ड के अणुमात्र होजाने और परम स्कन्ध की प्रतीति नहीं होसकने का जैसे निवारण किया जाता है, उसी नीति के अनुसार एक प्रदेश वाली परमाणु को स्वीकार करने वाले जैनों के यहाँ भी उक्त दोषों का परिहार होजाता है, सूत्रकार द्वारा इसी अध्याय में स्निग्ध रूक्षपने से बन्ध होता है, "स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः" इस प्रकार परमाणुओं की बन्ध परिणति का कारण कह दिया जायगा, वह स्निग्ध रूक्ष पर्यायों के अविभाग-प्रतिच्छेदों का द्व्यधिकपना स्वरूप परिणाम-विशेष ही तीसरा प्रकार है, जो कि एकदेशेन संसर्ग कराता हुआ परमाणुओं करके बड़े पिण्ड को बना देता है, और कदाचित् अनेक परमाणुओं का पिण्ड सर्वात्मना संसर्ग होजाने पर अणुमात्र ही रह जाता है, तभी तो इस छोटे से लोक में अनन्तानन्त परमाणुयें निरापद विराजमान हैं, विचित्र विचित्र कारणों से पदार्थों की अनेक प्रकार परिणतियां बन बैठती हैं। अनेकान्तवादियों के यहाँ एक देश और सर्व देश दोनों पक्ष स्वीकृत होजाते हैं। हां उन पक्षों के घटना की पद्धति को समझ लेने पर पुनः अवयवी और अवयवों के कार्यकारणभाव में कोई शंका नहीं रहती है। उस न्यारे प्रकार को सूत्रकार स्वयं कहेंगे, इस कारण यहाँ श्री विद्यानन्द स्वामी करके इस विषय में कुछ नहीं कहा जाता है।

विद्यादजीवकायानां द्रव्यत्वादिस्वभावतां ।
एवं प्राधान्यतः प्रोक्तां समासात् सुनयान्विताम् ॥ ५ ॥

अजीव कायों के सुनयों करके अन्वित होरहे और संक्षेप से ग्यारह सूत्रों द्वारा इस प्रकार अच्छे कहे जा चुके प्रधानरूप से द्रव्यत्व, नित्यपन, रूपित्व, निष्क्रियत्व आदि स्वभावों को समझ लिया जाय ।

धर्मादीनामजीवकायानामादिसूत्रोक्तानां द्रव्यत्वस्वभावो जीवाना च प्राधान्येन वेदितव्यो गुणभावेन पर्यायत्वस्वभावस्यापि भावात् । शुद्धद्रव्यस्य हि सन्मात्रदेहस्य पर्याया एवाजीवकाया जीवाश्च तस्यैकस्यानंतपर्यायस्यातिसंक्षेपतोभिमतत्वात् । एकं द्रव्यमनंतपर्यायमिति वचनात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पंचम अध्याय के " अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः " इस आदिसूत्र में कहे जा चुके धर्म, अधर्म, आदि का द्वितीय सूत्र द्वारा कहा गया। द्रव्यपन-स्वभाव, और तृतीयसूत्र द्वारा कहा गया जीवों का भी द्रव्यपन स्वभाव, प्रधानता करके समझ लेने योग्य है, क्योंकि गौण रूप से उक्त धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीवद्रव्यों के पर्यायपन स्वभाव का भी सद्भाव है, अर्थात्—एकान्त रूप से इन सब को द्रव्य ही कहते जाना ठीक नहीं है, ये किसी अपेक्षा पर्याय भी हैं जब कि सिद्धान्त शास्त्रों में इस प्रकार निर्णीत है, कि "सत्" केवल इतने ही शरीर को धार रहे शुद्ध द्रव्य की ये अजीव काय और जीव सब पर्याय ही हैं उस अनन्त पर्यायों वाले एक सत् का अतिसंक्षेप से कथन करना अभीष्ट है, एक द्रव्य है, और उसकी अनन्ती पर्यायें हैं, इस प्रकार प्राचीन शास्त्रों में कहा गया है। भावार्थ — " अंश--कल्पनं पर्यायः " अंशों की कल्पना करना यह पर्याय का सिद्धान्त-लक्षण है। शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा एक ही सत् स्वरूप वस्तु के ये जीव, धर्म, आदि सब पर्यायें हैं, " सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणन्तपज्जाया ? भंगोप्पादधुवत्था सप्पडिवक्खा हवदि एक्का" ऐसा श्री कुन्दकुन्द स्वामी का वचन है, अतः स्याद्वादसिद्धान्त अनुसार अपनी पर्यायों की अपेक्षा तो ये धर्म आदिक पर्यायें हैं ही किन्तु सत् पदार्थ के अंश होने के कारण भी ये पर्यायें हैं, हाँ इनमें पर्यायपना गौण रूप से है, प्रधान रूप से ये स्वतंत्र न्यारे न्यारे अखण्ड असंकीर्ण द्रव्य ही हैं ।

तथा नित्यत्वावस्थितत्वारूपत्वैकद्रव्यत्वनिष्क्रियत्वस्वभावोऽपि प्राधान्येनैव तेषा गुणभावेनानित्यत्वानवस्थितत्वसरूपत्वानेकद्रव्यत्वस्वभावानामपि भावात तेषामनुक्तानामपि गम्यमानत्वात् समासतोभिधानात् । तथैव सुनयान्वितत्वोपपत्तेरन्यथा दुर्नयान्वितत्वप्रसंगात् । द्रव्यार्थान्नित्यत्वेपि पर्यायार्थादेशादनित्यत्वोपगमादन्यथार्थक्रियाविरोधाद्वस्तुत्वायोगात् । तथा द्रव्यतोवस्थितत्वेपि पर्यायतोनवस्थितत्वसिद्धेरित्यवयवावस्थानाभावात् । तथा स्वरूपतो अरूपत्वेपि मूर्तिमद्द्रव्यसंबंधात्तेषां सरूपत्वव्यवहारात् ।

तथा इस पांचवे अध्याय में चौथे, पांचवे, छठवें, सातवें, सूत्रों द्वारा नित्यपन, अवस्थितपन,

अरूपपन, एकद्रव्यपन, निष्क्रियपन, स्वभाव भी प्रधानता करके ही उन धर्म आदिकों के समझने चाहिये,गौण रूप से धर्मादिकों के अनित्यपन, अनवस्थितपन, सरूपपन अनेकद्रव्यपन, स्वभावों का भी सद्भाव है, पुद्गल के रूपीपन के समान संसारी जीव का रूप-सहितपन स्वभाव भी वर्त्त रहा है, अतः सूत्र में नहीं कहे गये भी उन स्वभावों को अर्थापत्ति से जान लिया जाय। सूत्र में तो संक्षेप से ही कथन हुआ करता है। तिस प्रकार कथन करने पर ही सुनयों से अन्वितपना बन सकता है अन्यथा यानी सूत्र में कहे गये स्वभावों का ही एकान्तरूप से हठ किया जायगा तो दुनयों से अन्वितपन का प्रसंग आवेगा देखिये द्रव्य को ही विषय करनेवाले द्रव्यार्थिक नय से उन धर्मादिकों का नित्यपना होते हुये भी पर्यायार्थिक नय अनुसार कथन करने से उनका अनित्यपना स्वीकार किया जाता है, अन्यथा यानी सर्वथा कूटस्थ नित्यद्रव्यपन मानने पर तो धर्म आदिकों में अर्थ--क्रिया होजाने का विरोध होने से वस्तुपन का अयोग होजायगा। तथा द्रव्यरूप से अवस्थित होते हुये भी पर्यायरूप से धर्म आदिकों का अनवस्थितपना सिद्ध होरहा है, इस कारण अवयवों का नियत अवस्थान नहीं होसका अर्थात्—द्रव्यें तो इयत् परिमाण रूप से नियत होरहीं परिगणित हैं किन्तु पर्यायें अवस्थित नहीं हैं। तिसी प्रकार स्वकीय स्वरूप से धर्मादिकों का रूपरहितपना होते हुये भी मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होजाने से उन धर्मादिकों के गौणरूपेण रूपसहितपन का व्यवहार कर लिया जाता है।

तथैकद्रव्यत्वेपि विभागापेक्षया तद्विभागविवक्षायामनेकद्रव्यत्वोपपत्तेः। परिस्पंदक्रियया निष्क्रियत्वेपि तेषामवस्थितत्वादिक्रियया सक्रियत्वात्। एवमसंख्येयप्रदेशत्वादयोपि प्रधानभावेनैव धर्मादीनां गुणभावेन संख्येयप्रदेशत्वादिस्वभावानामप्यविरोधात् परिमिततद्भावापेक्षया संख्योपपत्तेरिति सर्वत्र स्यात्कारः सत्यलांछनो द्रष्टव्यस्तस्यानुक्तस्यापि सामर्थ्यात् सर्वत्र प्रतीयमानत्वादिति प्रकरणार्थोपसंहृतिः।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तथा "आ आकाशादेकद्रव्याणि" यों एकद्रव्यपन होते हुये भी विभाग की अपेक्षा करके उन धर्म आदिकों के विभाग की विवक्षा करने पर अनेकद्रव्यपना भी युक्तिसिद्ध है, अतः गौणरूप से धर्म, अधर्म, और आकाश का अनेकद्रव्यपना स्वभाव भी मान लिया जाय। तथा हलना, चलना, भ्रमणकरना, चढ़ना, उतरना, आदि परिस्पन्दरूप क्रिया करके उन धर्म, अधर्म, आकाश, द्रव्यों का निष्क्रियपना है तो भी धात्वर्थस्वरूप, अवस्थितपन, अस्तित्व, द्रवण आदि अपरिस्पन्द रूप क्रियाओं करके क्रियासहितपना है, इसी प्रकार आठवें, नवमें सूत्रों करके कहे गहे धर्म आदिकों के असंख्येयप्रदेशीपन आदिक स्वभाव भी प्रधानरूप करके ही समझे जांय गौणरूपसे तो संख्यातेप्रदेशोंसे सहितपन आदि स्वभावों का भी कोई विरोध नहीं है परिमित होरहे उन उन भावों की अपेक्षा करके धर्म आदिकों के अल्पदेशीय प्रदेशों की संख्या करना बन जाता है इस प्रकार सभी स्थलों पर सत्य का अमोघ चिन्ह होरहा स्यात्कार देख लेना चाहिये शब्दों द्वारा नहीं कहे गये भी उस स्यात्कार की केवल अन्य उक्त शब्दों की सामर्थ्य से सर्वत्र प्रतीति कर ली जाती है।

वस्तु के चाहे किसी भी स्वभाव का निरूपण किया जाय वहां कण्ठोक्त नहीं कहनेपरभी अनेकान्त का द्योतक स्यात्पद उपस्थित होजाता है, अतः पांचवें अध्याय के उक्त ग्यारह सूत्रों द्वारा कहे गये स्वभावों में स्याद्वादसिद्धान्त की योजना कर लेनी चाहिये। इस प्रकार प्रकरणप्राप्त अर्थ का उपसंहार होचुका है, अब सूत्रकार दूसरे प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं।

अब कहे जा चुके धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, आदि द्रव्यों के अधिकरण की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते हैं—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों का इस तीन सौ तेतालीस घन राजू प्रमाण लोकाकाश में अवकाश होरहा है। बाहर अलोकाकाश में नहीं।

धर्मादीनामित्यभिसंबंधः प्रकृतत्वादर्थवशाद्विभक्तिपरिणामात्। लोकेन युक्तमाकाशं तत्रावगाहः। कुत इत्याह।

पूर्व सूत्रों के अनुसार धर्म, अधर्म, आदिकों का प्रकरणप्राप्त होने से यों उद्देश्य दल की ओर सम्बन्ध कर लिया जाता है कि धर्मादिकों का लोकाकाश में अवगाह है। आद्यसूत्र में और तृतीयसूत्र में प्रथमा विभक्ति वाले धर्म आदिकों का वचन है, किन्तु कृदन्त अवगाह क्रिया की अपेक्षा षष्ठयन्त पद की आवश्यकता है, अतः अर्थ के वश से विभक्ति का बदलकर विपरिणाम कर लिया जाता है, धर्म, अधर्म पुद्गल, जीव काल इन पांच द्रव्यों का समुदाय लोक है, लोक करके युक्त होरहा जो ठीक मध्यवर्त्ती आकाश है, वह लोकाकाश है, उस लोकाकाश में धर्म आदिकों का अवगाहन होरहा है, जैसे कि समुद्र में जल, मगर, मछली, आदि का अवगाह होरहा है। कोई आतुर पुरुष पूछता है कि यह लोकाकाश में धर्म आदि द्रव्यों का अवगाह होरहा भला किस प्रमाण से निर्णीत किया जाय ? यों जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिक को कहते हैं।

लोकाकाशेवगाहः स्यात्सर्वेषामवगाहिनां।
बाह्यतोसम्भवात्तस्माल्लोकत्वस्यानुषंगतः ॥ १ ॥

अवगाह करने वाले सम्पूर्ण पदार्थों का लोकाकाश में अवगाह है, उस लोक से बाहर आकाश से अतिरिक्त किसी भी द्रव्य के अवगाह का असम्भव है, यदि लोक से बाहर अलोकाकाश में भी कुछ द्रव्यों का अवगाह माना जायगा तो उस अलोकको लोकपन का प्रसंग होजायगा।

न हि लोकाकाशाद्बाह्यतो धर्मादयोऽवगाहिनः संभवन्त्यलोकाकाशस्यापि लोकाकाशत्वप्रसंगात्। ननु च यथा धर्मादीनां लोकाकाशेऽवगाहस्तथा लोकाकाशस्यान्यस्मिन्नधिकरणेऽवगाहेन भवितव्यं तस्याप्यन्यस्मिन्नित्यनवस्था स्यात्, तस्य स्वरूपेवगाहे सर्वेषां स्वात्मन्यवावगाहोस्त्वित्याशंकायामिदमुच्यते।

लोकाकाश से बाहर की ओर अवगाह करने वाले धर्म आदिक द्रव्य नहीं सम्भवते हैं, अन्यथा अलोकाकाश को भी लोकाकाशपन का प्रसंग आवेगा जो कि किसी भी वादी प्रतिवादी, को इष्ट नहीं है। पुनः यहाँ किसी का प्रश्न है कि जिस प्रकार धर्मादिकों का लोकाकाश में अवगाह है उसी

प्रकार लोकाकाश का किसी अन्य अधिकरण में अवगाह होना चाहिये और उस अन्य का भी किसी तीसरे निराले अधिकरण में अवगाह होना चाहिये, तीसरे का भी चौथे आदि में अवगाह मानते मानते अनवस्था दोष होगा। यदि उस अनवस्था दोष के निराकरण के लिये उस लोकाकाश का स्वकीय निज रूपमें अवगाह माना जायगा तब तो उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यों का अपनी अपनी निज आत्मा (शरीर) में ही अवगाह होजाओ, व्यर्थ में अधिकरणों के निरूपण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार आशंका उपस्थित होने पर ग्रन्थकार करके यह समाधान कारक वार्त्तिक कहा जाता है।

लोकाकाशस्य नान्यस्मिन्नवगाहः क्वचिन्मतः।
आकाशस्य विभुत्वेन स्वप्रतिष्ठत्वसिद्धितः ॥ २ ॥

लोकाकाश का फिर कहीं भी अन्य अधिकरण में अवगाह होना नहीं माना गया है क्योंकि आकाश सर्व-व्यापक है इस कारण आकाश के स्व में ही प्रतिष्ठित बने रहने की सिद्धि होचुकी है। भावार्थ—अनन्तानन्त राजू लम्बा, इतना ही चौड़ा, और ठीक इतना ही ऊंचा, समघन चतुरस्र आकाश द्रव्य है, उसके ठीक मध्य के चौदह राजू ऊंचा तथा दक्षिण उत्तर सात राजू लम्बा और पूर्व पश्चिम सात, एक, पांच, एक राजू चौड़ा इतना तीनसौ तेतालीस घन राजू प्रमाण भाग को लोकाकाश कल्पित कर लिया है लोकाकाश और अलोकाकाश का अभेद सम्बन्ध है, आकाश द्रव्य व्यापक है उससे बड़ा कोई द्रव्य नहीं है जो कि आकाश का आधार होसकता था, अतः आकाश द्रव्य स्वप्रतिष्ठित है, और अन्य द्रव्यों का उस आकाश में अवगाह है। आचारसार और त्रिलोकसार में अलोकाकाश को बरफी के समान घनसमचतुरस्र सिद्ध किया है।

ततो नानवस्था नापि सर्वेषा स्वात्मन्येवावगाहस्तेषामविभुत्वात्, परस्मिन्नधिकरणेऽवगाहोपपत्तेरन्यथाधाराधेयव्यवहाराभावात्।

तिस कारण से यानी आकाश के स्वप्रतिष्ठितपन की सिद्धि होजाने से अनवस्था दोष नहीं आता है, तथा सम्पूर्ण द्रव्यों के स्वकीय स्वरूप में ही अवगाह होजाने का प्रसंग भी नहीं आता है क्योंकि वे धर्म आदिक पांच द्रव्यें अव्यापक हैं, अतः अव्यापक पदार्थों का दूसरे व्यापक अधिकरण में अवगाह होना युक्ति-सिद्ध है, अन्यथा यानी-दूसरे पदार्थों में द्रव्यों का अवगाह नहीं मान कर निश्चय नय अनुसार स्वात्मा में ही सब का अवगाह माना जायगा तो जगत् प्रसिद्ध आधार आधेयपन के व्यवहार का अभाव होजायगा जो कि इष्ट नहीं है ? अतः प्रमाणदृष्टि और व्यवहार नय के अनुसार जो व्यवस्था है उसकी प्रतिपत्ति करो।

उस लोकाकाश में अवगाहितपने करके अवधारण किये जा रहे न्यारी न्यारी द्रव्यों के अवस्थान का भेद होना सम्भव है. अतः उस विशेष अवस्थान की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

सम्पूर्ण लोकाकाश में अन्तरालरहितपने करके धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह होरहा है।

लोकाकाशेवगाह इत्यनुवर्तनीयं। कृत्स्न इति वचनात्तदेकदेश एव धर्माधर्मयोरवगाहो व्युदस्तः। कुतस्तौ कृत्स्नलोकाकाशावगाहिनौ सिद्धावित्याह।

लोकाकाश में अवगाह है, इस प्रकार पूर्व सूत्रोक्त पदों की यहां अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह है, इस प्रकार कथन कर देने से उस लोकाकाश के एक ही देश में धर्म और अधर्म के अवगाह का निराकरण किया जा चुका है। यहां किसी जिज्ञासु का प्रश्न है कि किस कारण से वे धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह होरहे सिद्ध हैं, बताओ ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्रीविद्यानन्द आचार्य उत्तर-वार्त्तिक को कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

धर्माधर्मौ मतौ कृत्स्नलोकाकाशावगाहिनौ।
गच्छत्तिष्ठत्पदार्थानां सर्वेषामुपकारतः॥ १॥

धर्म और अधर्म द्रव्य तो सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह करने वाले माने गये हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि गमन कर रहे और ठहर रहे सम्पूर्ण पदार्थों का उपकार किया जा रहा होने से। भावार्थ—सम्पूर्ण लोकाकाश में गमन कर रहे पदार्थों का उपकार धर्म द्रव्य से होता है, और ठहर रहे पदार्थों का ठहरा देना-स्वरूप उपकार अधर्म द्रव्य करके होता है, अतः ये दोनों द्रव्य लोकाकाश में ठसाठस अवगाह कर रहीं मानी गयी हैं।

न हि लोकत्रयवर्तिनां पदार्थानां सर्वेषां गतिपरिणामिनां स्थितिपरिणामिनां च गतिस्थित्युपग्रहौ युगपदुपकारौ धर्माधर्मयोरेकदेशवर्तिनोः संभवत्यलोकाकाशेपि तद्गतिस्थितिप्रसंगात्। ततो लोकाकाशे गच्छत्तिष्ठत्पदार्थानां सर्वेषां गतिस्थित्युपकारमिच्छता धर्माधर्मयोः कृत्स्ने लोकाकाशेऽवगाहोभ्युपगंतव्यः।

देखो बात यह है कि गति नामक परिणाम को धार रहे और स्थिति नामक परिणति को प्राप्त कर रहे लोकत्रयवर्ती यथायोग्य सम्पूर्ण पदार्थों के गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह ये एक साथ होरहे उपकार तो एक एक देश में वर्त्तरहे धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके द्वारा नहीं सम्भवते हैं। अन्यथा अलोकाकाक में भी उन पदार्थों की गति और स्थिति होने का प्रसंग आजावेगा अर्थात्—एक देश में ठहर रहे धर्म या अधर्म द्रव्य यदि पूरे लोकाकाश में पदार्थों की गति या स्थिति को करा देवेंगे तब तो यहाँ एक कोने में बैठ कर अलोकाकाश में भी पदार्थों को चला देंगे या ठहरा देंगे ऐसी दशा में अलोकाकाश में भी जीव और पुद्गल का गमन या स्थापन होजाने से लोक, अलोक, का विभाग नहीं बन सकेगा तिस कारण लोकाकाश में ही गमन करते हुये और ठहरते हुये सम्पूर्ण पदार्थों के गति-उपकार या स्थिति-उपकार को चाहने वाले पण्डित करके धर्म और अधर्म द्रव्य का सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह होना स्वीकार कर लेना चाहिये।

लोकाकाश में असंख्यात हो उन्हें अर्थ, अधर्म द्रव्यों के अवगाह का प्रतिपादन कर अब उनसे विपरीत मूर्तिमान् अप्रदेश अणु और संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रदेशों वाले पुद्गल द्रव्यों के अवगाह की विशेष प्रतिपत्ति कराने के लिये ग्रन्थकार अगले सूत्र को कहते हैं।

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

एक प्रदेश को आदि कर संख्यात, असंख्यात, प्रदेशों में पुद्गल द्रव्यों का अवगाह विकल्पनीय है। अर्थात्—तद्गुणविज्ञान वृत्ति द्वारा एक प्रदेश भी पकड लिया जाता है, एक आकाश के प्रदेश में एक परमाणु का अवगाह है। और बद्ध या अबद्ध होरहे दो, तीन, सैकड़ों, असंख्याते, अनन्ते परमाणुओं का भी अवगाह है, दो प्रदेशों पर दो, तीन, संख्याते, असंख्याते, अनन्ते, बद्ध या अबद्ध परमाणुओं का अवगाह है, हां तीन प्रदेशों पर तीन, चार, संख्यात आदिक बद्ध या अबद्ध परमाणुओं का अवकाश है। दो प्रदेशों पर एक परमाणु कथमपि नहीं ठहर सकती है। तीन परमाणु यदि दो प्रदेशों पर ठहरेंगीं तो अबद्ध दशा में एक प्रदेश पर दो और दूसरे प्रदेश पर एक यों तीन परमाणु ठहर जांयगी किन्तु दो प्रदेशोंमें एक, एक प्रदेश पर डेढ़ डेढ़का बांट होकर तीन परमाणु नहीं ठहर पाते हैं, तीन परमाणुओंका बन्ध होजाने पर तो एक नवीन अशुद्ध पुद्गल पर्याय उपज जाती है। अतः एक त्र्यणुक अवयवी का एक प्रदेश में या दो प्रदेशों में अथवा तीन प्रदेशों में अवस्थान होजाता है। एक परमाणु का दूसरे या तीसरे परमाणु के साथ सर्वात्मना बन्ध होजाने पर त्र्यणुक केवल परमाणु के बराबर आकार वाला बन जायगा। तथा एक परमाणु के साथ दूसरे परमाणु का सर्वात्मना बन्ध होजाने पर और तीसरे का एक देश से बन्ध होजाने पर त्र्यणुक का संस्थान द्विप्रदेशी द्वयणुक के समान होगा, हां तीनों अणुओं का एकदेशेन बन्ध होजाने पर त्र्यणुक तीन प्रदेशों को घेर कर बैठ जावेगा। शक्ति रूप से परमाणु के छः अंश साधे जा चुके हैं। अतः अप्रदेश अणु का भी एकदेशेन या सर्वात्मना बन्ध या संयोग मान लेना अनिष्टापत्ति नहीं है। एव अनेक जातीय पुद्गल स्कन्धों का लोकाकाश में एक, दो, सौ, आदि संख्यात, असंख्यात प्रदेशों में अवगाह होरहा है अवगाह शक्ति के योग से अनन्तानन्त बादर या सूक्ष्म पुद्गल इस असंख्यात-प्रदेशी लोकाकाश में निर्विघ्न विराज रहे हैं।

अवगाह इत्यनुवर्तते लोकाकाशस्येत्यर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः तेन लोकाकाशस्यैकप्रदेशेष्वसंख्येयेषु च पुद्गलानामवगाह इति वाक्यार्थः सिद्धः। कथमित्याह—

"लोकाकाशेऽवगाहः" इस सूत्र से यहां "अवगाह" इस शब्द की अनुवृत्ति करली जाती है, और लोकाकाशे इस सप्तमी विभक्ति वाले पद की विभक्तिका अर्थ के वशसे षष्ठी विभक्ति रूप परिवर्तन कर लिया जाता है तिस कारण इस प्रकार वाक्य का अर्थ सिद्ध होजाता है कि लोकाकाश के एक, दो, तीन, आदि संख्यात प्रदेशों में एक, दो, तीन, आदि संख्याते या असंख्याते अथवा अनन्ते परमाणुओं का अथवा इन से बने हुये स्कंधों का अवगाह है। तथा लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों पर असंख्याते या अनन्त परमाणुओं अथवा इन से बने हुये पुद्गल स्कन्धों का अवगाह है। कोई पूछता है कि इस प्रकार थोड़े से प्रदेशों पर बहुत से अणु या स्कन्धोंका अवगाह होजाना भला किस

प्रकार समझ लिया जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकों द्वारा उत्तर को कहते हैं।

तस्यैवैकप्रदेशेस्ति यथैकस्यावगाहनं
परमाणोस्तथानेकाणुस्कंधानां च सौक्ष्म्यतः ॥ १ ॥
तथा चैकप्रदेशादिस्तेषां प्रतिविभिद्यतां ।
सोवगाहो यथायोग्यं पुद्गलानामशेषतः ॥ २ ॥

उस ही लोकाकाश के एक प्रदेशमें जिस प्रकार एक परमाणु का अवगाह होरहा है, तिसी प्रकार अनेक अणु अथवा अनेक स्कन्धों का भी सूक्ष्म परिणाम होजाने से अवगाह होजाता है और तिस प्रकार उन पुद्गलों का सम्पूर्ण रूप से वह एक प्रदेश आदि में होरहा अवगाह यथायोग्य प्रत्येक में विभाग प्राप्त कर लिया जाओ अथवा प्रत्येक विशेषदशाको प्राप्त अवगाहे हुये पुद्गलों का सम्पूर्ण रूप से यथायोग्य एक प्रदेश आदि अवगाहस्थान हैं, उसी को सूत्रकार ने कहा है कि आकाश के एक प्रदेश, दो प्रदेश, संख्यात आदि प्रदेशों में पुद्गलों का अवगाह भजनीय है।

तस्यैव लोकाकाशस्यैकप्रदेशे यथैकस्य परमाणोरवगाहनमस्ति निर्बाधं तथा द्व्यादिसंख्येयानां स्कंधानामपि परमसौक्ष्म्यपरिणामानां। तद्द्व्यादिप्रदेशेषु च यथैकत्वपरिणामनिरुत्सुकानां द्व्यादिपरमाणूनामवगाहस्तथा द्वित्र्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तपरमाणुमयस्कंधानामपि तादृशात् सौक्ष्म्यपरिणामादित्यशेषतो यथायोगं प्रविभज्यतां।

असंख्यात-प्रदेशी उस ही लोकाकाश के एक प्रदेश में जिस प्रकार एक परमाणु का बाधा रहित होकर अवगाहन होरहा है, तिसी से प्रकार उस एक प्रदेश में दो, तीन, सौ, लाख, कोटि, संख्याते परमाणुओं और स्कन्धों का भी परमसूक्ष्मपन परिणामवालों का अवगाह होरहा है, असंख्याते और अनन्ते भी परमाणुओं और स्कंधों का अवगाह है। और उसी एक प्रदेश के समान दो, तीन, आदि प्रदेशों में जिस प्रकार एकत्व परिणति के उत्सुक नहीं होरहे दो, तीन, संख्यात, असंख्यात, आदि अबद्ध परमाणुओं का अवगाह है, तिसी प्रकार उन दो आदि प्रदेशों में दो, तीन, पचास, हजार, खर्व, संख्यात, असंख्यात, अनन्ते, परमाणुओं से तादात्म्य रखते हुये तन्मय होरहे स्कन्धों का भी अवगाह होना समझ लिया जाय, उन परमाणुओंके ही समान तिसी जातिके सूक्ष्मपन परिणाम से पुद्गल का अशेष रूप से यथायोग्य होरहे अवकाशकी अच्छी विकल्पना कर ली जाओ, कोई विरोध नहीं आता है।

न च पुद्गलस्कंधानाम् तादृशसौक्ष्म्यपरिणामोऽसिद्धः स्थूलानामपि शिथिलावयवकर्पासपिंडादीनां निबिडावयवदशायां सौक्ष्म्यदर्शनात्, कूष्मांडमातुलुंगबिल्वामलकवदिरसौक्ष्म्यतारतम्यदर्शनाच्च क्वचित्कामणस्कंधादिषु परमसौक्ष्म्यानुमानात् महत्त्वतारतम्यदर्शनात् क्वचित्परममहत्त्वानुमानवत्।

यहाँ कोई यदि यों कटाक्ष करै कि पुद्गलस्कन्धों का तिन परमाणुओं के समान सूक्ष्मता स्वरूप परिणाम हो जाना तो असिद्ध है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कटाक्ष उचित नहीं है कारण कि स्थूल होरहे भी शिथिल अवयव वाले कपासनिर्मित रुई के पिण्ड, बुरादा, रेख, आदि स्कन्धों का दबा देने पर कठिन अवयवों के संयोग हाजाने की दशा में सूक्ष्मपना देखा जाता है। तथा कूष्माण्ड-(तौमरा) बिजौरा, बेल, आमला, बेर [illegible] आदिमें सूक्ष्मपना का तरतम-पना देखा जाता है, अतः किन्हीं २ ज्ञानावरण आदि कर्मों के पिण्डभूत कार्मणस्कंध, तैजस शरीर आदि में भी परमसूक्ष्मपन का अनुमान कर लिया जाता है जैसे कि पोस्त, मूंग, मटर, सुपारी बहेडा, अमरूद, खरबूजा, पेठा, घड़ा, कपड़ा, प्रासाद, पर्वत आदि में बड़प्पन के तरतमभाव का दर्शन होने से कहीं आकाश में परम महापरिमाण का अनुमान होजाता है। एक घर में सैकड़ों दीपकों के प्रकाश भरपूर होकर समाजाते हैं, बात यह है कि ऊंटनी के दूध से भरे हुये पात्र में उतना ही मधु (शहद) आजाता है, दूध में बूरा समा जाता है बुभुक्षित पारा सोने को खा जाता है और बोझ उतना ही रहता है, बालू, रेत, या राख में पानी समा जाता है, इत्यादि स्थूल पदार्थ भी अन्य स्थूल पदार्थों को जब अवकाश दे रहे हैं तो सूक्ष्मपरिणामधारी अनन्ते पदार्थों का आकाश के एक, दो, तीन आदि संख्यात, असंख्यात, प्रदेशों पर अवगाह होजाने में कौन आश्चर्य है ?। अतः असंख्यात-प्रदेशी लोका-काश में अनन्तानन्त बादरपुद्गलों और सूक्ष्म पुद्गलों का निराबाध अवस्थान होरहा है।

पुद्गलों का अवगाह ज्ञात कर लिया अब क्रमप्राप्त जीव द्रव्यों का अवगाह किस प्रकार है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं।

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

उस लोकाकाश के एक असंख्यातवें भाग को आदि लेकर पूरे लोकाकाश तक असंख्यात प्रकार के स्थानों में जीवों का अवगाह होरहा समझ लेना चाहिये।

लोकाकाशस्येति संबंधनीयं अवगाहो भाज्य इति चानुवर्तते। तेनासंख्येयभागे असंख्येयप्रदेशे कस्यचिज्जीवस्य सर्वजघन्यशरीरस्य नित्यनिगोतस्यावगाहः, कस्यचिद्द्वयोस्त-दसंख्येयभागयोः कस्यचित्त्र्यादिषु सर्वस्मिंश्च लोके स्यादित्युक्तं भवति।

सप्तमी विभक्ति के स्थान में बदली हुयी षष्ठी विभक्ति वाले "लोकाकाशका" इस प्रकार यहां सम्बन्ध कर लेने योग्य है, अवगाह और भाज्य इन दो पदों की भी यहां पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति करली जाती है, तिस कारण इस सूत्र का वाक्य बनाकर अर्थ यों होजाता है कि उस लोकाकाश के असंख्येय प्रदेश वाले होरहे तद्योग्य असंख्यातवें भाग में किसी एक जीव का यानी शरीर की सब से छोटी जघन्य अवगाहना वाले नित्यनिगोदिया का अवगाह होरहा है और किसी एक जीव का लोक के दो असंख्यातवें भागों में अवकाश होरहा है। एवं किसी किसी जीव का लोकाकाश के तीन, चार, संख्याते, असंख्याते, उन असंख्येय भागों में अवस्थान होरहा है, केवलि समुद्घात करते समय लोकपू-रण अवस्था में तो सम्पूर्ण लोक में वह एक जीव फैल जाता है, यह इस सूत्र द्वारा कहा गया समझा जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भावार्थ—कोई भी जीव किसी भी पर्याय में असंख्यातप्रदेशों से कमती एक, दो, सौ, लाख, संख्याते प्रदेशों में नहीं ठहर पाता है, जीव की सब से छोटी व्यंजनपर्याय भी असंख्यात प्रदेशों को घेर रही है, सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग में भी असंख्याती उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के समयों से अत्यधिक प्रदेश विद्यमान हैं। सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के पश्चात् तीसरे समय में घनांगुलके असंख्यातवें भाग स्वरूप सब से छोटी जघन्य अवगाहना है, इस अवगाहना से एक, दो, आदि या असंख्याते प्रदेशों बढ़ती हुयी अगले समयों में इसी जीव की अथवा अन्य जीवों की भी अवगाहनायें हैं, सूक्ष्म निगोदिया की अवगाहना से दूनी अवगाहना को या तिगुनी अवगाहना को लोकाकाश के दो या तीन असंख्यातवें भाग कहा जा सकता है किन्तु जघन्य अवगाहना से एक, दो, पांच, सौ, संख्याते, प्रदेशों से बढ़ी हुयी अवगाहना को तो एक संख्यातवें भाग और दो असंख्यातवें भागों की मध्यम दशा समझना और इस माध्यम को चार, पांच, आदि के बीचों में भी लागू कर लेना चाहिये।

सूत्रकार या व्याख्याकार ने इनका कण्ठोक्त निरूपण नहीं किया है फिर भी "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" अनुसार उन सब का ग्रहण होजाता है। एक बात यह भी है कि जब लोक के सैकड़ों या असंख्याते, असंख्याते भागों को मिला देने पर भी लोक का असंख्यातवां भाग रक्षित रह जाता है तो जघन्य अवगाहना के ऊपर दो, चार, दस, बीस, पचास, प्रदेशों के बढ़ जाने पर लोक के असंख्यातवें भाग में कोई क्षति नहीं आती है, इसी प्रकार अवगाहनाओं के बढ़ते बढ़ते घनांगुल का संख्यातवां भाग, पूराघनांगुल, संख्यातेघनांगुल, होता हुआ महामत्स्य का साड़े बारह करोड, योजन क्षेत्रफल वाला जीवसंस्थान होजाता है, मारणान्तिक समुद्घात या दण्ड कपाट, प्रतर, अवस्थाओं में लोक का बहुत बड़ा असंख्यातवां भाग या संख्यातवां भाग अथवा कुछ कम लोक बराबर भी जीव की अवगाहना होजाती है जो कि लोकाकाश के उतने उतने प्रदेशों को घेर लेती है।

नानाजीवानां केषांचित्साधारणशरीराणामेकस्मिन्नसंख्येयभागेवगाहः, केषांचिद्द्वयोः संख्येयभागयोस्त्र्यादिषु चासंख्येयभागेष्विति भाज्योवगाहः।

साधारणशरीर वाले किन्हीं किन्हीं अनन्तानन्त जीवों का लोक के एक ही असंख्यातवें भाग में अवगाह है, और किन्हीं किन्हीं नाना जीवों का लोक के दो असंख्यातवें भागों में और तीन आदि यानी चार, सौ, संख्यात, असंख्याते, भी असंख्येय भागों में इस प्रकार अवगाह होजाना विकल्पनीय है। भावार्थ–साधारण नामक नामकर्म का उदय होने से बादर या सूक्ष्म जीव होजाते हैं, जिन अनन्तों जीवों का आहार श्वास, उत्श्वास, जन्म, मरण, साधारण हैं, वे जीव साधारण निगोदिया हैं। इस लोक में असंख्यातलोक प्रमाण स्कन्ध हैं, एक एक स्कन्ध में असंख्यात लोक के प्रदेशों बराबर अण्डर हैं, एक एक अण्डर में असंख्यात लोक–प्रमाण आवास हैं, एक एक आवास में असंख्याती पुलवियां हैं, एक एक पुलवी में बादर निगोदिया जीवों के असंख्यात लोक प्रमाण शरीर हैं, एक एक शरीर में सिद्ध राशि से अनन्त गुणे अथवा अतीत काल के समयों से अनन्त गुणे निगोदिया जीव अपने स्वकीय शरीरों को लिये हुये भरे हुये हैं। ये अनेक जीव लोक के एक असंख्यातवें भाग दो, तीन, आदिअसंख्यातवें भागों में अवगाहित होरहे हैं।

न चैकस्य तदसंख्येयभागस्य द्व्यादयसंख्येयभागानां चासंख्येय प्रदेशत्वाविशेषात्

सर्वजीवानां समानोवगाहः शंकनीयः। असंख्येयप्रासंख्येयविकल्पत्वात्। तन्मिद्धं लोकाकाशैकासंख्येयप्रदेशपरिणमनत्वाद्द्वयाद्यसंख्येयभागानामिति नानारूपावगाहसिद्धिः।

यदि यहां कोई यों शंका करे कि उस लोक के एक असंख्यातवें भाग का और दो, तीन, आदि असंख्यातवें भागों का जब असंख्येय प्रदेशपना अन्तररहित है। तब तो इस कारण सूक्ष्म जघन्य निगोदिया या सूक्ष्म वातकायिक जीव तैजस कायिक, त्रीन्द्रियक, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, अप्रतिष्ठित प्रत्येक, महामत्स्य, अथवा समुद्घात करने वाले यों सम्पूर्ण जीवोंका अवगाह समान होजायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करनी चाहिये असंख्यातके क्योंकि असंख्याते भेद हैं, जैसे कि संख्यातोंके सख्याते भेद होसकते हैं। अतः वह अनेक प्रकारोंका अवगाह होना सिद्ध होजाता है, लोकाकाश के भेद सख्याते दो, तीन, आदि संख्यात, असख्याते भी असख्येय भागोंकी परिणति लोकाकाशके एक असंख्येय भाग होरहे प्रदेशों स्वरूप होजाती है। अर्थात्—कई असंख्यातवें भाग मिलकर भी लोक का एक असंख्यातवां भाग बन जाता है। इस प्रकार अनेक जीवों के नाना स्वरूप अवगाहों की सिद्धि होजाती है। दसों के दसों भेद हैं, सैकड़ों के सैकड़ों प्रकार हैं, इसी प्रकार असंख्यातवें भागों के असंख्याते प्रभेद हैं।

धर्मादी ां सकललोकाकाशाद्यवगाहवचनसामर्थ्याल्लोकाकाशस्यैकस्मिन्नेकस्मिन् प्रदेशे चैकैकस्य कालपरमाणोरवगाहः प्रतीयते तथा च सूत्रकारस्य नासंग्रहदोषः।

धर्म, अधर्म, पुद्गल आदि द्रव्यों का सम्पूर्ण लोकाकाश या लोक के असंख्येय भाग आदि में अवगाह होजाने का सूत्रकारद्वारा कण्ठोक्त निरूपण करने की सामर्थ्य से यह प्रतीत होजाता है कि लोकाकाश के एक प्रदेश पर एक एक काल परमाणु का अवगाह होरहा है। और तिस प्रकार होने से सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज के ऊपर कोई 'नहीं संग्रह करने का' दोष लागू नहीं होता है।

भावार्थ—सूत्रकार ने धर्म, अधर्म, पुद्गल, और जीव द्रव्यों के अवगाह का सूत्र द्वारा निरूपण किया है, आकाश द्रव्य तो स्वयं अपने में ही अवगाहित होरहा है। किन्तु छठे काल द्रव्य के अवकाशस्थान का सूत्र द्वारा निरूपण नहीं किया, अतः अवगाहित द्रव्यों का निरूपण करते हुये सूत्रकार ने काल द्रव्य का संग्रह नहीं करपाया है। यह असंग्रह दोष खटकने योग्य है। इस आक्षेप का उत्तर ग्रन्थकार लगे-हाथ यों दिये देते हैं, कि बहुत से प्रमेय बिना कहे ही अर्थापत्या उक्त शब्दों की सामर्थ्य से लब्ध होजाते हैं। जब कि धर्म, और अधर्म, का निवास स्थान पूरा लोक कहा, पश्चात् पुद्गलों का एक प्रदेश आदि अवगाह स्थान कहा, पुनः जीवों का असंख्येयभाग आदि कहा, ऐसी दशा में कालाणुओं का लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर स्थान पाजाना स्वतः ही लब्ध होजाता है, इस कारण असंग्रह दोष कथमपि नहीं आता है।

ननु च लोकाकाशप्रमाणत्वे जीवस्य व्यवस्थापिते कथं तदसंख्येयभागावगाहनं न विरुध्यत इत्याशंक्याह।

यहां किसी की शंका है कि "असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्" इस सूत्र करके जीव के प्रदेशों की जब लोकाकाश प्रमाण व्यवस्था करा दी जा चुकी है, तो फिर उस लोक के असंख्यातवें

भाग आदि में जीव का अवगाह होजाना किस प्रकार भला विरुद्ध नहीं पड़ता है बताओ ? वैशेषिकों के विचार अनुसार सम्पूर्ण लोक में प्रत्येक जीव का व्यापक होकर अवगाह होना चाहिये ऐसी योग्य आशंका उपस्थित होजाने पर सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते हैं।

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

जीव सम्बन्धी प्रदेशों के संकोचन और प्रसारण से असंख्येय आदि भागों में जीव की वृत्ति होजाती है, जैसे कि प्रदीप का छोटे बड़े स्थलों में संहार और विसर्प हो जाने से अन्तराल-रहित अवकाश होजाता है। भावार्थ—छोटे घर में दीपक का प्रकाश पूर्ण रूप से उतने में समा जाता है और बड़े घर में वही प्रकाश अविरल फैल कर समा जाता है। प्रदीप के निमित्त से हुआ प्रकाश भी प्रदीप का ही परिणाम है, अतः प्रदीप-आत्मक है। यद्यपि घर में फैलरहे अन्य पुद्गल स्कन्ध भी प्रकाशित स्वरूप परिणम गये हैं, तो भी वह प्रदीप का ही शरीर है जैसे कि प्रचण्ड अग्नि को कारण मानकर हुये यहां वहां दूर तक के उष्णता वाले पदार्थ सब अग्नि के अंग माने जाते हैं। जल रहा काठ कुछ देर में सब का सब अग्नि होजाता है, अतः प्रदेशों के संहार या विसर्प में प्रदीप का दृष्टान्त अनुपयोगी नहीं है। यों दृष्टान्त के सभी धर्म तो दार्ष्टान्त में नहीं पाये जा सकते हैं। कुछ तो अन्तर रहता ही है, अन्यथा वह दृष्टान्त ही नहीं समझा जावेगा, दार्ष्टान्त बन बैठेगा।

असंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भाज्य इति साध्यत इत्याह।

लोक के असंख्येय भाग आदिकों में जीवों का विकल्पना करने योग्य अवगाह होरहा है, यह यहां साधा जाता है (प्रतिज्ञा) प्रदेशसंहार-विसर्पाभ्याम् यह हेतु है, प्रदीप दृष्टान्त है। इसी बात को ग्रन्थकार वार्तिकों द्वारा कहते हैं।

न जीवानामसंख्येयभागादिष्ववगाहनं।
विरुद्धं तत्प्रदेशानां संहारात्प्रविसर्पतः ॥ १ ॥
प्रदीपवदिति ज्ञेया व्यवहारनयाश्रया।
आधाराधेयतार्थानां निश्चयात्तदयोगतः ॥ २ ॥

जीवों का लोक के असंख्यातवें भाग आदिकों में अवगाह होना विरुद्ध नहीं है (प्रतिज्ञा) उन जीवों के प्रदेशों का संहार होने से और विसर्प होने से (हेतु)। प्रदीप के समान (अन्वय-दृष्टान्त)। इस अनुमान-अनुसार पदार्थों के व्यवहार का अवलम्ब लेकर " आधार आधेयभाव " बन रहा जान लेना चाहिये, हां निश्चय नय से तो अर्थों के उस आधार आधेय भाव का योग नहीं है। भावार्थ—निश्चयनय से सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हैं, न कोई किसी का आधार है और न कोई किसी का आधेय है, हां व्यवहार नय से आधार आधेय--व्यवस्था होरही है,

वस्त्र के समान जीव स्वकीय प्रदेशों का संकोच या विस्तार होजाने से लोकाकाश में अनेक अवगाहनाओं--अनुसार आश्रित होरहा है।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अमूर्तस्वभावस्याप्यात्मनोऽनादिसंबंध प्रत्येकत्वात् कथंचिन्मूर्तता बिभ्रतो लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यापि कार्मणशरीर-वशादुपात्तं सूक्ष्मशरीरमधितिष्ठतः शुष्कचर्मवत्संकोचनं प्रदेशानां संहारस्तस्यैव बादरशरीरमधितिष्ठतो जले तैलवद्विसर्पणं विप्रदेशानां सर्पस्ततोऽसंख्येयभागादिषु वृत्तिः प्रदीपवन्न विरुध्यते। न हि प्रदीपस्य निरावरणनभोदेशावधृतप्रकाशपरिमाणस्यापि शरावमानिकापवरकाद्यावरणवशात् प्रकाशप्रदेशसंहारविसर्पौ कस्यचिदसिद्धौ यतो न दृष्टांतता स्यात्।

यद्यपि प्रत्येक आत्मा का निज स्वभाव अमूतपना है तथापि प्रवाह रूप से अनादि कालीन सम्बन्ध को प्राप्त होरहे पुद्गल के प्रति (साथ) कथंचित् एकपना होजाने से आत्मा कथंचित् मूर्तपन को धारण कर रहा है, लोकाकाश के प्रदेशों के समान असंख्यात प्रदेशों के धारी भी ऐसे मूत और कार्मण शरीर के वशसे ग्रहण किये गये सूक्ष्म शरीर को धारण कर रहे आत्मा का सूखे चमड़े समान संकुचित होजाना ही आत्माके प्रदेशोंका संहार है, संहारका अर्थ नाश नहीं है। और असंख्यात प्रदेशी, मूर्त, बादर शरीरमें अधिष्ठान करते हुये उस ही आत्माका जल में तैलके समान फैलजाना-रूप विसर्प ही प्रदेशों का प्रसर्प है, तिस कारण से प्रदीप के समान जीव का लोक के असंख्यातवें भाग आदि स्थानोंमें वर्त जाना विरुद्ध नहीं पड़ता है। अर्थात् मूत आत्मा मूर्त होरहे सूक्ष्म, स्थूल, शरीरों अनुसार संकुचित विसर्पित होरहा संता लोक के अनेक छोटे, बड़े स्थानों में वर्त रहा है, चमड़ा या रबड़ के सिकुड़ जाने पर उनके प्रदेश नष्ट नहीं होजाते हैं एवं जल में तेल के फैल जाने पर तेल के नवीन प्रदेशों की उत्पत्ति नहीं होजाती है, इसी प्रकार जीवों के प्रदेशों में कोई उत्पाद या विनाश नहीं है।

बाल्य-अवस्था के शरीर की युवा अवस्था में बढ़ जाने पर आहार वर्गणा के प्रदेशों की वृद्धि अनुसार सर्वथा नवीन व्यंजन पर्याय उपज गयी है, और युवा से वृद्ध होने पर जीर्ण शीर्ण वृद्ध शरीर की व्यंजन पर्याय शरीरोपयोगी पुद्गलों की अधिक हानि अनुसार नवीन रीत्या उत्पन्न होगयी है, किन्तु बाल्य-अवस्था से युवा पुरुष की आत्मा का केवल प्रदेश विस्तार होगया है और थकेवृद्ध की आत्मा का केवल प्रदेश संकोच होगया है, प्रदेशों की वृद्धि या हानि नहीं हुयी है, भले ही आत्मा की व्यंजन पर्याय उतनी ही मान ली जाय फिर भी शरीर की व्यंजन पर्याय और आत्मा की व्यंजन पर्याय में महान् अन्तर है, बुद्धिमान् पुरुष इस रहस्य को समझ लेवें। इस सूत्र में कहा गया प्रदीप दृष्टान्त प्रकरण प्राप्त साध्य के सर्वथा उपयोगी है, आवरण-रहित लम्बे, चौड़े, आकाश के प्रदेशों में दूर तक मर्यादित प्रकाशने के परिणाम को धारने वाले भी प्रदीप का सरवा, मौनी, घड़ा, डेरा, गृह, आदि आवरणों के वश से होरहे प्रकाश-आत्मक प्रदेशों के संहार और विसर्प दीखरहे सन्ते किसी भी वादी प्रतिवादी के यहां असिद्ध नहीं है, जिससे कि दीपक को दृष्टान्तपना नहीं होसके अर्थात्—लम्बे, चौड़े प्रकाशों वाला दीपक छोटे छोटे स्थानों में निरन्तराल मर्यादित होजाता है, अतः यह दृष्टान्त बहुत अच्छा है।

स्यादाकूतं, नात्मा प्रदेशसंहारविसर्पवान् अमूर्तद्रव्यत्वादाकाशवदेति। तदयुक्तं,

पक्षस्य बाधितप्रमाणत्वात् । तथाहि-आत्मा प्रदेशसंहारविसर्पवानस्ति महाल्पपरिमाणदेशव्यापित्वात् प्रदीपप्रकाशवदित्यनुमानेन तावत्पक्षो बाध्यते । । न चात्र हेतुरसिद्धः शिशुशरीरव्यापिनः पुनः कुमारशरीरव्यापित्वप्रतीतेः । स्थूलशरीर-व्यापिनश्च सतो जीवस्य कृशशरीरव्यापित्वसंवेदनात् । न च पूर्वापरशरीरविशेषव्यापिनो जीवस्य भेद एव प्रत्यभिज्ञानाभावप्रसंगात् । न वेह तदेकत्वप्रत्यभिज्ञानं भ्रांतं बाधकाभावादित्युक्तत्वात् ।

सम्भव है कि नैयायिक या वैशेषिकों का यह भी मन्तव्य होवे कि आत्मा (पक्ष) स्वकीय प्रदेशों के संहार और विसर्प को नहीं धारता है (साध्य) अमूर्त द्रव्य होने से (हेतु) आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त) । किन्तु इस प्रकार वैशेषिकों का वह अनुमान तो युक्तियों से रीता है, क्योंकि उनके पक्ष की अनुमान या आगमप्रमाणों से बाधा प्राप्त होरही है, उन्हीं बाधक प्रमाणोंको स्पष्ट कर यों कहाजाता है कि आत्मा (पक्ष) अपने प्रदेशों के संहार और विसर्प को तदात्मक होकर धारने वाला है, (साध्य) बड़े परिमाण वाले और अल्प-परिमाण वाले देशों में व्यापक होजाने से (हेतु) प्रदीप के प्रकाश समान (अन्वयदृष्टात) । सब से प्रथम इस निर्दोष अनुमान करके वैशेषिकों का पक्ष (प्रतिज्ञा) बाधित होजाता है । देखो इस अनुमान में कहा हेतु असिद्ध नहीं है, कारण कि बालक के छोटे शरीर में व्याप रहे आत्मा का पश्चात्-कुमार अवस्था के बड़े शरीर में व्याप जाना प्रतीत होरहा है तथा स्थूल शरीर में व्याप रहे सन्ते जीवका पुनः कृश शरीर होजाने पर वहाँ व्यापक होरहेपन का सम्वेदन होरहा है । यदि यहाँ कोई यों आक्षेप करे कि शिशु-अवस्था का जीव न्यारा है, और कुमार अवस्था का जीव भिन्न है, मोटे शरीर वाले जीव से पतले उस शरीर में ठहर रहा जीव पृथक् है, पहिले पिछले शरीर-विशेषों में व्यापने वाले जीव का भेद ही है । आचार्य कहते हैं कि यह आक्षेप नहीं चल सकता है क्योंकि एकत्व प्रत्यभिज्ञानके अभावका प्रसंग होजावेगा । जो मैं बालक था वही मैं अब युवा हूँ, मेरा मोटा शरीर अब पतला होगया है, ऐसे आत्मा के एकत्व का ज्ञापक करने वाले प्रत्यभिज्ञान होरहे हैं । यहां हो रहे वे एकत्व प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त नहीं हैं क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के बाधक प्रमाणों का अभाव है इस बात को हम पूर्वप्रकरणो में कई वार कह चुके हैं ।

तथागमबाधितश्च पक्षः, स्याद्वादागमे जीवस्य संसारिणः प्रदेशसंहारविसर्पवत्त्वकथनात् । न च तदप्रमाणत्वं सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वात् प्रत्यक्षार्थप्रतिपादकागमवत् । सर्वगतत्वादात्मनो न प्रदेशसंहारविसर्पवत्त्वमाकाशवदिति चेन्न, तस्यासर्वगतत्वसाधनात् ।

तथा वैशेषिकों का आत्मा में प्रदेशों के संहार और विसर्प के अभाव को साधनेवाला पक्ष हमारे आप्तोक्त आगमसे बाधित होरहा है क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में संसारी जीव को प्रदेशों के संहार और विसर्प से सहितपन का कथन किया गया है, "लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदि तु सव्वलोगोत्ति, अप्पपदेशविसप्पण संहारे वावडो जीवो" इत्यादिक अथवा इन से भी पूर्ववर्त्ती उन आगम वाक्यों को अप्रमाण नहीं कह सकते हो क्योंकि बाधक प्रमाणों के नहीं सम्भवने का अच्छा निर्णय हो चुका है । जैसेकि प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा जाने गये अर्थ के प्रतिपादक आगम का अप्रमाणपना नहीं है । अर्थात्-कोई सज्जन देहली या आगरा को देखकर दूसरे स्थान पर वहाँ के दृश्यों का सच्चा वर्णन

कर रहा है, उन सज्जन के वाक्यों से उत्पन्न हुआ आगम ज्ञान जैसे प्रमाण है, उसी प्रकार सर्वज्ञ आम्नाय से प्रतिपादित आगम भी प्रमाण है, अतः अनुमान और आगम प्रमाण से वैशेषिकों का पक्ष बाधित हुआ।

मार्गदर्शक: वैशेषिक बोलते हैं कि सर्वज्ञ न होने के कारण आत्मा का स्वकीय प्रदेशों के संहार और विसर्प से सहितपना नहीं बनता है जैसे कि सर्वव्यापक आकाश अपने प्रदेशोंके संकोच या विस्तार को लिये हुये नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस आत्मा का अव्यापकपना साधा जा चुका है, संसारी आत्मा अपने उपात्त शरीर के परिमाण है और मुक्त आत्मा चरम शरीर से कुछ न्यून परिमाणवाला है, अतः अव्यापक आत्मा के प्रदेशों का संकोच या विस्तार होसकता है।

येषां पुनर्वटकणिकामात्रः सहस्रधा भिन्नो वा केशाग्रमात्रोंगुष्ठपर्वप्रमाणो वात्मा तेषां सर्वशरीरे स्वसंवेदनविरोधः, तस्याशु-संचारित्वात्तथा संवेदने सकलशरीरेषु तथा संवेदनापत्तेरेकात्मवादावतरणात। शक्यं हि वक्तुं सकलशरीरेष्वेक एवात्माणुप्रमाणोप्याशु-संचारित्वात् संवेद्यत इति तत्राश्वेवाचेतनत्वप्रसंगोऽन्यत्र संचारणादिति चेत, शरीरावयवेष्वपि तन्मुक्तेष्वचेतनत्वमुपसज्येत तद्युक्तस्यैव चोपशरीरैकदेशस्य सचेतनत्वोपपत्तेरिति यत्किंचिदेतत् यथाप्रतीतिशरीरपरिमाणानुविधायिनो जीवस्याभ्युपगमनीयत्वात्।

जिन प्रतिवादियों के यहाँ फिर आत्मा का परिमाण वट-वृक्ष के छोटे बीज की कनी बरोबर माना गया है अथवा हजारों प्रकार (वार) छिन्न भिन्न किये गये बाल के अग्रभाग प्रमाण अत्यन्त छोटा आत्मा माना गया है अथवा अंगूठे की पमोली बराबर आत्मा का परिमाण इष्ट किया है, उन पण्डितों के यहाँ सम्पूर्ण शरीर में आत्मा के स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होने का विरोध होगा। अर्थात्—छोटासा आत्मा शरीर में जहाँ होगा वहां ही आत्मा का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होसकेगा, हाथ, पांव, पेट, मस्तक, सर्वत्र आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होसकेगा। दुःख, सुख भी छोटे से ही शरीर भाग में अनुभव किये जा सकेंगे, पूर्णशरीरावच्छिन्न आत्मा में नहीं। यदि वे पण्डित यों कहैं कि छोटी आत्मा का अत्यन्त शीघ्र संचार होजाने से तिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में ज्ञान, सुख, आदि का सम्वेदन होजाता है जैसे कि अत्यन्त शीघ्र भ्रमण कर रहे चाक पर लगगई काली बूंद सब ओर दीख जाती है। यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, वृक्ष, आदि के सम्पूर्ण शरीरों में तिस प्रकार शीघ्र संचार होजाने से एक ही आत्मा के सम्वेदन का प्रसंग आजावेगा अतः अद्वैतवादियों के समान एक ही आत्मा के प्रवाद का अवतार हुआ जाता है।

यों निःसंशय कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण शरीरों में अणु के समान परिमाण को धार रहा एक ही आत्मा है, अणु-परिमाण वाला एक ही आत्माभी शीघ्र शीघ्र संचार करनेवाला होनेसे सम्पूर्ण शरीरों में संवेदा जाता है। अर्थात्—जैसे हाथी, बैल, मनुष्य, आदि प्रत्येक के शरीरमें वट कणिका या केशाग्र, अथवा अंगूठा के बराबर परिमाण का धारी छोटा आत्मा यहाँ, वहां, शीघ्र गमन करने के के कारण सम्पूर्ण शरीर में सम्विदित होजाता है, उसी प्रकार जगत् भर के प्राणियों का भी आत्मा एक ही छोटा सा मानलिया जाय, बिजली की गति से भी अतीव शीघ्रगति होजाने से वह एक ही

छोटा आत्मा सम्पूर्ण शरीरों में सम्विदित होता रहेगा। यदि वे पण्डित यों कहैं कि उन सम्पूर्ण शरीरों में एक ही आत्मा के माननेपर तो शीघ्र ही अन्य अन्य शरीरों में संचार होजाने से उन त्यक्तों के अचेतनपन (मरजाने) का प्रसंग आजायगा एक भाव के संचार से उसके अनेक अभावों के शीघ्र आगमन का काल बहुत है, अतः सम्पूर्ण शरीरों में तो एक छोटी आत्मा नहीं मानी जा सकती है, हाँ एक शरीर में अल्प-आत्मा को मानने में कोई विपत्ति नहीं दीखती है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यों तो एक शरीरमें देखकर छोटी आत्मा के कुछ विद्वेषी जनोंके अतीत अवयवों में भी अचेतनपन का प्रसंग आजावेगा। हाँ उस छोटी सी आत्मा से युक्त होरहे ही स्वल्प शरीर के एक देश को सचेतनपना बन सकेगा, ऐसी दशा में शरीर के स्वल्पभाग को छोड़ कर अवशिष्ट सम्पूर्ण शरीर मृत बन जावेगा। शीघ्र घूमते हुये चाक पर जैसे काली बूंद चारों ओर दीखजाती है, उसी प्रकार उससे अधिक देर तक काली बूंद से रीता स्थान दीखता रहता है, गाड़ी के पहियों का भ्रमण होने पर अरों से भरे हुये स्थान के समान अरों से रीता स्थान भी खूब दीखता है, ऐसी दशा में यह आत्मा का अणु-परिमाण या अंगुष्ठ-परिमाण मान लेना मनचाहा जो कुछ भी आग्रह पकड़ लेना मात्र है, कोई युक्त मार्ग नहीं है, प्रतीतियों का उल्लंघन नहीं करके उपात्त शरीर के परिमाण का अनुविधान करने वाले ही जीव को परिशेष में स्वीकार कर लेना आवश्यक होगा, उसी प्रकार अपने अपने शरीर परिमाण वाले ही आत्मा की सम्पूर्ण जीवों को प्रतीति होरही है।

तथा सति तस्यानित्यत्वप्रसंगः प्रदीपवदिति चेन्न किंचिदनिष्टं, पर्यायार्थादेशादात्मनोऽनित्यत्वसाधनात्। द्रव्यार्थादेशात्तन्नित्यत्ववचनात् प्रदीपवदेव। सोपि हि पुद्गलद्रव्यार्थादेशान्नित्य एवान्यथा वस्तुत्वविरोधात्।

प्रतिवादी कहता है कि तिसप्रकार अपने विनश्वर शरीर का अनुकरण कररहा अनुनयकारी (खुशामदी) आत्मा यदि शरीर के परिमाण ही घट, बढ़, जाता है तब तो उस आत्मा के अनित्यपन का प्रसंग आता है जैसे कि अपने आधारकों के परिमाण अनुसार घट रहा और बढ़ रहा प्रदीप या दीपकप्रकाश अनित्य है। आचार्य कहते हैं कि यह प्रसंग तो हम को कुछ भी अनिष्ट नहीं है, पर्यायार्थिक नय अनुसार कथन करने से आत्मा का अनित्यपना साध दिया गया है, हाँ द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन करने से ही उस आत्मा के नित्यपन का " नित्यावस्थितान्यरूपाणि " इस सूत्र द्वारा निरूपण किया गया है, प्रदीप के नित्यपन समान ही। अर्थात्-जब कि वह प्रदीप भी पुद्गलद्रव्य अर्थ का कथन करने अनुसार द्रव्यार्थिक नयसे नित्य ही है, उसी प्रकार आत्मा भी द्रव्यार्थिकनय अनुसार नित्य है, अन्यथा यानी द्रव्यदृष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य यदि आत्मा या प्रदीप को नहीं माना जायगा तो इनके वस्तुपन का विरोध होजावेगा द्रव्य और पर्यायों का तदात्मक समुदाय ही वस्तु है, केवल नित्यद्रव्य या केवल पर्यायें तो खरविषाण या कच्छपरोमों के समान असत् हैं।

जीवस्य सावयवत्वे भंगुरत्वे वावयवविशरणप्रसंगो घटवदिति चेन्न, आकाशादिदिनानेकांतात्। न ह्याकाशादि कथंचिदनित्योपि सावयवोपि प्रमाणसिद्धो न भवति। न चावयवविशरणं तस्येति प्रतीतं।

यहां पुनः वैशेषिक आक्षेप करते हैं कि जीवका यदि अवयव-सहितपना अथवा अनित्यपना पाना जावेगा तो जीवके अवयवों का फट जाना टूटजाना, नष्ट भ्रष्ट हो-जाना रूप विशरण होजाने का प्रसंग आता है जैसे कि अवयवों से सहित होरहे भंगुर घट के अवअव टूट फूट, छिन्न,भिन्न होजाते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि आकार आदि करके व्यभिचार दोष होजावेगा देखिये पर्यायार्थिक नय करके आकाश आदि कथंचित् अनित्य भी और अवयवोंसे सहितभी प्रमाणों से सिद्ध न होवें यह नहीं समझ बैठना किन्तु उस आकाश आदि के अवयवों का टूट फूट,जाना तो प्रतीत नहीं होता है अर्थात्-भिन्न भिन्न प्रान्तों में वर्त रहा आकाश सावयव है और कूटस्थनित्य भी नहीं है आकाश की पूर्व समय--वर्त्ती पर्याय से उत्तर समय की पर्याय न्यारी है अतः सावयव और भंगुर होते हुये भी आकाश का छिन्न भिन्न होना नहीं देखा जाता है, अतः तुम्हारा हेतु व्यभिचारी हुआ।

किंचिदात्मनोवयवा न विशीर्यंतेऽकारणपूर्वकत्वादाकाशादिप्रदेशवत् परमाण्वेकप्रदेशवद्वा। कारणपूर्वका एव हि पटादिस्कंधावयवा विशीर्यमाणा दृष्टास्तथाश्रयत्वेनावयवव्यपदेशात्। अवयूयन्ते विश्लिष्यंते इत्यवयवा इति व्युत्पत्तेः नचैवमात्मनः प्रदेशाः, परमाणुपरिमाणेन प्रदिश्यमानतया तेषां प्रदेशव्यपदेशादाकाशादिप्रदेशवत्। ततो न विशरणं

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जैन सिद्धान्त यह है कि आत्मा के कुछ भी अवयव जीर्ण शीर्ण नहीं होते हैं (प्रतिज्ञा) क्यों कि आत्माके अवयव अकारण-पूर्वक हैं जैसे कि आकाश धर्म, आदिके अनेक प्रदेश अथवा परमाणु का एक प्रदेश कारण-पूर्वक नहीं होनेसे छिन्नभिन्न नहीं होपाते हैं कारण कि पट घट, पुस्तक आदि स्कन्धों के कारण-पूर्वक हुये अवयव तो टूट फूटे जारहे देखे गये हैं आत्मा,आकाश,आदिके नहीं। अर्थात्-पौनीसे सूत और सूत से कपड़ा बनता है, यहाँ वस्त्र के अवयव कारणपूर्वक बने हैं, इसी प्रकार घट के अवयव भी कपाल, कपालिका, स्थास, आदि से बने हैं, अतः घट, पट, के अवयव तो विशीर्ण होजाते हैं किन्तु आत्म द्रव्य या आकाश के अखण्ड अवयव (प्रदेश) तो कारणों को पूर्ववर्त्ती मानकर उपजे नहीं हैं केवल तिस प्रकार आत्मा या आकाशके आश्रयपने करके उन प्रदेशोंमें अवयवपनेका व्यवहार होजाता है 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातु से अप् प्रत्यय करने पर अवयव शब्द बन जाता है। चारों ओर से विश्लेष को प्राप्त होजाय इस प्रकार "अवयव" इस शब्द की व्याकरण द्वारा व्युत्पत्ति की गयी है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार आत्मा, आकाश, परमाणु, इनमें अवयव-सहितपना घटित नहीं होता है आत्मा के इस प्रकार विभाग को प्राप्त होरहे मुख्य प्रदेश नहीं मानेगये हैं केवल परमाणु के परिमाण की नाप करके चिन्हित किये जारहेपने से उन आत्मा के अखण्ड अंशों को प्रदेशपन का कोरा नाम मात्र कथन कर दिया है जैसे कि आकाश, धर्म, आदि के विष्कम्भक्रम से की गयी अंशकल्पना अनुसार प्रदेश या अवयवों का केवल व्यवहार कर लिया जाता है तिसकारण आत्मा के प्रदेशों का छिन्न,भिन्न, होजाना नहीं बन पाता है। वस्तुतः देखा जाय तो अवयव शब्दका मुख्य अर्थ तो घट, पट,आदि खण्ड-तानेकदेश अशुद्ध द्रव्यों में ठीक घटित होता है अवयवों में अवयवी की वृत्ति मानी जाय अथवा अवयवों में अवयवोंका वर्तना माना जाय हमको दोनों अभीष्ट हैं किन्तु यह प्रक्रिया कारण-पूर्वक उपजने वाली अशुद्ध द्रव्यों में है, आकाश या आत्मा के अंशों में तो उपचार अवयवपनका निरूपण किया गया है।

जीवस्याविभागद्रव्यत्वादाकाशादिवत् नावयवविशरणमविभागद्रव्यमात्मा अमूर्तत्वानुभवात् । प्रसाधितं चास्यामूर्तद्रव्यत्वमिति न पुनरत्रोच्यते । तदेवं लोकाकाशमाधारः कात्स्न्येनैकदेशेन वा धर्मादीनां सर्वासंभव धर्मादयः पुनराधेयास्तथाप्रतीतेर्व्यवहारनयाश्रयादिति विज्ञेयार्थानामाकाशधर्मादीनामाधाराधेयता घटोदकादीनामिव बाधकाभावात् ।

एक बात यह भी है कि अविभागी द्रव्य होने से(हेतु) जीव के अवयवों का विशरण नहीं हो-पाता है (प्रतिज्ञा) आकाश, परमाणु, आदिके समान(अन्वय दृष्टान्त) । इस अनुमान में पड़ा हुआ हेतु स्वरूपासिद्ध नहीं है उस हेतु को यों सिद्ध(पक्षवृत्ति) समझेगा कि आत्मा(पक्ष)कालत्रय में भी विभाग को प्राप्त नहीं होने वाला द्रव्य है (साध्य)अमूर्तपन का अनुभव कर रहा होने से(हेतु) । इस अनुमान का हेतु भी असिद्ध नहीं है क्योंकि इस आत्मा का अमूर्तद्रव्यपन पहिले प्रकरणोंमें अच्छा साधा जा चुका है इस कारण फिर यहां अमूर्तद्रव्यपन की सिद्धि नहीं कही जाती है, अतः आकाशके समान आत्मा या उनके प्रदेशों का फटना, टूटना, फूटना,आदि का प्रसंग हम जैनों के ऊपर नहीं आपाता है ।

तिस कारण इस प्रकार सिद्ध हुआ कि धर्म, अधर्म जीव, आदि, द्रव्यों का यथासम्भव पूर्ण रूप करके अथवा एक देश करके वह लोकाकाश आधार है और धर्म आदिक द्रव्य फिर आधेय हैं क्यों-कि व्यवहार नय का अवलम्ब लेनेसे तिसप्रकारकी प्रतीति होरही है । यों आकाश, धर्म, आदिक पदार्थों का आधार-आधेय भाव समझ लेना चाहिये । जैसे कि घड़ा पानी का, कूंड़ा दही, आदि का आधार आधेयपना प्रसिद्ध है । लोक प्रसिद्ध होरहे आधार आधेयभाव में बाधक प्रमाणों का अभाव है ।

न तेषामाधाराधेयता सहभावित्वात् सव्येतरगोविषाणवदित्येतद्बाधकमिति चेन्न, नित्यगुणिगुणाभ्यां व्यभिचारात् ।

यहाँ कोई पण्डित आधार आधेय भाव का बाधक यों अनुमान खड़ा करते हैं कि उन आकाश और धर्म आदिकों का "आधार आधेय भाव" सम्बन्ध नहीं है (प्रतिज्ञा) साथ साथ वर्त रहे होने से (हेतु) गाय के डेरे और सीधे सींगसमान (अन्वयदृटान्त) , यह बाधक प्रमाण है । अर्थात्—गाय का डेरा सींग साधे सींगपर बैठा हुआ नहीं है, और एक साथ ही होजानेके कारण सीधा सींग भी डेरे सींग पर स्थित नहीं है, इसी प्रकार अनादिकालसे आकाश और धर्म आदि द्रव्य साथ साथ विद्यमान हैं, ऐसी दशामें किसको आधार और किसको आधेय कहा जाय ? जब कि आधार पहिले वर्तता है, और आधेय पीछे उस पर आकर बैठ जाता है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि नित्यगुणी और उसके नित्यगुण करके व्यभिचार होजायगा अर्थात्-अनादि निधन आकाश द्रव्यमें अनादि निधन परम महत्व गुण ठहर रहा है, आत्मा में द्रव्यत्व, वस्तुत्व, आदि नित्य गुण सर्वदा से आधेय होरहे हैं, अतः सहभावी पदार्थों में भी आधार आधेय भाव देखा जाने से तुम्हारा सहभावित्व हेतु व्यभिचारी हेत्वाभास है ।

न लोकाकाशद्रव्ये धर्मादीनि द्रव्याण्याधेयानि युतसिद्धत्वादनेककालद्रव्यवदिति चेन्न, कुंडबदरादिभिरनेकांतात्। साधारणशरीराणामात्मनामपि परस्परमाधाराधेयत्वोपगमादश्वमनुष्यादीनां दर्शनात् साध्यशून्यमुदाहरणं ।

यहाँ कोई पण्डित लोकाकाश और धर्मादि द्रव्यों के आधाराधेयभाव का निराकरण करने के लिये अनुमान बोलता है कि लोकाकाश स्वरूप द्रव्य में धर्म आदि स्वरूप द्रव्यें तो आश्रित नहीं होरहीं हैं, (प्रतिज्ञा) क्योंकि ये युक्त सिद्ध पदार्थ हैं, (हेतु) अनेक काल द्रव्यों के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्—संयोगसम्बन्ध के उपयोगी होरही युत-सिद्धि जहां वर्त रही है, उन पदार्थों में आधार आधेय भाव नहीं है, तभी तो काल परमाणुओं में आधार आधेय भाव नहीं है, ज्ञान आत्मा, या घट रूप, अथवा अग्नि उष्णता आदिक समवायसम्बन्धवाले अयुत-सिद्ध पदार्थों का आधार आधेयपना उचित है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि युत-सिद्धत्व हेतुका कूंडा, बेर, थाली, दही, दण्ड, दण्डी, आदि करके व्यभिचार दोष आता है अर्थात्—कुण्ड, बेर, आदि युत-सिद्ध पदार्थों का बहुत अच्छा आधार आधेय भाव बनरहा है जब कि साधारण शरीर वाले अनन्त आत्माओं का भी परस्पर में आधार आधेयपना स्वीकार किया गया है, 'साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च। साहारण जीवाणं साहारणलक्खणं भणियं " एक निगोदिया जीव के आश्रित अनेक जीव वर्त रहे हैं वह भी दूसरों के आश्रित होरहा है, यों संयुक्त जीवों में भी परस्पर आधार आधेय भाव सुलभ है, घोड़ेके ऊपर मनुष्य बैठा हुआ है, चौकी पर पुस्तक है, यहां घोड़ा, मनुष्य, आदिक युत-सिद्ध पदार्थों के भी निर्दोष आधार आधेय भाव देखा जाता है, अतः तुम्हारे हेतु में व्यभिचार दोष तदवस्थ है। अनेक काल द्रव्यों का उदाहरण भी साध्यशून्य है, कारण कि नीचे ऊपर के कालाणुओं में उपचार से आधेय भाव बन जाता है अथवा अनेक काल द्रव्य को उपलक्षण मान कर घोड़ा, मनुष्य, आदि को भी दृष्टान्त कह दिया जायगा, ऐसी दशा में अश्व, पुरुष आदिकों में साध्य दल के नहीं वर्तने से दृष्टान्त साध्य से रीता होगया।

न तानि तत्राधेयानि शश्वदसमवेतत्वे सति सहभावादिति चेन्न, हेतोरन्यथानुपपन्नियमासिद्धेः। न हि यत्र यदाधेयं तत्र शश्वत्समवेतं तदसहभावि च सर्वं दृष्टं व्योमादौ नित्यमहत्त्वादिगुणस्याधेयस्य शश्वत्समवेतस्य सिद्धावपि तदसहभावाप्रतीतेः, कुंडादौ बदरादेराधेयस्य सहभावसिद्धावपि शश्वत्समवेतत्वाप्रसिद्धिरिति समुदितस्य हेतोः साध्यव्यावृत्तौ व्यावृत्त्यभावादप्रयोजको हेतुः। नभःपुद्गलद्रव्याभ्यां व्यभिचाराच्च न हि नभसि पुद्गलद्रव्यमाधेयं न भवति तस्य तदवगाहित्वेन प्रतीतेस्तदाधेयत्वसिद्धेः पयसि मकरादिवत्, तत्र तस्य शश्वदसमवेतत्वे सति सहभावश्च हेतुः प्रसिद्धः। खे पुद्गलद्रव्यस्य सदा समवायासंभवान्नित्यत्वेन सहभावत्वेपि विपक्षेपि भावात् तस्य व्यभिचार एव।

पुनरपि लोकाकाश को धर्म आदिकों का आधार नहीं सिद्ध होने देने वाला पण्डित कह रहा है कि उस लोकाकाश में वे धर्म आदिक द्रव्यें (पक्ष) आश्रित नहीं हैं (साध्य) सर्वदा समवाय सम्बन्ध करके नहीं वर्तमान होरहीं सन्तीं सदा साथ ही वर्तना होने से (हेतु)। अर्थात्—घटमें रूप

कदाचित् समवाय सम्बन्ध से रहता है, आत्मा में ज्ञान कभी कभी समवाय से रहता है, सदा वही रूप या ज्ञान नहीं बना रहता है। दण्ड, पुरुष, घोड़ा, मनुष्य, आदिका सहभाव नहीं है, अतः इनका आधार आधेय भाव बन जाता है किन्तु जिन पदार्थों का सदा असमवेतपना है. और सहभाव है, उन में आधार आधेय भाव नहीं है जैसेकि बैलके डेरे (बांये) और सीधे दांये सींगमें या साथ धरे हुये अनेक घड़ों आदि में आश्रय आश्रयी भाव नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यहतो नहीं कहना क्योंकि हेतुके अन्यथानुपपत्ति स्वरूप नियम की सिद्धि नहीं है, देखिये' जो पदार्थ जिस अधिकरण में आधेय होरहे हैं, वे सभी पदार्थ उस अधिकरण में सर्वदा समवाय सम्बन्ध से वर्तमान होंय और सहभाव रखने वाले नहीं होंय ऐसा कोई नियन नहीं है। आकाश, आत्मा, आदि अधिकरणों में महत्व, संख्या आदि गुण आधेय होरहे सर्वदा समवाय सम्बन्ध से वर्तमान हैं, ऐसे सदा समवेतपन की सिद्धि होते हुये भी उन आधार आधेयों का सहभाव नहीं होना प्रतीत नहीं होता है, तथा कूंडा आदि में बेर आदि आधेयों के सहभाव की सिद्धि होते हुए भी कुण्ड, बदर, आदि संयुक्त पदार्थों का सर्वदा समवेतपना अप्रसिद्ध है। इस प्रकार सत्यन्त विशेषण से युक्त होरहे समुदित हेतु की साध्य की व्यावृत्ति होने पर व्यावृत्तिका अभाव होजाने से तुम्हारा हेतु अप्रयोजक है, यानी अनुकूल तर्क नहीं मिलने से अविनाभावका अभाव होजानेके कारण उक्त हेतु साध्य का प्रयोजक नहीं है, अन्यथानुपपत्ति ही तो हेतु का प्राण है।

तथा आकाश और पुद्गल द्रव्य करके व्यभिचार दोष भी आता है अर्थात्—आकाश और पुद्गल का सदा असमवेपना होते हुए सहभाव है किन्तु आधारआधेयभाव का अभाव नहीं है, यानी आधार आधेय भाव है। आकाश में पुद्गल द्रव्य आधेय नहीं होय, यह नहीं समझ बैठना क्योंकि उस आकाश की उस पुद्गल के अवगाहकपन करके प्रतीति होरही है, अतः पुद्गल को उस आकाश का आधेयपना सिद्ध है जैसे कि नदीजलमें मगर, कछवा, आदिक आधेय होरहे हैं, अतः व्यभिचार स्थल होरहे आकाश और पुद्गल द्रव्य में साध्य नहीं रहा किन्तु उस आकाशमें उस पुद्गल द्रव्य का सदा असमवेतपना होते सन्ते सहभाव होरहा हेतु तो प्रसिद्ध है, द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ संयोग सम्बन्ध होसकता है, समवाय नहीं। अतः आकाशमें पुद्गल द्रव्य के सदा समवाय होने का असम्भव है तथा आकाश द्रव्य और पुद्गल द्रव्य के नित्यपन होने के कारण सहभावपना भी है, ऐसी दशा होने पर भी तुम्हारा हेतु विपक्ष मे भी विद्यमान रहता है, अतः उस हेतु का व्यभिचार दोष तदवस्थ ही है।

तयोः पक्षीकरणेन्न पक्षस्य प्रमाणबाधः कालात्ययापदिष्टश्च हेतुः स्वपुद्गलद्रव्ययोराधाराधेयताप्रतीतेः। पुद्गलपर्याया एव घटादयः स्वस्याधेयाः प्रतीयंते न च द्रव्यमिति चेन्न, पर्यायेभ्यो द्रव्यस्य कथंचिद्व्यतिरेकात् तदाधेयत्वे तस्याप्याधेयत्वसिद्धेः। ततः सूक्तं लोकाकाशधर्मादिद्रव्याणामाधाराधेयता व्यवहारनयाश्रया प्रतिपत्तव्या बाधकाभावादिति निश्चयनयान्न तेषामाधाराधेयता युक्ता व्योमवद्धर्मादीनामपि स्वरूपेवस्थानादन्यस्यान्ययत्र स्थितौ स्वरूपसंकरप्रसंगात्।

यदि पूर्व-पक्षी पण्डित यों कहे कि उन आकाश और पुद्गल द्रव्य को पक्षकोटि में कर लिया

जावेगा यानी आकाश और पुद्गल का भी आधार आधेय भाव नहीं है, हेतु रह गया तो क्या हुआ वहां साध्य भी रह गया कोई व्यभिचार दोष नहीं है। यों इस पक्ष के लेनेपर ग्रन्थकार कहते हैं, कि तुम्हारे पक्ष की प्रमाणों से बाधा उपस्थित होती है, तथा हेतु बाधित-हेत्वाभास हुआ जाता है क्योंकि आकाश और पुद्गल द्रव्य का आधार आधेयपना बालकों तक को प्रतीत होरहा है। कौन विचारशील मनुष्य आकाश पुद्गल, और अन्य पर्याय या द्रव्यों के प्रसिद्ध आधार आधेयपन को मेट सकता है? यदि वह पण्डित यों कहे कि पुद्गल द्रव्य के पर्याय होरहे घर, पट, पुस्तक, आदिक ही आकाश के आधेय होरहे प्रतीत किये जाते हैं, अनादि काल से सहचारी होरहा नित्य पुद्गल द्रव्य तो आकाश का आधेय नहीं है।

अर्थात्—पीछे आया सेवक भले स्वामी के आश्रय पर यातनाओं को सहता हुआ निर्वाह करे किन्तु भाई बन्धुओं का नाता रखने वाला सदा सहचारी प्रभुओं के समान नित्य द्रव्य तो वसी के आश्रित नहीं है। आचार्य कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि पर्यायों से द्रव्य का कथंचित् अभेद है सर्वथा भेद नहीं है जब आकाश के आधेय वे पुद्गल पर्याय हैं तो पर्यायों से अभिन्न उस पुद्गल द्रव्य को भी आधेयपना सध जाता है, सहचारी या भाई बन्धु भी बुद्धिवयोवृद्ध अथवा कुलमान्य या राजा बन गये बन्धु के साथ आश्रित होकर रहते हैं। माता, पिता, गुरुओं और पुत्र शिष्यों में व्यवहार-सम्बन्धी आश्रय आश्रितपना है। आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु भी एक दूसरेके आश्रित या आश्रय होजाते हैं, यहां प्रकरणमें मुख्य आधार आधेय भाव सिद्ध करा दिया है, इस कारण हमने इस सूत्रकी दूसरी वार्तिक में यों बहुत अच्छा कहा था कि लोकाकाश और धर्म आदिक द्रव्यों का व्यवहार नय का आश्रय लेते हुये बहुत अच्छा बन रहा आधार आधेय भाव समझ लेना चाहिये। इस लोक-प्रसिद्ध आधार आधेय भाव का कोई बाधक नहीं है। हां निश्चय नय से तो उन लोकाकाश और धर्म आदिकों का आधार आधेय भाव मानना उचित नहीं है, क्योंकि व्यवहार निश्चय दोनों से जैसे आकाश स्वयं अपने में ही आश्रित होरहा है उसी प्रकार धर्म, अधर्म, पुद्गल आदि द्रव्यों का भी अपने अपने स्वरूप में अवस्थान होरहा है, यदि अन्य पदार्थ की किसी दूसरे पदार्थ में स्थिति मानी जावेगी तो द्रव्यों के अपने अपने निज स्वरूप के संकर दोष हो जाने का प्रसंग आवेगा।

भावार्थ—परमार्थ रूप से सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वरूप में लवलीन हैं, आत्मा में ज्ञान है, पुद्गल में रूप है। लोकाकाश में धर्म आदिक हैं। इस व्यवहार को निश्चय नय नहीं सह सकता है, निश्चय नय निर्विकल्प है। यदि ज्ञान को आत्मामें धरा जायगा तो कारणवश वह ज्ञान आकाश में भी बैठ जावेगा। धर्म द्रव्य में रूप गुण विराज जावेगा, कोई रोक नहीं सकता है बात यह है कि सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वरूप में निमग्न हैं। कुण्ड अपने कुण्ड स्वरूप में है, और जल अपने निज रूप में लवलीन है, घोड़ा स्वकीय अंश में स्थित है और सवार अपने को स्वयं डाटे हुये हैं, यदि सवार अपने शरीर को डाटे हुये नहीं होता तो उसकी अंगुली या बांह अथवा नाक गिर पड़ती किन्तु ऐसा होता हुआ नहीं देखा जाता है, देवदत्त के साथ लगे हुए वस्त्र, खाट, भींत आदि जैसे देवदत्त के स्वात्मभूत नहीं हैं। उसी प्रकार देवदत्त का स्थूल शरीर या सूक्ष्म शरीर भी देवदत्त-आत्मक नहीं है, तभी तो एकेन्द्रिय जीव और सिद्ध जीव में निश्चयनय अनुसार कुछ भी अन्तर नहीं है। यदि द्रव्य में अन्तर होता तो जीव की मोक्ष ही नहीं होसकती। यों अतः लोकाकाश स्व-अंशों में एकरस होरहा है और धर्म आदिक द्रव्य अपनी ही धुन में तन्मय हैं। कोई किसी को अपना स्वरूप बालाग्र मात्र भी

नहीं देता है और न दूसरे का लेता है। यदि स्वरूपों के लेने देने का अनुक्रम होता तो जीव जड़ और जड़ चेतन द्रव्य बन बैठता और यों कितने ही द्रव्यों का नाश कभी का होचुका होता किन्तु ऐसा नहीं है " नैवासतो जन्म सतो न नाशः " यह श्री समन्त-भद्राचार्यका वाक्य है, अतः निश्चय नय अनुसार आधार आधेयभाव नहीं है। हां प्रमाण दृष्टि और व्यवहार नय से आधार आधेय व्यवस्था है।

स्वयं स्थास्नोरन्येन स्थितिकरणमनर्थकं स्वयमस्थास्नोः स्थितिकरणमसंभाव्यं शश-विषाणवत्। शक्तिरूपेण स्वयं स्थानशीलस्यान्येन व्यक्तिरूपतया स्थितिः क्रियत इति चेत्तस्यापि व्यक्तिरूपा स्थितिस्तत्स्वभावस्य वा क्रियेत। न च तावत्तत्स्वभावस्य वैयर्थ्यात् करणव्यापार-स्य, नाप्यतत्स्वभावस्य खपुष्पवत्करणानुपपत्तेः।

निश्चयनय से आश्रय आश्रयी भाव नहीं है इस बातको ग्रन्थकार और भी पुष्ट करते हैं। कि जो स्वयं अपनी स्थिति रखने के स्वभाव को धारे हुये है, उसकी अन्य पदार्थ करके स्थिति का किया जाना व्यर्थ है, क्योंकि वह तो अपनी स्थिति में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है, हां जो स्वयं स्थिति स्वभाव को धारे हुये नहीं हैं। शशा के विषाण समान उसकी स्थिति का किया जाना असम्भव है, भावार्थ—"सत्पुत्रश्चेत् रक्षितधनेन किं। कुपुत्रश्चेत् संचितधनेन किं" सुपुत्र है तो धन एकत्रित करने से क्या लाभ ? और कुपुत्र है तो भी धन इकट्ठा करने से क्या प्रयोजन सधेगा यानी कुछ भी नहीं। इसी प्रकार जो पदार्थ अनादि काल से अपने स्वरूप में स्थित है उसकी लोकाकाश या अश्व आदि करके स्थिति किया जाना व्यर्थ है। और जो खरविषाण के समान स्वयं स्थिति-शील ही नहीं है, सहस्रों अधिकरणों के जुटाने पर भी कहीं उसकी स्थिति नहीं की जा सकती है।

यदि व्यवहार नय का पक्ष लेने वाले यों कहें कि जो पदार्थ शक्तिरूप करके स्वयं स्थिति स्वभाववाला है। अन्य अधिकरणों करके व्यक्तिरूप से उसकी स्थिति कर दी जाती है, यानी अप्रकट रूप से पदार्थ स्वयं स्थिति-शील है, अपने ही आप में रहता है। हां प्रकट रूप से वह अन्य आश्रयों करके अपने ऊपर धर लिया जाता है, यों कहने पर तो ग्रन्थकार पूछते हैं कि उस शक्तिरूप से स्थिति-शील पदार्थ की भी जो दृश्य होरही प्रकट स्वरूप स्थिति करदी जाती है, क्या वह व्यक्ति स्थिति स्व-भाव वाले की व्यक्त स्थिति की जायगी ? अथवा व्यक्त स्थिति स्वभाव से रहित भी पदार्थ को कहीं पर बैठाया जा सकता है। बताओ ? प्रथम पक्ष अनुसार उस व्यक्त स्थिति स्वभाव वाले पदार्थका तो अन्य करके स्थापन करने का व्यापार व्यर्थ है जैसे कि सूर्य को दूसरे करके प्रकाशित करना व्यर्थ है, और द्वितीय पक्ष अनुसार उस प्रकट स्थिति स्वभाव से रीते पदार्थ का भी आकाशपुष्प समान स्थिति करा देना बन नहीं सकता है, असम्भव है, अतः कोई पदार्थ भी किसी अन्य पदार्थ पर स्थित नहीं रहता है " क्व भवान् ? आत्मनि " आप कहां हैं ? इसका सब से बढ़िया उत्तर यह है कि हम अपने ही स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं, सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं स्थितिशील हैं।

कथमेवमुत्पत्तिविनाशयोः करणं कस्यचित्तत्स्वभावस्यातत्स्वभावस्य वा केनचि-त्तत्करणे स्थितिपक्षोक्तदोषानुषंगादिति चेन्न कथमपि तन्निश्चयनयात्सर्वस्य विस्रसोत्पादव्य-यध्रौव्यव्यवस्थितेः। व्यवहारनयादेवोत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः।

कोई व्यवहारी पुरुष कार्यकारणभाव या स्थाप्यस्थापकभाव को मान रहा आचार्य महाराज से प्रश्न करता है कि जब कारणों करके नवीन रीति से स्थिति का करना नहीं होसकता है, तब तो इस प्रकार किसी भी पदार्थ के उत्पत्ति और विनाश का करना भला किस प्रकार बन सकेगा ? क्योंकि उस उत्पत्ति स्वभाव वाले अथवा उस उत्पत्ति स्वभाव को नहीं धारने वाले पदार्थ का यदि किसी भी उत्पादक कारण करके करना होगा तो स्थिति पक्षमें कहे हुये दोषों का प्रसंग आता है, तथा इसी प्रकार से उस विनाश स्वभाव वाले पदार्थ का अथवा नहीं विनाशशील पदार्थ का यदि किसी विनाशक कारण करके सम्पादन किया जायगा तो भी स्थिति पक्षमें कहे जा चुके दोषों का प्रसंग आता है, अर्थात्—उत्पत्ति स्वभाव वाले की उत्पादक कारण द्वारा उत्पत्ति किया जाना व्यर्थ है जैसे कि अग्निमें उष्णता को उपजाना व्यर्थ है, और स्वयं उत्पादस्वभाव को नहीं धारने वाले पदार्थ की खरविषाण के समान उत्पत्ति होने का असम्भव है तथैव नाश--शील पदार्थ का अन्य नाशक पदार्थ करके नष्ट करना व्यर्थ है जैसे कि जल के बबूले का नाश करना अपार्थक है। और खरविषाणसमान विनाशशील को नहीं धारने वाले का नाशक कारणों करके नष्ट किया जाना असम्भव है। आचार्य कहते हैं कि यों कहने पर तो हम यही उत्तर देंगे कि किसी भी प्रकार से वह उत्पत्ति और विनाशका करना नहीं होता है, निश्चयनय से सम्पूर्ण पदार्थोंके उत्पाद, व्यय, और ध्रुवपन की स्वभाव अनुसार व्यवस्था होरही है। अर्थात्—अनादि काल से सम्पूर्ण पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य–आत्मक स्वतःसिद्ध हैं, निश्चय नय अनुसार उत्पत्ति, विनाश और स्थिति होने में किसीभी कारण की अपेक्षा नहीं है, हां व्यवहार नयसे ही पदार्थों की उत्पत्ति आदिकों का कारणों करके सहितपना प्रतीत होरहा है, यानी व्यवहार में उत्पादक कारणों से उत्पत्ति, नाशक कारणों से विनाश और अधिकरण या स्थापकों करके स्थिति होरही देखी जाती है।

क्षणक्षयैकान्ते तु सर्वथा तदभावः शाश्वतैकांतवत्। संवृत्या तु जन्मैव सहेतुकं, न पुनर्विनाशः स्थितिश्चेति स्वरुचिविरचितदर्शनोपदर्शननात्रं नियमहेत्वभावात्।

बौद्धों के मन्तव्य अनुसार यदि एक क्षण ही ठहरते हुये सम्पूर्ण पदार्थों का द्वितीय क्षण में नाश होजाने का एकान्त आग्रह स्वीकार किया जायगा तब तो सभी प्रकारों से उन उत्पत्ति, विनाश, स्थितियों का अभाव होजायगा जैसे कि सर्वथा नित्यपन के एकान्त में उत्पाद आदिक नहीं बनते हैं। बौद्धों ने इस दृष्टान्त को बड़ी प्रसन्नता से इष्ट किया है, कूटस्थनित्य की उत्पत्ति और विनाश तो अलीक हैं ही। ध्रुवपना भी अपरिणामी में नहीं बन पाता है। इसी प्रकार बौद्धों के क्षणिकत्व पक्षमें किसकी उत्पत्ति होय ? कौन पूर्ववर्त्ती उपादान भला किस उपादेय स्वरूप परिणमे ? और किससे किसका विनाश होय ? कौन पूर्व--आकारों का त्याग कर उत्तर--आकारों का उपादान करे ? ध्रुवपना तो असम्भव ही है, क्योंकि ध्रुवपना भी पर्यायअंश है, द्रव्यांश नहीं। कालान्तर--स्थायी परिणामी–पदार्थों में ही तीनों घटित होते हैं।

बौद्ध मान बैठे हैं कि सम्वृति यानी व्यवहार से तो उत्पत्ति ही हेतुओं से सहित है किन्तु फिर विनाश और स्थिति तो कारणों वाले नहीं हैं अर्थात्–उत्पत्ति के लिये कारणों की अपेक्षा है, विनाश होना तो कारणों के विना ही स्वाभाविक है, इसी प्रकार स्थिति पक्ष वाले पण्डित कारणों के

विना हुई ही स्थिति को स्वाभाविक स्वीकार करते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो उन दर्शनिकों का अपनी रूचि अनुसार मनमानी विरचित किये दर्शन (सिद्धान्त) का केवल दिखलाना है, क्योंकि इसमें नियम करने वाले हेतुका अभाव है यदि व्यवहार नयसे उत्पत्ति का कारण इष्ट किया जाता है, तो स्थिति और विनाशका भी कारणों--जन्यपना अनिवार्य होगा और परमार्थ रूप से नाश या स्थिति को वैस्रसिक मानोगे तो उत्पाद को भी कारण-रहित मानना आवश्यक होगा। अर्द्धजरतीय न्याय का पचड़ा लगाना अनुचित है।

ततो नास्ति निश्चयनयाद्भावानामाधाराधेयभावः सर्वथा विचार्यमाणस्यायोगात्कार्यकारणभाववदिति स्याल्लोकाकाशे धर्मादीनामवगाहः स्यादनवगाह इति स्याद्वादप्रसिद्धिः।

तिस कारण से सिद्ध होता है कि निश्चय नय से पदार्थों का " आधार आधेयभाव " नहीं है, क्योंकि परमार्थ रूप से विचार किये जारहे आधार आधेयपन का सभी प्रकारों से अयोग है जैसे कि निश्चय नय अनुसार कार्यकारणभाव की घटना नहीं होसकती है, न कोई किसी को बनाता है, और न कोई किसी से बनता है, कोई किसी का वाध्य या बाधक नहीं है, प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव, गुरु-शिष्यभाव, जन्य-जनकभाव, ये सब व्यवहारनय अनुसार हैं। इस प्रकार स्यात् यानी कथंचित् व्यवहार नयकी अपेक्षा लोकाकाश में धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों का अवगाह होरहा है और कथंचित् निश्चय नय के विचार अनुसार लोशाकाश में धर्म आदिकों का अवगाह नहीं है, इस प्रकार अजेय स्याद्वाद सिद्धान्त की सम्पूर्ण जगत् में प्रसिद्धि होरही है।

यहां तक द्रव्यों के अवगाह देने और प्राप्त करने का प्रकरण समाप्त हुआ।

अग्रिम सूत्र का अवतरण यों है कि यहां पर कोई यों आशंका कर बैठे कि धर्म आदिक छहों द्रव्य एक स्थान में आकाश-प्रदेशों पर यदि विराज रहे हैं तब तो धर्म आदिकों का प्रदेशों के परस्पर प्रवेश होजाने से एकपना प्राप्त होजाता है ? इसका उत्तर यह है कि परस्पर अत्यन्त संश्लेष होने पर भी कोई द्रव्य अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है। इस पर आशंका करने वाला कहता कि यदि इस प्रकार धर्म आदिकों का स्वभाव न्यारा न्यारा है तो वह स्वभाव--भेद ही अति शीघ्र क्यों नहीं कह दिया जाता है ? इस प्रकार संकेत करने पर ही मानों सूत्रकार महाराज अगले सूत्र को कहते हैं—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

जीव और पुद्गलों का गति—स्वरूप उपग्रह होना धर्म द्रव्य का उपकार है तथा जीव और पुद्गलों का (अथवा सम्पूर्ण द्रव्यों का) स्थिति--स्वरूप उपग्रह होना अधर्म द्रव्य का उपकार है। भावार्थ-द्रव्यों की गति कराने में उदासीन कारण धर्म द्रव्य है और स्थिति कराने में उदासीन कारण अधर्म द्रव्य है।

द्रव्यस्य देशांतरप्राप्ति-हेतुः परिणामो गतिः, तद्विपरीता स्थितिः। उपग्रहोऽनुग्रहः गतिस्थिती एवोपग्रहौ स्वपदार्थावृत्तिर्न पुनरन्यपदार्थाधर्माधर्मावित्यवचनात्। नाप्यन्यतरपदार्थौ गतिस्थित्युपग्रहाविति द्विवचननिर्देशात्। तस्यां हि सत्यामुपग्रहस्यैकत्वादेकवचनमेव स्यात्। गतिस्थित्योरुपग्रहो गतिस्थित्युपग्रह इति भावसाधनस्योपग्रहशब्दस्य षष्ठीवृत्तेर्घटनात्। तस्य कर्मसाधनत्वे स्वपदार्थवृत्तेरेवोपपत्तेः गतिस्थिती एवोपगृह्येते इत्युपग्रहौ।

द्रव्य की प्रकृत देश से देशान्तर में प्राप्ति कराने का हेतु होरहा परिणाम गति कहाजाता है और द्रव्य को उसी देश में ठहराये रखने का कारणभूत होरहा उस गति स्वरूप परिणाम से विपरीत परिणाम तो स्थिति है, इस सूत्र में पड़े हुये उपग्रह शब्द का अर्थ अनुग्रह है, "गतिस्थित्युपग्रहौ" शब्द की निरुक्ति तो यों करनी चाहिये प्रथम "गतिश्च स्थितिश्च" यों द्वन्द्व-वृत्ति द्वारा "गतिस्थिती" शब्द बना लिया जाय पश्चात् गति--स्थिती ही स्वरूप जो दो "उपग्रह" हैं यों कर्मधारय के उपयोगी विग्रह को कर स्वकीयपदों के अर्थ को प्रधान रखने वाली समास वृत्ति करली जाय किन्तु फिर गतिस्थिती जिनके उपग्रह हैं, ऐसी स्वघटकावयव पदार्थों से अतिरिक्त अन्य पदार्थ को प्रधान करने वाली बहुव्रीहिसमास वृत्ति तो नहीं की जाय, कारण कि "धर्माधर्मौ" ऐसा प्रथमान्तरूप सूत्रकार करके नहीं कहा गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थात्—गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मौ" ऐसा होता तब तो जिनके उपग्रह गति और स्थिति हैं वे धर्म और अधर्म हैं, यह अर्थ सुघटित होजाता किन्तु सूत्रकार ने "धर्माधर्मयोः" ऐसा षष्ठ्यन्त पद दिया है, अतः स्वपदार्थप्रधान समास करना अच्छा है। तथा दो में से किसी एक ही पदार्थ को प्रधान रखने वाली वृत्ति भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि सूत्रकार ने "गतिस्थित्युपग्रहौ" इस प्रकार प्रथमा के द्विवचनान्त रूप का प्रयोग किया है, अन्यतर पदार्थ को प्रधान रखनेवाली उस वृत्ति के करने पर तो उपग्रह का एकपना होने से एक वचन ही होता। अर्थात्—गति और स्थिति के उपग्रह यों एक ही उत्तर पदार्थ को प्रधान करने वाली षष्ठी तत्पुरुषवृत्ति की जाती तो उपग्रह भाव का एकपना होने से "गतिस्थित्युपग्रहः" ऐसा एकवचन का कथन किया जाता। भाव पदार्थ को दो या बहुत प्रकार करके कथन करना अनुचित है। गति और स्थिति का उपग्रह करना गतिस्थित्युपग्रह है, यों उप उपसर्गपूर्वक ग्रह धातु से भाव में अप् प्रत्यय कर साधे गये उपग्रह शब्द की षष्ठी समास वृत्ति से घटना होसकती थी। द्विवचन होने के कारण उस उपग्रह शब्द को यदि कर्म में अप् प्रत्यय कर साधा जायगा तब तो अपने घटकावयव पदार्थों को प्रधान रखने वाली कर्मधारय वृत्ति से ही "गतिस्थित्युपग्रहौ" शब्द की सिद्धि होसकती है जबकि गति और स्थिति ही तो अनुग्रह प्राप्त किये जारहे हैं, इस कारण कर्म में अप् प्रत्यय करके द्विवचनान्त "उपग्रहौ" शब्द ठीक सध जाता है।

न च कर्मसाधनत्वेप्युपग्रहशब्दस्योपकारशब्देन सह सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः गतिस्थित्युपग्रहौ उपकार इति उपकारशब्दस्यापि कर्मसाधनत्वात्। न चैवमुपकारशब्दस्य द्विवचनप्रसंगः सामान्योपक्रमादेकवचनोपपत्तेः पुनर्विशेषापक्रमेपि तदपरित्यागात् "साधोः कार्यं तपःश्रुते" इत्यादिवत्।

यहां कोई यह शंका उपस्थित करे कि उपग्रह शब्द की कर्म में प्रत्यय कर सिद्धि करने पर भी उपकार शब्द के साथ यों समान अधिकरणपना नहीं बन सकता है कि दो गति स्थितियों के दो उपग्रहीत हुये जो हैं वह एक उपकार है, अर्थात्-भावसाधन करने पर तो समान--अधिकरणपना बनता ही नहीं था जब कि उपकार तो धर्म और अधर्म में वर्तता है और गति स्थितियां तो जीव-पुद्गलों में हैं, इस कारण कर्मसाधन निरुक्ति की गयी फिरभी कर्म में साधे गये उपग्रह शब्द का भाव में साधे गये उपकार के साथ समान अधिकरणपना नहीं बन सकता है ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि विधेयदलमें पड़ा हुआ उपकार शब्द भी कर्म में घञ् प्रत्यय कर साधा गया है। फिर कोई यदि यों आक्षेप करै कि उपग्रह के समान इस प्रकार तो उपकार शब्द के भी द्विवचन होजानेका प्रसंग आवेगा ? आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कह सकते हैं क्योंकि संग्रहनय अनुसार सामान्य का उपक्रम कर देने से एक वचन का प्रयोग बनना सध जाता है, पश्चात् विशेषों का प्रकरण होने परभी उस एक वचन का परित्याग नहीं किया जाता है जैसे कि साधु का कार्य तपस्या करना और शास्त्र अभ्यास करना है, " साधोः कार्यं तपःश्रुते " " मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" इत्यादि स्थलों पर सामान्यमें उपात्त किया शब्द भलेही विशेषों का उपक्रम होने पर भी अपनी गृहीत संख्या को नहीं छोड़ता है।

ननु स्वपदार्थायां वृत्तावुपग्रहवचनमनर्थकं गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकार इतीयता पर्याप्तत्वात्। धर्माधर्मयोरनुग्रहमात्रवृत्तित्वख्यापनार्थं गतिस्थित्योरनिर्वर्तककारणत्वप्रतिपत्त्यर्थं चोपग्रहणमित्यप्ययुक्तं, गतिस्थिती धर्माधर्मकृते इत्यवचनादेव तत्सिद्धेः। उपकारवचनाज्जीव-पुद्गलानां गतिस्थिती स्वयमारभमाणानां धर्माधर्मौ तदनुग्रहमात्रवृत्तित्वादुपकारकाविति प्रतिपत्तेः। यथासंख्यनिवृत्त्यर्थमुपग्रहवचनमित्यप्यसारं, तद्भावे तदनिवृत्तेः। शक्यं हि वक्तुं जीवस्य गत्युपग्रहो धर्मस्योपकारः पुद्गलस्य स्थित्युपग्रहोऽधर्मस्योपकार इति यथासंख्यमुपग्रह-वचनसद्भावेपि जीवपुद्गलानां बहुत्वाच्च द्वाभ्यां समत्वाभावादेव यथासंख्यनिवृत्तिसिद्धिर्न तदर्थं तद्वचनं युक्तं। धर्माधर्माभ्यां यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थं गतिस्थित्युपग्रहाविति वचनं व्यवतिष्ठते तेन गत्युपग्रहो धर्मस्य स्थित्युपग्रहः पुनरधर्मस्येति प्रतीयते।

पुनः यहां किसी की शंका है कि स्वकीय पदार्थों को प्रधान रखने वाली समास वृत्ति के करने पर तो सूत्र में उपग्रह शब्द का निरूपण करना व्यर्थ पड़ता है " गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः,, गति और स्थिति करादेना तो धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है, यों केवल इतना कहदेने से ही तात्पर्य की सिद्धि होजाती है। सम्भव है यहां कोई यों समाधान कहै कि पदार्थों की गति और स्थिति के करने में धर्म और अधर्म की केवल अनुग्रह करा देना ही प्रवृत्ति है इस भावको प्रसिद्ध कराने के लिये सूत्रकार ने उपग्रह शब्द डाला, तथा गति और स्थितिके सम्पादक कारण धर्म और अधर्म नहीं हैं इस बातकी प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्र में उपग्रह शब्द ग्रहण कियागया है। शंकाकार कहता है कि उपग्रह शब्द का यह भी प्रयोजन दिखलाना युक्ति--रहित है क्योंकि धर्म करके की गयी गति और स्थिति हैं ऐसा सूत्र कथन नहीं होनेसे ही उस प्रयोजन की सिद्धि होजाती है। अर्थात्-उनको उक्त दो प्रयोजन अभीष्ट होते तो "गतिस्थितो धर्माधर्मकृते " ऐसा सूत्र कर देते किन्तु सूत्रकार ने ऐसा उपदेश नहीं दिया है अतः

सिद्ध होजाता है कि गति और स्थितिके प्रधान कर्ता धर्म और अधर्म नहीं हैं। सूत्र में उपकार शब्द का कथन कर देने से यों प्रतिपत्ति को प्रेरक होकर स्वयं आरम्भ कर रहे जीव ,और पुद्गलों की उन गति
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
और स्थितियों में केवल अनुग्रह करने की प्रवृत्ति होजाने के कारण धर्म और अधर्म उपकारक हैं।

पुनः शंकाकार अपनी शंका को पुष्ट कर रहा है कि श्री अकलंक देव के मन्तव्य अनुसार यदि कोई यों कह बैठे कि यथासंख्य की निवृत्ति करने के लिये सूत्र में उपग्रह शब्द कह गया है। अर्थात्-गति और स्थिति तो धर्म और अधर्म का उपकार है केवल इतना ही कह दिया जाय तो जीवों की गति परिणति करा देना धर्म का उपकार होसकेगा यों पुद्गलों की गति-परिणति धर्म का उपकार नहीं हो सकेगा तथा पुद्गलोंकी स्थिति करा देना धर्मका उपकार बन जायगा जीवोंकी स्थिति करा देना अधर्म का उपकार नहीं होसकेगा, यों संख्याक्रम अनुसार प्रतीति होजायगी उसकी निवृत्तिके लिये उपग्रह शब्द कहा गया है वह व्यर्थ होकर ज्ञापन कर देता है कि यथासंख्य नहीं है।

शंकाकार कहता है कि यह किसी का कहना भी निस्सार है क्योंकि उस उपग्रह शब्द का सद्भाव होने पर भी उस यथासंख्य की निवृत्ति नहीं होनेपाती है जब कि उपग्रह शब्द के होने पर भी यों कहा जा सकता है कि जीवकी गतिमें अनुग्रह करना धर्म द्रव्यका उपकार है और पुद्गल की स्थिति-स्वरूप अनुग्रह करना अधर्म द्रव्यका उपकार है। इस प्रकार उपग्रह शब्दका पदभाव होने पर भी वह यथासंख्य बनारहता है, निवृत्त नहीं होने पाता है। हाँ एक बात यह है कि जीव और पुद्गल तो बहुत हैं अर्थात् "जीवाश्च" रूपिणः पुद्गलाः, एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानां, असंख्येयभागादिषु जीवानां,, इन सूत्रोंके अनुसार और द्रव्योंकी गणना अनुसार जीव और पुद्गल बहुत हैं धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्यों के अनुसार उन बहुतों की समता नहीं होसकती है इस ही कारण यथासंख्यकी निवृत्ति होना सिद्ध होजाता है फिर उस यथासंख्य की निवृत्ति के लिये तो उस उपग्रह शब्द का कथन करना युक्त नहीं है।

भावार्थ—धर्म और अधर्मके समान यदि जीव और पुद्गल भी एक एक द्रव्य होकर दो ही होते तबतो यथासंख्य लागू होता किन्तु जब जीव और पुद्गल अनन्त द्रव्य हैं तो ऐसी दशामें अनन्तों का दो के साथ सामानाधिकरण्य नहीं बनसकता है,अतः जीवोंकी गति धर्मका उपकार और पुद्गलोंकी स्थिति अधर्म का उपकार, यह अर्थ करना ही अलीक है। हां उपग्रह शब्द के नहीं ग्रहण करने पर भी जीव और पुद्गलों की गति करना धर्मका और जीव या पुद्गलोंकी स्थिति करना अधर्म का उपकार है, यह अर्थ हो सम्पन्न होता है फिर सूत्रकार ने उपग्रह शब्द क्यों दिया ? यहां तक आक्षेप करते हुये शंकाकार ने अपने मतको पुष्ट किया है। अब ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि धर्म और अधर्मके साथ यथासंख्यगति और स्थितिकी प्रतिपत्ति होय इसलिये सूत्रकारका 'गति स्थित्युपग्रहौ,यों उपग्रह शब्दका निरूपण करना व्यवस्थित होजाता है तिस कारण इस समीचीन अर्थ की प्रतिपत्ति होजाती है कि गति स्वरूप अनुग्रह करना धर्म का उपकार है और स्थिति रूप अनुग्रह करना फिर अधर्म का उपकार है। भावार्थ--यदि सूत्र में उपग्रह शब्द नहीं डाला जाता तो गति और स्थिति दोनों ही धर्म के उपकार बन बैठते तथा अधर्म के उपकार भी गति और स्थिति दोनों होजाते, अतः यथासंख्य की प्रतिपत्ति कराने के लिये उपग्रह शब्द सार्थक है। श्री अकलंक देव के विचार--अनुसार यथासंख्यकी निवृत्तिके लिये उपग्रह शब्द का प्रयोग करना बताया साथक नहीं हैं।

ननु गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मस्य च प्रत्येकमिति कश्चित्, सोपि न स्थितवादी उपकाराविति वचनादपि तत्सिद्धिः गतिरुपकारो धर्मस्य स्थितिरधर्मस्येत्यभिसंबंधत्वात्।

यहाँ कोई पुनः प्रश्न करता है कि 'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्मस्याधर्मस्य च प्रत्येकं' गति और स्थिति रूप उपग्रह करना तो प्रत्येक होकर धम और अधर्म का उपकार है, इस प्रकार कोई पण्डित आलाप कर रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि वह भी व्यवस्थित पदार्थ के कहने की टेव को रखने वाला नहीं है, क्योंकि " उपकारौ " इस कथन से भी उस प्रयोजन की सिद्धि होजाती है, गति-स्वरूप उपकार धर्म का और स्थिति-स्वरूप उपकार तो अधर्म का है यों दोनों में दो ओरसे सम्बन्ध होजायगा इसके लिये उपग्रह शब्द डालना या प्रत्येक शब्द डालना निष्प्रयोजन है " गतिस्थित्युपकारौ धर्माधर्मयोः " इतना ही सूत्र पर्याप्त है।

तत्किमिदानीयुपग्रहवचनं ? न कर्तव्यं। कर्तव्यमेवोपकारशब्देन कार्यसामान्यस्याभिधानात् गतिस्थित्युपग्रहाविति कार्यविशेषकथनात्। तेन धर्माधर्मयोर्न किंचित्कार्यमस्तीति वदन्निवार्यते धर्माधर्मयोरुपकारोस्तीति वचनात्। किं पुनस्तत्कार्यमित्यारेकायां गतिस्थित्युपग्रहाविन्युच्यते गतिस्थितीः इति तयोस्तदनिर्वर्त्यत्वात् धर्माधर्मौ हि न जीवपुद्गलानां गतिस्थिती निर्वर्तयतः। किं तर्हि ? तदनुग्रहावेव।

पुनरपि कोई आक्षेप करता है कि तब तो ऐसा अवसर उपस्थित होने पर उपग्रह शब्द क्यों बोला जाता है ? सूत्र में उपग्रह का ग्रहण तो नहीं करना चाहिये यथा-संख्य की प्रतिपत्ति भी उपग्रह शब्द के विना होसकती है जैसे कि अभी आपने प्रतिपादन कर दिया है कि धर्म का उपकार जीव पुद्गलों की गति करा देना और अधर्म का उपकार जीवपुद्गलों की स्थिति करा देना है। अब ग्रन्थकार सिद्धान्त उत्तर कहते हैं कि सूत्र में उपग्रह शब्द का ग्रहण करना ही चाहिये कारण कि उपकार शब्द करके कार्यसामान्य का कथन किया गया है और " गतिस्थित्युपग्रहौ " यों उपग्रह शब्द करके कार्यविशेष का प्ररूपण सूत्रकार द्वारा किया गया है, तिस कारण धर्म और अधर्म का कोई कार्य ही नहीं है, इस प्रकार कह रहे किसी सांख्य या अन्य वादी के मन्तव्य का निवारण कर दिया जाता है क्योंकि धर्म और अधर्म का कुछ न कुछ उपकार अवश्य है, ऐसा सामान्य रूप से कथन किया गया है। इस पर फिर कोई यों प्रश्न करे कि उन धर्म और अधर्म का कार्य क्या है ? ऐसी आशंका होने पर " गतिस्थित्युपग्रहौ " यहां उपग्रह शब्द को डाल कर उद्देश्य दल कह दिया गया है, यानी धर्म और अधर्म के विशेषरूपसे कार्य गति-स्वरूप उपग्रह और स्थिति-स्वरूप उपग्रह हैं, यदि उपग्रह को नहीं कर " गतिस्थिती " इतना ही कहा जाता तो विशेष कार्यों की प्रतिपत्ति नहीं होसकती थी। जैन सिद्धान्त अनुसार प्रत्येक वस्तु किन्हीं न किन्हीं सामान्य और विशेष कार्यों का प्रति समय सम्पादन करती रहती है, सामान्य के विना विशेष और विशेष के विना सामान्य खरविषाणवत् है, अतः गति और स्थिति तो धर्म और अधर्म के विशेष कार्य हैं। यहां सामान्य कार्य उपकार का और विशेष कार्य गति स्थितिओं का कोई समय भेद या स्वरूपभेद नहीं है, केवल सामान्य के साथ तदात्मकविशेष और विशेष

के साथ कथंचित् तदात्मक सामान्य की प्रतिपत्ति कराते हुये ग्रन्थकार ने सामान्य और विशेष दो कार्यों को दिखला कर सूत्रकार के उपग्रह शब्द को सार्थक सिद्ध कर दिया है।

यहां इतना विवेक रखना चाहिये कि यद्यपि धर्म और अधर्मके उपकार गति और स्थिति स्वरूप अनुग्रह हैं फिर भी वे दोनों गति स्थितियांउन धर्म और अधर्म द्रव्य करके स्वतंत्रतया सम्पादित नहीं की जाती हैं, कारण कि धर्म और अधर्म नियम से जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति को नहीं बनादेते हैं, यानी प्रेरक कारण नहीं हैं तो फिर धर्म अधर्म ये गति स्थिति में क्या करते हैं ? इसका उत्तर यही है कि धर्म और अधर्म उन गति और स्थितिओंका अनुग्रह ही करते हैं, चलाकर बनाते नहीं हैं। गति और स्थिति के सम्पादक कारण जीव और पुद्गल ही हैं धर्म और अधर्म तो उन बन रही गति स्थितियों पर केवल अनुग्रह कर देते हैं। जैसे कि मछली के गमन में जल और पथिकों के ठहराने में छाया अनुग्राहक मात्र है, कारक नहीं। यह बात उपग्रह शब्दके डालने पर ही व्यवस्थित होसकती है, अनुग्राहक और प्रेरक कारण में महान् अन्तर है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कुत इत्येवं।

ग्रन्थकार के प्रति किसी का प्रश्न है कि इस प्रकार धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य के सामान्य कार्य और विशेष कार्य दो हैं, यह किस प्रमाण से समझा जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार उत्तर-वार्तिकों को कहते हैं।

सकृत्सर्वपदार्थानां गच्छतां गत्युपग्रहः।
धर्मस्य चोपकारः स्यात्तिष्ठतां स्थित्युपग्रहः ॥ १ ॥
तथैव स्यादधर्मस्यानुमेयाविति तौ ततः।
तादृक्कार्यविशेषस्य कारणाव्यभिचारतः ॥ २ ॥

युगपत् गमन करने वाले सम्पूर्ण पदार्थों की गति करने में अनुग्रह करना तो धर्म द्रव्य का उपकार है और तिस ही प्रकार ठहर रहे सम्पूर्ण पदार्थों की अक्रम से होरही स्थिति में अधर्म द्रव्यका उपकार समझा जायगा, इस कारण वे धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य दोनों उन गत्युपग्रह तथा स्थित्युपग्रह कार्यों करके अनुमान करने योग्य हैं, जैसेकि धूमसे अग्नि का अनुमान कर लियाजाता है तिस प्रकार के कार्य विशेष का स्वकीय कारणों के साथ कोई व्यभिचार नहीं है। अर्थात्-गमन करने वाले सम्पूर्ण पदार्थों का युगपत् गमन और ठहरने वाले अखिल पदार्थों का युगपत् ठहरे रहना इन दोनों कार्यों के अव्यभिचरित कारण नियत हो रहे धर्म और अधर्म द्रव्य हैं। इन्द्रियग्राह्य अविनाभावी कार्य हेतु से अतीन्द्रिय कारण की ज्ञप्ति कर ली जाती है।

क्रमेण सर्वपदार्थानां गतिपरिणामिना गत्युपग्रहस्य स्थितिपरिणामिना स्थित्युपग्रहस्य

च चित्यादिहेतुकस्य दर्शनान्न धर्माधर्मनिबंधनत्वमिति चेन्न सकृद्ग्रहणात्। सकृदपि केषांचित्पदार्थानां तस्य चित्यादकृतत्वसिद्धेश्च तान्निमित्तत्वमित्यपि न मंतव्यं, सर्वग्रहणात्। ततः सकृत्सर्वपदार्थगतिस्थित्युपग्रहौ सर्वलोकव्यापिद्रव्योपकृतौ सकृत्सर्वपदार्थगतिस्थित्युपग्रहत्वान्यथानुपपत्तेरिति कार्यविशेषानुमेयौ धर्माधर्मौ। न हि धर्माधर्माभ्यां विना सकृत्सर्वार्थानां गतिस्थित्युपग्रहौ संभाव्येते, यतो न तदव्यभिचरिणौ स्यातां

हेतु दलमें पड़े हुये सकृत् और सर्व इन दो पदों का कृत्य यों समझना कि यदि कोई कहे गति स्वरूप परिणत होरहे जीव और पुद्गल स्वरूप सम्पूर्ण पदार्थों के क्रम से गति उपग्रह का कारण तो पृथिवी, जल, आदि द्रव्य हैं और स्थिति परिणत होरहे सम्पूर्ण पदार्थों की क्रम क्रम से स्थिति अनुग्रह करने के हेतु तो भूमि, वृक्षच्छाया, आदि होसकते हैं, ऐसा देखा जाता है अतः गति-उपग्रहका कारण धर्मद्रव्य और स्थिति-उपग्रहका कारण अधर्मद्रव्य नहीं मानना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यहतो नहीं कहना क्योंकि सकृत् शब्द का ग्रहण होरहा है सम्पूर्ण पदार्थों की क्रम से गति स्थितियां भले ही पृथिवी आदिक से होजांय किन्तु अक्रम से गति और अक्रम से स्थिति तो धर्मद्रव्य करके ही होसकती है। तथा यदि फिर भी कोई यों कहे कि किन्हीं किन्हीं थोड़े से पदार्थों की वह गति और स्थितिओं का किया जाना पृथिवी आदिकसे भी सिद्ध होसकता है,अतः उन गति स्थितियोंके निमित्त कारण पृथिवी आदिक बन बैठेंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी नहीं मान बैठना चाहिये क्योंकि हेतु कोटि में सर्व का ग्रहण होरहा है सम्पूर्ण द्रव्योंकी युगपत् गति या स्थिति तो पृथिवी आदिक से नहीं होसकती है, धर्म या अधर्म द्रव्य से ही होगी तिस कारण से यों अनुमान बनाया जाता है कि युगपत् होरहा सम्पूर्ण पदार्थों का यथायोग्य गति-अनुग्रह और सर्व पदार्थों का युगपत् स्थिति-अनुग्रह ये दोनों (पक्ष) सम्पूर्ण लोक में व्यापक होरहे द्रव्यों करके उपकृत हैं (साध्य) क्योंकि अक्रम करके सम्पूर्ण पदार्थों की गति और स्थिति रूप अनुग्रह होना अन्यथा यानी लोकव्यापक द्रव्यों के विना नहीं होसकता है (हेतु) इस प्रकार कार्य विशेषों करके धर्म और अधर्म द्रव्य अनुमान कर लेने योग्य हैं। कारण कि धर्म और अधर्म के विना युगपत् सम्पूर्ण पदार्थों के गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह सम्भवनेयोग्य नहीं हैं जिससे कि वे गति उपग्रह और स्थिति-उपग्रह होरहे उस लोक-व्यापक द्रव्यके साथ अव्यभिचारी नहीं होते। यानी उक्त हेतुका अपने साध्यके साथ निर्दोष अविनाभाव है कोई व्यभिचार विरोधादि दोषों की सम्भावना नहीं है।

ताभ्यां विनैव परस्परतः संभाव्येते ताविति चेत् किमिदानीं युगपद्गच्छतां सर्वेषां तिष्ठतो हेतवः पर्वे, तिष्ठतां च सकृत्सर्वेषां गच्छंतः सर्वेषां आहोस्वित् केचिदेव केषांचित् ? नाद्यः तावत्प्रथमः पक्षः परस्पराश्रयप्रसंगात् नापि द्वितीयः श्रेयान् सर्वार्थगतिस्थित्युपग्रहयोः सर्वलोकव्यापि द्रव्योपकृतत्वेन साध्यत्वात् प्रतिनियतार्थगतिस्थित्यनुग्रहयोः कादाचित्कयोः प्रतिविशिष्टयोः चित्यादिद्रव्योपकृतत्वाभ्युपगमात्।

यदि यहाँ कोई प्रतिवादी यों कहे कि प्रकृत हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव नहीं है उन धर्म, अधर्म द्रव्यों के विना ही परस्पर करके सम्पूर्ण अर्थों के वे गतिअनुग्रह स्थिति-अनुग्रह सम्भव जाते हैं, घोड़ा सवार को चला रहा है, सवार घोड़े को चला रहा है, पर घोड़ा सवार को ठहरा लेता है और सवार घोड़ेको ठहरा लेता है। पथिक को छाया ठहरा लेती है, वायु तृणोंको उड़ादेती है मूढ़ा या कुर्सी मनुष्यको बैठाये रखता है। ठहरा हुआ लाल सिगनल या नहीं झुका हुआ सिगनल रेलगाड़ी को ठहरा लेता है और हरा या झुका हुआ सिगनल रेलगाड़ीकी गति होजाने में अनुग्राहक है तथा गमन कर रही वायु परदे वाली नावकी गतिको करादेती है और निषेधके लिये हिलाया गया हाथ आगन्तुक को ठहरा देता है, यों गमन करने वाले पदार्थ दूसरोंकी स्थिति करानेमें अथवा स्थिति वाले पदार्थ दूसरोंके गमन करानेमें सहायक होरहे हैं, इत्यादिक अनेक पदार्थ परस्पर गमन और स्थितिको करा रहे हैं इसके लिये धर्म और अधर्म द्रव्य कुछ भी उपयोगी नहीं।

यों कहने पर तो आचार्य विकल्प उठाते हैं कि इस अवसर पर युगपत् गमन कर रहे सम्पूर्ण पदार्थों के गतिअनुग्रह में कारण क्या सम्पूर्ण ठहर रहे पदार्थ हैं ? और एक साथ ठहर रहे सम्पूर्ण पदार्थों के स्थिति-अनुग्रहमें कारण क्या सभी गमन कर रहे पदार्थ हैं ? अथवा क्या कुछ थोड़े से पदार्थ ही कुछ अन्य थोड़े से पदार्थों के गति-अनुग्रह या स्थिति-अनुग्रह करने में कारण माने गये हैं ? बताओ पहिला पक्ष ग्रहण करना तो ठीक नहीं पड़ेगा क्यों कि अन्योन्याश्रय दोष होजाने का प्रसंग आता है गमन करने वाले पदार्थोंके कारण ठहरने वाले होंय और ठहरने वालोंके कारण गमन करने वाले पदार्थ होंय, यह अन्योन्याश्रय स्पष्ट है। सम्पूर्ण पदार्थ तब गमन कर सकें जबकि सभी पदार्थ ठहरे हुऐ होंय और सभी पदार्थ ठहरें कब, जब कि सभी पदार्थ गमन करें, यह असम्भव-गर्भित परस्पराश्रय दोष है तथा दूसरा पक्ष ग्रहण करना भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण अर्थों के गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह को सम्पूर्ण लोक में व्याप रहे द्रव्य द्वारा उपकृतपने करके साध्य किया गया है प्रतिनियत हुये कतिपय अर्थों के कभी कभी होने वाले प्रत्येक विशिष्ट होरहे गति-अनुग्रह और स्थिति-अनुग्रह का पृथवी आदि द्रव्यों द्वारा उपकृतपना हम जैन स्वीकार कर चुके हैं, अतः कतिपय द्रव्य किन्हीं परिमित द्रव्यों के अनुग्राहक हैं, यह दूसरा पक्ष लेना उचित नहीं है।

गगनोपकृतत्वात् सिद्धसाधनमिति चेन्न, लोकालोकविभागाभावप्रसंगाल्लोकस्य सावधित्वसाधनात् निरवधित्वे संस्थानवत्त्वविरोधात् प्रमाणाभावाच्च।

यहां कोई आक्षेप करता है कि जैनों द्वारा दिये गये अनुमान में सिद्धसाधन दोष है। क्योंकि सर्वत्र लोकालोक में व्याप रहे आकाश द्रव्य करके उपकृत होरहे गत्युपग्रह और स्थित्युपग्रह सिद्ध ही हैं। इस कल्पित होरहे आकाश के द्वारा साधने योग्य कार्य के लिये नवीन धर्म अधर्म द्रव्योंकी कल्पना करना ठीक नहीं है, आकाश करके अवगाह और गति--अनुग्रह, स्थिति--अनुग्रह ये कार्य निपटा दिये जायंगे- अतः आप जैन भाई सिद्ध पदार्थ आकाश का ही साधन कर रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं. कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों आकाश के मानने पर और धर्म, अधर्म, द्रव्यों के नहीं स्वीकार करने पर तो लोक और अलोक के विभाग के अभाव का प्रसंग होजावेगा, जहां तक आकाश में धर्म, अधर्म द्रव्य

पाये जाते हैं उतना मध्यवर्ती तीनसौ तेतालीस घन-राजू प्रमाण लोकाकाश है, शेष अनन्तानन्त रज्जु लम्बा, चौड़ा, मोटा, अलोकाकाश है, लोक को पूर्व प्रकरणों में मर्यादा-सहित साधा जाचुका है यदि लोक को मर्यादा-रहित माना जायगा तो विशेष आकार से सहितपन का विरोध होजावेगा तथा लोक को मर्यादा-रहित साधने वाले प्रमाणों का भी अभाव है।

भावार्थ—अलोकाकाश के सब ओर से ठीक बीच में यह लोक अनादि काल से विरचित है, जोकि चौदह राजू ऊंचा और दक्षिण उत्तर सात राजू लम्बा है। हां लोककी पूर्व पश्चिम में नीचे सात राजू उसके ऊपर सात राजू तक क्रमसे घटकर एक राजू और वहांसे क्रमसे बढ़ कर साढे दस राजू तक पांच राजू तथा पुनः क्रम से घट कर चौदह राजू की ऊंचाई तक एकराजू चौड़ाई है। लोक के छहों ओर वातवलय हैं, इस प्रकार पांव फैलाकर और कमर पर हाथ रख खड़े हुये पुरुष के समान लोक की आकृति है, जो कि उक्त प्रमाण अनुसार छहों ओर मर्यादा सहित है। इस लोक की मर्यादाको धर्म द्रव्य और अधर्म ने ही व्यवस्थित किया है। अन्यथा सर्वत्र जीव और पुद्गलों की अव्याहत गति या स्थिति होजाने से लोक और अलोक का कोई विभाग नहीं होसकेगा। एक बात यहां यह भी विचारने की है, कि सम्पूर्ण आकाश द्रव्य अनन्तानन्त-प्रदेशी है अनन्त का अर्थ कोई पण्डित मर्यादा रहित होरहा करते हैं, सम्भव है इसी प्रकार असंख्यात का अर्थ संख्या से अतिक्रान्त होरहा करते होंय किन्तु यों अर्थ करना स्थूल दृष्टि से भले ही थोड़ी देर के लिये मान्य कर लिया जाय परन्तु सिद्धान्त दृष्टिसे उक्त दोनों अर्थ अनुचित हैं। असंख्यात की भी संख्या की जासकती है, और अनन्तानन्त भी सर्वज्ञ ज्ञान द्वारा गिने जा चुके मर्यादित हैं जब कि उत्कृष्ट संख्यात को गिना जा सकता है। तो उससे एक अधिक जघन्य परीतासंख्यात को क्यों नहीं गिना जा सकेगा ? इसी प्रकार जब असंख्यातासंख्यात की मर्यादा बांधी जाती है, तो उससे एक अधिक परीतानन्त की मर्यादा करने में कौन सी बुद्धि की नोंक घिस जायगी ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संख्यामान के ही तो इकईस भेद हैं, जो कि संख्यात, परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात, संख्यातासंख्यात, परीतानत, युक्तानन्त, अनन्तानन्त के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद अनुसार हैं। संख्यामान के ग्यारहवें भेद होरहे मध्यम असंख्यातासंख्यात नामक गणना के किसी अवान्तर भेद में लोकाकाश के प्रदेश परिगणित हैं तथा बीसवीं संख्या मध्य-अनन्तानन्त के किसी भेद में अलोकाकाश या सम्पूर्ण आकाश के प्रदेश गिन लिये गये हैं " पल्लधरणंविदंगुल जगसेढी लोय पदर जीवधरण। तत्तो पढमं मूलं सव्वागासं च जा जाणेज्जो " यों त्रिलोकसार में सर्वाकाश के प्रदेश गिना दिये हैं। साधारण पुरुष जिसप्रकार दश, बीस, पचास रुपयों को गिन लेता है, इससे भी कहीं अधिक स्पष्ट रूपसे केवलज्ञानी महाराज अलोकाकाश के प्रदेशोंको झटिति गिन लेते हैं। बरफी के समान समघन चतुरस्र अलोकाकाश की छहों दिशाओं में मर्यादा है।

लोक के ठीक बीच सुदर्शनमेरु की बीच जड़ में पड़े हुये आठ प्रदेशों से यदि अलोकाकाश को नापा जायगा तो पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, छहों ओर डोरी ठीक नाप की पड़ जायगी। हां चौकोर पदार्थ के बीच से तिरछे नापे गये कोने तो बढ़ ही जांयगे यदि केवल अलोकाकाश के ही छहों दिशा की ओर प्रदेश गिनने होंय तो लोकाकाश के नीचे या ऊपर के प्रदेशों से दक्षिण या उत्तर दिशा-सम्बन्धी प्रदेश तो साढ़े तीन, साढ़े तीन राजू बढ़ जायंगे कारण कि लोक की

ऊंचाई चौदह राजू है। और दक्षिण उत्तर लम्बाई सर्वत्र सात राजू है, अतः दक्षिण या उत्तर किसी भी एक ओर अलोकाकाशके प्रदेश ऊंचाई या निचाई से साढ़े तीन राजू अधिक फैल रहे माने जांयगे। इसी प्रकार मध्य लोक में एक राजू चौड़े लोकाकाश से पूर्व या पश्चिम राजू के अलोकाकाश के प्रदेश तो दक्षिण उत्तर की अपेक्षा तीन तीन राजू अधिक विस्तृत हैं। और ऊपर नीचे की अपेक्षा साढ़े छह छह राजू अतिरिक्त हैं, यों विवेचन करने पर श्रुतज्ञान द्वारा अलोकाकाश की व्यंजन पर्याय मर्यादा-सहित प्रतीत होजाती है। सर्वज्ञ भगवान तो अनन्तानन्त राजू लम्बे, चौड़े, ऊंचे मर्यादा वाले अलोकाकाश को स्पष्ट देख रहे हैं। जैसे कोई साधारण मनुष्य पचास गज लम्बे, चौड़े, चौकोर प्रासाद को देख रहा है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज

उस मर्यादित अलोकाकाशके बाहर कुछ नहीं है। भैंस के शिरपर लम्बे काठिन्यगुणयुक्त सींग विद्यमान हैं। अतः बैल या भैंस के शिर पर हाथ फेरने वाले को ऊपर सींगों का परिज्ञान होजाता है, किन्तु घोड़ा या गर्दभके शिर पर हाथ फेरने वालोंको ऊपर कुछ भी नहीं प्रतीत होता है। इसी प्रकार अलोकाकाश के बाहर न कोई पोल है, न कोई जीवद्रव्य है, और न पुद्गलादि द्रव्य हैं, खर-विषाण के समान वहां कुछ भी तो नहीं है। प्रकरण में यह कहना है कि लोक या अलोक को मर्यादारहित मानने पर आकृति-सहितपन का विरोध होगा, इस कथन में ग्रन्थकार को कुछ अस्वरस है। अतः प्रमाणोंका अभाव, यह दूसरी युक्ति दी गयी है। वस्तुतः विचाराजाय तो आकाश, काल, जीव केवलज्ञान, ये सभी मर्यादासहित हैं। अतः इनकी आकृति यानी-व्यंजन पर्याय अवश्य है, जो केवलज्ञानी आत्माकी व्यंजन पर्याय है वही केवलज्ञान का संस्थान है। अतः कोई अस्वरस नहीं है, इकईसवीं उत्कृष्ट अनन्तानन्त संख्याके अनुसार केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों की मर्यादा परिगणित है। उत्कृष्ट अनन्तानन्त में भी दस बीस संख्या को मिलाकर इस संख्या को बढ़ाया जा सकता है। किन्तु क्या करें उस संख्या-द्वारा संख्या करने योग्य कोई वस्तुभूत पदार्थ ही नहीं हैं, संख्येयों में नहीं घटित होने वाली कोरी संख्याओं को जैनसिद्धान्त में व्यर्थ गिनाया नहीं गया है। ऐसी अपार्थक, निस्सार बातों को कहने या सुनने के लिये किसी के पास अवसर नहीं है।

तभी तो घनधारा में " आसण्णघणा मूलं " और द्विरूप घनधारा में " चरिमस्स दुचरिमस्स पणेव घणा केवलव्वदिक्कमदो। तम्हा विरूवहीणा सगवग्गसला हवे ठाणं।" तथा द्विरूप घनाघन धारा में " चरमादिचउक्कस्स य घणाघणा एत्थणेव संभवदि। हेट्ठभणिदो तम्हा ठाणं चउहीण वग्गसला" श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीको कहना पड़ा है। भले ही बहुत सी मध्यवर्त्ती संख्याओंके संख्येय पदार्थ जगत् में नहीं हैं, फिर भी उनसे अधिक या न्यून के अधिकारी भावों के विद्यमान होने से ठीक ठीक गणित बनाने के लिये मध्यम असंख्यामिक संख्याओं का निरूपण करना भी अनिवार्य पड़ जाता है। पुद्गल परमाणु एक समय में चौदह राजू गमन कर सकती है, तदनुसार बीच २ के अनेक स्थानों पर परमाणु के पहुँचने पर समय से भी छोटा काल नापा जा सकता था किन्तु कोई भी पूरा कार्य आधे समय या चौथाई समय अथवा समय के किसी अन्य छोटे भाग में न हुआ, न होरहा है, न होगा, अतः काल की सब से छोटी मर्यादा "समय" बांध दी गयी है। इसी प्रकार बड़ा स्कन्ध बनने के लिये जब पुद्गल परमाणुओं के एक एक भाग में दूसरी दूसरी परमाणुयें अपने अपने भाग से चिपटती हैं। या बंधती हैं तदनुसार परमाणु से भी छोटा टुकड़ा कल्पित किया जा सकता है। किन्तु हम क्या करें तीनों काल में पुद्गल परमाणु से छोटा टुकड़ा अखण्ड पर्याय रूप से न हुआ, न है, न होगा, अतः परमाणु

हो छोटे द्रव्य की अन्तिम मर्यादा है। इन दृष्टान्तों से हमें अलोकाकाश को मर्यादा-सहित कहने में कोई प्रमाणों से बाधा नहीं आती है। तो लोकाकाश को निरवधि कथमपि नहीं कह सकते हो।

प्रायः पौराणिक, नैयायिक, मीमांसक, और आधुनिक पण्डित, लोक को सावधि मानते हैं। निरवधि मानने में कोई प्रमाण नहीं है, लौकिक स्थूल गणित से गिनती नहीं होसके एतावता अलौकिक गणित से भी इन आकाश आदि को अमर्यादित कहना अनीति है। जैन सिद्धान्त अनुसार एक एक परमाणु एक एक प्रदेश, एक एक समय और एक एक अविभाग प्रतिच्छेद की ठीक ठीक गिनती या मर्यादा होरही है। जीव राशि से पुद्गल राशि अनन्तगुणी अधिक है, मुक्त जीवों की अपेक्षा संसारी जीव अनन्तानन्त गुणे हैं। सिद्ध राशि भी अनादि है, जीव राशि भी अनादि है फिर भी सिद्धराशिका अनादिपन जीव राशि के अनादित्व से पौने नौ वर्ष छोटा है। नौ महीने गर्भ में ठहर कर पुनः जन्म लेरहा मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र आठ वर्ष पश्चात् संयम को ग्रहण करता सन्ता कतिपय अन्तर्मुहूर्तों के पश्चात् सिद्ध-अवस्था को प्राप्त कर सकता है। अतः सिद्ध-राशि के अनादिकाल से जीव-राशि का अनादि काल पौने नौ वर्ष बड़ा है।

तथा व्यवहार काल या भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालों के समयों से अलोकाकाश के प्रदेश अनन्तानन्त गुणे हैं इतने बड़े अलोकाकाश की भी मर्यादा है, लोक के ऊपर नीचे सम्बन्धी अलोकाकाश से दक्षिण उत्तर का अलोकाकाश बड़ा है और लोक के दक्षिण, उत्तर, बाजू के अलोकाकाश से मध्य लोक के इधर उधर पूर्व पश्चिम फैला हुआ अलोकाकाश बड़ा हुआ है। वृद्ध विद्वानों से सुना है, कि सुदर्शन मेरु के बराबर एक लाख योजन लम्बा, चौड़ा, गोल, लोहे का गोला बनाया जाय वह प्रत्येक समय में एक राजू की गति अनुसार यदि पतन करै तो भी पूर्ण भविष्य काल के अनंन्तानन्त समयों में भी अलोकाकाश के तल तक नहीं पहुँच पायगा इस दृष्टान्त को सुन कर अब निर्णीत दृष्टान्त को यों समझिये कि जम्बू द्वीप के बराबर गढ़ लियागया लोहे का गोला प्रति समय यदि अनन्तराजू भी पतन करै अथवा एक समय में अनन्त राजू चल कर दूसरे समय में उस अनन्त से अनन्तगुणे अनन्तानन्त राजू गमन करै यो तीसरे, चौथे, आदि समयों में पूर्व पूर्व से अनन्त गुणा चलता चला जाय फिर भी भविष्य काल के अनन्तानन्त समयों में अलोकाकाश की सड़क को पूरा नहीं कर सकेगा, कारण कि "तिविह जहण्णाणंतं वग्गसलादल द्विदी सगादि पदं। जीवो पोग्गलकाला सेढी आगास तप्पदरम्।" इस गाथा अनुसार काल समय राशि से अनन्त स्थान ऊपर जाकर आकाश श्रेणी की वर्गितवार स्वरूप वर्ग शलाकायें मिलती हैं, उनसे अनन्त स्थान ऊपर जाकर आकाशश्रेणी के अर्द्धच्छेद निकलते हैं। उनसे अनन्त स्थान ऊपर श्रेणी आकाश की संख्या आती है, श्रेणी आकाश के घन प्रमाण सम्पूर्ण आकाश प्रदेश हैं।

यह दृष्टान्त केवल कल्पित है, क्योंकि धर्मद्रव्य के नहीं होने से कोई भी पुद्गल द्रव्य लोक बाहर गमन नहीं कर सकता है, केवल इस दृष्टान्त द्वारा गणित मात्र दिखाकर उसकी मर्यादा बता दी गयी है, कि व्यवहार काल से अलोकाकाश इतना बड़ा है। इससे कुछ न्यून या अधिक बड़ा नहीं है। तथैव भूत काल के अनन्तानन्त समयों से भविष्य काल के अनन्तानन्त समय अनन्तानन्त गुणे हैं, इस प्रकार श्री केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी ने प्रतिपादन किया है, महावीर स्वामी की दिव्य भाषा के समय से अब तक असंख्याते समयों की वृद्धि भूतकाल में होचुकी है, और भविष्य काल में असंख्यात समयों की हानि होचुकी है, सम्भव है अनन्तानन्त कल्प कालों के पश्चात् कोई सर्वज्ञ भगवान् यों

कार्यदर्शिका — आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज

उपदेश देवें कि आज ठीक मध्यान्ह या अपराण्ह के समय भूतकाल और भविष्यकाल दोनों तराजू के पलड़े समान बराबर होजांय, पश्चात् भूतकाल बढ़ता जाय और भविष्यकाल छोटा होता जाय यों द्रव्य, काल, क्षेत्रों की ठीक ठीक गिनती कर मर्यादा बांध दी गयी है।

भाव की व्यवस्था यों समझिये कि अलोकाकाश के प्रदेशों से अनन्तानन्त गुणे सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीव के जघन्य ज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद हैं। द्विरूप वर्गधारा में प्रतर आकाश की संख्या को समझा कर " धम्माधम्मा गुरु लघु इगिजीवागुरुलघुस्स होंति तदो। सुहमणिअपुण्णाणे अवरे अविभाग पडिछेदा" ऐसा त्रिलोकसारमें कहा है। इस गणित में एक भी संख्या की न्यूनता या अधिकता नहीं है। यह नाप " वामन तोले पाव रत्ती" के न्याय अनुसार ठीक ठीक की गयी है।

जघन्य ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों से अनन्तानन्त गुणे केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद हैं, यद्यपि केवल ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों की [illegible] नामक संख्या में भी एक दो, दस, बीस, संख्यात, असंख्यात कोई भी संख्या बढ़ायी जा सकती है। और बढ़ी हुई उस कल्पित संख्या से केवल ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद न्यून भी कहे जा सकते हैं। तथापि सच्चे गणितज्ञ की यही नीति है, कि वह ठीक ठीक संख्या वाले पदार्थों का उसी नियत संख्या अनुसार निरूपण करे। केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों से अधिक संख्या वाला पदार्थ कोई इस चराचर जगत् में गिनने योग्य ही नहीं है। अतः सर्वज्ञ देव ने उत्कृष्ट अनन्तानन्त से अधिक किसी बाईसवीं संख्या का उपदेश नहीं दिया है। यों द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की नियत संख्या या अनन्तानन्त संख्याओं पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला जा चुका है।

यहां किसीका यह कुतर्क नहीं चल सकता है कि अनादि और अनन्तकी भी जब मर्यादा हो चुकी तो उनका कभी न कभी अन्त आही जायगा ? निर्णीत विषय यह है कि सक्षय अनन्त राशि का भले ही व्यय होते होते अन्त आजाय किन्तु अक्षय अनन्त राशियों में पड़े हुये जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, काल-समय, आकाश प्रदेश, जघन्य ज्ञान या केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद इनका अन्त नहीं आ सकता है हां जीव द्रव्यों की मोक्ष होने पर या काल समयों के व्यतीत होने पर व्यय होते होते न्यूनता अवश्य होजायगी, क्षय नहीं होगा। व्यय-सद्भावे सत्यपि नवीनवृद्धेरभाववत्त्वं चेत्। यस्य क्षयो न नियतः सोनन्तो जिनमते भणितः।

आक्षेपकर्त्ता का लक्ष्य आकाश क्षेत्र या भाव पदार्थ नहीं हैं हां द्रव्य और काल में यह शंका उपस्थित की जा सकती है कि छह महीने आठ समयों में छहसौ आठ जीवों के मुक्त होते होते कभी न कभी संसारी जीव राशि का अन्त होजायगा और भविष्यकाल में से न्यून होते होते कदाचित् काल समय राशि का अवसान होजाय किन्तु पहिले कहा जा चुका है कि वह जीव राशि या काल राशि का अनन्तानन्त इतना बड़ा है। कि उसका कभी पूर्ण विराम नहीं होसकता है यद्यपि जीव राशि से काल समय अत्यधिक है, फिर भी वे दोनों अक्षयानन्त हैं।

जैसे शून्य० का किसी भी बडी संख्या से गुणा किया जाय तीन, चार, आदि संख्या को प्राप्त करना असम्भव है। उसी प्रकार किसी गुणाकार द्वारा शून्य से एक, दो, संख्या लाना भी असम्भव है, द्रव्यों की ठीक ठीक अन्यूनातिरिक्त गिनती कर देने वाले सर्वज्ञ देव के वचनों पर किसी कुतर्क का संचार नहीं होसकता है, वे अनादि का अनादि रूप से हो ठीक ठीक जान रहे हैं और अनन्त को

अनन्तरूप से परिज्ञात कर रहे हैं। भला ये भी कोई बलात्कार शोभता है कि अनादि को जानते हुये वे उसकी आदिको जान बैठें या अनन्तको जानते हुए उसका अन्त कर बैठें। यों जानना तो एक प्रकार का मिथ्याज्ञान होगा जो कि सम्यग्ज्ञानी सर्वज्ञके असम्भव है। विकास सिद्धान्त को मानने वाले भावों को अनादि अनन्त अवश्य मान लेंगे। मुर्गी अण्डा या बीजवृक्ष का अनादित्व निःसंशय प्रसिद्ध है, वैसा ही क्षेत्र, काल, द्रव्यों में भी अनन्तपना सयुक्त है। परिशेष में यह कहना है कि असंख्यात या अनन्ते पदार्थ भी अवधिसहित हैं। मर्यादित लोक में ही जीव आदि पांच द्रव्य निवास करते हैं।

यदि पुनर्लोककदेशवर्तिद्रव्योपकृतौ सकलार्थ-गतिस्थित्युपग्रहौ स्यातां तदापि लोकालोकविभागासिद्धिः क्वचिद्वर्तमानयोर्धर्मास्तिकाययोः सर्वलोकाकाशे इवालोकाकाशेपि सर्वार्थगतिस्थित्युपग्रहोपकारित्वप्रसक्तेरतस्य लोकत्वापत्तेः। ततः सर्वगताभ्यामेव द्रव्याभ्यां सकलार्थगतिस्थित्यनुग्रहोपकारिभ्यां भवितव्यं तौ नो धर्माधर्मौ।

फिर शंकाकार के विचार अनुसार सम्पूर्ण अर्थोंके गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह यदि लोक के एक देश में वर्त रहे द्रव्यों करके उपकार प्राप्त किये जाते होते तो भी लोक और अलोक के विभाग की सिद्धि नहीं हो पाती क्योंकि लोक में कहीं वर्त रहे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायों को जैसे अतिरिक्त स्थान या सम्पूर्ण लोकाकाश में अथवा वहां विद्यमान पदार्थों के गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह का उपकारकपना स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार लोकाकाश के किसी कोने में धरे हुए धर्म, अधर्म करके अलोकाकाशमें भी सम्पूर्ण अर्थोंके गति-उपग्रह और स्थिति अनुग्रहके उपकारकपनका प्रसंग आजायगा और ऐसा होने से उस अलोकाकाश को भी लोकपन की आपत्ति आजायगी जो कि अलोक का लोकपना किसीको भी इष्ट नहीं है, तिस कारण लोक में सर्वत्र व्यापक होरहे ही धर्म, अधर्म, द्रव्यों को सम्पूर्ण अर्थों की गति और स्थिति स्वरूप अनुग्रह करने में उपकारी होना चाहिये यानी-लोकमें सर्वगत होरहीं द्रव्यें ही सम्पूर्ण अर्थों की गति और स्थिति के अनुग्रह करने में उपकारी होसकती हैं। अव्यापक द्रव्यें उक्त कार्यको नहीं निभासकेंगी बस वही लोक में सर्वगत होरहीं द्रव्यें हम स्याद्वाद-सिद्धान्तियों के यहां धर्म और अधर्म इस नाम से प्रख्यात हैं।

अग्रिम सूत्र का अवतरण यों समझिये कि कोई जिज्ञासा करता है कि परोक्ष होरहे अतीन्द्रिय धर्म और अधर्म द्रव्य का अस्तित्व यदि उपकार के सम्बन्ध करके नियत किया जाता है तो उनके अव्यवहित उत्तर कहे गये अत्यन्त परोक्ष आकाश का अधिगम करने में भला क्या उपाय है? जिसप्रकार का कि अवलम्बकर अतीन्द्रिय आकाशकी आधुनिक पण्डितोंको ज्ञप्ति होजाय आकाश तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु से भी अत्यधिक अत्यन्त परोक्ष है ऐसी अभिलाषा प्रवर्तने पर सूत्र-कार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

आकाशस्यावगाहः ॥१८॥

अवगाह करने वाले जीव, पुद्गलादि सम्पूर्ण द्रव्यों को अवकाश देना यह आकाश का उपकार है।

उपकार इत्यनुवर्तते। कः पुनरवगाहः अवगाहनमवगाहः स च न कर्मस्थस्तस्यासिद्धत्वान्लिंगत्वायोगात्। किं तर्हि? कर्तृस्थ इत्याह।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पूर्व सूत्र से उपकार इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती है तदनुसार अवगाह देना आकाश का उपकार है यह अर्थ घटित होजाता है। यहां कोई पूछता है कि यह अवगाह भला क्या पदार्थ है ? इसका उत्तर यों है कि अवगाहन क्रियाको ही यहां अवगाह लिया गया है अव उपसर्गपूर्वक" गाह विलोडने,, धातु से भावमें घञ् प्रत्यय कर अवगाह शब्द बना लियागया है और वह अवगाह यानी अनुप्रवेश तो कर्म में स्थित होरहा नहीं है क्योंकि कर्म में स्थित होरहे उस अवगाह की सिद्धि नहीं है. अतः उस कर्मस्थ अवगाहको आकाश द्रव्यका ज्ञापक लिंगपना नहीं बन सकता है। अर्थात् जलं अवगाहते मत्स्यः मछली जल को अवगाह करा रही है, इस प्रकार " जीवादयः आकाशं अवगाहन्ते,. जीव आदिक पदार्थ आकाश को अवगाह रहे हैं ऐसा कर्त्ता होरहे जीव आदिकोंमें अवगाह क्रिया ठहर जाती है किन्तु कर्म होरहे आकाशमें क्रिया नहीं ठहरती है, भलेही निश्चयनय अनुसार आकाश स्वयं ठहर जाय किन्तु भेद पक्ष की षट्कारकी अनुसार वह सिद्धान्त गौण पड़ जाता है। जबतक आकाश ही सिद्ध नहीं है तो उस आकाश कर्म में अवकाश क्रिया तो सुतरां असिद्ध होगी। ऐसी दशा में वह अवगाह आकाश का ज्ञापक हेतु नहीं होसकता है फिर वह अवगाह कैसा माना जाय ? ऐसा आक्षेप होने पर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि कर्त्ताओं में ठहररहा अवगाह प्रसिद्ध है वह आकाश का ज्ञापक हेतु भी होसकता है इस बात को ग्रन्थकार अगली वार्तिकद्वारा स्पष्ट कहते हैं।

उपकारोवगाहः स्यात् सर्वेषामवगाहिनां।
आकाशस्य सकृन्नान्यस्येत्येतदनुमीयते ॥१॥

अवगाह करने वाले जीव आदि सम्पूर्ण द्रव्यों को एक ही वार में अवगाह दे देना यह आकाश का ही उपकार हो सकता है, अन्य किसी द्रव्य का नहीं। यह उक्त सूत्र अनुसार अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात्-"सकृत्,, और "सर्वेषां,, पदों का उपस्कार कर हेतु कोटि में डालते हुये विज्ञपुरुष द्वारा आकाश को जानने के लिये अनुमानप्रमाण बना लिया जाता है।

जीवादयो ह्यवगाहकास्तत्र प्रतीतिसिद्धत्वाल्लिंगमवगाह्यस्य कस्यचित् यत्तदवगाह्यं सकृत्सर्वार्थानां तदाकाशमिति कर्तृस्थादवगाहादनुमीयते। गगनादन्यस्य तथाभावानुपपत्तेः।

जब कि जीव आदिक पदार्थ वहां आकाश में अवगाह कर रहे समीचीन प्रतीतियों से सिद्ध हैं इस कारण किसी न किसी अवगाह करने योग्य द्रव्य के वे ज्ञापक लिंग होसकते हैं। एक ही वार में सम्पूर्ण पदार्थों का जोभी कोई वह अवगाह करने योग्य पदार्थ है वह आकाश है इस प्रकार कर्त्ता में स्थित होरहे अवगाहसे आकाशका अनुमान करलिया जाता है। आकाशके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ के तिसप्रकार युगपत् सम्पूर्ण अर्थों को अवगाह देना नहीं बन सकता है। अतः " जीवादयः आकाशं अवगाहन्ते,, इस प्रतीति अनुसार यों अनुमान बना लिया जाता है कि सकृत् सर्वपदार्थावगाहोपग्रहः (पक्ष) सर्वलोकालोकव्यापिद्रव्योपकृतः (साध्यदल) सकृत्सर्वपदार्थावगाहान्यथानुपपत्तेः (हेतु) यः साध्यवान् न स हेतुवान् यथा कूटस्थलोहो वज्रं वा (व्यतिरेकदृष्टान्त)।

आलोकतमसोरवगाहः सर्वेषामवगाहकानां जलादेर्मस्मादिव दिति चेन्न, तयोरप्यवगाहकत्वादवगाह्यांतरसिद्धेः।

यहां अत्यन्त परोक्ष आकाश को नहीं मान रहा कोई लौकिक पण्डित आक्षेप करता है कि दिन में आलोक और रात्रि में अन्धकार इन दोनों में सम्पूर्ण अवगाह करने वाले जीवादि पदार्थों का अवगाह होजायगा जैसे कि किसी पात्रमें ठूंस कर भर दी गयी राख में पुनः जल का अवगाह होजाता है या पानी, ऊंटनी के दूध, आदि में जिस प्रकार बूरा ,मधु आदि का अवगाह होजाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जैसे आलोक और अन्धकार की कहीं न कहीं अवगाह करने वाले पदार्थ हैं यदि जीव आदिकों का आलोक और अन्धकारमें अवकाश प्राप्त करना माना जायगा तो पुनः उन आलोक और अन्धकारके लिये भी अवगाह करने योग्य किसी अन्य अधिकरणकी सिद्धि माननी पड़ेगी इससे यही अच्छा है कि प्रथम से ही सबका अवगाह्य पदार्थ एक मान लिया जाय।

भावार्थ—मन्द अन्धकार में गाढ़ अन्धकार प्रविष्ट होजाता है और गाढ अन्धकार में अति निविड अन्धकार समा जाता है इसीप्रकार दीपक के प्रकाश में दूसरे, तीसरे, आदि दीपकों के प्रकाश प्रविष्ट होजाते हैं सूर्य के तेजस्वी आलोक में भी बिजली या टौर्च का प्रकाश प्रविष्ट होही जाता है खिडकी खोलते ही आलोक भी पोल रूप घरोंमें घुस आता है यों आलोक या अन्धकार भी कहीं न कहीं अवगाह पाने के लिये लालायित रहते हैं अतः परिशेष में जाकर सब का अवगाह करने योग्य आकाश ही ठहरता है यद्यपि भस्म में जल, पानीमें बूरा, काठ में कील, चर्म में तेल, रोटी में घी इत्यादि" आधार आधेय भाव लोक-प्रसिद्ध हैं। व्यवहार नय से ये सब सत्य भी हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर यही निर्णीत होगा कि भींतमें बैठा हुआ आकाश ही कील को स्थान देरहा है। भस्म स्वयं आकाश में है, भस्म में आकाश ओत प्रोत ठस रहा है वह आकाश ही जल को अवकाश दे देता है अतः "आकाशस्यावगाहः,, इसका अर्थ "अवगाह देना आकाश का ही उपकार है" यों कर दिया जाय तो अनुचित नहीं है।

नन्वेवमाकाशस्याप्यवगाहकत्वादन्यदवगाह्यं कल्प्यतां तस्याप्यवगाहकत्वे अपरमवगाह्यमित्यनवस्था स्यादिति चेन्न, आकाशस्यानंतस्यामूर्तस्य व्यापिनः स्वावगाहित्वसिद्धेरवगाह्यांतरासंभवात्। न चैवमालोकतमसोः सर्वार्थानां वा स्वावगाहित्वप्रसक्तिरसर्वगतत्वात्। न च किंचिदसर्वगतं स्वावगाहि दृष्टं, मत्स्यादेर्जलाद्यवगाहित्वदर्शनात्।

यहां कोई शंका उठाता है कि इस प्रकार तो जीव आदि के समान आकाश भी अवगाहक है अतः आकाश को अवगाह देने के योग्य किसी अन्य पदार्थ की कल्पना कर ली जाय और उस दूसरे अवगाह्य का भी अवगाहकपना मानते सन्ते तीसरे, चौथे, आदि अवगाह्य पदार्थों की कल्पना करते करते यों अनवस्था होजायगी। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि आकाश पदार्थ सब से बड़ा अनन्तानन्त-प्रदेशी है, अमूत है, व्यापक है। इस कारण दूसरों को अवगाह देनेवाला होते हुये आकाश में स्वयं को भी अवगाह देनापन सिद्ध है। इस कारण उस आकाश के लिये स्वातिरिक्त अन्य अवगाह्य पदार्थ का असम्भव है। किन्तु इस प्रकार आलोक और अन्धकार को तो सम्पूर्ण अर्थों का और अपना भी अवगाहीपना प्रसंगप्राप्त नहीं होता है। कारणकि वे असर्वगत द्रव्य अपना और सम्पूर्ण द्रव्यों का अवगाह्य नहीं होसकता है। कोई भी अव्यापक पदार्थ स्वयं अपना अपने में अवगाह्य करने वाला नहीं देखा गया है। मछली, सुई आदि का जल, पत्ता आदि में अवगाहकपना देखा जाता है। भले ही जल आदिको मछली आदि का अवगाह्य कह दिया जाय या निश्चयनय अनुसार सम्पूर्ण पदार्थों

का अपने अपने में अवगाह होना मान लिया जाय फिर भी व्यवहार नय और निश्चयनय तथा प्रमाण दृष्टि से एक आकाश पदार्थ ही स्व और अन्य सम्पूर्ण पदार्थों का अवगाह्य प्रतीत होरहा है।

सर्वार्थानां क्षणिकपरमाणुस्वभावत्वात् अवगाह्यावगाहकभावाभाव इति चेन्न, स्थूलास्थिरसाधारणार्थप्रतीतेः न चेयं भ्रांतिर्बाधकाभावात् एकस्यानेकदेशकालव्यापिनोर्थस्याभावे सर्वशून्यतापत्तेः। भावे पुनरवगाह्यावगाहकभावविरोध एवाधाराधेयभावादिवत्

आधार आधेय भाव हिस्य हिंसक भाव, आदि को नहीं मानने वाले बौद्ध कहरहे हैं, कि सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं और परमाणु स्वरूप हैं, अतः अवगाह्य अवगाहक भाव का अभाव है। अर्थात्—कालान्तर-स्थायी पदार्थ यदि होते तबतो पहिले से वर्त रहे आधार के ऊपर कोई आधेय ठहर जाता, इसी प्रकार लम्बे, चौड़े, स्थूल या व्यापक पदार्थ पर उससे कुछ छोटा पदार्थ अवगाह कर लेता है, किन्तु जब परमाणु स्वरूप ही छोटे छोटे पदार्थ हैं। और वे भी एक क्षण जं वित रह कर दूसरे क्षण में मर जाते हैं, ऐसी दशा में कोई किसी का आधार या कोई किसी का आधेय नहीं होसकता है। मर रहा मनुष्य मर रहे घोड़े पर नहीं चढ़ सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि प्रामाणिक पुरुषों को स्थूल और स्थिर तथा साधारण अर्थों की प्रतीति होरही है। तुम्हारे मन्तव्य अनुसार सूक्ष्म, अस्थिर और विशेष स्वरूप ही अर्थ की स्वप्न में भी प्रतीति नहीं होती है। यह प्रतीति भ्रान्तिज्ञान रूप नहीं है, क्योंकि इस समीचीन प्रतीति का कोई बाधक नहीं है। यदि अनेक देश और अनेक कालों में व्याप रहे स्थूल और कालान्तर-स्थायी एक अन्वित पदार्थ का अभाव माना जायगा तो सम्पूर्ण पदार्थों के शून्य होजाने की आपत्ति आवेगी। यानी अनेक देशव्यापी पदार्थों को नहीं मानने पर दृष्टि गोचर सम्पूर्ण स्थूल पदार्थों का अभाव तो हो ही जायगा, हां सूक्ष्म पदार्थ रह जायंगे किन्तु उन सूक्ष्मों को यदि अनेक-काल-व्यापी नहीं मानकर क्षणिक स्वीकार किया जायगा तो उत्तर क्षण में समूलचूल विनाश जाने पर पुनः विना उपादान के किसी की भी उत्पत्ति नहीं होने पायगी और पहिले भी तो उपादानके विना सूक्ष्मपदार्थ नहीं उपज सकेगा यों बौद्धोंके विचार अनुसारहो शून्यवाद छा जायगा हां यदि अनेक देश या अनेक कालोंमें व्याप रहे पदार्थोंका सद्भाव मानोगे तब तो फिर अवगाह्य अवगाहक भाव का विरोध ही नहीं है। जैसे कि आधार-आधेय भाव, कार्य-कारण भाव, वाध्य-बाधक भाव, आदि का कोई विरोध नहीं है।

अर्थात्—मीमांसक, नैयायिक, वैशेषिक, जैन ये विद्वान तो आधार आधेय भाव, कार्य कारण भाव, आदिकको निर्विवाद स्वीकार करते ही हैं किन्तु बौद्धोंको भी आधार आधेय, भाव मानना आवश्यक पड़ जाता है। क्षणिकत्व, सत्व आदि धर्म पदार्थ में ठहरते हैं, पक्ष में हेतु रहता है। बौद्ध उत्पाद को कारणसहित स्वीकार करते हैं, भले ही वे विनाश को निर्हेतुक मानें, अतः उत्पाद्य और उत्पादक पदार्थों का कार्य-कारण भाव अभीष्ट हुआ तथा क्षणिकत्व का ज्ञान कालान्तर-स्थायीपन के समारोप का बाधक माना गया है। सौत्रान्तिकों के द्वैतवाद पर विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बाधा उठाते हैं, यों "वाध्य बाधक भाव" कल्पित होजाता है। साध्य और हेतु में ज्ञाप्यज्ञापक भाव तो सभी दार्शनिकों को स्वीकृत है, इसी प्रकार "अवगाह्य अवगाहक भाव" सुप्रसिद्ध है।

शीतवातातपादीनामभिन्नदेशकालतया प्रतीतेः स्वावगाह्यावगाहकभावसिद्धिः। परस्परमवगाहानुपपत्तौ भिन्नदेशत्वप्रसंगान्लोष्ठद्वयवत्। ततो यथाप्रतीति-नियतानामवगाहकानां

प्रतिनियतमवगाह्यं सिद्धं तथा सकृत्सर्वावग हिनामवगाह्यमाकाशमनुमन्तव्यम् ।

जाड़े की ऋतु में वायु चलते समय घाममें बैठ जाते हैं । उस अवसर पर शीतता, वायु, घाम, धूल, आदि पदार्थों की उसी अभिन्न देश और उसी अभिन्न काल में वृत्ति बन करके प्रतीति होरही है, इस कारण अपने में ही अवगाह्यपन और स्वयं में ही अवगाहकपन की सिद्धि होजाती है । यदि शैत्य वायु, घाम, आदिक का परस्पर में एक दूसरे को अवगाह देना बन रहा नहीं माना जायगा तब तो उन शीत आदि के न्यारे न्यारे देशों में वृत्ति होने का प्रसंग आवेगा जैसे कि दोनों डेल परस्पर में अवगाह नहीं देते हुये अपने अपने न्यारे न्यारे देशों में वर्त रहे हैं । तिस कारण सिद्ध होता है, कि समीचीन प्रतीति का उल्लंघन नहीं कर जिस प्रकार प्रतिनियत होरहे विशेष विशेष अवगाहकों के प्रतिनियत होरहे अवगाह्य पदार्थ सिद्ध हैं । उसी प्रकार युगपत् सम्पूर्ण अवगाह करने वाले जीव आदि पदार्थोंका अवगाह करने योग्य आकाश द्रव्य है । यह युक्तिपूर्वक मान लेना चाहिये ।

अर्थात्—मत्स्य का अवगाह्य जल है, भीत में कील घुस जाती है, अंधेरे में मनुष्य छिप जाता है । इत्यादिक रूपसे विशेष २ मछली आदि अवगाहकों के विशेष जल आदि अवगाह्य पदार्थ तो प्रसिद्ध ही हैं, इसी प्रकार एक ही वार में सम्पूर्ण अर्थों का अवगाह करने योग्य आकाश पदार्थ स्वीकार कर-लेना चाहिये ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूत्रकार महाराज के प्रति किसी का प्रश्न है कि आकाश का उपकार आपने अवगाह देना कहा सो परिज्ञात कर लिया अब यह बताओ कि आदि सूत्रमें उस आकाश ने अनन्तर कहे गये पुद्गलों का उपकार क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं ।

शरीर वाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

औदारिक आदि शरीर, वचन, मन, प्राण, अपान ये पुद्गलों के उपकार हैं । अर्थात्—जीवों के उपयोग में आरहे पाँचों शरीर तो आहार आदि वर्गणाओं से बन रहे सन्ते पुद्गलरूप उपादान कारणों के उपादेय हैं, वचन भी पुद्गलों के बनाये हुये हैं । हृदय में आठ पांखुरी वाले कमल समान बन रहा द्रव्य मन भी मनोवर्गणा नामक पुद्गलों से निर्मित है । उदर कोठे से बाहर निकल रही वायु उच्छ्वास नामक प्राण और बाहर की भीतर खींची जा रही वायु निःश्वास स्वरूप अपान भी पुद्गलों से सम्पादित है । अतः संसारी जीवों के प्रति इन शरीर आदिकों का सम्पादन कर देना पुद्गलों का उपकार है, स्पर्शन आदि इन्द्रियां और बहिर्भूत भोग्य, उपभोग्य विषय भी पुद्गलोंके उपकार (कार्य) हैं ।

उपकार इत्यनुवर्तनीयं, तत्र शरीरमौदारिकादि व्याख्यातं । वाक् द्विधा—द्रव्यवाक् भाववाक च । तत्रेह द्रव्यवाक् पौद्गलिकी गृह्यते । मनोपि द्विविधं, द्रव्यभावविकल्पात् । तत्रेह द्रव्यमनः पौद्गलिकं ग्राह्यं, प्राणापानौ श्वासोच्छ्वासौ । त एते पुद्गलानां शरीरवर्गणादी-नामतीन्द्रियाणामुपकारः कार्यमनुमापकमित्यावेदयति ।

सत्रहवें सूत्र से " उपकार " यह पद यहां अनुवृत्ति कर लेने योग्य है । उन सूत्रोक्त शरीर आदिकों में उत्तरवर्त्ती वाक् आदिकों का अधिष्ठान होरहा आदि में कहागया शरीर तो यहां औदा-रिक आदि लेना चाहिये औदारिक, वैक्रियिक, आदि शरीरोंका हम व्याख्यान कर चुके हैं । पौद्गलिक

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आहार वर्गणा से औदारिक, वैक्रियिक, और आहारक, शरीर बन जाते हैं । तेजोवर्गणा से तैजस और कार्मणवर्गणा से कर्म शरीर बने हुए हैं। वचन दो प्रकार का है, एक द्रव्य-वचन दूसरा भाववचन तिनमें भाव वचन आत्मा का प्रयत्न विशेष है। अतः यहां पौद्गलिक पदार्थोंमें उन दो वाणिओ में से पुद्गलसे उपादेय होरहे द्रव्य वचन काही ग्रहण किया जाता है,भाषावर्गणा ही तो वचन रूप परिणम जाती है। मन भी द्रव्य और भाव इन भेदों से दो प्रकार का है, उन दो में यहाँ पुद्गल-निर्मित द्रव्य मन का ग्रहण करना चाहिये। गुण दोष विचार आदि स्वरूप भाव मन तो आत्मा की पर्याय है, अतः यहाँ पुद्गल-निर्मित पदार्थों में भावमन का ग्रहण नहीं है।

अर्थात्—अगले सूत्र में पुद्गल के निमित्तसे जीव के होने वाले भाव कहे जायंगे वहां भाव वाक् या भाव मनका उपसंख्यान किया जा सकता है। क्योंकि भाव वाक् तो वचनों को बनाने वाला आत्मा का विशेष विशेष शरीर स्थानों में ज्ञान पूर्वक प्रयत्न विशेष करना है इसमें पौद्गलिक अंगोपांग प्रकृति और देशघाति प्रकृतियों का उदय निमित्त रूप से अपेक्षणीय है। तथा छद्मस्थों के पाये जारहे लब्धि और उपयोग स्वरूप मनमें भी पौद्गलिक देशघाति प्रकृतियोंका उदय या अवलम्बन भूत पुदगलकी अपेक्षा है,भाव वाक् या भावमनमें पुद्गल उपादान कारण नहीं है. इसी कारण श्रीविद्यानन्द आचार्य ने राजवार्त्तिक और सर्वार्थसिद्धि की नययोजनासे निराला निर्णय कराया है। पुद्गल को भाव वाक् या भावमन का उपादान कारण तो वे भी नहीं मानते हैं प्राण, अपान तो श्वास, उच्छ्वास रूप हैं। जो कि आहार वर्गणा से बन जाते हैं " आहारवग्गणादो तिण्णि सरीराणि होंति उस्सासो। णिस्सासो विय तेजो वग्गणखंधादु तेजगं ॥ भासमण वग्गणादो कमेण भासामणं च कम्मादो अट्ठविय-कम्मदव्वं होदित्ति जिणेहि णिदिट्ठं " (जीवकाण्ड गोम्मटसार)। वे सब दार्शनिकों के यहां प्रसिद्ध होरहे ये शरीर, वचन, मन, प्राण, और अपान तो शरीर आदि के उपयोगी होरहीं अतीन्द्रिय आहार वर्गणा आदिकों के उपकार स्वरूप कार्य हैं। जो कि कार्य-लिंग होरहे सन्ते अतीन्द्रिय वर्गणाओं का अनुमान करा देते हैं। जैसे कि अग्नि का कार्य होरहा धूम ओटमें धरी हुई आगका ज्ञापक लिंग होकर अनुमान ज्ञान करा देता है। अर्थात्—दृश्यमान शरीर आदि कार्यों से कारण होरहीं अतीन्द्रिय वर्गणाओं का अनुमान कर लियाजाता है, इसी बात का ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिक द्वारा आवेदन करे देते हैं।

शरीरवर्गणादीनां पुद्गलानां स संमतः।
शरीरादय इत्येतैस्तेषामनुमितिर्भवेत्॥ १ ॥

ये शरीर, वचन, आदिक तो शरीरोपयोगी सूक्ष्म आहार वर्गणा आदिक पुद्गलों के वह उपकार हैं यों अच्छे प्रकार मान लिया गया है, इस कारण इन उपकार यानी कार्यों करके उन कारण भूत पौद्गलिक वर्गणाओं का अनुमान ज्ञान होजावेगा जैसे कि गत्युपग्रह से धर्म का, स्थित्युपग्रह से अधर्म द्रव्य का और अवगाहक जीवादिकों के सकृत् अवगाह से अवगाह्य आकाश का अनुमान किया जा चुका है।

संति शरीरवाङ्मनोवर्गणाः प्राणापानारंभकाश्च सूक्ष्माः पुद्गलाः शरीरादिकार्यान्यथानुपपत्तेः न प्रधानं कारणं शरीरादीनां मूर्तिमत्त्वाभावादाकाशवत्। न ह्यमूर्तिमतः परिणामकारणं दृष्टं।

जगत् में शरीरोपयोगी आहार वर्गणा, तेजोवर्गणा, कार्मणवर्गणायें और वचनोपयोगी भाषा वर्गणायें तथा मन को बनाने वाली मनोवर्गणायें एवं प्राण और अपान को बना रहीं आहार वर्गणायें ये सूक्ष्म पुद्गल विद्यमान हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि शरीर, वचन आदि कार्य अन्यथा यानी सूक्ष्म पुद्गलों के विना बन नहीं सकते हैं (हेतु)। इस अनुमान में पड़ा हुआ हेतु अपने साध्य को साध देता है। शरीर, वचन आदिकों का कारण वह सांख्यों के यहां मानी गयी प्रकृति तो नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि सत्वगुण, रजोगुण तमोगुणों की साम्य-अवस्था स्वरूप अतीन्द्रिय अव्यक्त प्रकृति को मूर्त्तिसहित पन का अभाव है (हेतु) आत्मा के समान (दृष्टान्त)। नहीं मूर्तिमान् यानी अमूर्त पदार्थ का परिणाम भला मूर्तिमान् पदार्थों का कारण होरहा नहीं देखा गया है। अमूर्त आत्मा जैसे शरीर आदि मूर्त कार्यों का उपादान कारण नहीं है. उसी प्रकार अमूर्ति प्रधान के परिणाम शरीर आदिक नहीं होसकते हैं।

पृथिव्यादिपरमाणवः कारणमिति केचित्, तेषां सर्वेष्यविशेषेण पृथिव्यादिपरमाणवः शरीराद्यारंभकाः स्युः प्रतिनियतस्वभावा वा ? न तावदादिविकल्पोऽनिष्टप्रसंगात्। द्वितीयकल्पनायां तु शरीरादिवर्गणा एव नामांतरेणोक्ता भवेयुरिति सिद्धोऽस्मत्सिद्धान्तः।

वैशेषिक कहते हैं कि पृथिवी, जल, आदि के परमाणुयें ही शरीर आदिकों के कारण हैं। अर्थात्—मनुष्य, तिर्यंच, सर्प, कीट, वृक्ष, आदि के शरीर तो पृथिवी परमाणुओं से बन जाते हैं, और वरुण लोक में रहने वाले जीवों के शरीर जल परमाणुओं से निष्पन्न होजाते हैं। सूर्य लोक आदि में पाये जारहे तैजस शरीर तो तेजः परमाणुओं से उपजते हैं, पिशाच आदिकों के वायवीय शरीर वायु परमाणुओं करके किये जाते हैं शब्द का समवायी कारण आकाश है, मनोद्रव्य किसी से भी नहीं उत्पन्न होरहे नित्य हैं। प्राण और अपान नामके विषय तो वायु परमाणुओं से उपज जाते हैं। इस प्रकार कोई पण्डित कह रहे हैं। इस पर ग्रन्थकार पूछते हैं कि उन वैशेषिकों के यहां क्या सभी पृथिवी आदि परमाणुयें विशेषता-रहित होकरके शरीर आदि को बनाने वालीं होगीं ? अथवा क्या प्रतिनियत स्वभावों वालीं परमाणुयें इन शरीर आदिको बनावेंगीं ? बताओ, पहिला विकल्प तो ठीक नहीं पड़ेगा क्योंकि वैशेषिकों के यहां अनिष्ट का प्रसंग होजायगा।

अर्थात्—वैशेषिक यदि चाहें जिस जाति की परमाणुओं से चाहे जिस कार्य का बन जाना मान लेंगे तब तो जलीय परमाणुओं से तैजस शरीर या पार्थिव परमाणुओं से वायवीय शरीर बन जायगा और ऐसी दशा में पृथिवी, जल, तेज, वायु, परमाणुओं की चार जातियों का कारण रूप से समर्थन करना विरुद्ध पडेगा,एक ही पुद्गल तत्व मान कर कार्य-निर्वाह होसकता है। हां दूसरी कल्पना करने पर तो वैशेषिकों द्वारा दूसरे दूसरे नामों करके वे हमारी अभीष्ट होरहीं शरीर आदि वर्गणायेंही कह दी गयीं हुई समझी जायगीं, इस प्रकार हम जैनों का सिद्धान्त ही प्रसिद्ध हुआ। अलं विस्तरेण।

सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज के प्रति किसीका प्रश्न है कि क्या इतना ही पुद्गलों करके किया गया उपकार हैं ? अथवा क्या अन्य भी पुद्गलों करके जीवों लिये उपयोगी उपकार किया जाता है ? ऐसी जिज्ञसा होने पर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं।

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

प्रीति या प्रसन्नता स्वरूप ऐन्द्रियिक सुख, संक्लेश या परिताप स्वरूप दुःख, प्राण अपान स्वरूप क्रियाविशेष का विच्छेद नहीं होना--स्वरूप जीवित, और प्राण अपान क्रियाओं का उच्छेद स्वरूप मरण ये अनुग्रह भी जीव के पुद्गल करके किये गये उपकार हैं। उपग्रह शब्द के प्रकरणप्राप्त होने पर भी पुनः सूत्रकार करके कहा गया उपग्रह शब्द तो पुद्गल का पुद्गल के ऊपर उपकार करना ध्वनित करता है। च शब्द करके अन्य भी पुद्गल--निष्ठ निमित्त कारण निरूपित कार्यता वाले हास्य, रति वेद, उच्चाचरण, नीचाचरण, भोग, उपभोग, आदिका समुच्चय होजाता है। अर्थात् विस्मृति करादेना, अज्ञान भाव रखना, आदि भी पुद्गल--जन्य उपकार हैं। यदि घोर अपमान या इष्ट वियोग-जन्य दुःख आदि का स्मरण बना रहे तो ये मोही मनुष्य विना मृत्युकालके बीच में ही अपमृत्यु को प्राप्त होजाय, ऐसी अवस्था में विस्मृति मैया उसकी रक्षा कर लेती है, तत्वज्ञान के अनुपयोगी दुरूह, कषाय-वर्द्धक ज्ञेयोंका, अज्ञान बना रहना ही विशेष लाभप्रद नहीं तो रद्दी पदार्थोंके ज्ञान उन आवश्यक भेदविज्ञानों के स्थानों को प्रथम से ही उसी प्रकार घेर लेंगे जैसे कि घरमें व्यर्थका कूड़ा, कचड़ा, अनावश्यक पड़ा हुआ स्वास्थ्य को विनाश रहा सस्ता पुनः आवश्यक पदार्थों को स्थान नहीं देने देता है, मानसिक या शारीरिक कार्य करने वालों के निकट स्थान में सोरहा या आलस्य में बैठाहुआ मनुष्य उनके कार्यों में विघ्न डालता रहता है, व्यर्थके संकल्प, विकल्प, या अनावश्क ज्ञान तो इससे भी कहीं अत्यधिक भारी क्षति को करते रहते हैं। इन ठलुआ ज्ञान या अर्थसकल्पों से पर-जन्म ही नहीं बिगड़ रहा है साथ में प्रतिक्षण शारीरिक, मानसिक, आर्थिक क्षतियां भी अपरिमित उठाई जा रही हैं, अतः मरण के समान ये भी पुद्गलकृत उपकार सम्भव जाते हैं।

पुद्गलानामुपकार इत्यभिसंबंधः केषां पुनः पुद्गलानां मेते कार्यमित्याह ?

पूर्व सूत्रोंसे 'पुद्गलानां, और 'उपकारः, इन दो पदोंकी अनुवृत्ति कर सूत्रके पहिली और पिछली ओर सम्बन्ध करलेना। तब अर्थ इस प्रकार होजायगा कि पुद्गलोंके यों सुख, दुःख, जीवित और मरण ये अनुग्रह भी उपकार हैं। कोई जिज्ञासु यह पूछ रहा है कि किन किन पुद्गलों के फिर ये सुख आदिक कार्य हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस अगली वार्तिक को कहते हैं।

सुखाद्युपग्रहश्चोपकारो जीवविपाकिनाम्।
सातवेद्यादिकर्मात्मपुद्गलानामितीनुमा॥१॥

जीव में विपाक को करने वाली सातावेदनीय, असातावेदनीय आदि कर्मस्वरूप पुद्गलों का उपकार जीव के लिये सुख आदि अनुग्रह करना है, इन सुख आदि उपग्रहों से उन कारणभूत अतीन्द्रिय पुद्गलों का अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात्-जीव के सुख आदि होना पुद्गल को निमित्त पाकर हुये अनुग्रह हैं, मरण भी एक अनुग्रह है धार्मिक दृष्टिसे वैराग्य को प्राप्त होरहे पुरुष को समाधिमरण प्रिय है व्याधि, पीडा, शोक, आदि से आर्त्त होरहे पुरुष को मरण प्यारा लगता है और न भी प्यारा लगे तो हमें क्या। पुद्गलोंसे जो प्रिय या अप्रिय कार्य बनाये जाते है उन नैमित्तिकोंका यहां निरूपण करदिया गया है नैतिक दृष्टि अनुसार अनेक मनुष्य यों कहदेते हैं कि यदि मनुष्य या तिर्यंच मरें नहीं तो सौ, दो सौ वर्ष में स्थान या खाद्य को प्राप्ति अशक्य होजाय मरना तो नवीनताका एक पूर्व रूप है इत्यादि। यों मरण स्वरूप उपकारको विवेचना करलीजाय।

सुखं तच्चेत्सद्वेद्यस्य कर्मणः कार्यं, दुःखमसद्वेद्यस्य, जीवितमायुषः, मरणमसद्वेद्यस्यैवायुःक्षये सति तदुदयात्परमदुःखात्मना तस्यानुभवात् । ततः सातवेद्यादिकर्मात्मनः पुद्गलाः सुखाद्युपग्रहेभ्योऽनुमीयंते । अत्रोपग्रहवचनं सद्वेद्यादिकर्मणां सुखाद्युत्पत्तौ निमित्तमात्रत्वेनानुग्राहकत्वप्रतिपत्त्यर्थं परिणामकारणं जीवः सुखादीनां तस्यैव तथापरिणामात् अत एव जीवविपाकित्वं सद्वेद्यादिकर्मणां जीवे तद्विपाकोपलब्धेश्च ।

पुद्गल कृत उपकारों में वह सुख तो सातावेदनीय कर्म का कार्य है असाता वेदनीय कर्मका कार्य दुःख है, आयुष्य कर्मका कार्य जीवित रहना है, असाता वेदनीयका ही कार्य मरण है क्योंकि भुज्यमान आयु कर्म के निषेकों का क्षय होने के अवसर पर विशिष्ट जाति के उस असातावेदनीय कर्म का उदय होजानेसे परम दुःखस्वरूप करके उस मृत्युका अनुभव होता है तिस कारण सिद्ध हुआकि सातावेदनीय आदि कर्मस्वरूप होरहे पुद्गल तो जीव के इन सुखादि अनुग्रहों करके अनुमान कर लिये जाते हैं। इस सूत्र में उपग्रह शब्द की अनुवृत्ति या आकर्षण होसकता था फिर भी सूत्रकार ने यहां उपग्रह शब्द कहा है उसका प्रयोजन यह प्रतिपत्ति करा देना है कि जीवके सुखादि की उत्पत्ति करने में सातावेदनीय आदि कर्म केवल निमित्त होकरके अनुग्राहक हैं शरीर आदि के उपादान कारण जैसे पुद्गल हैं, उस प्रकार सुखादि के उपादान कारण पुद्गल नहीं हैं सुखादि परिणामों का उपादान कारण जीव है क्योंकि उस जीवकी ही तिस प्रकार सुख आदि रूप करके परिणति होती है इसी ही कारण सातावेदनीय आदि कर्मों को जीव--विपाकी प्रकृति कहा गया है "अट्ठुत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा" क्योंकि जीव में उन सातावेदनीय आदि कर्मों का विपाक होरहा देखा जाता है।

नन्वायुः भवविपाकि श्रूयते तत्कथं जीवविपाकि स्यात् ? भवस्य जीवपरिणामत्वविवक्षायां तथा विधानाददोषः । तस्य कथंचिदजीवपरिणामविशेषत्वे वा जीवपरिणाममात्राद्भेदविवक्षायामायुर्भवविपाकि प्राक्तमिति न विरोधः ।

यहां किसीका प्रश्न है कि शास्त्रोंमें आयुष्य कर्मको भवविपाकी सुना जारहा है "आऊणि भव विवाई खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ ,, चारों आयुओं का देव मनुष्य तिर्यंच, नरक इन भवों में विपाक होता है तो फिर आपने आयु को जीव-विपाकी प्रकृति किस प्रकार कह दियाहै ? नहीं कहना चाहिये था,इसका उत्तर ग्रन्थकार यों देते हैं कि चारगतियोंमें अनेक भव ग्रहण करना जीवोंका ही विभाव परिणाम है, अतः भव को जीव का परिणाम होनेकी विवक्षा होने पर तिस प्रकार भेद गणना कर देने से कोई दोष नहीं आता है,अर्थात्--जीव-विपाकी प्रकृतियोंमें ही भव-विपाकी आयुष्य प्रकृति गिनली जाती है। ऐसी दशा में जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, क्षेत्र-विपाकी यों सम्पूर्ण कर्मों के तीन ही भेद या क्षेत्र विपाकी आनुपुर्व्य को भी जीव-विपाकीमें गिनलेने पर जीव-विपाकी और पुद्गलविपाकी यों कर्मों के दो ही प्रकार कहदिये जाते हैं। हां यदि उस भव को कथंचित् अजीव की पर्याय--विशेष माना जायगा तब तो जीव के यावत् परिणामों से भेद की विवक्षा करने पर आयु को शास्त्रों में अच्छे ढंग करके भवविपाकी कहा जा चुका है। इस प्रकार आयु को जीवविपाकी या भवविपाकी कह देने से कोई पूर्वापर विरोध नहीं आता है " अर्पितानर्पितसिद्धेः"।

नन्वाभरणादिपुद्गलानां सुखाद्युपग्रहे वृत्तिदर्शनात्तेषां सुखाद्युपग्रह उपकारोस्त्विति चेन्न, तेषामननुमेयत्वात् नियमाभावाच्च कस्यचिदाचित्तसुखोपग्रहे वर्तमानस्यापि बंधनादेरपरस्य दुःखाद्युपग्रहेपि वृत्त्यविरोधान्न नियमः सद्वेद्यादिकर्मणि सुखाद्युपग्रहे प्रतिनियतस्वभावान्येवान्यथा तत्संभावनानुपपत्तेरिति तेभ्यस्तदनुमानम्।

पुनः किसीका प्रश्न है कि केवल अतीन्द्रिय कर्मोंको ही सुख आदिका अनुग्राहक क्यों मानाजाता है जब कि आभरण (भूषण) वस्त्र, गृह, रसायन, घड़ी, चश्मा, वाहन, वायुयान, मोटरकार, रेलगाड़ी, अस्त्र, शस्त्र, विष, विद्युत् आदि पुद्गलों की भी जीव के लिये सुख आदि अनुग्रह करने में प्रवृत्ति होरही देखी जा रही है अतः उन भूषण आदिकों का भी सुख आदि अनुग्रह करने में उपकार होजाओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वे भूषण, विष, आदि तो अनुमान कर लेने योग्य नहीं हैं बालक, बालिकाओं, तक को भूषण आदिका सुख आदि के अनुग्राहकपने करके प्रत्यक्ष होरहा है, शास्त्र में अनुमान करने योग्य या आगमगम्य पदार्थों का परिज्ञान कराया जाता है अतः इन्द्रियग्राह्य पौद्गलिक कार्य पदार्थों करके अनुमान कर लेने योग्य अतीन्द्रिय सूक्ष्म कारण-आत्मक पुद्गलों के निरूपण अवसर में प्रत्यक्षसिद्ध पुद्गलों के कहने का प्रकरण नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दूसरी बात यह है कि आभरण आदि करके सुख आदि होने का कोई अन्वयव्यतिरेक पूर्वक नियम नहीं है किसी किसीको कभी कभी सुख अनुग्रह करनेमें वर्त्तरहे भी बन्धन आदिकी दूसरोंके सुख आदि अनुग्रहमें भी प्रवृत्ति होनेका कोई विरोध नहीं है। यानी "पित्तलाभरणवित्तलाभतस्तुष्टिमावहति पामरी नरी। नहि स्वर्णमणिभूषितं पुनर्भारमावहति सानपाङ्गना"। गहने, कपड़े,, सुख के उत्पादक होते हुये भी लूट या डांके के प्रकरण पर दुख के उत्पादक होजाते हैं, बैल गाड़ियों से उतनी दुर्घटनायें नहीं होती हैं जितनी कि मोटरकार रेलगाड़ी आदि से होती हैं। घी या तेल के दीपक से आंखों को लाभ ही है, बिजलीके उजालेसे आंखोंको विशेष क्षति होती है, अतः आभरण आदि का सुखादि अनुग्रह करने में नियम नहीं है। हां सातावेदनीय आदि कर्म तो सुख, दुःख आदि अनुग्रह करने में प्रति नियत स्वभाववाले ही हैं अन्यथा यानी अतीन्द्रिय कर्मोंके विना उन सुख आदि अनुग्रहों के होने की सम्भावना नहीं सिद्ध होती है इस कारण अविनाभावी उन सुख आदिकों से उन सातावेदनीय आदि सूक्ष्म पुद्गल का अनुमान होजाता है। अलं पल्लवितेन।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन चार अजीव द्रव्यों का उपकार ज्ञात कर लिया अब जीवों करके होने वाले उपकार को सूत्रकार अगले सूत्र में कहते हैं।

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

परस्पर के (में) अनुग्रह करना जीवों का उपकार है अर्थात्- शिष्य का उपकार उपदेश प्रदान द्वारा गुरू करता है और गुरूके अनुकूल प्रवर्त्तन, पांव दावना, नमस्कार करना, गुण कीर्तन, इष्ट वस्तु समर्पण आदि करके शिष्य, गुरू का उपकार करता है, राजा प्रजा, या पिता पुत्र, आदि में इसी प्रकार परस्पर अनुग्रह किया जाना समझलिया जाय।

उपकार इत्यनुवर्त्तते, ततः परस्परं जीवानामनुमानमित्याह।

यहाँ "उपकारः" इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती है तिस कारण जीवों के परिदृश्यमान उपकारों करके परस्पर में अनुग्रह करने वाले जीवों का अनुमान होजाता है, इसी बात को ग्रन्थकार अगली वार्तिक द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जीवानामुपकारः स्यात्परस्परमुपग्रहः।
संतानान्तरवद्ग्राजां व्यापारादिरतोनुमा ॥१॥

परस्पर में एक दूसरे का अनुग्रह करना जीवों का उपकार होसकता है, अन्य सन्तानों के समान उस उपकार करके जीवोंका अनुमान होजाता है, सन्तानान्तरको धारनेवाले जीवों के व्यापार आलिंगन, शिक्षा आदिक हैं इनसे उन सन्तानान्तरों का अनुमान होजाता है। भावार्थ-अल्पज्ञ जीवों को दूसरों की आत्माओं का प्रत्यक्ष होता नहीं है, व्यापार करना, वचन बोलना, आदि करके अन्य सन्तानों का अनुमान कर लिया जाता है, इसी प्रकार परस्पर के उपग्रह स्वरूप उपकार करके अनुग्राहक जीवों का अनुमान कर लिया जाता है।

संतानांतरभाजो हि जीवाः परस्परमसंविदान्मानः कार्यतोनुमेयाः स्युर्न पुनरैक्यभाजः। तच्च कार्यं परस्परमुपग्रहः। स च व्यापारादिरालिंगनादिवाहनादिभिर्व्यापारः। अनुनयनं हितप्रतिपादनादिर्व्याहारः। स च परस्परमुपलभ्यमानः संतानांतरत्वं साधयतीति तदनुमेयाः संतानांतरभाजो जीवाः।

सन्तानान्तरोंको धारने वाले जीव जब कि परस्परमें असंविदित स्वरूप हैं यानी अपनी आत्मा का तो स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होसकता है दूसरोंकी आत्माओं का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष नहीं होपाता है तथा वे सन्तानान्तर-वर्ती जीव अव्यभिचारी कार्य हेतुओं से अनुमान करने योग्य होसकते हैं किन्तु फिर वे सन्तानान्तरवर्ती जीव ब्रह्माद्वैतवादियों के विमर्षण अनुसार एकता को धारने वाले तो नहीं हैं वह अनेक सन्तानवर्ती जीवों का कार्य तो परस्पर में एक दूसरे का अनुग्रह करना है और वह अनुग्रह तो व्यापार करना, विनय करना, लेन देन करना बांटना बांटना, आदि हैं, आलिंगन करना, प्रेमालाप, गुह्य आख्यान आदि और वाहन (घोड़ा सवार को लाद लेजाता है और सवार घोड़े को पौष्टिक भोजन, मर्दन, टहलना, खुजाना, आदि करके प्रसन्न रखता है) अध्यापन आदि क्रियाओं करके व्यापार करना वह अनुग्रह है और अनुनय करना तो हित मार्गका प्रतिपादन, सुन्दर आख्यान आदिक वचन बोलना है और वह जीवों के परस्परमें देखा जारहा अनुग्रह तो अन्य सन्तानोंकी सिद्धि करा देता है, इस कारण सन्तानान्तरों को धारनेवाले अनेक जीव उस परस्परोपग्रह करके अनुमान कर लेने योग्य हैं। पूर्व सूत्रों के विवरण में भी इसीढंग से धर्म आदि चार द्रव्यों का अनुमान कर लेना कहा जा चुका है।

परस्परं संवृत्या संतानान्तरव्यवहार इत्ययुक्तं पुरुषाद्वैतवादस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात्संवेदनाद्वैतवादवत्।

यहाँ कोई अद्वैतवादी आक्षेप करता है कि संसार में एक ही परब्रह्म है परस्पर में न्यारी न्यारी सन्तानों के होरहे व्यवहार तो झूठी कल्पनाओं से गढ़ लिये गये हैं जैसे कि शरीर में एक अखण्ड आत्मा के भी खण्ड मान लिये जाते हैं, मेरे सिर में पीडा है, पांव में सुख है आदि। ग्रन्थकार कहते हैं कि

यह अद्वैतवादियों का कहना युक्ति रहित है क्योंकि बौद्धों के संवेदनाद्वैतवाद के समान पुरुषाद्वैत वाद का पूर्व प्रकरणों में ही निराकरण किया जा चुका है। शुभ अशुभ कर्म, विद्या अविद्या, संवृत्ति परमार्थ, रोगी नीरोग, बद्धमुक्त, ये सब द्वैतवाद में ही सध पाते हैं, अतः सूत्रकार का "जीवानां" यह बहुवचन पद और "परस्पर में एक दूसरे का उपग्रह" ये दोनों पद अतीव उपयोगी समझे गये है यहां तक पाँचवें द्रव्य-जीवों का उपकार कह दिया है।

अब सूत्रकार महाराज के प्रति किसी का प्रश्न है कि उपकारों द्वारा सत् पदार्थोंके अनुमान कराने के अवसर पर सद्भूत छठे काल द्रव्य के उपकार का कथन करना भी आवश्यक है ऐसे जिज्ञासु के उत्तर-स्वरूप अग्रिम सूत्र को श्री उमास्वामी महाराज कहते हैं—

वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

वर्तना, परिणाम, क्रिया परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्यके उपकार हैं। अर्थात्-निश्चय काल करके छहों द्रव्यों की वर्त्तना होती है। और व्यवहार काल करके अपरिस्पन्दात्मक परिणाम या परिस्पन्द-आत्मक क्रिया और कालकृत छोटापन बडापन से अनुगृहीत होते रहते हैं।

वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तना, वृत्तेर्ण्यन्तात्कर्मणि भावे वा युक् तस्यानुदात्तेत्त्वात्ताच्छीलिको वा युच् वर्तनशीला वर्तनेति ।

प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों, करके प्रति समय जो वर्ताई जाती है, वह वर्त्तना है। अथवा नवीन से कुछ जीर्ण होना स्वरूप वर्त्तन मात्र ही वर्तना मानी गयी है। पदार्थाः वर्तन्ते, कालः प्रेरयति, इति कालः पदार्थान् वर्त्तयति, वर्त्तयिता-हेतुः कालः, वर्त्यन्ते पदार्थाः कालेन। अथवा वर्त्यते इति भाव मात्रं। यहां यदि "करणाधिकरणयोश्च" इस सूत्र करके वर्तते अनया या वर्तते अस्यां यों विग्रह कर वृतु धातु से करण अथवा अधिकरण में युट् प्रत्यय किया जाता तो टकार इत् होने से स्त्रीलिंग की विवक्षा में ङी प्रत्यय प्राप्त होता, वर्त्तना पद ठीक नहीं बन सकता था अतः वर्तना शब्द को यों बना लिया जाय कि "वृतु वर्तने" धातु से णि प्रत्यय कर पुनः ण्यन्त वृतु धातु से कर्म अथवा भाव में युच् प्रत्यय कर लिया जाता है। यु को अन करते हुये स्त्रीलिंग की विवक्षा होने पर आट् प्रत्यय कर वर्त्तना शब्द बना लिया जाता है। अथवा वृतु धातु का अनुदात्त इत् संज्ञक-पना है, तभी तो यह आत्मनेपदी है। अनुदात्त इत् होने से "अनुदात्तेतश्च हलादेः" सूत्र करके तच्छील अर्थ में प्रयुक्त किया गया युच् प्रत्यय कर लिया जाय वर्त्तन स्वभाव रूप पदार्थ ही वर्त्तना है। यों तत् शीलं यस्याः इस प्रकार ताच्छीलिक युच् प्रत्यय होजाता है, वर्त्तनशील ही वर्त्तना है। इस प्रकार वर्त्तना शब्द की निरुक्ति द्वारा यथायोग्य अर्थ निकाला जा सकता है।

का पुनरियं ? प्रतिद्रव्यपर्यायमंतर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना। द्रव्य वक्ष्यमाणं तस्य पर्यायो द्रव्यपर्यायः द्रव्यपर्यायं द्रव्यपर्यायं प्रति प्रतिद्रव्यपर्यायं अन्तर्नीत एकः समयो नैपेत्यंतर्नीतैकसमया। का पुनरसौ ? स्वसत्तानुभूतिः स्वस्यैव स्वत्ता स्वसत्ता अन्यासाधारणी जन्मव्ययध्रौव्यैक्यवृत्तिरित्यर्थः। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इति वचनात्। न हि सत्तात्यंतं भिन्ना स्वाश्रयादुपपद्यते। बुद्ध्यभिधानानुप्रवृत्तिलिंगेनानुमीयमाना सैकैवेत्ययुक्तं, सादृश्योपचारात्त-

देकत्वप्रत्ययप्रवृत्तिः। जीवाजीव-तद्भेदप्रभेदैः संवध्यमाना विशिष्टा शक्तिभिरनेकत्वमास्कंद-तीति स्वसत्तायाः अनुभूतिः सा वर्त्तना वर्त्यमानत्वात् वर्तनमात्रत्वाद्वा तदुच्यते।

किसी का प्रश्न है कि यह वर्तना फिर क्या पदार्थ है? ग्रन्थकार इसका समाधान यों देते हैं, कि जिस स्वकीय सत्ता की अनुभूति ने द्रव्य की प्रत्येक पर्याय के प्रति उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य-आत्मक एक वृत्ति को एक ही समय में गर्भित कर लिया है। वह स्वकीय सत्ता का तदात्मक रस स्वरूप अनुभवन करना वर्त्तना है, यहाँ ज्ञान स्वरूप अनुभव नहीं लिया गया है। किन्तु स्वकीय केवल उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों की युगपत् प्रवृत्तिरूप सत्ता की प्रत्येक पदार्थ में पाई जाने वाली एक-रसता ग्रहण की गई है। इस वर्त्तना के अकलंक लक्षण का अर्थ इस प्रकार है कि "उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत्, सद्द्रव्य-लक्षणं गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इनसूत्रों करके द्रव्य का लक्षण भविष्य में कहा जाने वाला है। उस द्रव्य की पर्याय को द्रव्यपर्याय कहा जाता है। द्रव्य-पर्याय, द्रव्यपर्याय के प्रति जो वह प्रतिद्रव्य पर्याय है, यों षष्ठीतत्पुरुष पूर्वक अव्ययीभाव समास वृत्ति की गयी है। जिसने एक समय को अन्तरंग में प्राप्त कर लिया है, वह "अन्तर्नीतैकसमया" है। फिर वह अन्तर्नीतैकसमया क्या है? इसका उत्तर स्वकीय सत्ता का अनुभव करना है, केवल अपनी ही सत्ता को स्वसत्ता कहा गया है। अन्य पदार्थों में साधारण रूप से नहीं पाई जा रही वह सत्ता है, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उत्पत्ति, व्यय, और ध्रौव्यों की एकपने करके वृत्ति होना सत्ता है। स्वयं सूत्रकार का इस प्रकार वचन है, कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों से युक्त यानी तदात्मक वर्त रहा सत् है।

वैशेषिक विद्वान् सत्ता को अन्य अनेक पदार्थों में साधारण रूप से वर्त्त रही एक, नित्य, तथा स्वकीय आश्रय होरहे द्रव्य, गुण, कर्मों से सर्वथा भिन्न स्वीकार करते हैं। वैशेषिक दर्शन के प्रथम अध्याय में सूत्र है "द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता" किन्तु यह वैशेषिकों का मन्तव्य युक्तिसिद्ध नहीं बन पाता है क्योंकि अपने आश्रय मानेगये द्रव्य आदि से सर्वथा भिन्न होरही सत्ता जाति प्रतीत नहीं होती है। वैशेषिक यों मान बैठे हैं कि पृथिवी द्रव्य, जल द्रव्य, आत्मा द्रव्य इत्यादिक द्रव्य द्रव्य ऐसे शब्दों की पीछे पीछे प्रवृत्ति होना स्वरूप ज्ञापक हेतु करके वह द्रव्यत्व जाति जैसे एक है, उसी प्रकार सत् सत् द्रव्यं सत् है, गुणः सत् है, कर्म सत् है, इस आकार की बुद्धि और शब्दों की अनुप्रवृत्ति होना स्वरूप लिंग करके अनुमित की जारही वह सत्ता जाति एक ही है "सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" ।७। वैशेषिक दर्शन के सातमें अध्याय का सूत्र है। सत् इस प्रकार का ज्ञान या लोकव्यवहार जिससे द्रव्य, गुण, कर्मों में होता है वह सत्ता है। ग्यारहवांसूत्र यह है, कि "सदिति लिंगाविशेषादविशेषलिंगाभावाच्चैको भावः ॥ १७ ।" द्रव्य गुण कर्मों में सत् सत् ऐसा ज्ञापक लिंग विशेषता-रहित होकर प्रवर्तता है, और सत्ताके विशेषोंका सूचक कोई अन्य लिंग नहीं है, इस कारण भाव यानी सत्ता पदार्थ एक ही है।

आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकों का कहना अयुक्त है क्योंकि सदृशपन के उपचारसे उन सत्ताओं के एकपने का ज्ञान प्रवर्त जाता है। हां वस्तुतः विचाराजाय तो जीव, अजीव, पदार्थ और उनके भेद प्रभेद होरहीं अनेक व्यक्तियों के साथ अविष्वग्भाव सम्बन्धको प्राप्त होरही वह सत्ता या सत्तायें विशिष्ट शक्तियों करके अनेकपन को प्राप्त कर लेती हैं अर्थात्—अनेक द्रव्यगुण कर्मों में यदि एक सत्ता व्यापती तो अन्तराल में अवश्य दीखती। दूसरी बात यह है कि घट के उपजने पर वह सत्ता कहां से आकर घट के साथ सम्बन्धित होजाती है? बताओ, यदि वहां ही प्रथम से विद्यमान थी तो आश्रयके विना भला

कैसे ठहरी रही ? तथा घट के फूट जाने पर वह तुम्हारी नित्य, व्यापक, मानीगयी सत्ता विचारी विना आश्रय के कैसे ठहरी रह सकती है ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अतः "नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यं" यह लक्षण ठीक नहीं है। हां " सदृशपरिणामस्तिर्यक् सामान्यं " यह लक्षण समुचित है। जगत् में प्रत्येक पदार्थ की सत्ता न्यारी न्यारी है, हां सदृश होने से उन अनेक सत्ताओं में एकपन का उपचार भले ही कर लिया जाय जैसे कि दूसरे दिन भी उसी शीशी में से औषधि दे देने पर रोगी कह देता है कि वैद्य जी ! यह तो वही औषधि है, जो कि कल खाई थी किन्तु कल वाली औषधि तो कल ही खाई जा चुकी है। यह तो उसके सदृश है, इसी प्रकार सत्ता में एकपन का व्यवहार होजाता है। अपने अपने न्यारे न्यारे अगुरुलघु गुण-अनुसार अस्तित्व गुण की परिणति होरही सत्ता भी न्यारी न्यारी है। 'स्वपरादानापोहनव्यवस्थापाद्यं खलु वस्तुनो वस्तुत्वं' सभी वस्तुयें अपने अंशों को पकड़े रहती हैं, और दूसरों के सत्वों का परित्याग करती रहती हैं किसी के भी न्यारे न्यारे अंशों का अन्य किसी के साथ सम्मिश्रण या एकीभाव नहीं होसकता है। ऐसी स्वकीय स्वकीय सत्ता की जो अनुभूति यानी एकतानता है, वह वर्तना है। कर्म में युच् करने पर वर्त्तायां जा रहापन होने से वह वर्तना कह दी जाती है। अथवा भाव में युच् करने पर केवल वर्ता देना इस क्रिया मात्र से वह वर्त्तना कह दी जाती है।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ प्रति समय उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप परिणमन करता सन्ता अपनी निज सत्ता का एक रस लेरहा वर्तना में निमग्न है उस वर्त्तना का उपादान कारण वह वह पदार्थ है। हां वर्तना का निमित्त कारण कालद्रव्य है अतः काल द्रव्य का उपकार वर्तना इष्ट की गयी है। विशेष यह कहना है, कि कई विद्वान् जैसे धर्म द्रव्य गति कराने में उदासीन निमित्त है उसी प्रकार वर्तना करानेमें कालको उदासीन कारण मान लेते हैं। फिर भी वर्तयिता या परिणमयिता काल का निमित्त-पना कुछ प्रेरकता को लिये हुये है, सभी कारणों को एक ही ढंग से कार्य करने के लिये नहीं हांका जाता है। घट की उत्पत्ति में कुलाल, चक्र, डोरा, मिट्टी, अदृष्ट, रासभ, दण्ड आकाश, काल ये सब न्यारे न्यारे कर्त्तव्यों द्वारा कारण होरहे हैं। निगोदराशि से जीव को निकाल कर व्यवहार राशि में लाने के अवसर पर कालाणुओं का प्रभाव (जौहर) अनुमित होजाता है। सम्यक्त्वादि की प्राप्ति या नियत काल में फल, पुष्प, तृण, वल्ली आदि के लगने अथवा ऋतु परिवर्तन में जहाँ काल लब्धि को कारण माना गया है। एवं अष्टमी, चतुर्दशी पर्व अष्टान्हिका, दशलक्षण पर्व, कल्याण दिवस आदि की शक्तिओं का निरूपण है। वहां व्यवहार काल की भी सामर्थ्य का अनुमान लगाया जा सकता है, " दव्वपरिवट्ट रूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो" (द्रव्य संग्रह) गति कराने में धर्म द्रव्य की उदासीनकारणता और उक्त कार्यों में काल की निमित्त-कारणता का अन्तर स्पष्ट है।

अन्तर्नीतैकसमयः स्वसत्तानुभवो भिदा।
यः प्रतिद्रव्यपर्यायं वर्तना सेह कीर्त्यते ॥ १ ॥
यस्मात्कर्मणि भावे च ण्यंताद्वर्तेः स्त्रियां युचि।
वर्तनेत्यनुदात्तेत्त्वाच्छील्यादौ वा युचीष्यते ॥ २ ॥

उक्त वर्तनाका वार्तिकों द्वारा ग्रन्थकार करके यों विवरण किया जा रहा है कि द्रव्यके प्रत्येक पर्याय के प्रति जो एक समय का अन्तरंग में प्राप्त करता हुआ भेदविवक्षा अनुसार स्वकीय सत्ता का अनुभव है, वह यहां प्रकरणमें वर्तना बखानी जाती है, जिस कारण से कि वर्तना शब्द को व्याकरण द्वारा सिद्धि यों की जाती है कि णि प्रत्ययान्त वर्त्ति धातु से कर्म या भाव में युच् प्रत्यय करने पर स्त्रीलिंग की विवक्षा होतेसन्ते "वर्तना" यह शब्द निष्पन्न होजाता है अथवा अनुदात्त इत् होने से ताच्छील्य, अधिकरण, आदि अर्थमें युच् प्रत्यय करने पर वर्तना शब्द बन गया इष्ट कर लिया जाता है

धर्मादीनां हि वस्तूनामेकस्मिन्नविभागिनि ।
समये वर्तमानानां स्वपर्यायैः कथंचन ॥ ३ ॥
उत्पादव्ययध्रौव्यविकल्पैर्बहुधा स्वयं ।
प्रयुज्यमानतान्येन वर्तना कर्म भाव्यते ॥ ४ ॥
प्रयोजनं तु भावः स्यात्स चासौ तत्प्रयोजकः ।
काल इत्येष निर्णीतो वर्तनालक्षणोंजसा ॥ ५ ॥

बहुत प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों के विकल्प स्वरूप अपनी पर्यायों करके एक अविभागी समय में किन्हीं न किन्हीं कारणों अनुसार स्वयं वर्तन कर रहे धर्म आदिक छहों वस्तुओं की जो अन्य किसी प्रयोजक कारण करके प्रयुज्यमानपना है। वह वर्तना नाम की क्रिया विचारली जाती है। भावार्थ—धर्मादिक छहों द्रव्यें अपने अन्तरंग, बहिरंग कारणों अनुसार प्रत्येक समय में अपनी अपनी अनेक उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों, के विकल्प स्वरूप पर्यायों करके अनेक ढंगों से स्वयं वर्त रही हैं। तथापि किसी अन्य प्रयोजक कर्ता करके इन धर्मादिकों में प्रेरितपना विचार लिया जाता है। बस वही वर्तना इस प्रयोजक कर्त्ता काल के द्वारा किया गया उपकार है। प्रयोजक काल का भाव तो धर्मादिकों का वर्ता देना प्रयोजन है, और वह जो उनका प्रयोजक यह काल है। इस प्रकार यह निर्दोष रूप से वर्त्तना नामक लक्षण को धार रहा काल द्रव्य निर्णीत होजाता है। नवगणी या दशगणी का कर्त्ता प्रयुज्य होजाता है, और ण्यन्त का कर्त्ता प्रयोजक होजाता है। प्रयोजक का प्रयो न यहां वर्तना नामक परिणति है, जोकि युक्तियों से शीघ्र समझली जाती है।

प्रत्यक्षतोऽप्रसिद्धापि वर्तनास्मादृशां तथा ।
व्यावहारिककार्यस्य दर्शनादनुमीयते ॥ ६ ॥
यथा तंदुलविक्लेदलक्षणस्य प्रसिद्धितः ।
पाकस्यौदनपर्यायनामभाजः प्रतिक्षणं ॥ ७ ॥
सूक्ष्मतंदुलपाकोस्तीत्यनुमानं प्रवर्तते ।
पाकस्यैवान्यथेष्टस्य सर्वथानुपपत्तितः ॥ ८ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तथैव स्वात्मसद्भावानुभूतौ सर्ववस्तुनः ।
प्रतिक्षणं बहिर्हेतुः साधारण इति ध्रुवम् ॥ ९ ॥
प्रसिद्धद्रव्यपर्यायवृत्तौ बाह्यस्य दर्शनात् ।
निमित्तस्यान्यथाभावाभावान्निश्चीयते बुधैः ॥ १० ॥

हम सारिखे अल्पज्ञ जीवों के यहां प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं भी होरही वर्तना तिस प्रकार व्यवहारोपयोगी कार्य के देखने से अनुमित होजाती है। जिस प्रकार कि चावलों का अग्निसंयोग अनुसार खदर, बदर, होकर पकना-स्वरूप पाक की प्रसिद्धि होजाने से यह अनुमान प्रवर्त जाता है कि भात इस नाम को धारने वाली पर्याय का पूर्व में प्रत्येक क्षण में सूक्ष्म रूप से चावलों का पाक हुआ है। अन्यथा यानी प्रतिक्षण सूक्ष्मरूप से पाक होना यदि नहीं माना जायगा तो इष्ट होरहे पाक की सभी प्रकारों से सिद्धि नहीं होसकती है। भावार्थ—प्रत्येक क्षण में सूक्ष्म परिणाम करता हुआ बालक जिसप्रकार युवा होजाता है। उसी प्रकार अग्नि द्वारा चावलों को पकाने पर भी क्रम क्रम से सूक्ष्म पाक होते होते भात बन सका है, अन्यथा नहीं। अतः उन अतीन्द्रिय सूक्ष्म पाकों का जैसे अनुमान कर लिया जाता है। उसी प्रकार वर्तना का अनुमान कर लिया जाता है। सम्पूर्ण वस्तुओं के प्रत्येक क्षण में होने वाले अपने निज सद्भाव के अनुभव करने में कोई साधारण बहिरंग हेतु है। यह निश्चित मार्ग है, द्रव्यों की प्रसिद्ध होरहीं पर्यायों के वर्तने में भी बहिरंग निमित्त कारण देखा जाता है। अन्यथा उन पर्यायों के भाव का अभाव है, अतः अन्यथानुपपत्ति द्वारा विद्वानों करके उस अतीन्द्रिय भी वर्तना का निश्चय कर लिया जाता है, वह वर्तना काल द्रव्य करके किया गया उपकार है।

आदित्यादिगतिस्तावन्न तद्धेतुर्विभाव्यते ।
तस्यापि स्वात्मसत्तानुभूतौ हेत्वन्यपेक्षणात् ॥ ११ ॥

मुख्य काल को नहीं मानने वाले श्वेताम्बर कहते हैं कि सूर्य चन्द्रमा आदि की गति या ऋतु अवस्था, आदि उस वर्तना की प्रयोजक हेतु होजायगी। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं, कि सूर्य आदि की गति तो उस वर्तना का हेतु नहीं है। यह बात यों विचार ली जाती है कि उन सूर्य आदि के गमन या ऋतु की भी स्वकीय निज सत्ता के अनुभव करने में किसी अन्य हेतु की विशेषतया अपेक्षा होजाती है। अतः अन्य हेतु काल द्रव्य का मानना श्वेताम्बरों को भी आवश्यक पड़ेगा।

न चैवमनवस्था स्यात्कालस्यान्याव्यपेक्षणात् ।
स्ववृत्तौ तत्स्वभावत्वात्स्वयं वृत्तेः प्रसिद्धितः ॥ १२ ॥

यदि कोई यों कहे कि धर्मादिक की वर्तना कराने में काल द्रव्य साधारण हेतु है और काल द्रव्य की वर्त्तना में भी वर्त्तयिता किसी अन्य द्रव्य की आवश्यकता पड़ेगी और उस अन्य द्रव्य की वर्तना करानेमें भी द्रव्यान्तरों की आकांक्षा बढ़ जानेसे अनवस्था दोष होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि हमारे यहां इस प्रकार अनवस्था दोष नहीं आता है क्योंकि काल को अन्य द्रव्य की व्यपेक्षा नहीं है अपनी वर्तना करने में उस काल का वही स्वभाव है क्योंकि दूसरों के वर्तना कराने के समान काल द्रव्य की स्वयं

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

निज में वर्तना करने की प्रसिद्धि होरही है जैसे कि आकाश दूसरों को अवगाह देता हुआ स्वयं को भी अवगाह दे देता है, ज्ञान अन्य पदार्थोंको जानता हुआ भी जान लेता है।

तथैव सर्वभावानां स्वयं वृत्तिर्न युज्यते।
दृष्टेष्टबाधनात्सर्वादीनामिति विचिंतितम् ॥१३॥

यहां किसी का यह कटाक्ष करना युक्त नहीं है कि जिस प्रकार काल स्वयं अपनी वर्त्तना का प्रयोजक हेतु है उस ही प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों की स्वमेव वर्तना होजायगी कारण कि घट, पट आदि सम्पूर्ण पदार्थों को स्वयं वर्तना का प्रयोजक हेतुपना मानने पर प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणों करके बाधा आती है, इस बात का हम पूर्व प्रकरण में विशेष रूप से विचार कर चुके हैं, प्रदीपका स्वपरोद्योतन स्वभाव है, घट का नहीं। कतक फल या फिटकिरी स्वयं को और कीच को भी पानी में नीचे बैठा देते हैं, वायु या फेन नहीं।

न दृश्यमानतैवात्र युज्यते वर्तमानता।
वर्तमानस्य कालस्याभावे तस्याः स्वतो स्थितेः ॥१४॥
प्रत्यक्षासंभवासक्तेरनुमानाद्ययोगतः।
सर्वप्रमाणनिन्हुत्या सर्वशून्यत्वशक्तितः ॥१५॥

मुख्य काल और व्यवहारकाल को नहीं मानने वाले बौद्ध यहां कटाक्ष करते हैं कि वर्तमान काल कोई पदार्थ नहीं है, निर्विकल्पक दर्शन द्वारा जो पदार्थों की दृश्यमानता है वही वर्तमानता है अत एव इस अन्यापोह रूप धर्म को ही वर्तना कहा जा सकता है, इसके लिये इतने लम्बे चौड़े कार्य कारण भाव के मानने की अवश्यकता नहीं। आचाय कहते हैं कि यह बौद्धों का कहना युक्तिपूर्ण नहीं है क्योंकि वर्तमानकाल का अभाव मानने पर उस दृश्यमानता की स्वयं अपने आप से व्यवस्था नहीं होसकती है क्योंकि "दृशि प्रेक्षणे" धातु से कर्म में यक् करते हुये पुनः वर्तमानकाल की विवक्षा होने पर "शानच' प्रत्यय करने पर दृश्यमान बनता है, दूसरी बातयह है कि वर्तमान कालके नहीं मानने पर प्रत्यक्ष प्रमाण के असम्भव होजानेका प्रसंग होगा क्योंकि वर्तमान कालीन पदार्थोंको इन्द्रिय, अनिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष जानते हैं, प्रत्यक्ष को मूल मान कर अनुमान आदि प्रमाण प्रवर्तते हैं अतः प्रत्यक्ष प्रमाण का असम्भव होजानेसे अनुमान आदि प्रमाणोंकी योजना नहीं होसकती है, ऐसी दशामें सम्पूर्ण प्रमाणोंका अपलाप होजानेसे सर्व पदार्थोंके शून्यपनका प्रसंग आवेगा जो कि किसीको भी इष्ट नहीं है, अतः वतमान कालका मानना अत्यावश्यक है। जो पण्डित यों कह देते हैं कि 'वर्तमानाभावः पततः पतित पतितव्य कालोपपत्तः' अर्थात्-वर्तमानकाल कोई नहीं हैं क्योंकि वृक्ष से पतन कर रहे फल का कुछ देश तो पतित होकर भूतकाल के गर्भ में चला गया है और कुछ नीचे पड़ने योग्य देश भविष्य काल में आने वाला है अतः भूत पतित और भविष्य पतितव्य काल ही हैं। उन पण्डितों की यह तर्क निस्सार है जब कि फल का वर्तमान काल में पतनहोरहा प्रत्यक्ष सिद्ध है, वतमान को मध्यवर्ती मान कर ही भूत, भविष्य काल माने जा सकते हैं, अन्यथा नहीं।

स्वसंविदद्वयं तत्वमिच्छतः सांप्रतं कथम्
सिद्धयेन्न वर्तमानोस्य कालः सूक्ष्मः स्वयंप्रभुः ॥१६॥

जो बौद्ध बहिरंग सम्पूर्ण पदार्थों को नहीं मान कर स्वसम्वेदनाद्वैत को ही तत्व इच्छते हैं उनके यहां वर्तमान काल में वर्त रहा सम्वेदनाद्वैत भला किस प्रकार सिद्ध नहीं होगा ? और ऐसा मानने पर इस सम्वेदनाद्वैतका स्वयं प्रभु होरहा और परम सूक्ष्म वर्तमान काल सिद्ध नहीं होवे ? यानी वर्तमानकाल अवश्य सिद्धहोजावेगा । क्षणिक-वादी बौद्धों को बड़ी सुलभता से वर्तमान क्षण इष्ट करना पड़ेगा कारणकि वर्तमान क्षणमें पदार्थकी सत्ता मा ते हुये उन्होंने दूसरे क्षणमें पदार्थों का स्वभाव से होरहा विनाश इष्ट किया है "द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वं,, ।

ततो न भाविता द्रक्ष्यमाणता नाप्यतीतता ।
दृष्टता भाव्यतीतस्य कालस्यान्यप्रसिद्धितः ॥१७॥

सर्वाधिकार आप्तमार्ग श्री सुविधिसागर जी महाराज

तिसही कारण भविष्यमें दर्शनका विषय होजाना यह द्रक्ष्यमाणता ही भविष्यता नहीं है और तिस ही कारण दृष्टता ही अतीतपना भी नहीं है क्योंकि अन्य भी भविष्य में होने वाला भावी काल और होचुके अतीत काल के ओत प्रोत चले आरहे अन्वय की प्रसिद्धि होरही है । ज्ञान करके देखा चुकापन या देखाजायगापन केवल इतना स्वभाव ही भूतकाल या भविष्यकाल नहीं है किन्तु यथार्थ में पदार्थों के परिणमयिता भूत, वर्तमान, भविष्य, काल हैं ।

गतं न गम्यते तावदागतं नैव गम्यते ।
गतागतविनिर्मुक्तं गम्यमानं न गम्यते ॥१८॥
इत्येवं वर्तमानस्य कालस्याभावभाषणं ।
स्ववाग्विरुद्धमाभाति तन्निषेधे समत्वतः ॥१९॥
निषिद्धमनिषिद्धं वा तद्द्वयोन्मुक्तमेव वा ।
निषिध्यते न हि क्वैवं निषेधो विधिरेव वा ॥२०॥

कोई पण्डित कहते हैं कि कोई पथिक मार्ग में गमन कर रहा है जितना मार्ग वह गमन कर चुका है वह फिर गमन नहीं किया जाता है क्योंकि वह गत होचुका और जो भविष्य में आने योग्य मार्ग है वह भी गमन नहीं किया जा सकता है कारण कि वह तो भविष्य काल में गमन किया जावेगा अब गत और आगत मार्गसे रहित कोई गम्यमान स्थल शेष नहीं रहा तो वह नहीं गमन किया जायगा ऐसी दशा में गत और गमिष्यमाण से अतिरिक्त वर्तमानका कोई गम्यमान शेष नहीं रहता है ।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो पण्डित वर्तमान कालके अभाव को बखानते हैं उनका भाषण स्ववचन-विरुद्ध प्रतीत होरहा है क्योंकि उस वर्तमानके निषेधमें भी समान रूपसे वैसे ही आक्षेप प्रवर्त जाता है हम जैन उन वर्तमान काल का निषेध करने वाले पण्डितों से पूछते हैं कि आप निषिद्ध

पदार्थका निषेध करते हो ? अथवा नहीं-निषिद्ध पदार्थ का निषेध करते हो ? अथवा क्या निषिद्ध और अनिषिद्ध उन दोनों स्वभावों से रहित होरहे ही पदार्थका निषेध करते हो ? तीनों पक्षोंमें इस प्रकारका निषेध नहीं बन सकता है, विधि ही बन बैठेगी, निषेध कहां रहा ? अर्थात्-निषिद्ध का निषेध करने पर सद्भाव उपस्थित होजाता है और अनिषिद्ध का निषेध करते हुये वदतोव्याघात दोष है फिर भी विधि ही आई तथा जो निषिद्ध भी नहीं और अनिषिद्ध भी नहीं उसका परिशेष में जाकर विधान होजाता है, निषिद्ध नहीं, अनिषिद्ध भी नहीं यों दोनों में से किसी भी एक का निषेध करते ही झट दूसरे का विधान होजाता है, यों व्याघात हुआ जाता है अथवा सत् का निषेध भी नहीं होसकता है, विरोध है, खरविषाणके समान। असत् पदार्थका भी विषेध नहीं होसकता है, अतः वर्तमान कालका भी निषेध अशक्य होगया। बात यह है कि कुचोद्यों द्वारा किसी भी सद्भूत पदार्थ का निषेध या असद्भूत पदार्थ का विधान करना अन्याय है।

मार्गदर्शक- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्व वाभ्युपगमः सिद्धयेत् प्रतिज्ञाहानिसंगतः।
तस्य स्वयं प्रतिज्ञानाद्वर्तमानस्य तत्वतः ॥२१॥
तथैव च स्वयं किंचित्परैरभ्युपगम्यते।
तथैव गम्यते किं न क्रियते वेद्यतेपि च ॥२२॥
संवेदनाद्वयं तावद्विदितं नैव वेद्यते।
न चाविदितमात्मादितत्वं वा नापि तद्द्वयं ॥२३॥
इति स्वसंविदादीनामभावः केन वार्यते।
वर्तमानस्य कालस्यापन्हवे स्वात्मविद्विषां ॥२४॥

इस प्रकार कुतर्क करने वाले बौद्धों के यहाँ भला किस निर्णीत पदार्थ में स्वीकृति कर लेना सिद्ध होसकेगा क्योंकि प्रतिज्ञाहानि दोषका प्रसंग आता है जब कि वास्तविक रूप से उस वर्तमान काल की उन्हों ने स्वयं प्रतिज्ञा करली है तिस ही प्रकार दूसरों करके जो कुछ स्वीकार किया जाता है उसको बौद्ध जब स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और उस ही प्रकार प्राप्त कर लेते हैं तो फिर भला वह क्यों नहीं किया जायगा ? और क्यों नहीं जाना जायगा।

अर्थात्- स्वीकार कर लेना प्राप्त कर लेना विधान कर लेना, जान लेना ये सब वर्तमान काल के स्वीकार कर लेने पर ही बन सकते है। केवल सम्वेदनाद्वैत वादियों का शुद्ध सम्वेदनाद्वैत तो नहीं जानाजाता है जो अंश उसका पूर्व में जाना जा चुका है वह वर्तमान में नहीं जाना जा सकता है और नहीं जाने जा चुके आत्मा आदिक तत्व तो कथपपि नहीं वेदे जाते हैं तथा उन विदित और अविदित का द्वय अथवा ज्ञान और आत्मा का द्वय तो अद्वैतवादियों के यहां नहीं जाना जाता है. इस प्रकार वर्तमान काल का अपन्हव (छिपजाना) मानने पर अपने निज आत्मा के साथ विद्वेष करनेवाले बौद्धों के यहां स्वसम्वेदन आदिकों का अभाव किस के द्वारा रोका जा सकता है ? अर्थात्-वर्तमान काल का

नहीं मानने पर स्वसम्वेदनाद्वैत, चित्राद्वैत आदिका अभाव होजावेगा, कोई रोक नहीं सकता है विदित अंश जाना नहीं जा सकता है और अविदित अंश भी नहीं जाना जाता, तबतो कुछ भी नहीं जाना जाता है।

न संवित्संविदेवेति स्वतः समवतिष्ठते।
ब्रह्म ब्रह्मैव वेत्यादि यथाऽभेदाप्रसिद्धितः २५॥

सम्वेदन सम्वेदनस्वरूप ही है इस प्रकार सम्वेदनाद्वैत की अपने आप ही से व्यवस्था नहीं होजाती है जैसे कि ब्रह्म ब्रह्म ही है, शब्द शब्द ही है, इत्यादि व्यवस्थायें स्वतः नहीं प्रतिष्ठित होपाती तुम्हारे यहां मानी गयी हैं। बात यह है कि अभेद-वादियों के मन्तव्य अनुसार उस अभेद की प्रमाणों से प्रसिद्धि नहीं है। यदि सम्वेदनाद्वैतवादी अपने सम्वेदनकी स्वतः सिद्धि स्वीकार करेंगे तो ब्रह्माद्वैत-वादी भी अपने परम ब्रह्मकी स्वतःसिद्धि अभीष्ट करलेंगे, शब्दाद्वैत-वादी भी आडटेंगे, यों सभी अनिष्ट तत्वों की स्वतःसिद्धियां होने लगेंगी।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तत्स्वसंवेदनस्यापि संतानमनुगच्छतः।
परेण हेतुना भाव्यं स्वयं वृत्यात्मनां न सः ॥२६॥
वर्तनैवं प्रसिद्धा स्यात्परिणामादिवत् स्वयं।
ततः सिद्धान्तसूत्रोक्ताः सर्वेमी वर्तनादयः ॥२७॥

तिस कारण स्वसम्वेदन की भी सन्तान को अनुगमन कर मान रहे बौद्धों के यहां उस संतान को चलाने का कोई दूसरा हेतु होना चाहिये। अतः कालद्रव्य का मानना आवश्यक है। हां जो स्वयं वर्तना स्वरूप परिणमरहे पदार्थ हैं, उनका वर्तयिता वह काल कोई न्यारा हेतु नहीं है। इस प्रकार बौद्ध अथवा कोई भी दार्शनिक हो उनके यहां पदार्थकी वर्तना प्रसिद्ध हो ही जाती है जैसे कि परिणाम आदिक स्वयं प्रसिद्ध मानने पड़ते हैं। तिस कारण सिद्धान्त सूत्रों मे वे सभी वर्तना, परिणाम, आदिक बहुत अच्छे कहे गये हैं, किसी भी प्रमाण से बाधा उपस्थित नहीं होती है।

अत एवाह

इस ही कारण से ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक में यों स्पष्ट कह रहे हैं— :

कालस्योपग्रहाः प्रोक्ता ये पुनर्वर्तनादयः।
स्यात्त एवोपकारोतस्तस्यानुमितिरिष्यते ॥ २८ ॥

फिर जो सूत्रकार ने कालके वर्तना, परिणाम आदिक उपग्रह बहुत अच्छे कहे हैं। वे ही वर्तना आदिक काल के उपकार होसकते हैं। इन वर्तना आदिक ज्ञापक लिंगों से उस अतीन्द्रिय काल का अनुमान होजाना अभीष्ट किया जाता है, जैसे कि पूर्व सूत्रों के अनुसार धर्म आदिक का अनुमान किया जा चुका है।

वर्तना हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां तत्सत्तायाश्च साधारण्याः सूर्यगत्यादीनां च स्वकार्यविशेषानुमितस्वभावानां बहिरंगकारणापेक्षा कार्यत्वात्तदुलपाकवत्। यत्तावद्बहिरंगं कारणं स कालः।

गुरुदेवश्री आत्मार्थी श्री सहजानन्द जी महाराज

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों की तथा उन में साधारण रूप से पायी जा रही उनकी सत्ता की एवं अपने अपने कार्य विशेषों से अनुमित होरहे स्वभावोंको धारने वाले सूर्य गमन ऋतुप्रभाव, आदि की वर्तना (पक्ष) अवश्य बहिरंग कारणों की अपेक्षा रखती है (साध्य) कार्य होने से हेतु) चावलों के पाक समान (अन्वय दृष्टान्त)। जो उस वर्तना का बहिरंग कारण होगा वह तो काल द्रव्य ही होसकता है अर्थात्—चावलों के पकने में जैसे बहिरंग कारण अग्नि है उसी प्रकार जीव आदि द्रव्यों की वर्तना कराने में और उनकी सत्ताके वर्तने में अथवा सूर्यगति, वर्षा होना, ऋतुकार्य आदि के वर्तने में बहिरंग कारण काल द्रव्य है।

ननु कालवर्तनया व्यभिचारः स्वयं वर्तमानेषु कालाणुषु तदभावात्। न हि कालाणवः स्वसत्तानुभूतौ प्रयोजकमपरमपेक्षंते सर्वप्रयोजकस्वभावत्वात्स्वप्रयोजकत्वाभावे सर्वप्रयोजकस्वभावत्वविरोधात्। स्वस्य स्वावगाहहेतुत्वाभावे सर्वावगाहहेतुत्वस्वभावत्वविरोधवत्। सर्वज्ञविज्ञानस्य स्वरूपपरिच्छेदकत्वाभावे सर्वज्ञत्वविरोधद्वा। दिशः स्वस्मिन् पूर्वापरादिप्रत्ययहेतुत्वाभावे सर्वत्र पूर्वापरादिप्रत्ययहेतुत्वविरोधवद्वेति केचित्।

यहां कोई पण्डित प्रश्न उठाते हैं, कि उक्त कार्यत्व हेतु का काल द्रव्यकी वर्तना करके व्यभिचार आता है क्योंकि स्वयं अपने आप वर्तना कर रहे कालाणुओं में उस बहिरंग कारण की अपेक्षा स्वरूप साध्य का अभाव है। देखिये कालाणुयें अपनी सत्ता का अनुभव करना स्वरूप वर्तना में किसी दूसरे प्रयोजक हेतु की अपेक्षा नहीं करती हैं। क्योंकि उन कालाणुओं का स्वभाव सम्पूर्ण द्रव्यों की वर्तना करने में प्रयोजकपना है. यदि वे कालाणुयें स्वयं अपनी ही वर्तना करने में प्रयोजक नहीं मानी जावेंगी तो उनके सर्वप्रयोजक स्वभाव होने का विरोध आजावेगा, जैसे कि आकाश को अपने स्वयं अवगाह का हेतुपना नहीं मानने पर सम्पूर्ण द्रव्यों के अवगाह देने के हेतुपन स्वभाव होने का विरोध होजाता है। सबको अवगाह वही दे सकता है जो स्वको भी अवगाह देता है। सब में स्व सब से पहिले आता है। इसी प्रकार काल द्रव्य स्वयं अपनी वर्तना करने में प्रयोजक हेतु होगा तभी सबका वर्तयिता होसकता है।

अथवा दूसरा दृष्टान्त यह है कि सर्वज्ञ का विज्ञान यदि अपने निजरूप का परिच्छेदक नहीं माना जायगा तो उसके सबको जान लेने स्वभावका विरोध होजायगा सर्वज्ञ का विज्ञान स्वको जानता हुआ ही सर्व का ज्ञाता बन सकता है। अथवा तीसरा दृष्टान्त यों समझिये कि दिशा को अपने में पूर्व पश्चिम, आदि ज्ञानों का हेतुपना नहीं मानने पर सम्पूर्ण पदार्थों में पूर्व, पश्चिम, ज्ञान करने के हेतुपन का जैसे विरोध होजाता है। यानी दिशायें स्व में पूर्व, पश्चिम, आदि का व्यवहार कराती हुई ही मूर्त द्रव्यों में पूर्व आदि व्यवहार को करातीं हैं, अन्यथा अनवस्था होजायगी। भावार्थ—आकाश स्वयं अपना अवगाहक है ज्ञान स्वयं अपना परिच्छेदक है। दिशा स्वयं अपने को पूर्व आदि व्यवस्था करा-

देती है। इसी प्रकार काल द्रव्य की वर्तना स्वयं होरही है, ऐसी दशा में हेतु के रहजाने पर साध्य के नहीं रहते सन्ते काल वर्तना करके व्यभिचार हुआ, यों कोई पण्डित कह रहे हैं।

कालवर्तनाया अनुपचरितरूपेणासद्भावात् यस्यासावन्येन वर्त्यते तस्या सा मुख्य-वर्तना कर्मसाधनत्वात्ततस्याः। कालस्य तु नान्येन वर्त्यते तस्य स्वयं स्वसत्तावृत्तिहेतुत्वाद् यथा नवस्थाप्रसंगात् ततः कालस्य वर्तो वृत्तिरेवोपचारतो वर्तना वृत्ति र्तकयोर्विभागाभावान्मुख्य-वर्तनानुपपत्तेः।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अब आचार्य उत्तर कहते हैं कि मुख्यरूप से काल वर्तना का असद्भाव है। जिस द्रव्य की वह वर्तना अन्य द्रव्य करके वर्तायी जाती है, उसकी वह मुख्य वर्तना है। क्योंकि कर्म में निरुक्ति कर उस वर्तना को साधा गया है। कालद्रव्य की वर्तना तो अन्य द्रव्य करके नहीं वर्त्तायी जाती है। कारण कि वह काल स्वय अपनी सत्ताकी वृत्ति का कारण है। अन्यथा यानी काल के वर्त्तने में भी अन्य वर्तयिता द्रव्य की अपेक्षा होगी तो अनवस्था दोष का प्रसंग आवेगा तिस कारण काल की स्वयं अपने आप से वृत्ति होजाना ही उपचार से वर्तना मानी गयी है क्योंकि वृत्ति और वर्तकके विभाग का अभाव होजाने से काल के मुख्य वर्तना की सिद्धि नहीं होपाती है।

अर्थात्—दूसरे मनुष्य करके माल खरीदने पर तो विक्रेता के यहां बेचने का व्यवहार मुख्य समझा जाता है। स्वयं खरीद लेने से विक्रय व्यवहार नहीं मानाजाता है, उसी प्रकार जहाँ भिन्न द्रव्य प्रयोजक हेतु है। उन जीव आदि पांच द्रव्यों की वर्तना तो मुख्य है, और स्वयं हेतु होजाने से कालकी वर्तना केवल उपचरित है। अतः उपचरित यानी असद्भूत पदार्थ करके हेतु का व्यभिचार दोष नहीं हुआ करता है, एक द्रव्य वर्तने योग्य होता और दूसरा द्रव्य वर्तने का कारक वर्तक होता तब तो मुख्य वर्तना होसकती थी, अन्यथा नहीं।

शक्तिभेदात्तयोर्विभागे तु सा कालस्य यथा मुख्या तथा च बहिरंगनिमित्तापेक्षात्वं वर्तकशक्तेर्बहिरंगकारणत्वात् ततो न तया व्यभिचारः।

यदि वह पण्डित यों कहै कि जैसे ज्ञान में वेद्य और वेदक दोनों शक्तियां विद्यमान हैं। प्रदीप में स्व-प्रकाशत्व और पर-प्रकाशत्व दोनों शक्तियां हैं, इसी प्रकार काल द्रव्य में वर्त्यत्व और वर्तकत्व भिन्न भिन्न शक्तियां हैं। शक्तियों के भेदसे उन वृत्ति और वर्तक पदार्थों का विभाग होजायगा यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि ठीक है यों तो जिस प्रकार वह काल की वर्तना मुख्य सध जाती है उस ही प्रकार बहिरंग निमित्तों की अपेक्षा होना साध्य भी घटित होजाता है। क्योंकि काल की कथंचित् भिन्न मान ली गयी वर्तकत्व शक्ति यहां काल के वर्त्तने में बहिरंग कारण पड़ गयी है, तिस कारण उस कालवर्तना करके व्यभिचार दोष नहीं हुआ कालवर्तना में हेतु रह गया तो क्या हुआ साध्य भी तो साथ ही साथ ठहर गया है। ऐसी दशा में व्यभिचार दोष नहीं आता है।

अकालवृत्तित्वे सति कार्यत्वादिति सविशेषणो वा हेतुः सामर्थ्यादवसीयते। यथा पृथिव्यादयः स्वतोर्थान्तरभूतज्ञानवेद्याः प्रमेयत्वादित्युक्तेप्यज्ञानत्वे सतीति गम्यते, अन्यथा ज्ञानेन स्वयं वेद्यमानेन व्यभिचारप्रसंगात।

अथवा " कार्यत्वात् " इतना ही हेतु नहीं समझा जाय " अकालवृत्तित्वे सति " यह विशेषण जोड़ दिया जाय काल वर्तना ही व्यभिचार स्थल होसकता है। अतः तद्भिन्नत्व का निवेश कर देना उचित है, बिना कहे ही शब्दों की सामर्थ्य से यह निर्णीत कर लिया जाता है कि ग्रन्थकार ने यहां कालवर्तना से भिन्न होते हुये कार्यपना यों विशेषणसहितहेतु कहा है। जैसे कि किसी ने यह अनुमान कहा कि पृथिवी, जल आदिक पदार्थ (पक्ष) स्व से भिन्न होरहे ज्ञान करके जानने योग्य हैं। साध्य) प्रमेय होने से (हेतु) यों केवल प्रमेयत्व हेतु कह देने पर भी ज्ञानभिन्नत्वे सति यह विशेषण विना कहे ही जान लिया जाता है। अन्यथा स्वयं अपने आप वेदे जारहे ज्ञान करके व्यभिचार दोष होजाने का प्रसंग आजावेगा, प्रमेय तो ज्ञान भी है किन्तु वह स्व से निराले अन्य ज्ञान करके वेद्य नहीं है। ज्ञान तो स्वसम्वेद्य है।

गम्भीर विद्वानों के वाक्य सोपस्कार होते हैं, अभिप्राय को नहीं समझ कर कोरे शब्दों पर ही से व्यभिचार दोष उठा देना तुच्छता है। गम्भीरता का पाठ पढ़ने वालों को ऐसे तुच्छ कमीनेपन से अपने को बचातेरहना चाहिये यद्यपि यह कार्य कठिन है। किन्तु असम्भव नहीं। तुम्हारा मित्र ग्राम को जारहा है तुमने उससे कहा कि सम्भवतः मेह पड़ेगा, अतः छतरी लेते जाओ। वह मित्र मेह नहीं बरसने का आग्रह करता हुआ छतरी को नहीं लेगया, दैव योग से मार्ग में मेह बरसा और मित्र बेचारा वस्त्र तथा अन्य सामान के साथ भीग गया और लौट कर मित्रने सम्पूर्ण व्यवस्था सुनाई। मित्र की दशा को सुनकर तुम्हें इतनी गम्भीरता बनाई रखनी चाहिये जिससे कि झटिति यह शब्द नहीं निकल पड़े कि हमने तभी तुमसे कहा था कि छतरी लेते जाना। तात्पर्य यह है कि पक्ष के प्रयोग की सामर्थ्य से ग्रन्थकार का यही अभिप्राय जंचता है कि वे हेतु दल में " कालवर्तनाभिन्नत्वे सति " इतना विशेषण लगा रहे हैं।

नन्वत्र प्रमेयत्वादेवेत्यवधारणात्तदप्रमाणत्वे सतीति विशेषणमनुक्तमपि शक्यमवगंतुमन्यत्र तु कथमिति चेत्, कार्यत्वादेवेत्यवधारणाश्रयणादन्यत्राप्यकारणत्वे सतीति विशेषणं तावद् गम्यते कारणं च युगपत्सकलवृत्तिमतां वृत्तौ कालवृत्तिरित्यकालवृत्तित्वे सतीति विशेषणं लभ्यत एव सामर्थ्यात् ततो न प्रकृते हेतौ विशेषमिच्छता हेत्वंतरं।

सन्तुष्ट नहीं हुये उस विद्वान् का पुनः प्रश्न है कि सभी वाक्यों में अवधारण लग जाते हैं। इस बात को जैन भी मानते हैं " पृथिव्यादयः स्वतो अर्थान्तरभूत-ज्ञान-वेद्याः प्रमेयत्वात् " इस अनुमान में प्रमेयत्वात् एव" इस प्रकार अवधारण कर देने से प्रमाण भिन्नत्वे सति यह विशेषण विना कहे भी जाना जा सकता है किन्तु अन्य स्थल पर यानी " वर्तना बहिरंगकारणापेक्षा कार्यत्वात् इस अनुमान में वह " कालवर्तनाभिन्नत्वे सति " यह विशेषण भला किसप्रकार जाना जा सकता है।

अर्थात्—प्रमेयपना ही जहां है वह अपने से अर्थान्तर होरहे ज्ञान के द्वारा वेद्यपना है यद्यपि ज्ञान प्रमेय है तथा साथमें प्रमाण भी है अतः केवल प्रमेय ही तो ज्ञान भिन्न पदार्थ पृथिवी, जल आदिक ही होसकते हैं। अतः "प्रमाणभिन्नत्वे सति" यह विशेषण विना कहे ही निकल पड़ता है, किन्तु आप जैनों के अनुमान में कालवर्तना भिन्नत्वे सति यह विना कहे यों ही नहीं टपक पड़ेगा। यों आक्षेप करने पर तो ग्रन्थकार समाधान करते हैं, कि यहां भी कार्यत्वादेव इस प्रकार एव द्वारा अवधारणका आश्रय लेने से हमारे दूसरे अनुमान में भी " अकारणत्वे सति " यह विशेषण तो विना कहे ही जान लिया

जाता है, जो अन्य द्रव्य करके की गयीं कार्यरूप ही वर्तनायें हैं। वे ही पकड़ी जायंगी, स्व करके की गयीं अथवा जो कथंचित् कारण भी होसकती है, वह काल वतना नहो ली जासकेगी कार्य कहने से कारणत्व से रीते कार्य ही ग्रहण किये जासकते हैं। जब कि सम्पूर्ण वृत्तिमान् पदार्थोंकी युगपत् वृत्ति-कराने में कारण कालवृत्ति है इस कारण अकाल वृत्ति यह विना कहे ही आजाता है। अकालवृत्तित्वे सति यह विशेषण विना कहे हीं सामर्थ्य से लब्ध हो ही जाता है।

अर्थात्—कूटस्थ काल द्रव्य तो अन्य द्रव्यों के वर्तने में कारण नहीं है स्वयं अपनी वर्तना कर रहा ही काल दूसरों का वर्तयिता है, अतः काल के समान काल की स्वयं वर्तना भी अन्य द्रव्यों के वर्तने में प्रयोजक हेतु होजाती है, धर्म और धर्मी में कथंचित् अभेद है। जब "कालवृत्तिभिन्नत्वे सति" इतना विशेषण स्वतः ही प्राप्त होगया तो जैनों के ऊपर हेत्वन्तर नामक निग्रहस्थान नहीं हुआ। प्रकरणप्राप्त हेतु में विशेष की रक्षा रखनेवाले वादी के ऊपर हेत्वन्तर निग्रह स्थान उठा दिया जाता है, "अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तर" यह गौतमसूत्र है जिस प्रकार किसी ने अनुमान कहा कि शब्द अनित्य है। क्योंकि उसका बाह्य इन्द्रियद्वारा प्रत्यक्ष होता है, किन्तु नित्य मानी गयी शब्दत्व जातिका भी बाह्य इन्द्रिय करके प्रत्यक्ष होता है। अतः प्रतिवादीने शब्दत्व जाति करके व्यभिचार उठा दिया ऐसी दशा में वादी "सामान्यवत्वे सति" यह विशेषण लगा देता है सामान्य में पुनः दूसरा सामान्य नहीं टिकता है, अतः शब्दत्व सामान्य सामान्यवान् नहीं है, यों व्यभिचार दोष तो टल गया किन्तु वादी का हेत्वन्तर नामक निग्रह-स्थान होगया। इस प्रकार हम जैनों के ऊपर यह हेत्वन्तर निग्रहस्थान नहीं लागू होता है क्योंकि हमने हेतु में कोई विशेष अंश नहीं जोड़ दिया है "कालवर्तनाभिन्नत्वे सति" इतना कार्यत्व हेतु का विशेषण तो ग्रन्थकार के अभिप्राय में पहिले ही से था जैसे कि "पर्वतो वन्हिमान् धूमात्" यहां "संयोग सम्बन्धेन" यह विशेषण तो अनुमान प्रयोक्ता को प्रथम से ही अभिप्रेत है। उसको शब्द से कहने की कोई आवश्यकता नहीं है, अन्यथा समवाय सम्बन्ध से धूम अपने अवयवों में रहा वहां वन्हि के नहीं वतने से व्यभिचार दोष आजाता। प्रकरणप्राप्त कार्यत्व हेतु में कोई नवीन विशेषण लगाने की इच्छा नहीं की गई है।

नन्वेवं कालवृत्तेरकार्यत्वे तया व्यभिचाराभावादनर्थकं विशेषणोपादानमिति चेन्न, पर्यायार्थादेशात्कार्यत्वस्य तत्र भावात्तया व्यभिचारप्रसंगात् तत्परिहारार्थं विशेषणोपादानस्यानर्थकत्वायोगात्। ततो वर्तनोपकाः कालसत्तां साधयत्येव।

पुनः कोई पण्डित अनुनय करते हैं कि काल की वर्तना जब कार्य ही नहीं है तो कार्यत्व हेतु के नहीं ठहरने पर उस कालवृत्तिकरके व्यभिचार होजाने का अभाव है, अतः "अकाल वृत्तित्वे सति इस विशेषणका हेतु दलमें उपादान करना व्यर्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि पर्यायार्थिक नय करके कथन करने से उस कालवर्तनामें कार्यत्व हेतुका सद्भाव है। पर्यायार्थिकनयसे सम्पूर्ण पदार्थ कार्य हैं अतः उस कालवर्तना करके व्यभिचार होजानेका प्रसंग आजाता है, उस व्यभिचार दोष का परिहार करने के लिये अकालवृत्तित्वे सति इस विशेषण के ग्रहण करने को व्यर्थपन का अयोग है। यानी विशेषण लगाना सार्थक है। तिस कारण से सिद्ध होता है कि वर्तना नामका उपकार यह ज्ञापक हेतु उस अतीन्द्रिय परमार्थ काल की सत्ता को साध ही देता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कः पुनः परिणामः ? द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः तत्र विस्रसापरिणामोनादिरादिमांश्च । चेतनद्रव्यस्य तावत्स्वजातेश्चेतनद्रव्यत्वाख्यायाअपरित्यागेन जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वादिरनादिरौपशमिकादिः पूर्वाकारपरित्यागाऽहद्वृत्तिरादिमान् स तु कर्मोपशमाद्यपेक्षत्वादपौरुषेयत्वाद्वैस्रसिकः । अचेतनद्रव्यस्य तु लोकसंस्थानमदराकारादिरनादिरिन्द्रधनुरादिरादिमान् पुरुषप्रयत्नानपेक्षत्वादेव वैस्रसिकः ।

वर्तना का व्याख्यान हो चुका अब महाराज यह बताओ कि सूत्र में वर्तना के पश्चात् कहा गया परिणाम किस भेदों वाला अर्थ है ? इसका समाधान करते हुये ग्रन्थकार कहते हैं कि स्वकीय जाति का परित्याग नहीं करके द्रव्यका प्रयोग और विस्रसा स्वरूप विकार होजाना परिणाम है द्रव्य का जीवके प्रयत्नसे हुआ विकार तो प्रयोगस्वरूप परिणाम है और उन जीवप्रयत्नों की नहीं अपेक्षा करके अन्य अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे विस्रसा स्वरूप परिणाम होता है । उन दोनों प्रकार के परिणामों में विस्रसा नामक परिणाम दो प्रकार है एक अनादि और दूसरा आदिमान् यानी सादि है । तिनमें चेतन द्रव्यका तो चेतनद्रव्यत्व नामक अपनी निज जातिका नहीं परित्याग करके होरहा जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व, ज्ञत्व, आदि स्वरूप अनादि परिणाम है । अर्थात्–चेतन जीव द्रव्य अनादि काल से जीवत्व आदि परिणामों को धार रहे हैं । जो भव्य जीव हैं वे अनादिकाल से विना ही प्रयत्न के भव्यत्व रूप परिणमन में लवलीन हैं और जो जगत् में जघन्य युक्तानन्तप्रमाण अभव्य जीव हैं पुरुषार्थ विना ही अनादि से अभव्यत्व परिणति में तत्पर होरहे हैं, जीवत्व परिणाम तो सबका अनादि, अनन्त है तथा चेतन द्रव्य के औपशमिक, क्षायोपशमिक आदिक परिणाम तो आदिमान हैं क्योंकि उपशमसम्यक्त्व, मतिज्ञान आदि परिणतियों में पूर्व आकारोंका परित्याग और अजहद्वृत्ति यानी ज्ञानत्वेन या जीवत्वेन ध्रौव्य अंश बना रहता है, कर्मके उपशम आदि की अपेक्षा होनेसे इन परिणतियों में जीव का पुरुषार्थ कोई प्रधान हेतु नहीं माना गया है, वे औपशमिक आदि भाव तो कर्मों के उपशम, क्षयोपशम, आदि की अपेक्षा रखने वाले होने से जीव के पुरुषार्थ करके नहीं उपजने के कारण वैस्रसिक समझे गये हैं यों चेतन द्रव्य के अनादि और सादि वैस्रसिक परिणामों को उदाहरण सहित कह दिया है । अचेतन द्रव्य के तो लोककी रचना, सुदर्शन मेरु की रचना सूर्य चन्द्रमाओं की रचना, आदि परिणाम अनादि होरहे वैस्रसिक हैं और इन्द्रधनुष बादल आदिक अनेक परिणाम आदिमान् हैं इनमें पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा नहीं है, इस कारण ये अचेतन पुद्गल द्रव्यके वैस्रसिक परिणाम कहे जाते हैं ।

प्रयोगजः पुनर्दानशीलभावनादिश्चेतनस्याचार्योपदेशलक्षणपुरुषप्रयत्नापेक्षत्वात्, घटसंस्थानादिरचेतनस्य कुलालादिपुरुषप्रयोगापेक्षत्वात् धर्मास्तिकायादिद्रव्यस्य तु वैस्रसिकोऽसंख्येयप्रदेशित्वादिरनादिः परिणामः । प्रतिनियतगत्युपग्रहहेतुत्वादिः आदिमान् । प्रयोगजो यंत्रादिगत्युग्रहहेतुत्वादिः पुरुषप्रयोगापेक्षत्वात् ।

दूसरा प्रयोग से जन्य परिणाम फिर चेतन द्रव्य का तो दान करना, शील पालना, भावना भाना, अध्ययन करना, संयम पालना आदिक हैं क्योंकि आचार्य महाराज के उपदेशस्वरूप पुरुष प्रयत्न

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

की अथवा जीवपुरुषार्थकी अपेक्षा रखकर वे परिणाम उत्पन्न हुये हैं तथा अचेतन द्रव्य पुद्गलका-प्रयोगजन्य परिणाम तो घट की रचना, पट कीरचना, आदि हैं क्योंकि कुम्हार, कोरिया, आदि पुरुषों के प्रयोग की इनकी उत्पत्ति में अपेक्षा रहती है हां अचेतनद्रव्यों में धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का वैस्रसिक अनादि कालीन परिणाम तो असंख्येयप्रदेशीपना, नित्यपना, अवस्थितपना, रूपरहितत्व आदि हैं, हां प्रतिनियत होरहे अश्व आदि की गति में अनुग्रह करने का हेतुपन या वृक्षों की स्थिति करने में अनुग्राहकपन आदिक तो आदिमान् वैस्रसिक परिणाम हैं धर्मास्तिकाय आदिके इन परिणामोंकी उत्पत्ति में किसी जीवके प्रयत्नकी आवश्कता नहीं है। हां धर्मास्तिकाय आदि अचेतन द्रव्योंके प्रयोगजन्य परिणाम तो इस प्रकार हैं कि छापने, सीने आदि के यंत्र (मशीनें) बैलगाड़ी आदि के गति उपग्रह का हेतुपना धर्म का अथवा चलतेहुये घोड़े के ठहरने पर स्थिति का अ- ग्राहकपन अधर्म द्रव्यका, ठोंकी जारही कील को अवगाह देना आकाश का, व्यायाम द्वारा शरीर की वर्तना काल का अनुग्रह है क्योंकि इन परिणतियों के उपजने में जीवों के प्रयोगों की सहकारित्वेन अपेक्षा है।

समर्थोपि बहिरंगकारणापेक्षः परिणामत्वे सति कार्यत्वात्, व्रीह्यादिवदिति यत्तत्कारणं बाह्यं स कालः।

ये कहे जा चुके वैस्रसिक और प्रयोगजन्य विकार यद्यपि समर्थ हैं यानी अपने उपादान कारण उस द्रव्य को अन्तरंग कारण मानते हुये उपजाते हैं फिर भी विकार (पक्ष) बहिरंग कारण की अपेक्षा रखता है (साध्य) परिणाम होते सन्ते कार्य होने से (हेतु) धान चावल, मूंग आदि के समान अर्थात्—जैसे चावल या मूंग में पकने की शक्ति अन्तरंग में विद्यमान है तथापि जल, अग्नि, आतप, आदि बहिरंग कारण मिलने पर ही उनका परिपाक होता है। यहां प्रकरण में जो उनका बहिरंग कारण है, वही काल द्रव्य है यह समझाना है।

परिणामोऽसिद्ध इति चेन्न, बाधकाभावात् परिणामस्याभावः सत्त्वासत्त्वयोर्दोषोपपत्तेरिति चेन्न, पक्षान्तरत्वात्। न हि सन्नेव बीजादावंकुरादिः परिणामस्तत्परिणामत्वविरोधाद्बीजस्वात्मवत्। नाप्यसन्नेव तत एव खरविषाणवत् किं तर्हि ? द्रव्यार्थादेशात् सन् पर्यायार्थादेशादसन् न चोभयपक्षभावी दोषोत्रावतरति सदसदेकांतपक्षाभ्यामनेकांतपक्षस्यान्यत्वात् हिंसकत्वपारदारिकत्वाभ्यामहिंसकापारिदारिकत्ववत् वियुक्तगुडशुंठीभ्यां तत्संयोगवद्वा जात्यंतरत्वाच्च रसांतरसंभवात्। एतेन विरोधादयः परिहृताः द्रष्टव्याः।

यहां कोई कूटस्थनित्यवादी पण्डित आक्षेप करता है कि द्रव्यों का परिणाम होना सिद्ध नहीं होपाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि परिणामों के सद्भाव का कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अनेक घट, पट, पुस्तक, क्रोध, मतिज्ञान आदि परिणामों का साक्षात्कार होरहा है। पुनः आक्षेपकार पण्डित कहता है कि परिणाम का जगत् में अभाव है क्योंकि सद्भाव मानने पर और असद्भाव मानने पर अनेक दोष उपस्थित होजाते हैं। देखिये बीज अंकुर-स्वरूप करके परिणत माना जाता है, यहां हम कूटस्थ-वादी जैनों से पूछते हैं, कि यदि अंकुर अवस्था में बीज है। तब तो अंकुर का अभाव होगया। जैसे कि पहिले बीज अवस्था में अंकुर नहीं था, दो अवस्थायें एक साथ नहीं ठहर पाती हैं। यदि अंकुरमें बीज का असत्व माना जाना जायगा तब तो अंकुर रूप से बीज की परिणति

नहीं घटित होती है। क्योंकि अंकुर में बीजपन स्वभाव का अभाव है, अतः सद्भाव या असद्भाव दोनों पक्षों में दोष खड़ा होजाता है ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि सर्वथा सद्भाव और सर्वथा असद्भाव इन दो पक्षों से निराला तीसरा कथंचित् सदसत्वका पक्ष हमने ग्रहण किया है। बीज भविष्यमें अंकुर होनेवाला है। बालक आगे जाकर युवा होजायगा यहां हम बीज आदिमें अंकुर आदि परिणामों को सर्वथा विद्यमान होरहे ही नहीं मानते हैं। यदि बीज अवस्था में भी अंकुर अवस्था मान ली जाय तो अंकुर को उस बीज का परिणाम होने का विरोध होजावेगा जैसे कि बीज की निज आत्मा का परिणाम बीज ही है, अंकुर नहीं। दुग्ध काल में अविद्यमान होरहा दही तो दूध की पर्याय कही जा सकती है, विद्यमान दूध की स्वात्मा ही तो दूध का विपरिणाम नहीं है, तथा बीज आदिक में सर्वथा असत् ही मान लिया गया भी अंकुर आदिक उसका परिणाम नहीं होसकता है। तिस ही कारण से यानी उस बीज के परिणाम होजाने का अंकुर को विरोध आजाने से (हेतु) जैसे कि बीज में सर्वथा अविद्यमान होरहा खरविषाण बीज का परिणाम नहीं है। यदि यहां कोई यों पूछे कि परिणामी में सद्भूत माना जा रहा भी परिणाम नहीं है, और परिणामीमें अविद्यमान होरहा भी परिणाम उसका परिणाम नहीं है तो परिणामी में कैसा क्या होरहा परिणाम उसका परिणाम कहा जायगा ? बताओ। इसके उत्तर में हम जैनों को यही कहना है। कि द्रव्यार्थिक नय द्वारा कथन करने से परिणामी में परिणाम सत है। तभी तो कारण मिलने पर परिणामी झट उस परिणाम स्वरूप परिणत होजाता है। और पर्यायार्थिक नय द्वारा कथन करने से परिणामी में परिणाम का सद्भाव नहीं है, तभी तो उस असद्भूत परिणाम को उपजाने के लिये कारणकूट जोड़ना पड़ता है।

भावार्थ—परिणाम होने का द्रव्य सतत विद्यमान है, किन्तु वह पर्याय विद्यमान नहीं है। धार्मिक पुरुष पर्वके दिनोंमें एकाशन करता है, रोटी, दाल, दूध पानी आदि खाद्य पेय द्रव्यों में आहार वर्गणायें विद्यमान हैं। उन खाद्य पदार्थों की उदराग्नि, पर्याप्ति, आदि करके कुछ देर में मांस, रक्त, अस्थि, मल, मूत्र, स्वरूप परिणति होजावेगी किन्तु भोजन करते समय वह मांस, रक्त, आदि पर्यायें खाद्य पदार्थों में विद्यमान नहीं है, यही सांख्य सिद्धान्त और जैन सिद्धान्त में अन्तर है अतः उस व्रती के व्यवहार चारित्र में कोई दोष नहीं लगता है। व्यवहार चारित्र की भित्ति पर्यायार्थिक नय अनुसार उनउन विशेष पर्यायों पर डटी हुई है, द्रव्यार्थिक नय का विषय यहां गौण पड़ जाता है, आहारवर्गणा ही तो रक्त, मांस, आदि रूप परिणति करने वाली है, आकाशकी रोटी, दाल, रस, रक्त आदि स्वरूप परिणति नहीं होसकती है।

स्वस्त्री-सन्तोष या अचौर्यव्रत भी पर्यायदृष्टि से ही पलते हैं, अन्यथा अन्य भी अनेक स्त्रियां भूत पूर्व जन्मोंमें व्रतीकी बल्लभायें बन चुकी हैं। दूसरोंका धन भी पूर्व जन्मोंमें व्रती का होचुका होगा तब तो उन के ग्रहण में दोष नहीं होना चाहिये। बात यह है कि सर्वथा सत् पक्ष और सर्वथा असत् पक्ष इन दोनों पक्षों में होने वाले दोष का यहां कथंचित् सत्त्वासत्व पक्ष में अवतार नहीं होपाता है। क्योंकि सत् एकान्त का पक्ष और असत् एकान्त का पक्ष इन दोनों पक्षों से कथंचित् सदसत् इस अनेकान्त पक्ष का भेद भाव है जैसे कि हिंसकपन, और परदारा-सेवीपन दोषों से अहिंसकपन और परदारात्यागीपन गुण विभिन्न है। अर्थात्—कतिपय हिंसक जीव भले ही परदारा-सेवी नहीं होंय क्योंकि हिंसक के क्रूर परिणाम होते हैं और परदार-सेवन में स्नेहपुंज की आवश्यकता है। अथवा कतिपय परदार-सेवी जीव भले ही हिंसक नहीं होंय क्योंकि हिंसकके लिये क्रूर भावों की आवश्यकता होजाती

है। कम से कम जिस परस्त्री से उनका स्नेह है, उसकी हिंसा करना उनको अभिप्रेत नहीं है। तथापि कोई कोई दुष्ट जीव परदारा-सेवी होते हुये भी हिंसक होरहे हैं। परस्त्री करके अन्य पुरुष के ऊपर स्नेह करने की शंका होजाने पर वे उस परदारा की हिंसा तक कर देते हैं, पर-पुरुष-रत स्त्रियां भी अपने रसिक को मार डालती सुनी गयी हैं। किन्तु जो धर्मात्मा जीव सुदर्शन सेठ के समान है, हिंसक नहीं है, और परदार-सेवी भी नहीं है वह उन हिंसक और पारदारिक दूषित पुरुषों से तीसरी ही जाति का सज्जनोत्तम है।

दूसरा दृष्टान्त यों समझिये कि एक दूसरेसे पृथक् भूत होरहे अकेले गुड़ और अकेली सोंठ के संयोग से उपजा हुआ अशुद्ध द्रव्य तीसरे ही प्रकारका है, अकेला गुड़ या सोंठ जिस रोग को दूर नहीं कर सकते हैं उस विशेष जाति की खांसी को मिला लिये गये गुड़ और सोंठ मिटा देते हैं क्योंकि दोनों की मिलकर पुनः तीसरी ही जाति की न्यारी परिणति होजाती है। अकेले अकेले गुड़ या सोंठ के रस से मिले हुये गुड़ सोंठ का रस तीसरी जाति का उपज जाता है, इसी प्रकार कथंचित् सदसत्व पक्ष में कोई उभय दोष नहीं प्राप्त होता है। इस उक्त कथन करके अनेकान्त पक्ष में विरोध आदिक दोषों का भी परिहार कर दिया जा चुका देख लेना चाहिये अर्थात्—विरोध, वैयधिकरण्य, संशय, संकर व्यतिकर अनवस्था, अभाव, अप्रतिपत्ति ये दोष अनेकान्त पक्ष में नहीं आते हैं। उभय दोष के समान विरोध आदि दोषों का उपद्रव भी द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, नामक सामान्यविशेष या चित्रज्ञान, संयुक्त गुड़ सोंठ, आदि दृष्टान्तों करके दूर भगा दिया जाता है।

किं च परिणामस्य प्रतिषेधो न तावत्सतः सत्त्वादेव परिणामप्रतिषेधवत् ततोपि प्रतिषेधे परिणाम-प्रतिषेधस्यापि प्रतिषेधप्रसंगात् प्रतिषेधाभावः। अथ प्रतिषेधः सत्त्वान्न प्रतिषिध्यते तत एव परिणामोपि न प्रतिषेद्धव्य इति स एव प्रतिषेधाभावः न ह्यसतः प्रतिषेधः असत्त्वादेव नह्यसन्प्रतिषेधमियान्निर्विषयत्वप्रसंगात्।

एक बात यह भी है कि परिणाम का जो प्रतिषेध किया जाता है, उसमें हम दो पक्ष उठाते हैं कि सद्भूत परिणाम का प्रतिषेध किया जाता है ? अथवा असत् होरहे परिणाम का निषेध किया जाता है ? बताओ ; प्रथम पक्ष अनुसार विद्यमान होरहे सत् परिणाम का तो प्रतिषेध नहीं होसकता है। कारण कि वह परिणाम सत् ही है जैसे कि कूटस्थ-वादियों के यहां परिणाम के सद्भूत माने गये प्रतिषेध का निषेध नहीं किया जा सकता है। जब कि परिणाम का प्रतिषेध विद्यमान माना गया है तो भला उसका निषेध कैसे होसकता है ? यदि सद्भूत पदार्थ का भी निषेध कर दोगे तो परिणाम के भी निषेध होजाने का प्रसंग आवेगा, ऐसी दशामें प्रतिषेध हो ही नहीं सकता है। दो अभाव भाव रूप होजाते हैं। निषेध का निषेध कर दियाजाय तो विधि सिद्ध होजाती है। यदि कूटस्थवादी अब यों कहें कि परिणाम का प्रतिषेध तो विद्यमान है। इस कारण नहीं निषेधा जाता है ग्रन्थकार कहते हैं, कि तिस ही कारण परिणाम भी प्रतिषेध करने योग्य नहीं है। इस प्रकार वही परिणाम के प्रतिषेध का अभाव होगया यानी परिणामका सद्भाव बन गया। तथा द्वितीय पक्ष अनुसार असत् होरहे परिणाम का भी प्रतिषेध असत् होनेके कारण ही नहीं होसकता है " संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्" प्रतिषेध्यके विना उसका प्रतिषेध नहीं होसकता है। सर्वथा असत् होरहा पदार्थ कभी प्रतिषेध को प्राप्त नहीं होसकता है, अन्यथा प्रतिषेधको निर्विषयपन का प्रसंग आवेगा। जैसे वस्तुभूत विषय के नहीं होने

से स्वप्नज्ञान या भ्रान्तज्ञान निर्विषय हैं, उसी प्रकार प्रतिषेध के षष्ठयन्त प्रतियोगी विषय का अभाव होजानेसे प्रतिषेध निर्विषय होजायगा।

खरविषाणप्रतिषेधः कथमिति चेत्, न कथमपि सत्त्वाद्येकांतवादिनामिति ब्रूमः। तदनेकांतवादिनां तु क्वचित्कदाचित्कथंचित् सत एवान्यत्रान्यदान्यथा प्रतिषेध इति सर्वमनवद्यम्।

ग्रन्थकार के प्रति किसी का प्रश्न है कि तब तो खरविषाण का प्रतिषेध किस प्रकार कर सकोगे ? यहाँ तो प्रतिषेधका प्रतियोगी कोई वस्तुभूत विषय नहीं है, यस्याभावः स प्रतियोगी। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं,कि सर्वथा सत्त्व या सर्वथा असत्त्व आदिक एकान्तका आग्रह कर रहे वादियों के यहां किसी भी प्रकार से खरविषाण का निषेध नहीं होसकता है। ऐसा हम ढिंढोरा पीट कर स्पष्ट कह रहे हैं, हां उन कथंचित् सत्त्व आदि का अनेकान्त मानने वाले सिद्धान्तियोंके यहां तो कहीं न कहीं, कभी न कभी, किसी भी प्रकार से, सत् होरहे ही पदार्थका अन्य स्थल पर अन्य काल में दूसरे प्रकारों से निषेध किया जा सकता है। यों कहने पर हम स्याद्वादियों के यहां सम्पूर्ण व्यवस्था निर्दोष सिद्ध होजाती है। बात यह है कि जगत् में खर भी है बैल, भैंस आदि के सिर पर विषाण भी विद्यमान हैं केवल खरके सिर पर विषाणोंका अभाव साध दिया जाता है। अष्टसहस्रीमें अद्वैत शब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो नञ्पूर्वाखण्डपदत्वादहेत्वभिधानवत् इस अनुमान द्वारा बढ़िया निरूपण कर दिया गया है। श्री अकलंक देव ने तो मन्डूक की चोटी अथवा खर के विषाण को भी अनेक युक्तियों से पुष्ट करके स्वकीय स्याद्वाद वाणी का वैभव दरशाया है।

सर्वथैकांतस्य प्रतिषेधः कथमिति चेत्, कोऽयं सर्वथैकांतः। इदमेवेत्थमेवेति वा धर्मिणो धर्मस्य वाभिमननमिति चेत्, न तस्य सत एव निर्विषयसाधनमेव प्रतिषेधः। स्वरूपप्रतिषेधे तु सर्वथा प्रतीतिविरोधः स्यात्। दर्शनमोहोदये सति सदाद्येकांताभिनिवेशस्य मिथ्यादर्शनविशेषस्य प्रत्यात्मवेद्यत्वात्। निर्विषयत्वसाधने तु तस्य न प्रतीतिबाधा प्रतीयमानस्य वस्तुनि सत्त्वाद्यंशस्य धर्मत्वात्। नायं सर्वथा सत्त्वाद्येकांताभिनिवेशस्य विषयो वस्त्वंशः सर्वथा विरोधात्।

पुनः कोई प्रश्न करता है कि आप जैन सर्वथा एकान्त का भला प्रतिषेध किस प्रकार करोगे क्योंकि सर्वथा एकान्त को सद्भूत मानने पर उसकी विधि हुई जाती है। एकान्तको जानने वाला ज्ञान प्रमाण होजायगा, असत् एकान्तका आप निषेध होना इष्ट नहीं करते हैं। यह विकट समस्या उपस्थित हुई। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं,कि भाई यह सर्वथा एकान्त भला क्या पदार्थ है ? बताओ. यह यही है, अथवा इस ही प्रकार है, यों धर्मी अथवा धर्मको कदाग्रह पूर्वक माने जाना यदि सर्वदा एकान्त इष्ट है, यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो उस सत् भूत ही सर्वथा एकान्त के अभिनिवेश को विषयरहित साधन कर देना ही उसका प्रतिषेध है यानी सर्वथा एकान्त के ज्ञान का कोई वस्तुभूत विषय नहीं है जैसे कि स्वप्नज्ञान तो परमार्थ है किन्तु उसका विषय वस्तुभूत नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टियों के यहां सर्वथा एकान्त का आग्रह है किन्तु वह कोरा मन्तव्य निर्विषय ही है।

एकान्त के मन्तव्य या भ्रान्त ज्ञानों के अस्तित्व का निषेध कर देने पर तो सभी प्रकार प्रतीतियों से विरोध आवेगा स्वसम्वेद्य होरहे मिथ्यादर्शन या मिथ्याज्ञानका अपलाप नहीं किया जा सकता है। असत्य-भाषी पुरुष को मार डालना नहीं चाहिये, हाँ उसको दूषित या अपराधी कह सकते हो क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्म का उदय होने पर प्रत्येक आत्मा में सत्, असत्, आदि एकान्तों के अभिनिवेश स्वरूप मिथ्यादर्शन विशेष का वेदन किया जा रहा है। उस स्वसम्वेद्य पदार्थ का निषेध नहीं किया जा सकता है, हाँ उस एकान्त आग्रह को विषय-रहित साधने पर तो प्रतीतियों से बाधा नहीं आती है। वस्तु में प्रतीयमान होरहे सत्व, असत्व, आदि अंशों को धर्म मान लिया जाता है उनमें सर्वथापन का निषेध यों करा दिया जाता है, कि सभी प्रकारों से सत्व या असत्व आदिक एकान्तों के अभिनिवेश का विषय होरहा यह वस्त्वंश सर्वथा नहीं है। क्योंकि विरोध आजावेगा, हां कथंचित् वह वस्त्वंश है। अर्थात्—जो सर्वथा है वह वस्तु का अंश नहीं और जो वस्तु का अंश है। वह सर्वथा एकान्त स्वरूप नहीं। हां कोई भी सत्त्व आदिक बड़ी सुलभता से कथंचित् वस्तु के अंश होसकते हैं, कोई विरोध नहीं आता है।

एतेन प्रधानादिप्रतिषेधो व्याख्यातः प्रधानाद्यभिनिवेशस्य निर्विषयत्वसाधनात्। ततो नैकांतेनासतः प्रतिषेध इति सत एव परिणामस्य कथंचित्प्रतिषेधोपपत्तेः सर्वथा नाभावः।

इस उक्त कथन करके सत्त्व गुण, रजोगुण, तमोगुण, स्वरूप प्रधान या नित्य, एक, परमब्रह्म, जगत् कर्त्ता ईश्वर आदि के प्रतिषेधोंका भी व्याख्यान कर दिया समझलेना चाहिये। सांख्य या अद्वैतवादी अथवा नैयायिक पण्डितों को प्रधान आदि अपने इष्ट तत्वों का अभिनिवेश होरहा है उस अभिनिवेश को निर्विषय सिद्ध कर देने से ही प्रधान आदिके प्रतिषेध का तात्पर्य सध जाता है, मंत्र द्वारा सर्प को निर्विष कर देना अथवा उससे कथंचित् बचे रहना ही सर्पका निषेध है, अहिंसक धार्मिक पुरुष सर्प को मारते नहीं हैं। तिस कारण से सिद्ध हुआ कि एकान्त रूप से असत् पदार्थका प्रतिषेध नहीं बनता है इस कारण सद्भूत होरहे ही परिणाम का कथंचित् क्वचित् प्रतिषेध होजाना बन पाता है, अतः सभी प्रकारों से परिणाम का अभाव नहीं हुआ, प्रत्युत परिणाम की सिद्धि कर दी गयी है।

स्यान्मतं, नास्ति परिणामोन्यानन्यत्वयोर्दोषादिति नोक्तत्वात। उक्तमत्रोत्तरं, न वयं बीजादंकुरमन्यमेव मन्यामहे तदपरिणामत्वप्रसंगात् पदार्थान्तरवत्। नाप्यनन्यमेकाभानुषंगात। किं तर्हि? पर्यायार्थादेशाद्बीजादंकुरमन्यमनुमन्यामहे द्रव्यार्थादेशादनन्यमिति पक्षान्तरानुसरणाद्दोषाभावान्न परिणामाभावः।

कूटस्थ-वादियों का सम्भवतः यह भी मन्तव्य होवे कि परिणाम (पक्ष) नहीं है (साध्य) परिणामी से परिणाम को भिन्न मानने पर अथवा अभिन्न मानने पर दोनों पक्षों में दोष प्राप्त होते हैं अर्थात्—यदि बीजसे अंकुर को भिन्न माना जायगा तो बीज का परिणाम अंकुर नहीं होसकता है जैसे सह्य पर्वत का परिणाम विन्ध्य नहीं है तथा यदि बीजसे अंकुर को अभिन्न माना जायगा तो भी बीज की परिणति अंकुर नहीं होसकती है, जैसे घट की परिणति घट ही नहीं है, ऐसी दशामें बीजसे अंकुर कोई न्यारा पदार्थ नहीं ठहरता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि इसका समाधान हम कह चुके हैं। इस विषय में यों उत्तर कहा जा चुका है कि हम जैन बीजसे अंकुर को सर्वथा भिन्न ही नहीं मान रहे हैं क्योंकि बीजसे अंकुर को भिन्न मानने पर अंकुर को उस बीज का परिणाम नहीं

होने का प्रसंग आवेगा जैसे कि सर्वथा भिन्न कोई दूसरा पदार्थ इस प्रकृत पदार्थ का परिणाम नहीं है, दूधका परिणाम ईंट नहीं है और मिट्टीका परिणाम दही नहीं है। तथा हम जैन बीजसे अंकुर सर्वथा अभिन्न ही होय ऐसा भी नहीं मानते हैं, यों मानने पर अंकुरके अभावका प्रसंग आवेगा। बीज से बीज ही होता रहेगा अंकुर भी बीज ही बन जायगा।

प्रतिवादी यदि यों पूछे कि परिणामी से परिणाम को भिन्न भी नहीं कहते हो और आप जैन अभिन्न भी नहीं कहते हो तो फिर आप कैसा क्या कहते हो ? इस प्रश्न पर हम जैनोंका समाधान यह है कि पर्यायार्थिक नयके कथनानुसार बीजसे अंकुरको हम भिन्न मानरहे हैं.अंकुरकी उत्पत्तिसे पहिले बीज में अंकुर पर्याय नहीं थी पीछे उपजी अतः बीज पर्यायसे अंकुर पर्याय न्यारी है, हां द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन करने से बीज से अंकुर अभिन्न है जो भी पुद्गल द्रव्य बीज रूप परिणत हुआ है उसी पुद्गल द्रव्यकी अंकुर स्वरूपसे परिणति होने वाली है, द्रव्य वह का वही है, इस प्रकार कथंचित् पर्याय दृष्टि से भेद और द्रव्य दृष्टि से अभेद इस तीसरे पक्ष के अनुसरण करने से स्याद्वादियों के यहां दोषोंका अभाव है, अतः परिणामका अभाव नहीं होसका,परिणामकी सिद्धि होजाती है। पहिले सर्वथा भेद और दूसरे सर्वथा अभेद इन दो पक्षों से निराले 'कथंचित् भेदाभेद' इस तीसरे पक्ष का आलम्बन ले रक्खा है।

व्यवस्थिताव्यवस्थितदोषात्परिणामाभाव इति चेन्नानेकांतात्। न हि वयमंकुरे बीजं व्यवस्थितमेव ब्रूमहे विरोधादंकुराभावप्रसंगात्। नाप्यव्यवस्थितमेवांकुरस्य बीजपरिणामत्वाभावप्रसंगात् पदार्थान्तरपरिणामत्वाभाववत्। किं तर्हि ? स्याद्बीजं व्यवस्थितं स्यादव्यवस्थितमंकुरे व्याकुर्महे। न चैकांतपक्षभावी दोषोऽनेकांतेष्वस्तीत्युक्तप्राय। स्याद्वादिनां हि बीजशरीरादेरेव वनस्पतिकायिको बीजांकुरादिः स्वशरीरपरिणामभागभिमतो यथा कललशरीरं मनुष्यजीवोर्बुदादिस्वशरीरपरिणामभूतिति न पुरन्यथा सः। तथा सति—

पुनः कोई पण्डित आक्षेप करते हैं कि व्यवस्थित और अव्यवस्थित पक्ष में दोष जानने से परिणाम कोई पदार्थ नहीं ठहरता है अर्थात्-बीज का अंकुरपने करके परिणाम होने पर हम पूछते हैं कि अंकुर में बीज व्यवस्थित है ? अथवा व्यवस्थित नहीं है ? बताओ'। यदि अंकुर में बीज प्रथम से ही व्यवस्थित है तब तो बीजकी व्यवस्था होजानेके कारण अंकुर का अभाव होजायगा, एकत्र बीज और अंकुर दोनों अवस्थाओंके एक साथ ठहरे रहनेका विरोध है और यदि अंकुरमें बीज अव्यवस्थित माना जायगा तब तो बीज की अंकुररूप से परिणति नहीं होसकेगी। सर्वथा भिन्न होरहे अव्यवस्थित रूप पदार्थ करके यदि कोई परिणमन करने लगेगा तो जल अग्नि स्वरूप करके अथवा पुद्गल जीवरूप-करके परिणत होजावेगा जो कि इष्ट नहीं है, अतः जनों के यहां परिणाम पदार्थ का अभाव होगया।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि व्यवस्थित,अव्यवस्थित पक्षोंमें अनेकान्त माना जा रहा है हम जैन अंकुरमें जीवको व्यवस्थित ही नहीं कह रहे हैं जिससे कि दो अवस्थाओंका विरोध होजाने से अंकुर के अभावका दोष प्रसंग होजाय। तथा अंकुरमें बीजको अव्यवस्थित भी नहीं बखान रहे हैं जिससे कि अंकुर को बीज के परिणामपनके अभाव का प्रसंग होजावे जैसेकि सर्वथा भिन्न दूसरे पदार्थ का परिणाम उससे सर्वथा भिन्न कोई निराला पदार्थ नहीं होता है, यानी धर्म में अधर्म द्रव्य

अव्यवस्थित है, अतः धर्म द्रव्य का परिणाम अधर्म द्रव्य या स्थितिहेतुत्व नहीं होसकता है तो हम जैन क्या कहते हैं ? इस प्रश्न पर हमारा समाधान यह है कि अंकुरमें बीज कथंचित् व्यवस्थित है और कथंचित् अव्यवस्थित है,इस प्रकार हम जिज्ञासुओंको व्युत्पत्ति करा रहे हैं। एकान्तपक्षों में आने वाले दोष अनेकान्तों में प्रवेश नहीं पाते हैं. इस बात को हम कई बार पूर्व प्रकरणों में कह चुके हैं।

निर्णीत सिद्धान्त यह है कि स्याद्वादियों के यहां बीज, शरीर, पुष्प आदिक ही से वनस्पति काय को धारने वाला सजीव बीज उपजताहै और वह बीजात्मा अंकुर, फल, आदि स्वरूप होरहा अपने शरीर के अनुसार स्वरूप परिणाम को धारने वाला अभीष्ट किया गया है जैसे कि मातृ गर्भ में प्रथम मास के कलल शरीर में मनुष्य जीव उपज कर (जन्म लेकर) अर्बुद आदि अपने शरीर की पर्यायों को यों धारता रहता है न्य प्रकारों से फिर वह परिणामों को नहीं धारता है अर्थात्-पहिले सूखा बीज जड़ है पुनः वनस्पतिकायिक जीव उसमें उपज जाता है तब वह बीज अंकुर लघुवृक्ष, महावृक्ष आदि परिणामों को धार लेता है जैसे कि मातृगर्भ में पहिले महीने कलल शरीर में मनुष्य जीव उपज कर पुनः पेशी अर्बुद आदि [illegible] महीने में बालक शरीर होकर परिणम जाता है और तैसा होने पर जो व्यवस्था होती है उसको सुनो।

मनुष्यनामकर्मायुषोदयात्प्रतिपद्यते ।
कललादिशरीरांगोपांगपर्यायरूपताम् ॥२९॥
स जीवत्वमनुष्यत्वप्रमुखैरन्वयैर्यथा ।
व्यवस्थितः स्वकीयेषु परिणामेष्वशेषतः ॥३०॥
कललादिभिः पुनः पूर्वभावैः क्रमवर्तिभिः ।
व्यतिरिक्तैः परत्रासौ न व्यवस्थित इष्यते ॥३१॥
तथा वनस्पतिर्जीवः स्वनामायुर्विशेषतः ।
वनस्पतित्वजीवत्वप्रमुखैरन्वयैः स्थितः ॥३२॥
स्वशरीरविवर्तेषु बीजादिषु परं न तु ।
पूर्वपूर्वेण भावेन तु स्थितः क्रमभाविना ॥३३॥

माता पिता के रजः और वीर्य का गर्भमें योग्य सम्मिश्रण होने पर स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव अनुसार वहां कोई विवक्षित जीव जन्म ले लेता है, मनुष्य गति संज्ञक नामकर्म और आयुष्य कर्म इन दोनों कर्मों का और इनके सहचारी अन्य अनेक कर्मोंका उदय होजाने से वह जीव कलल आदिक शरीर के अंगोपांग पर्याय स्वरूपों को प्राप्त कर लेता है। वह जीव कलल, घन, बाल्य, कौमार आदि अवस्थाओं में जीवत्व मनुष्यत्व, द्रव्यत्व आदिक अन्वयों करके जिसप्रकार अपनी अपनी निज पर्यायों में पूर्णरूप से व्यवस्थित होरहा है और फिर भिन्न भिन्न होरहे एवं क्रम से वर्त्तते रहे ऐसे कलल

आदिक पूर्व पूर्व भावों करके वह जीव परले२ भावोंमें व्यवस्थित होरहा नहीं देखा जा रहा है। अर्थात् अन्वित भावों करके सम्पूर्ण परिणामों में जीव ओत पोत होरहा है। किन्तु व्यतिरेकी पर्यायों करके पहिली पिछली पर्यायोंमें कोई पर्याय व्यवस्थित नहीं है। पहिले 'यथा' का यहां 'तथा' के साथ अन्वय है उसी प्रकार वनस्पतिकायिक जीव भी अपने योग्य नाम कर्म और विशेष प्रकार की तिर्यच आयु का उदय होने से वनस्पतिपन, जीवपन, चेतनत्व, आदि अन्वयों करके अपने शरीर के विवर्त्त होरहे बीज आदिकों में व्यवस्थित है किन्तु क्रम से होने वाले पूर्व पूर्व भावों करके तो परले परले भावों में व्यवस्थित नहीं है। पर्यायों में द्रव्य तो अन्वित होता है, पर्यायों में अगली, पिछली पर्यायें ओत, प्रोत नहीं घुसी रहती हैं " सर्वं सर्वत्र विद्यते " यह सांख्य का सिद्धान्त अनेक दोषों से भरपूर है।

भावार्थ—इस मनुष्य शरीर की गर्भमें ही अनेक अवस्थाएं होजाती हैं सुश्रुत में लिखा हुआ है—

' प्रथमे मासि कललं जायते, द्वितीये शीतोष्णानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां सङ्घातो घनः सञ्जायते, यदि पिण्डः पुमान् स्त्रीचेत् पेशी नपुंसकञ्चेदर्बुदमिति। तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्चपिण्डका निर्वर्त्ततेऽङ्ग-प्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति। चतुर्थे सर्वांग-प्रत्यंग-विभागः प्रव्यक्ततरो भवति, गर्भहृदय-प्रव्यक्तभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति कस्मात् तत्स्थानत्वात्तस्माद्गर्भश्चतुर्थेमास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति द्विहृदयां च नारीं दौहृदनीमाचक्षते। पंचमे मनः प्रतिबुद्धतर भवति, षष्ठे बुद्धिः सप्तमे सर्वांग-प्रत्यंगावभागः प्रव्यक्ततरः। अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते।" चरक संहिता में यों उल्लेख है " स तु सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि संमूर्छितः सर्वधातु-कलनीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्त-विग्रहः सदसद्भूतांगावयवः, द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते पिण्डः पेश्यर्बुदंवा तत्र घनः पुरुषः स्त्री पेशी अर्बुदं नपुंसकम्, तृतीय मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वांगावयवाश्च योगपद्यनाभिनिवर्त्तन्ते, चतुर्थे मासि स्थिरत्वमापद्यते गर्भः, पंचमे मासि गर्भस्य मांसशोणितापचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, षष्ठे मासि गर्भस्य बलवर्णोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, सप्तमे मासि गर्भः सर्वैर्भावैराप्यायते सहसा, अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसहारिणीभिः संवाहिनीभिर्मुहुरोजः परस्परत आददाते"।

वाग्भटकृत अष्टांगहृदय के शारीर-स्थान में गर्भ की अवस्थाओं का यों निरूपण किया है।

" अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात्कललो भवेत्। गर्भः पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत्। द्वितीये मासि कललाद्घनः पेश्यथवाऽर्बुदम्। पुंस्त्रीक्लीवाः क्रमात्तेभ्यः। व्यक्ती भवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपंचकम्। चतुर्थे व्यक्ततांगानां चेतनायाश्च पंचमे। षष्ठे स्नायु शिरारोम-बलवर्णनखत्वचाम्। सर्वैःसर्वांगसम्पूर्णो भावैः पुष्यति सप्तमे। ओजोऽष्टमे संचरति माता पुत्रौ मुहुः क्रमात्। शस्तश्च नवमे मासि।

तात्पर्य यह है कि कलल, अर्बुद आदि गर्भ के परिणामों और जन्म के पीछे बाल, कौमार, युवत्व, आदि परिणामोंमें जीवत्व, जैसे व्यवस्थित है उसीप्रकार बीज, अंकुर आदिमें वनस्पति कायिकत्व आदि धर्म व्यवस्थित हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार परिणामों की उत्पत्ति का क्रम यही है कि पहिले शुक्रशोणितका मरण होने पर वह पुद्गलपिण्ड अचेतन रहता है पश्चात् उसमें कहीं अन्य गति से आकर मनुष्य जन्म लेता है। जीव के पुरुषार्थ और कर्मोंके उदय अनुसार उस पुद्गल पिण्डके मरण अवस्था तक अनेक परिणाम होते रहते हैं इसी प्रकार अचेतन बीज में क्षिति, सलिल, आदि योग्यकारणों

का प्रकरण मिलने पर वनस्पतिकायिक जीव वहां जन्मता है पश्चात्–उसके अंकुर, पते, शाखा, उपशाखा, आदि परिणाम होते रहते हैं एकेन्द्रियजाति, तिर्यंचआयु आदि कर्मों के अधीन होरहा वह जीव बीज, अंकुर, आदि परिणामों को धारता है, अतः अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यकी अपेक्षा वह सत् है और पूर्वापर परिणामों के संक्रमण आदि की अपेक्षा असत् है। यों व्यवस्थित और अव्यवस्थित पक्षों में अनेकान्त का साम्राज्य है।

स्यान्मतं, न बीजमंकुरादित्वेन परिणमते वृद्ध्यभावप्रसंगात् यो हि यत्परिणामः स न ततो वृद्धिमान् दृष्टो यथा पयः-परिणामो दध्यादिः, बीजपरिणामश्चांकुरादिस्तस्मान्न ततो वृद्धिमान् इति बीजमात्रमंकुरादिः स्यात्तत्परिणामो वेति। उक्तं च-"किं चान्यद्यदि तद्बीजं गच्छेदंकुरतामिह। विवृद्धिरंकुरस्य स्यात्कथं बीजादणुफलात्। अथेष्टं तैरसैर्भौमैर्गोदकैश्च विवर्धते। नन्वेवं सति बीजस्य परिणामो न युज्यते। आलिप्तं जतुना काष्ठं यथा स्थूलत्वमृच्छति। तनु काष्ठं तथैवास्ते जतु चात्र विवर्धते। तथैव यत्र तद्बीजमास्ते येनात्मना स्थितं। रसाश्च वृद्धिं कुर्वंति बीजं तत्र करोति किम्॥ इति तदेतदनालोचिततत्त्ववचनं, तद्वृद्धेरन्यहेतुकत्वात्।

परिणाम होने का निराकरण करने वालों का स्यात् यह भी मन्तव्य होवे कि बीज तो (पक्ष) अंकुर आदिपने करके नहीं परिणम सकता है (साध्य) क्यों कि वृद्धि के अभाव का प्रसंग होजावेगा (हेतु)। देखो जो पदार्थ जिस परिणाम को धारता है वह परिणाम उस परिणामी पदार्थ में वृद्धिवाला नहीं देखा गया है जिस प्रकार कि दूध का परिणाम दही या विलोडित तक्र आदिक उतने ही परिणाम वाले रहते हैं बढ़ नहीं जाते हैं, आतानवितानीभूत तन्तुओं से पट का परिणाम बढ़ नहीं सकता है (व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त) बीज का परिणाम जब अंकुर आदिक माने जा रहे हैं (उपनय) तिस कारण उस बीज से अंकुर आदिक वृद्धि को लिये हुये नहीं होने चाहिये।

इस अनुमान अनुसार बीजके परिमाणबराबरही उसके अंकुर आदि परिणाम होने चाहिये किन्तु बीजसे अंकुर, लघुवृक्ष, आदि परिणाम बहुत बढ़े हुये देखे जाते हैं अतः वे बीजके परिणाम नहीं होसकते हैं हमारे इस तर्क अनुसार अन्य ग्रन्थों में भी यों कहा है कि दूसरी बात यह है कि वह बीज यदि यहां अंकुरपने को प्राप्त होजायगा तो ऐसी दशा में उस छोटे बीज से भला अंकुर की विशेषवृद्धि किस प्रकार होसकेगी? इस पर अब कोई यों इष्ट करें कि भूमि-सम्बन्धी और जल सम्बन्धी रसों करके वह अंकुर बढ़ जाता है यानी बीज में भूमिरस और जलरस मिलजाते हैं, अतः रत्ती भर के बीज से एक तोला या एक छटांक का अंकुर बढ़जाता है, ऐसी दशा में हम आक्षेपकार अनुनय करते हैं कि इस प्रकार होने पर तो बीज का परिणाम वह अंकुर होय यह उचित नहीं है। यों तो भूमि, जल, और बीज इन तीनों का परिणाम अंकुर कहा जा सकेगा, अकेले बीज का परिणाम अंकुर नहीं होसकेगा जिसप्रकार कि रोगन या लेप करने पर लाख करके चारों ओर से लीप दिया गया काठ स्थूल पन को प्राप्त होजाता है किन्तु सच पूंछो तो वह काठ तिस ही प्रकार पतला भीतर बना रहता है, इस काठ में तो लाख बढ़ जाती है, रूई के भरे मूदड़ वस्त्रों का पहिनने वाला मनुष्य मोटा नहीं कहा जासकता है तिस ही प्रकार जहां वह बीज जिस स्वरूप से हो रहा विद्यमान है वह उतना ही बना रहेगा हां पृथिवी

आदिक के रस वृद्धि को कर लेते है उस में बीज क्या कर लेता है ? कुछ भी नहीं । अतः बीज का परिणाम इतना बढा हुआ अंकुर कथमपि नहीं होसकता है । आचार्य कहते हैं कि यह उन पण्डितों का वचन तत्त्वोंकी नहीं-पर्यालोचना करते हुये होरहा है, समीचीन विचार करने पर वे ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि बीज का परिणाम अंकुर है किन्तु उस अंकुर की वृद्धि का कारण कोई अन्य ही है, उसको यों स्पष्ट समझिये ।

यथामनुष्यनामायुःकर्मोदयविशेषतः ।
जातो बालो मनुष्यात्मा स्तन्याद्याहारमाहरन् ॥३४॥
सूर्यातपादिमापेक्षः कायाग्निबलमादधन् ।
वीर्यांतरायविच्छेदविशेषविहितोद्भवं ॥३५॥
विवर्धते निजाहाररसादिपरिणामतः ।
निर्माणनामकर्मोपष्टंभादभ्यंतरादपि ॥३६॥
तथा वनस्पतिर्जीवः स्वायुर्नामोदये सति ।
जीवाश्रयोंकुरो जातो भौमादिरसमाहरन् ॥३७॥
तप्तायस्पिंडवत्तोयं स्वीकुर्वन्नेव वर्धते ।
आत्मानुरूपनिर्माणनामकर्मोदयाद्ध्रुवम् ॥६८॥

इस कारिकामें पढे गये 'यथा' का इसके आगे सैंतीसवीं वार्तिकमें कहे जाने वाले 'तथा' शब्दके साथ अन्वय है । जिस प्रकार मनुष्य गति नामकर्म और मनुष्य आयुः कर्म का विशेष रूप करके उदय होजाने से मनुष्य आत्मा बालक उपज जाता है वह बालक मातृ दुग्ध, गोदुग्ध, आदि आहारका आहार लेता हुआ और बहिरंगमें सूर्य के आतप आदि की अपेक्षाको धार रहा सन्ता शरीरकी उदराग्नि अनुसार और अन्तरंगमें वीर्यान्तराय कर्मके किये गये विशेष क्षयोपशमसे उत्पन्न हुये बलका आधान करता हुआ बढ़ता रहता है तथा अपने आहार किये गये पदार्थके रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि मज्जा, शुक्र आदि परिणामों से और अभ्यन्तर में होरहे निर्माण नाम कर्म के उदय का उपष्टम्भ हो जाने से भी बालक बढ़ता चला जाता है, उसी प्रकार बीज में कारणवश जन्म ले चुका वनस्पतिकायिक जीव भी अपने आयुष्य व नामकर्मका उदय होने पर जीव का आश्रय होरहा वही बीज अथवा बीज का आश्रय होरहा वह जीव भला मिट्टी, जल, आदि के रसों का आहार करता हुआ अंकुर होजाता है जैसे तपाया गया लोहे का पिण्ड सब ओर से जल को खींच कर अपने आत्मसात् कर लेता है उसी प्रकार वह बीज में बैठा हुआ जीव पृथिवी, जल-सम्बन्धी रसों के आहार को स्वीकार करता हुआ ही अंकुर रूप करके बढ़ जाता है, अन्तरंगमें अपने अनुकूल निर्माण नामकर्मका उदय भी निश्चित रूपसे अपेक्षणीय है, अन्तरंग, बहिरंग दोनों कारणों के मिलने पर कार्य-सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं, अतः केवल बीज ही अंकुर

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्वरूप नहीं बढ़ गया है किन्तु जीव द्वारा आहार किये गये पृथिवी आदि के रसों अनुसार अंकुर बढ़ पाया है, अन्य भी अन्तरंग बहिरंग कारण अपेक्षणीय हैं।

ततो न वृद्धयभावोंकुरादेः। यदप्युक्तं,यो यत्परिणामश्च ततो न वृद्धिमान् दृष्टो यथा क्षीरपरिणामो दध्यादिर्न क्षीरादिति। तत्र हेतुः कालात्ययापदिष्टो धर्मिदृष्टांतग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् धर्मी तावद्बीजपरिणामोंकुरादिस्ततो वृद्धिमानेव प्रतिभासमानः कथं चा ऽवृद्धिमाननुमातुं शक्यः। दृष्टांतश्च शीतक्षीरस्य तप्यमानोन्यो न क्षीरपरिणामो धर्मोद्वर्तित दधिपरिणामो वा क्षीरादवृद्धिमनुपलभ्यमानः कथं तदवृद्धयभावसाध्ये निदर्शनं।

तिस कारण अंकुर आदि को वृद्धि का अभाव होजाना यह दोष हम जैनों पर लागू नहीं है क्यों कि बीज से अतिरिक्त भी पदार्थ अंकुर की वृद्धि में कारण होरहे हैं और भी जो आक्षेपकार ने जो यह कहा था कि जो जिसका परिणाम है वह उससे वृद्धिको धार रहा नहीं देखा गया है जैसे कि जमादिये गये दूध का परिणाम दही. मथित आदिक उस दूध से बढे हुये नहीं पाये जाते हैं। एक सेर दूधका दही एक सेरसे अधिक परिमाण वाला नहीं होपाता है। इस प्रकार कहने पर तो हम जैनयों उत्तर कहते हैं कि उस अनुमानमें कहा गया हेतु बाधितहेत्वाभास है क्योंकि धर्मी और दृष्टान्तको ग्रहण करने वाले प्रमाणों करके उसके साध्य में बाधा प्राप्त होजाती है। देखिये यहाँ धर्मी तो बीज का परिणाम होरही अंकुर आदि अवस्था है किन्तु वह अंकुर आदि तो उस परिणामी बीज से वृद्धि को धार रहा ही देखा जा रहा है, ऐसी दशा में नहीं-वृद्धि को धारने वाला इस साध्य का अनुमान किस प्रकार किया जा सकता है ?

अर्थात्-"तत्परिणामत्व" हेतुसे "ततोवृद्धयभाव" इस साध्यकी सिद्धि नहीं होसकती है जो प्रमाण पक्ष को जानेगा उसी समय वह साध्य में बाधा को उपस्थित कर देगा तथा दृष्टान्त भी वृद्धयभाव को नहीं साधने देता है। ठण्डे होरहे दूध का तपाया जारहा दूध परिणाम कोई अन्य नहीं है अथवा उष्णता से उद्वर्तन कर दिया गया दही परिणाम भी कोई दूध से न्यारा नहीं है, भले ही वह दूध से बढती को प्राप्त होरहा नहीं देखा जा रहा है वे दधि आदि भला वृद्धिअभावको साध्य करने मेंदृष्टान्त किस प्रकार होसकते हैं ? अर्थात्-नहीं। भावार्थ-बीज का परिणाम अंकुर ठीक है किन्तु वह वृद्धियुक्त देखा जा रहा है, हां क्षीर का परिणाम माना जा रहा दही भले ही बढता नहीं है किन्तु वह उस दूध का न्यारा परिणाम ही नहीं है, ठण्डा दूध. उष्ण दूध, दही, मथित, तक्र ये सब एक अपेक्षा दूध ही हैं, अतः परिणामी से न्यारे परिणाम के वृद्धयभाव को साधने में दृष्टान्त नहीं होसकते हैं।

तत्परिणामत्वादित्यसिद्धं च साधनं परिणामाभाववादिनः। पराभ्युपगमात् तस्सिद्धौ वृद्धिसिद्धिरपि तत एव स्यात् सर्वथा विशेषाभावात्। तन्न वृद्धयभावात् परिणामाभावः स्याद्वादिनां प्रति साधयितुं शक्यः, परिणामाभावात् वृद्धयभावः सर्वथैकांतवादिनः प्रसिद्धत्येव जन्माद्यभाववदिति निवेदितप्रायं।

दूसरा दोष यह भी है कि परिणामों के अभाव को कहने वाले वादियोंके यहां तत्परिणामत्व यह हेतु सिद्ध नहीं है, अतः असिद्धहेत्वाभास भी है। पक्ष में हेतु नहीं ठहरता है। यदि कूटस्थ वादी

यों कहें कि परिणाम-वादी नैयायिक, जैन, आदि दूसरे विद्वानों के स्वीकार कर लेने से तदनुसार हम भी उस परिणाम की सिद्धि मान लेते हैं। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो तिस ही कारण से यानी दूसरोंके स्वीकार कर लेने मात्र से वृद्धि की सिद्धि भी होजाओ, सभी प्रकारों से कोई विशेषता नहीं है। दूसरे विद्वानों का एक स्वीकृत अंश माना जाय और दूसरा प्रतीतसिद्ध अंश नहीं माना जाय यों अर्द्धजरतीय न्याय का अनुसरण करना प्रशस्त मार्ग नहीं है. तिस कारण वृद्धि का अभाव होजाने से परिणामका अभाव यह स्याद्वादियोंके प्रति नहीं साधा जा सकता है। हां सर्वथा एकान्त वादियों के प्रति परिणाम का अभाव होजाने से वृद्धि का अभाव प्रसिद्ध कर दिया ही जाता है। जैसे कि सर्वथा नित्यपन या सर्वथा क्षणिकपन को मान बैठे एकान्त-वादी पण्डितों के यहां जन्म, अस्तित्व आदिक का अभाव प्रसिद्ध होजाता है, इस बात का हम पूर्व प्रकरणों में कई वार निवेदन कर चुके हैं। अभी चौथे अध्याय के अन्त में भी जन्म, अस्तित्व, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश इन विकारों की स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार प्रक्रिया मानने पर ही सिद्धि बतायी जा चुकी है, अन्यथा नहीं।

न हि नित्यैकांते परिणामोस्ति, पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादानभ्युपगमात् स्थितिमात्रावस्थानात् न च स्थितिमात्रं परिणामः तस्य पूर्वोत्तराकारपरित्यागोपादानभावस्थितिलक्षणत्वात्।

सर्वथा नित्यपन का एकान्त मानने पर परिणाम होना नहीं बन पाता है क्योंकि परिणाम का अर्थ तो पूर्व आकार का विनाश और कुछ ध्रुव अंशों को नहीं छोड़ कर वर्तना तथा उत्तर आकार का उत्पाद होना है "पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च" किन्तु नित्य एकान्त में उक्त परिणाम होना नहीं स्वीकार किया गया है वहाँ तो केवल स्थिति ही अवस्थित रहती है, पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकारों का ग्रहण नहीं सम्भवते हैं। केवल ध्रौव्य अंश करके स्थिति होना ही तो परिणाम नहीं है, क्योंकि उस परिणाम का लक्षण पूर्व आकार का परित्याग और उत्तर आकर का उपादान तथा ध्रुव भाव (आकार) की स्थिति इतना अखण्ड है।

सदा स्थास्नोरात्मादेरर्थान्तरभूतोतिशयः कुतश्चिदुपजायमानः परिणाम इति चेत्, स तस्येति कुतः ? तदाश्रयत्वादिति चेत्, कथमेकस्वभावमात्मादि वस्तु कदाचित्कस्यचिदतिशयस्याश्रयः कदाचित्त्वस्येति संभाव्यते ? स्वभावविशेषादिति चेत, तर्हि येन स्वभावविशेषेणाश्रयः कस्यचिद्भावो येन वानाश्रयः स ततोनर्थान्तरभूतश्चेत्तन्नित्यत्वैकांतविरोधः। स ततोर्थान्तरभूतश्चेत्तस्येति कुतः ? तदाश्रयत्वादिति चेत्, स एव पर्यनुयोगोनवस्था च। सुदूरमपि गत्वा तस्य कथंचिदनर्थान्तरभूतस्वभावविशेषाभ्युपगमे कथं ततोर्थान्तरभूतोतिशयः परिणामस्तदाश्रयः स्यात्।

नित्यैकान्तवादी कहते हैं कि सर्वथा स्थिति-शील होरहे आत्मा, आकाश, आदिक अर्थों से सर्वथा भिन्न पदार्थ होरहा अतिशय ही किन्हीं कारणों से उपज रहा सन्ता परिणाम है, परिणामी से परिणाम अभिन्न नहीं है। यों कहने पर तो ग्रन्थकार पूछते हैं, कि वह भिन्न पड़ा हुआ अतिशय स्वरूप

परिणाम उस आत्म आदि का है, यह किससे निर्णीत किया जाय बताओ ? यदि तुम निरेकान्त-वादी यों कहो कि भिन्न पड़ा हुआ भी अतिशय उस आत्मा के आश्रय पर आश्रित है, अतः वह आधेय होरहा अतिशय उस अधिकरण भूत आत्मा का कहा जा सकता है। यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि एक स्वभाव वाले कूटस्थ आत्मा आदिक वस्तुयें कभी तो किसी एक अतिशय के आश्रय होजांय और कदाचित् किसी अन्य अनित्य अतिशय के आधार होजांय यह किस प्रकार सम्भावना होसकती है ? अर्थात् एक स्वभाव वाला पदार्थ एक ही अतिशय को धार सकेगा भिन्न भिन्न काल में न्यारे २-जन्य अतिशयों को नहीं धार सकेगा क्योंकि कूटस्थ नित्य पदार्थ ठीक एकसा ही रहता है यदि नित्यैकान्तवादी इस पर यों कहें कि आत्मा आदिक किसी विशेष स्वभाव से कभी कभी किसी किसी अतिशय के आश्रय होजायगे यों कहने पर हम जैन आपादन करते हैं. कि जिस विशेष स्वभाव करके वह आत्मा पदार्थ किसी एक अतिशय का आश्रय है। अथवा जिस स्वभाव करके किसी दूसरे अतिशय का वह उस समय आश्रय नहीं है, वह स्वभाव विशेष उस कूटस्थ आत्मा से यदि अभिन्न होगा तब तो उस आत्मा के कूटस्थनित्यपन के एकान्त का विरोध होजावेगा क्योंकि वह स्वभाव विशेष तो सर्वदा नहीं ठहरेगा, उससे अभिन्न आत्मा भी कथंचित् अनित्य बन जायगा, स्वभाव विशेषको कारणों से जन्य ही तो मानोगे। हां यदि वह स्वभावविशेष उस आत्मासे भिन्न होगा तब कूटस्थनित्यपन तो उसका रक्षित रह गया किन्तु सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ " वह स्वभावविशेष उस आत्मा का है " यह कैसे व्यवहृत कर लिया जाय ? सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ पदार्थ या तो किसी का भी नहीं है। अथवा सबका उस पर एकसा अधिकार है। यदि नित्य एकान्त-वादी यों कहें कि आश्रय आत्माके वह स्वभाव विशेष आश्रित होरहा है, इस कारण " वह स्वभावविशेष उस आत्मा का है " ऐसा व्यवहार कर लिया जाता है। जैसे कि आश्रित होने से जिनदत्त का सेवक देवदत्त कह दिया जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यों कहने पर तो हम जैनों को कहना पड़ता है कि पुनः वही तर्क चलाया जायगा कि वह एक स्वभाववाला नित्य आत्मा कभी कभी न्यारे न्यारे स्वभावविशेष या अतिशयों का आश्रय कैसे होसकता है ? इस पर आपकी ओर से वही स्वरूप [illegible] विशेष उत्तर कहा जायगा, यों वही तर्क और समाधान अनुसार आकांक्षाशान्ति नहीं होने के कारण अनवस्था दोष होजायगा। बहुत दूर भी जाकर स्वभाव विशेष को उस स्वभाववान् आत्मा से कथंचित् अभिन्न होरहा स्वीकार करोगे तब तो उस आत्मा से भिन्न माना जा रहा अतिशय स्वरूप परिणाम किस प्रकार उस आत्मा के आश्रित होसकेगा अर्थात्—जब स्वभाव विशेष अभिन्न होकर ही उस आत्मा के आश्रित होसकता है, उसी प्रकार भले ही अतिशय स्वरूप परिणाम माना जाय किन्तु वह आत्मा आदि से कथंचित् अभिन्न ही होगा और ऐसी दशा में कूटस्थनित्यपन का एकान्त रक्षित नहीं रहा।

यो यथा यत्र यदा यतोतिशयस्तस्य तथा तत्र तदाश्रयीभाव इत्येवंरूपकस्वभावत्वादात्मादिभावस्यादोष एवेति चैकांतात्मादिभावपरिकल्पनात् विरोधः, पृथिव्याद्यतिशयानामेकात्मातिशयत्वप्रसंगात्। शक्यं हि वक्तुमेक एवात्मैवंभूतं स्वभावं विभक्ति येन यथा यत्र यदा पृथिव्याद्यतिशयाः प्रभवंति तेषां तथा तत्र तदाश्रयो भवतीति। तदतिशय एव तत्र पुनरन्यद्रव्यातिशय इति। द्रव्यांतराभावे कुतोतिशयाः पुरात्मनीति चेत्, समानाद्यतिशयांतरेभ्यः एवान्येपि परेभ्योतिशयेभ्य इत्यनाद्यतिशयपरंपराभ्युपगमादनुपालम्भः।

कूटस्थनित्यवादी कहते है कि जो जिसप्रकार जहां जिस समय जिससे अतिशय उपजता है। उसका उस प्रकार वहां उस समय आश्रय आश्रयीभाव होजाता है, यों इस प्रकार इतना आत्मा आदि भाव का एक ही स्वभाव है, अतः कोई दोष नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि आप कूटस्थवादियों को एक आत्मा, आकाश आदि भावों की परिकल्पना करने से विरोध उपस्थित होजायगा। पृथिवी, जल आदि अतिशयों को एक आत्मा के अतिशय होजाने का प्रसग होजायगा, हम यों नियम से कह सकते हैं कि एक ही आत्मा इस प्रकारके होरहे स्वभावों को धार लेता है, कि जिस करके जिस प्रकार, जहां, जब, पृथिवी-आदिक अतिशय उत्पन्न होते हैं उनका उस प्रकार वहां, तब, आश्रय होजाता है, इस प्रकार वे पृथिवी आदिक उस आत्मा के अतिशय ही हैं। किन्तु फिर अन्य द्रव्यों के अतिशय नहीं हैं। कूटस्थ नित्यवादी कहते हैं कि पृथिवी आदिक द्रव्यों का अभाव मानने पर वे अतिशय आत्मामें भला किन कारणोंसे उपज जायंगे ? यों कहने पर तो यही कहा जा सकता है कि अन्य अतिशयों से वे अतिशय उपज जायंगे और ये अन्य अतिशय भी तीसरे, चौथे, पांचवें, आदि निराले अतिशयों से उपजते रहेंगे इस प्रकार अनादि काल से अतिशयों की परम्परा का स्वीकार कर लेने से कोई उलाहना नहीं आसकता है।

अस्त्येक एवात्मा पुरुषाद्वैताभ्युपगमादित्यपरः तस्यापि नात्मातिशयः परिणामो द्वैतप्रसंगात्। अनाद्यविद्योपदर्शितः पुरुषस्यातिशयः परिणाम इति चेत्, तर्हि न वास्तवः परिणामः पुरुषाद्वैतवादिनोस्ति।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ऐसे अवसर पर अपने पक्ष को पुष्ट हुआ देख कर ब्रह्माद्वैतवादी बोल उठते हैं कि जगत् में एक ही तो आत्मा है क्योंकि पुरुषाद्वैत-वाद को स्वीकार कर रखा है। इस प्रकार किसी अपर पण्डित के कहने पर आचार्य कहते हैं, कि उस ब्रह्माद्वैतवादी के यहां भी आत्मा का अतिशय होरहा परिणाम नहीं माना जा सकता है। क्योंकि निराले अतिशय स्वरूप परिणाम और परमब्रह्म को मानने से द्वैत-वाद का प्रसग हो जावेगा यदि अद्वैत वादी यों कहें कि अनादि काल से लगी हुई अविद्या करके उपदर्शित होरहे परम ब्रह्म का अतिशय ही परिणाम है, वस्तुतः एक परम पुरुष ही पदार्थ है, अन्य कोई नहीं। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो पुरुषाद्वैतवादी के यहां वास्तविक परिणाम नहीं सिद्ध हुआ, अविद्या के द्वारा दिखलाये गये झूंठे अतिशय को परिणाम मानने पर यथार्थ परिणाम की सिद्धि नहीं होपाती है, अतः कूटस्थ नित्यवादी या ब्रह्माद्वैतवादीके यहां परिणाम नहीं बन पाता है।

योप्याह, प्रधानादनर्थान्तरभूत एव महदादिः परिणाम इति, सोप्ययुक्तवादी, सर्वथा प्रधानादभिन्नस्य महदादेः परिणामत्वाविरोधात् प्रधान-स्वात्मवत् तस्य वा परिणामत्व-प्रसंगात् महदादिवत्, ततो न प्रधानं परिणामि घटते नित्यैकस्वभावत्वादात्मवत्।

जो भी सांख्य यों कह रहा है कि सत्वगुण, तमोगुण, रजोगुण, की साम्य अवस्था रूप प्रधानसे महत, अहंकार, आदि परिणाम होरहे अभिन्न हैं "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्मादगणश्च षोडशकः तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंचभूतानि"। ग्रन्थकार कहते हैं कि वह सांख्य भी युक्तिरहित पदार्थों के कहने की टेव को धारता है। क्योंकि प्रधान से सभी प्रकार अभिन्न होरहे महत्तत्व, अहंकार आदि

को परिणामपन का विरोध है, जैसे कि प्रधान से अभिन्न होरहा प्रधान का स्वात्मा तो प्रधान ही परिणामी का परिणाम नहीं है। दूसरी बात यह है कि अभिन्न पदार्थ ही यदि परिणाम होने लगे तो महत् आदि के समान उस प्रधान को परिणामपन का प्रसंग आजावेगा, तब तो महत्, अहंकार आदि परिणामी होजायंगे और प्रकृति उनका परिणाम बन जावेगी तिस कारण सांख्यों के यहां माना गया प्रधान तो परिणामवाला नहीं घटित होता है। क्योंकि सर्वथा नित्यपन ही उसका एक स्वभाव है, जैसे कि कापिलों के यहां एकान्त से नित्य स्वभाव होने के कारण कूटस्थ आत्मा परिणामी नहीं माना गया है (परार्थानुमान)।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यदि पुनः प्रधानस्य महदादिरूपेणाविर्भावतिरोभावाभ्युपगमात् परिणामित्वमभिधीयते तदा स एव स्याद्वादिभिरभिधीयमानः परिणामो नान्यथेति नित्यैकांतपक्षे परिणामाभावः।

यदि फिर कापिल यों कहें कि हम आत्मा के कूटस्थनित्यपन से निराले प्रकार के प्रधान का महत्, अहंकार, तन्मात्रायें, आदिरूप करके आविर्भाव और तिरोभाव को स्वीकार करते हैं, हां उत्पाद या विनाश हमको अभीष्ट नहीं है. अतः आविर्भूत, तिरोभूत होरहे अपने अभिन्न परिणामों के अनुसार प्रधान का परिणामीपना कहा जाता है। आचार्य कहते हैं कि तब तो स्याद्वादियों करके वही परिणाम कहा जा रहा है, प्रकट होजाना, छिप जाना आदि अन्य प्रकारों से परिणाम नहीं बनता है। अर्थात् आविर्भाव, तिरोभाव,का अर्थ कथंचित् उत्पाद, विनाश, मानने पर ही निश्चिन्तता होसकेगी। अन्न में मांस या मल का सद्भाव मानना अनुचित है, अंगुलीके अग्रभाग पर हाथियों के सौ झुण्डों का समा जाना स्वस्थ पुरुष नहीं कह सकता है अतः स्याद्वाद सद्धान्त अनुसार ही परिणाम बनता है। नित्यपन के एकान्त पक्ष में परिणाम का अभाव है "न हि नित्यैकान्ते परिणामोऽस्ति" यहां से प्रारम्भ कर अब तक इस प्रकरण का विवरण कर दिया है।

क्षणिकैकांतेपि क्षणादूर्ध्वंस्थितेरभावात् परिणामाभावः, पूर्वक्षणे निरन्वयविनाशादुत्तरक्षणोत्पादः परिणाम इति चेत्, कस्य परिणामिन इति वक्तव्यं? पूर्वक्षणस्येति चेन्न, तस्यात्यंतविनाशात्तदपरिणामित्वाच्चिरतनविनष्टक्षणवत्।

सम्पूर्ण पदार्थों को एकक्षणस्थायी मानने के एकान्त पक्ष में भी परिणाम नहीं बनता है। क्योंकि क्षण से ऊपर दूसरे समयों में पदार्थों को स्थिति का अभाव है, ऐसी दशा में कौन किस स्वरूप परिणमै ? जो जीवित रहेगा वह आनन्द भोग सकेगा, मरेहुये पदार्थ के लिये कुछ भी नहीं है। यदि बौद्ध यों कहैं कि पहिले क्षण में अन्वयरहित होकर पदार्थ का विनाश होजाने से उत्तर-वर्त्ती दूसरे क्षण में नवीन पदार्थ का उत्पाद होना परिणाम है, यों कहने पर तो हम जैन पूछते हैं कि वह उत्तर क्षण-वर्त्ती उत्पाद भला किस परिणामी का परिणाम है ? यह तुमको स्पष्ट कहना चाहिये यदि पूर्व क्षणवर्त्ती पदार्थ का ही परिणाम वह उत्तर क्षण-वर्त्ती उत्पाद माना गया है, यह तो आप बौद्ध नहीं कह सकते हैं। क्योंकि उस पूर्व क्षण-वर्त्ती पदार्थ का अत्यन्त रूप से अनन्त काल तक के लिये विनाश होचुका है, अतः वह पूर्व क्षण-वर्त्ती पदार्थ इस उत्तर क्षण-वर्त्ती पदार्थका परिणामी नहीं होसकता है। जैसे कि बहुत काल पहिले विशेषतया नष्ट होचुका क्षण (स्वलक्षणपदार्थ) इस वर्तमान कालीन

उत्पाद का परिणामी नहीं माना गया है। यानी एकदिन पहिले मर गये अथवा पचास वर्ष पहिले मर गये बाबा आज इस समय गुड़ को नहीं खा सकते हैं।

कार्यकारणभाव एव परिणामिभाव इति चेन्न, क्षणिकैकांते कार्यकारणभावस्य निरस्तत्वात् क्रमयौगपद्यविरोधान्नित्यत्वैकांतवत्। संवृत्या कार्यकारणभावे तु न वास्तवः परिणामिभावः कयोश्चिदिति क्षणिकैकान्तपक्षे परिणामाभावः सिद्धः।

बौद्ध कहते हैं कि कार्यकारण भाव ही परिणाम परिणामीभाव है। पहिला क्षण कारण है, अतः परिणामी है। और उत्तर क्षण-वर्त्ती स्वलक्षण कार्य है, अतः परिणाम है। ऐसी अवस्था में हम बौद्धोंके यहां परिणाम बन जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कह बैठना क्योंकि क्षणिक पक्ष का एकान्त ग्रहण करने पर कार्य कारण भाव का निराकरण होचुकता है क्योंकि क्षणिक एकान्त में क्रम और यौगपद्य होने का विरोध है जैसे कि सर्वथा नित्यपन के एकान्त में क्रम और यौगपद्य घटित नहीं होते हैं, अतः कार्यकारणभावके ज्ञापक हेतुका अभाव होजाता है और कारकपक्षमें कार्यकारण भावके व्यापक क्रम और यौगपद्य हैं जैसे कि ज्ञापक पक्ष में कार्य कारण भाव के व्यापक अन्वय और व्यतिरेक हैं। यदि बौद्ध झूंठी कल्पना या व्यवहार से कार्य कारण भाव को स्वीकार करेंगे तब तो किन्हीं एक नियत दो पदार्थों का होरहा परिणाम परिणामी भाव वास्तविक नहीं होसकता, इस प्रकार क्षणिक एकान्त पक्षमें परिणाम होने का अभाव सिद्ध होगया।

संवेदनाद्यद्वैते तु दूरोत्सारित एव परिणाम इति सकलसर्वथैकांतवादिनां परिणामाभावाद्वृद्ध्यभावो अपक्षयाद्यभाववदवतिष्ठते। स्याद्वादिनां पुनः परिणामप्रसिद्धेर्युक्ता कस्यचिद्वृद्धिः स्वकारणसन्निपातादपक्षयादिवत्तथाप्रतीतेर्बाधकाभावात्।

कोई कोई बौद्ध पण्डित तो सम्वेदन, चित्र, आदि का अद्वैत मान बैठे हैं, आचार्य कहते हैं कि सम्वेदन आदि के अद्वैत पक्ष में तो परिणाम बहुत ही दूर फेंक दिया गया है। एक ही पदार्थ भला क्या परिणाम और परिणामी होसकता है? यानी देवदत्त का इकलौता लड़का जेठा, मझिला, या कनिष्ठ, नहीं होसकता है। इस प्रकार सम्पूर्ण सर्वथा एकान्त-वादियों के यहां परिणाम की घटना नहीं होने से वृद्धि का अभाव व्यवस्थित होजाता है, जैसे कि अपक्षय, विनाश, आदि का अभाव हो जाता है, हां स्याद्वादियों के यहां तो फिर परिणाम की समीचीनतया प्रसिद्धि होजाने से किसी अंश की वृद्धि स्वकीय वृद्धि के कारणों का सन्निपात होजाने से समुचित बन जाती है। जैसे कि अपने अपने कारणों का सान्निध्य होने से अपक्षय, अस्तित्व, आदिक सध जाते हैं। तिस प्रकार की होरही प्रतीति का कोई बाधक प्रमाण नहीं है। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षयते, विनश्यति, अपने अपने कारणों अनुसार होरहे इन छह विकारों की बालक बालिकाओं तक को प्रतीति होरही है। यहां तक "परिणामाभावात् वृद्ध्यभावः सर्वथैकान्तवादिनः" इस कथन का उससंहार कर दिया गया है।

परिणामो हि कश्चित् पूर्वपरिणामेन सदृशो यथा प्रदीपादेर्ज्वालादिः, कश्चिद्विसदृशो यथा तस्यैव कज्जलादिः, कश्चित्सदृशासदृशो यथा सुवर्णस्य वटकादिः। तत्र पूर्वसंस्थानाद्यपरित्यागे सति परिणामाधिक्यं वृद्धिः, सदृशेतरपरिणामो यथा बालकस्य कुमारादिभावः।

जगत्में परिणाम अनेक प्रकारके हैं,नैमित्तिक भाव भी अनेक प्रकारके हैं कोई कोई परिणाम तो पहिले पहिले परिणामोंके सदृश होता है, जैसे कि प्रदीप आदि की ज्वाला, कलिका आदि हैं, प्रदीप की कलिका से कलिका पुनः कलिका से वैसी ही कलिका यों घण्टों तक दीपक सदृश परिणामों को धारता रहता है। हां कोई कोई परिणाम तो विसदृश आदी परिणामी से विलक्षण होता है जैसे कि उस ही प्रदीप आदि के काजल, धुआं राख, आदि परिणाम हैं तथा कोई कोई परिणाम कुछ अंशों में परिणामी के सदृश और अन्य अंशों में परिणामी से विलक्षण होता है जैसे कि सुवर्ण के ककण, आदि परिणाम हैं। यहां सोनापन सदृश है किन्तु पहिले फांसेकी आकृति सर्वथा विसदृश होकर कंकण हसली, कुण्डल आदि रूप होगई है। उन परिणामों में पहिले संस्थान (रचना) आदिका परित्याग नहीं होते सन्ते परिणाम की अधिकता होजाना तो वृद्धि है जो कि सदृश और विसदृश परिणामस्वरूप है जैसे कि बालक का कुमार आदि अवस्था रूप वृद्धि परिणाम है, यहां बालक की ही कुमार अवस्था में वृद्धि होगयी है जिसके कारण मातृदुग्ध अन्न, जल सूर्यातप, उदराग्नि, वीर्यांतरायक्षयोपशम आदि भी कहे जा चुके हैं।

सदृश एवायमित्ययुक्तं, विसदृशप्रत्ययोत्पत्तेः। सर्वथा सादृश्ये बालकुमाराद्यवस्थयोः कुमाराद्यवस्थायामपि बालप्रत्ययोत्पत्तिप्रसंगात्, बालकावस्थायां वा कुमारादिप्रत्ययोत्पत्तिप्रसक्तेः सर्वथा विसदृश एव बालकपरिणामात्कुमारादिपरिणाम इत्यपि न प्रातीतिकं स एवायमिति प्रत्ययस्य भावात्। भ्रांतोसौ प्रत्यय इति चेन्न बाधकाभावादात्मनि स एवेह प्रत्ययवत्। सर्वत्र तस्य भ्रांतत्वोपगमे नैरात्म्यवादालंबनप्रसंगः। न चासौ श्रेयान् यतश्च सदृशेतरपरिणामात्मनो वस्तुनः साधनात्, प्रत्यभिज्ञानस्याभेद- प्रत्ययस्य च प्रामाण्यव्यवस्थापनात्। ततो युक्तः सदृशेतरपरिणामात्मको वृद्धिपरिणामः।

वृद्धि नामक विकार को सदृश, विसदृश, दोनों स्वरूप नहीं मानते हुये कोई कहते हैं कि वह वृद्धिपरिणाम तो सदृश ही है वैसा का वैसा ही बालक पुनः कुमार या युवा होता हुआ बढ़ जाता है कोई विलक्षणता नहीं दीखती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना युक्तियोंसे रहित है क्योंकि बालक से कुमार होजाने पर विसदृशपनेका ज्ञान भी उपजता है किसी किसी बालक का तो अगली अवस्थाओं में बहुत अन्तर पड़ जाता है यदि बालअवस्था और कुमार आदि अवस्थाओं को सभी प्रकारों से सदृश ही माना जायगा तो कुमार आदि अवस्था में भी बालक है, ऐसे ज्ञान के उपजने का प्रसंग आवेगा अथवा बालक अवस्था में कुमारपन, युवापन, आदिक ज्ञानों की प्रतीति उपजने का प्रसंग आजायगा कुमार को बालक या बालक को कुमार कोई नहीं कहता है।

इसके विपरीत कोई दूसरे विद्वान् यों कह रहे हैं कि बालक परिणाम से कुमार आदिक परिणाम सर्वथा विसदृश (विलक्षण) ही है। आचार्य कहते हैं कि यह भी सिद्धान्त प्रतीतियों पर आरूढ़ नहीं कहा जासकता है, कारणकि वही बालक कुमार होगया है, इस प्रकारके प्रत्ययका सद्भाव है ऐसी दशा में बालक से कुमार को सर्वथा विलक्षण नहीं कहा जा सकता। माता, पिता, या अन्य गुरू जन उसी बालक को कुमार, युवा, आदि अवस्था पर्यन्त बढ़ता हुआ देख रहे हैं। यदि कोई पण्डित यों कहे कि वह प्रत्यभिज्ञान स्वरूप प्रत्यय तो भ्रान्त है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस प्रत्यभिज्ञान का कोई बाधक प्रमाण नहीं है, जैसे कि आत्मा में यह वही है इस प्रत्यभिज्ञान के बाधकों

का अभाव होजाने से वह प्रत्यभिज्ञान अभ्रान्त समझा जाता है. सीप में हुये चांदी के ज्ञान का "यह चांदी नहीं है, ऐसा बाधक ज्ञान पश्चात् उपज जाता है अतः सीप में चांदी का ज्ञान भ्रान्त है किन्तु माता की गोद में पड़ा हुआ वही बालक क्रम क्रम से कुमार, युवा, वृद्ध, होजाता है, इन प्रत्यभिज्ञानों का बाधक कोई समीचीन ज्ञान नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता पर आस्था नहीं रखने वाले पण्डित यदि सभी स्थलों पर उस प्रत्यभिज्ञान का भ्रान्तपना स्वीकार करेंगे तब तो नैरात्म्यवाद के अवलम्ब करने का प्रसंग आवेगा किन्तु वह बौद्धों के यहां नैरात्म्यवाद का अवलम्ब किया जाना श्रेष्ठमार्ग नहीं है क्योंकि कालान्तर-स्थायी अथवा अनादि अनन्त आत्माकी सिद्धि हो चुकी है जो आत्माको या आत्माके स्वभावोंको अथवा अन्य पदार्थों के धर्मों को स्वीकार नहीं करते हैं वे अवश्य नैरात्म्यवादी हैं, अतः बाल्य, कौमार्य, आदि अवस्थाओंमें हुआ एकत्व प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, जिस कारण से कि पहिले प्रकरणों में सदृश, विसदृश, परिणाम स्वरूप या सामान्य विशेषात्मक वस्तु की सिद्धि की जा चुकी है प्रत्यभिज्ञान अथवा अभेद को विषय करने वाले ज्ञानों की प्रमाणता का व्यवस्थापन होचुका है। तिस कारण से यह कहना सर्वांग युक्तिपूर्ण है कि बुद्धिस्वरूप होरहा परिणाम तो सदृश परिणाम और विसदृशपरिणामात्मक है, केवल सदृश ही या केवल विसदृश ही नहीं है।

एतेनापक्षयपरिणामो व्याख्यातः। यथा स्थूलस्य कायादेः सदृशेतर-प्रत्ययसद्भावात् सदृशेतरात्मक इति। विसदृशपरिणामो जन्म तस्यापूर्वप्रादुर्भावलक्षणत्वात्, तथा विनाशः पूर्व-पर्यायस्यापूर्वप्रादुर्भावरूपत्वात्। तद्व्यतिरिक्तस्य विनाशस्याप्रतीतेः।

इस कथन करके अपक्षय नाम के परिणाम का भी व्याख्यान कर दिया गया समझ लो। अर्थात् -पुष्ट शरीर वाला युवा पुरुष जब बुड्ढा होता हुआ कुछ क्षीण होजाता है अथवा कोई रोगी या दरिद्र पुरुष क्षीणशरीर होजाता है उसका वह अपक्षय भी कुछ सादृश्य और कुछ वैसादृश्य को लिये हुये सदृशेतरपरिणाम स्वरूप है। जिस प्रकार कि मोटे होरहे शरीर, मणि, आदिक का अपक्षय होने पर सदृशपन और विसदृशपन को जानने वाले ज्ञान के विषयताका सद्भाव होजाने से वे काय आदिक पदार्थ सदृश, विसदृश, परिणाम-आत्मक हैं। कृष्ण पक्ष में क्षीण होरहा चन्द्रमा, शाण पर घिसी गयी मणि, वर्षा के पश्चात् शरद ऋतु की नदियां, इनका अपक्षय परिणाम भी समान असमान उभयात्मक है।

हां जन्म नामक परिणाम तो विसदृश परिणाम कहा जा सकता है, क्योंकि सर्वथा अपूर्व पदार्थ का प्रादुर्भाव होना उस जन्म का लक्षण है। घोड़ा मर कर मनुष्य उपज गया या मनुष्य मर कर स्वर्ग में देव का जन्म पाता है, बत्ती, तेल आदि से कलिका विलक्षण होरही उपजती है, यहां अन्वित होरहे किसी ध्रौव्य अंशकी विवक्षा नहीं की गयी है। तिस प्रकार जन्म, अस्तित्व आदि छः भावों में गिनाया गया विनाश परिणाम भी विसदृश परिणाम कहा जाता है क्योंकि पहिली पर्याय का विनाश होजाना अपर्व पर्याय के प्रादुर्भाव स्वरूप है "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः" गेहुओं का क्षय चून का उत्पाद रूप है। इस अपूर्वअवस्थाके प्रादुर्भावसे अतिरिक्त किसी तुच्छ विनाशकी प्रतीति नहीं होरही है। नैयायिकोंका-सा तुच्छ ध्वंस हमको अभीष्ट नहीं है, अपूर्व प्रादुर्भावको हम विसदृशपरिणाम कह ही चुकेहैं।

ध्वंसाभावोस्तीति प्रत्ययविषयत्वादिति चेत्, ततश्च भावस्वभावत्वे नीरूपत्वप्रसंगात्।

नास्तीति प्रत्ययविषयरूपसद्भावान्न नीरूपत्वमिति चेत्, तर्हि भावस्वभाव एव विनाशः स्वभावत्वादुत्पादवत् । प्रागभावेतरेतराभावान्यन्ताभावानामप्यनेनैव भावस्वभावता व्याख्याता ।

यदि वैशेषिक यों कहैं कि "ध्वंस रूप अभाव है" ऐसी प्रतीतिका विषय होनेसे विनाश पदार्थ तो भाव पदार्थों से न्यारा है । यों कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि उस प्रतीतिसे यदि ध्वंस को अभाव स्वभाव वाला माना जायगा तो नीरूपपने का प्रसंग आवेगा यानी उस तुच्छ ध्वंस के कोई भी स्वभाव या धर्म नहीं होनेके कारण वह ध्वंस निस्स्वभाव होजायगा निस्स्वभाव पदार्थ खरविषाणवत् असत् है, फिर भी वैशेषिक यों कहैं कि "नहीं है" इस प्रकार के ज्ञान की विषयता ध्वंस में है अतः ध्वंस के उस विषयतास्वरूप धर्म का सद्भाव होने से नीरूपपन यानी स्वभावरहितपन का प्रसंग नहीं आवेगा । यों कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो विनाश पदार्थ भाव का ही स्वभाव रहा (प्रतिज्ञा) स्वभाव होने से (हेतु) उत्पाद के समान (अन्वयदृष्टान्त) । अतः उत्तर पर्यायस्वरूप ही पूर्व पर्याय का विनाश है जो कि विनाश स्वरूप परिणाम उस पूर्व कालीन परिणामी से विसदृशपरिणाम स्वरूप है । इस उक्त कथन करके ही प्रागभाव अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावका भी भावस्वभावपना बखान दिया गया है अर्थात् प्रागभाव आदिक चारों अभाव भावस्वरूप ही पड़ते हैं. इसका निर्णय ग्रन्थकार ने अष्टसहस्री ग्रन्थ में अच्छा कर दिया है । "कार्यस्य आत्मलाभात्प्रागभवनं प्रागभावः" कार्य के आत्मलाभ से पहिले कार्य का नहीं होना प्रागभाव है, जो कि कार्य के अव्यवहित पूर्व-वर्त्ती या कार्यके सम्पूर्ण पूर्व-वर्त्ती परिणामों स्वरूप है । ऋजुसूत्रनयार्पणात् उपादानक्षण एवोपादेयस्य प्रध्वंसः, ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा उपादेय परिणाम का उत्पाद ही पूर्व समय-वर्त्ती उपादान का प्रध्वंस है । 'स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिः अन्योन्याभावः" किसी दूसरे स्वभावसे प्रकृत स्वभाव की व्यावृत्ति होना अन्योन्याभाव है जैसे घट पट नहीं हैं यों घट या पट की स्वकीय परिणतियों स्वरूप ही अन्योन्याभाव है, यदि स्वभावान्तरों से स्वभावकी व्यावृत्ति कालत्रय वृत्ति होजाय तो वे आत्मा,आकाश आदिकी मिथः परिणतियां अत्यन्ताभाव समझी जाती हैं । संक्षेप से अभावों को भाव रूप इसी ढंगसे समझ लिया जाय । यों वृद्धि, अपक्षय,जन्म और विनाश इन चार परिणामों (विकारों) के सदृशपन या विसदृशपन अथवा उभयपन का विचार कर दिया गया है ।

ननु च यथा स्वभाववत्त्वाविशेषेपि घटपटयोर्नानात्वं विशिष्टप्रत्ययविषयत्वात्तथा भावाभावयोरपि स्यादिति चेन्न,घटत्वेन वा स्वभाववत्त्वस्याव्याप्तत्वाद् घटस्य पटात्मकत्वासिद्धः, पटस्य वा घटात्मकत्वानुपपत्तेः कथचिन्नानात्वव्यवस्थितेः । भावात्मकत्वेन तु स्वभावस्य व्याप्तिसिद्धे सर्वत्र भावात्ममतरेण स्वभाववत्त्वाप्रसिद्धेरभावस्य ततो भावात्मकत्वसिद्धेरप्रतिबंधनात् । तत्र विशिष्टप्रत्ययस्तु पर्यायविशेषादुपपद्यते एव घटे नवपुराणादिप्रत्ययवत् । यथैव घटो नवः पुराण इति विशिष्टप्रत्ययतामात्ममात्कुर्वन्नपि घटात्मतां न जहाति तथा भावोस्ति नास्तीति विशिष्टप्रत्ययं विषयता स्वीकुर्वन्नपि न भावत्वमविशेषात्

यहाँ वैशेषिकों का पुनः स्वमन्तव्य अवधारण है कि स्वभावसहितपन के विशेषतारहित होते हुये भी घट और पट में तिस प्रकार विशिष्ट ज्ञान का विषय होजाने के कारण नानापन है, शीतको पट दूरकर देता है,कपड़ा ओढ़ा मरोड़ा जा सकता है, घट नहीं । घट पानीको धारता है, कठिन है, पट

ऐसा नहीं है, उसी प्रकार भाव और अभाव में भी न्यारे न्यारे विशेष प्रत्ययों का गोचरपना होने से अनेकपन होजावेगा। "द्रव्यमस्ति, गुणः अस्ति, कर्म अस्ति" ये ज्ञान भावों को विषय करते हैं "प्राक् नासीत्, पश्चान्न भविष्यति, इतरत् इतरत्र नास्ति अन्यत् अन्यत्र कालत्रयेऽपि नास्ति" ये ज्ञान अभावों को विषय करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि घटपने करके स्वभावसहितपना व्याप्त नहीं है अतः घट को पटस्वरूपपना असिद्ध है और पटको घट-आत्मकपना बन नहीं सकता है, इस कारण घट, पट, दोनों में कथंचित् नानापन की व्यवस्था समुचित होरही है। हाँ भावआत्मकपन करके तो स्वभावसहितपनकी व्याप्ति सिद्ध है, अतः सर्वत्र भाव-आत्मक बने विना अभाव को स्वभाव-सहितपना अप्रसिद्ध होजायगा तिस कारण अभाव को तुच्छ या निरुपाख्य नहीं मानते हुये जैनों के यहां भाव-आत्मकपन की सिद्धि का कोई प्रतिबन्धक नहीं है।

अर्थात्-अभावों में अनेक स्वभाव तभी रह सकते हैं जब कि अभावों को भावआत्मक माना जाय। भूतल में घटका अभाव रीते भूतल स्वरूप है, हां उस अभाव में भावों के ज्ञान की अपेक्षा कुछ विशेषताओं के लिये हुये ज्ञान का होजाना तो पर्याय विशेष अनुसार बन जाता ही है, जैसे कि घट में नवीन, पुराना, नीला, काला, पुष्ट, शिथिल, आदि ज्ञान उन उन विशेष पर्यायों अनुसार होजाते हैं। अर्थात्—जिस ही प्रकार नवीन या पुराना घड़ा है इस प्रकार विशिष्ट ज्ञान की विषयता को आत्माधीन करता हुआ भी वह घट अपने घट स्वरूप को नहीं छोडता है तिस प्रकार "पदार्थ है अथवा पदार्थ नहीं है" इस प्रकार विलक्षण ज्ञानों की विषयता को स्वीकार कर रहा भी भाव-पदार्थ अपने भावपन को नहीं छोड़ता है घटकी नई, पुरानी, आदि अवस्थाओं और भाव की सत्ता या असत्ता रूप अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं है, अतः भाव का पर्याय होरहा अभाव पदार्थ कोई भाव से न्यारा तत्व नहीं है।

न चाभावो भावपर्याय एव न भवति सर्वदा भावपरतंत्रत्वादभावप्रसंगात्। न च — सर्वदाभावपरतंत्रो नीलत्वादिर्भावधर्मोऽप्रसिद्धो येनाभावोपि तद्धर्मो न स्यात्।

यदि वैशेषिक यों कहे कि सातवां अभाव पदार्थ तो स्वतंत्र है किसी भी भाव पदार्थकी पर्याय ही नहीं है ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो वैशेषिक नहीं कहें क्योंकि सदा भावपदार्थों के ही पराधीन वर्त्त रहा अभाव अदार्थ है, इस कारण नील, नीलत्व, आदि के समान वह भावाधीन वर्त्त रहा अभाव पदार्थ भी भाव पदार्थों का ही पर्याय है। अभाव को यदि भाव या भावाधीन नहीं माना जायगा तो उस खर-विषाण के समान तुच्छ अभाव का प्रसंग होजायगा यहां "अभावप्रसंगात्" के स्थानपर "नीलत्वादिवत्" इस दृष्टान्तका पाठ अच्छा शोभता है। अस्तु। ग्रन्थकार हेतु को पुष्ट करते हैं कि सदा भावों के पराधीन वर्त्त रहे नीलत्व, नील, आदिक पदार्थ भाव के धर्म हैं, यह बात अप्रसिद्ध नहीं है जिससे कि अभाव भी उन्हीं नीलत्व आदिक के समान भाव का धर्म नहीं होसके।

अर्थात्-नीलं द्रव्यं, नीलवान् घटः, नीलत्वजातिमत् नीलरूपं, यहां नील गुण वाला द्रव्य है नील में नीलत्व जाति रहती है, यों द्रव्य का विशेषण नील और नील का विशेषण नीलत्व प्रसिद्ध ही है, इसी प्रकार घटःपटो न, घटाभाववद्भूतलं, आकाशे ज्ञानाभावः, कपाले घट-ध्वंसः, मृत्तिकायां घटाभावः आदि स्थलों पर भाव पदार्थों का विशेषण होरहा अभाव पदार्थ प्रतीत होरहा है। विशेष्यों के अधीन विशेषण रहता है। मुख्य रूपसे प्रथमा विभक्ति वाला पद विशेष्य होता है, यह नियम ठोस नहीं है सिद्धान्त यह है कि चाहे पर्वतो वन्हिमान् कहो अथवा पर्वते वन्हिः कहो पर्वत विशेष्य है और अग्नि

विशेषण है। केवल प्रत्यय बदल जानेसे आधार भूत विशेष्य कोई आधेय नहीं होसकता है और आधेय भूत विशेषण बिचारा आधार नहीं बन सकता है, अतः जो पदार्थोंको धारता है वह विशेष्य होगा और जो उसमें वर्तता है वह विशेषण होगा।

न च सर्वदा भावपरतंत्रत्वमभावस्यासिद्धं, घटस्याभावः पटस्य चेत्यवं प्रतीतेः स्वतंत्रस्याभावस्य जातुचिदप्रतीतेः अत एव भावैर्विलक्षणयमभावस्येति चेन्न, नीलादेर्व्यभिचारात्। नीलादिमदमित्येवं नीलादेः स्वतंत्रस्य संप्रत्ययात्सर्वदा भावपारतंत्र्यासिद्धेः नीलादेर्न तेन व्यभिचार इति चेत्, तर्हि तवाप्यसदिदमित्येवमभावस्य स्वतंत्रस्य निश्चयात् सर्वदा भावपारतंत्र्यं न सिद्ध्येत् इदमिति प्रतीयमानभावविशेषणतयात्रासतः प्रतीतेरस्वतंत्रत्वे नीलादेरपि स्वतंत्रत्वं मा भूत एव इत्यस्य [illegible] भावस्वभावत्वमिति न प्रपञ्च्यते

स्वरूपासिद्ध दोष का निराकरण करते हुये ग्रन्थकार पक्ष में हेतु का वर्तना पुष्ट करते हैं, कि अभाव के सदा भावों के पराधीन रहनापन असिद्ध नहीं है। देखिये घट का अभाव है, यहां पट का अभाव है, अत्र पुस्तकं नास्ति, इस प्रकार भाव के अधीन होरहे ही अभाव की प्रतीति होती है। "अभाव है, अभाव है" इस प्रकार स्वतंत्र होरहे अभाव की कदाचित् भी प्रतीति नहीं होती है यानी अभावको कहने पर उसी समय उसका प्रतियोगी तिसी प्रकार लग बैठेगा जैसे कि उष्णता के कहने पर अग्नि, बिजली आदि षष्ठी विभक्ति वाले पद विशेष्य होकर लग जाते हैं। यहां वैशेषिक कहते हैं कि इस ही कारण से अभाव को भावों से विलक्षणपना माना जाता है। जैसे कि अग्नि की उष्णता है यहाँ अग्नि को हम वैशेषिक द्रव्य पदार्थ मानते हैं, और उष्णता को उस अग्नि से विलक्षण गुण पदार्थ अभीष्ट किया गया है। प्रकरण में भी घटस्य अभावः यहां घट न्यारा पदार्थ है। और अभाव उससे विलक्षण निराला तत्व है जो भाव के अधीन होगा वह भाव से न्यारा अवश्य होगा, इस कारण आप जैनों का भावों के पराधीनपना हेतु ही अभाव को भावों से निराला साध रहा है।

आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि नील, पीत, सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि करके व्यभिचार होजायगा यानी नील, पीत, आदिभी सदा भावोंके पराधीन रहते हैं किन्तु वे नील आदिक तुम्हारे यहां छह भाव पदार्थों से विलक्षण नहीं माने गये हैं। तब तो "अत एव" आदि इस वैशेषिकों के कथन अनुसार भावविलक्षणपना साधने के लिये दिया गया सदाभावपरतंत्रत्व हेतु व्यभिचारी है। अभावों के सर्वथा भावों से विलक्षणपन का ग्राहक कोई प्रमाण भी नहीं है। यदि वैशेषिक यों कहे कि हेतु के शरीर में सदा यह पद पड़ा हुआ है, जो सर्वथा ही भावों-अधीन रहेगा वह तो भावों से विलक्षण अवश्य होगा किन्तु "यह नील है, यह पीत है, यह दुर्गन्ध है" इस प्रकार स्वतंत्र होरहे नील आदि की भी समीचीन प्रतीति होरही है अतः नील आदि का सर्वदा भावों के पराधीनपना असिद्ध है, कभी कभी वे स्वतंत्र भी प्रतीत होजाते हैं, इस कारण उन नील, आदि करके व्यभिचार नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों कहोगे तब तो तुम वैशेषिकों के यहां भी "यह असत् है, यह अभाव है" इत्यादि इस प्रकार स्वतंत्र होरहे अभाव का भी निश्चय होरहा है, अतः अभावों को सदा भावों का परतंत्रपना नहीं सिद्ध होसकेगा, कभी कभी अभाव स्वतंत्र भी जाने जाते हैं।

यदि वैशेषिक यों कहें कि "असत् है, अभाव है" यहां भले ही कोई विशेष्य मानेगये भाव को कण्ठोक्त नहीं कहे फिर भी भाव पदार्थ अर्थापत्ति करके गम्यमान होजाता है। घट असत् है, पुस्तकका

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नास्तित्व है, यह यों असत् है, इस प्रकार अनुमान या अर्थापत्ति द्वारा प्रतीत किये जारहे भावों के विशेषण होरहेपन करके ही यहां असत् यानी अभाव की प्रतीति होरही है। अतः अभावों का स्वतंत्रपना नहीं माना जाकर भावों के पराधीन होना ही माना जावेगा। यों तुम्हारे कहने पर तो हम जैन भी कहते हैं, कि तिस ही कारण से नील आदि को भी स्वतंत्रपना नहीं होवे अर्थात्—नील है, सुगन्ध है, इत्यादि स्वतंत्र नीलादि की जहां प्रतीति होरही मानी गयी है। वहां भी विशेष्य होरहे भावों की अर्थापत्या प्रतीति करली जाती है, अतः वे नील आदि भी स्वतंत्र नहीं हैं, भावों के पराधीन हैं। तात्पर्य यह निकलता है कि भावों के पराधीन होरहे नील आदिक जैसे भावों की पर्याय ही हैं, उसी प्रकार भावों के पराधीन वर्त रहा अभाव भी भाव पर्याय ही है कोई स्वतंत्र तत्व नहीं है। एक बात यह भी है कि अभावों को भाव पदार्थों का स्वभावपना हम पूर्व प्रकरणों में प्राय (कईवार) व्यवस्थापित कर चुके हैं, इस कारण यहां फिर उसका विस्तार नहीं किया जाता है।

यत्पुनरस्तित्वं विपरिणमनं च जातस्य सतस्तत्सदृशपरिणामात्मकं तत्र वैसादृश्यप्रत्ययानुत्पत्तेः।

वृद्धि, अपक्षय, जन्म, और विनाश इन चार विकारों का विचार किया जा चुका है, फिर जो छह विकारों में अस्तित्व और विपरिणाम नाम के विकार हैं। वे तो उत्पन्न होचुके सद्भूत पदार्थ के सदृश पर्याय स्वरूप हैं, क्योंकि उनमें विपदृशपन के ज्ञान की उत्पति नहीं होती है। अर्थात्—जायते अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षयते, विनश्यति, इस क्रम अनुसार पदार्थ पहिले उत्पन्न होता है। पीछे आत्मलाभ कर चुका जो अपना अवस्थान करता है, वही अस्तित्व है, उसके पश्चात् उस पदार्थ की अन्य सदृश अवस्थाओं की प्राप्ति होजाना विपरिणाम है। अतः अस्तित्व और विपरिणाम सदृश अवस्थायें ही हैं, जन्म के समान विसदृश परिणतियां वे नहीं हैं।

ननु च सर्वस्य वस्तुनः सदृशेतरपरिणामात्मकत्वे स्याद्वादिनां कथं कश्चित्सदृशपरिणामात्मक एव कश्चिद्विसदृशपरिणामात्मकः पर्यायो युज्यते इति चेत्, तथा पर्यायार्थिकप्राधान्यात् सादृश्यार्थप्राधान्याद्वैसादृश्यगुणभावात् सादृश्यात्मकोयं परिणाम इति मन्यामहे, न पुनर्वैसादृश्यनिराकरणात्। तथा वैसादृश्यार्थप्राधान्यात्सादृश्यस्य सतापि गुणभावाद्विसदृशात्मकोयं परिणाम इति व्यवहरामहे। तदुभयार्थप्राधान्यात्तु सदृशेतरपरिणामात्मक इति संगिरामहे तथा प्रतीतेः। ततोपि न कश्चिदुपालंभः।

यहां कोई शंका उठाता है कि स्याद्वादियों के यहां सम्पूर्ण वस्तुयें जब सदृशपर्याय और विसदृश पर्याय स्वरूप मानी जा चुकी हैं। तो फिर जन्म, विनाश, आदि के विषय में किया गया यह सिद्धान्त किस प्रकार युक्तियों से भरपूर होसकता है? कि कोई कोई अस्तित्व और विपरिणाम नाम के विकार तो सदृश परिणाम स्वरूप ही होवें तथा कोई जन्म और विनाश नामक पर्याय अकेले विसदृश परिणाम स्वरूप ही होवें। अर्थात्—"सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः" सामान्य विशेष-आत्मक सम्पूर्ण पदार्थ हैं जो कि प्रमाण के विषय हैं, ऐसी दशा में जन्म, विनाश, तो विसदृश परिणाम ही और अस्तित्व, विपरिणाम, ये सदृशपर्याय हो कैसे माने जा सकते हैं? हां वृद्धि और अपक्षय को सदृश, विसदृश-आत्मक पर्याय स्वीकार करना यह समुचित है। यों कहने पर तो ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि तिस प्रकार अस्तित्व और विपरिणाम नामक विकारों में पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से सदृशपन अर्थ की प्रधानता है। विसदृशपन को गौणता है। अतः यह अस्तित्व या विपरिणाम नामकी

पर्याय सादृश्य स्वरूप है इस प्रकार हम स्याद्वादी विद्वान् मान रहे हैं। किन्तु फिर विसदृशपनका सर्वथा निराकरण कर देने से हम अस्तित्व को केवल सदृश-आत्मक नहीं कह रहे हैं। अर्थात्—गौण रूप से इनमें विसदृशता विद्यमान है।

तिसी प्रकार जन्म और विनाश में भी समझ लेना, यहां विसदृशपन अर्थ की प्रधानता है, विद्यमान भी होरहे सादृश्य का गौणभाव है। इस कारण यह जन्म या विनाश नामक विकार विसदृश स्वरूप हैं यों हम स्याद्वादी कोविद व्यवहार कर रहे हैं, जैसे कि स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, चारों गुणों के होते हुये भी मखमल या रूई को कोमल स्पर्शवान् और नीबू, लड्डू, आदि को रसवान् पदार्थ तथा कपूर, इत्र, को गन्धवान् एवं सुन्दर शरीर, चित्र, आदि को रूपवान् पदार्थ कह दिया जाता है। हां उन सादृश्य, वैसादृश्य, दोनों अर्थोंकी प्रधानता से तो वृद्धि या अपक्षय ये विकार सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम-आत्मक हैं। इस प्रकार हम स्याद्वादी प्रतिज्ञा पूर्वक कहते हैं। क्योंकि तिस प्रकार की समीचीन प्रतीति होरही है। प्रतीतिसिद्ध पदार्थ का कौन अपलाप कर सकता है? तिस कारण हमारे ऊपर कोई भी उलाहना नहीं आता है "अर्पितानर्पितसिद्धेः" यों स्वयं सूत्रकार महोदय कहने वाले हैं।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज

संकरव्यतिकर—व्यतिरेकेणाविरुद्धस्वभावानां निःसंशयं तदतत्परिणामानां विनियतात्मनां जीवादिपदार्थेषु प्रसिद्धेः। सुखादिपर्यायेषु सत्त्वाद्यन्वयविवर्तसंदर्भोपलक्षितजन्मादिविकारविशेषवत्। जीवादयो द्रव्यपदार्थाः सुखादयः पर्यायाः विनियततदतत्परिणाममयत्वविवर्तयितृविकाराः। इत्यकलंकदेवैरप्यभिधानात्।

"परस्परात्यंताभावसमानाधिकरणत्वे सति धर्मिणोरेकत्र समावेशः संकरः" परस्पर के अत्यन्ताभाव का समान अधिकरणपना होते सन्ते धर्मियों अथवा विजातीय धर्मों का एक स्थल में समागम होजाना संकर दोष है। अथवा "येन रूपेण भेदस्तेन भेदश्चाभेदश्चेति संकरः"। "परस्परविषयगमनं व्यतिकरः" परस्पर में एक दूसरे के विषय में चला जाना व्यतिकर दोष है। जीव आदि पदार्थों में संकर और व्यतिकर दोष का पृथग् भाव करते हुये अविरुद्ध अनेक स्वभावों को धार रहे और विशेषरूप से नियत होकर अपने अपने स्वरूप में निमग्न होरहे सदृश, विसदृश, परिणामों की प्रसिद्धि होरही है, इस में कोई सन्देह नहीं है जैसे कि सुख आदि पर्यायों में सत्व, द्रव्यत्व आदि अन्वयी विवर्तों के सन्दर्भ से उपलक्षित होरहे जन्म, विनाश, आदि विशेष विकारों की लोक में प्रसिद्धि होरही है। अर्थात्—जीव आदिक सम्पूर्ण पदार्थ सदृश, विसदृश, परिणाम-आत्मक हैं। इस बात को बालक बालिका तक जानते हैं। इसीप्रकार सुखादि पर्याय भी सत्व, द्रव्यत्व, आदि के अन्वय को धारती हुई सदृश-आत्मक हैं वे ही सुखादि पर्यायें जन्म आदि विकारों वाली विसदृश-आत्मक भी हैं। कोई संकर व्यतिकर, उभय, विरोध, आदि दोष नहीं आते हैं, हां इन धर्मों के अपेक्षणीय स्वभाव न्यारे न्यारे हैं।

माननीय श्री अकलंक महाराज ने भी इस प्रकार कहा है कि जीव, पुद्गल, आदिक द्रव्य स्वरूप पदार्थ और सुख, मतिज्ञान, आदि पर्यायें ये सब विशेष विशेष के लिये नियत होरहे सदृश विसदृश परिणाम कराने वाले विवर्तयिता तत्त्व के विकार हैं। अथवा सदृश, विसदृश, परिणामों को स्व के अधीन कर रहे पर्यायी तत्व के ये जीवादि द्रव्य या सुखादि पर्याय विवर्त हैं। वस्तु अंशी है और द्रव्य या पर्याय उसके अंश हैं जो कि मूल धारा से सामान्य विशेष-आत्मक हैं।

ततो नावस्थितस्यैव द्रव्यस्य परिणामः, पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानविरोधात् । नाप्यनवस्थितस्यैव सर्वथान्वयरहितस्य परिणमनाघटनादिति स्यादवस्थितस्य द्रव्यार्थादेशात्, स्यादनवस्थितस्य पर्यायार्थादेशादित्यादि सप्तभंगीभाक् परिणामो वेदितव्यः । सोयं परिणामः कालस्योपकारः, सकृत्सर्वपदार्थगस्य-परिणामस्य बाह्यकारणमंतरेणानुपपत्तेर्वर्णनात् यत्तद्बाह्यं निमित्तं स कालः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तिस कारण से सिद्ध होजाता है कि सर्वथा नित्य अवस्थित होरहे ही द्रव्य के ये जन्म आदि परिणाम नहीं हैं, सर्वाङ्ग ध्रुव द्रव्य के ही इनको विकार मानने पर पूर्व स्वभावों के त्याग और उत्तर स्वभावों के ग्रहण का विरोध होजावेगा तथा सर्वथा अनवस्थित होरहे ही क्षणिक परिणाम के भी ये जन्म आदि विकार नहीं हैं । क्योंकि कालत्रय में ओत प्रोत होरहे अन्वय से सर्वथा रहित पदार्थका परिणाम होना घटित नहीं होता है, जो दूसरे क्षण में ही मर जाता है वह परिणामों को क्या धारेगा इस कारण यहाँ स्यद्वादनीति की योजना यों कर लेना कि द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन करने से कथंचित् अवस्थित होरहे द्रव्य के जन्म, वृद्धि, आदिक परिणाम हैं और पर्यायार्थिक नय अनुसार कथन करने से कथंचित् अनवस्थित होरहीं पर्यायों के जन्म आदि विवर्त हैं, स्यात् उभय है, स्यात् अनुभय है, इत्यादि रूप से सप्तभंगी को धार रहा यह परिणाम समझ लेना चाहिये जो कि यह प्रसिद्ध होरहा परिणाम काल का उपकार है । कारण कि सम्पूर्ण पदार्थों में युगपत् (एक वार) प्राप्त होरहे परिणामों की बाह्य कारण के विना सिद्धि नहीं होपाती है, इसका हम वर्णन कर चुके हैं । जो उस परिणाम का वहिरंग निमित्त है वह काल पदार्थ है, वर्तना का निमित्त मुख्य काल द्रव्य है और परिणाम का वहिरंग कारण व्यवहारकाल है ।

ननु च कालस्य परिणामो यद्यस्ति तदासौ बाह्यान्यनिमित्तापेक्षं सन्निमित्तं परिणाममात्मसात्कुर्वदपरनिमित्तापेक्षमित्यनवस्था स्यात् । कालपरिणामस्य बाह्यनिमित्तानपेक्षत्वे पुद्गलादिपरिणामस्यापि बाह्यनिमित्तापेक्षा माभूत् । अथ कालस्य परिणामो नास्ति "सर्वार्थपरिणा निमित्तत्वात्" साधनमप्रयोजकं स्यात्तेन व्यभिचारात् ततो न कालस्य परिणामोऽनुमापक इति कश्चित् ।

यहां किसी का आक्षेप प्रवर्तता है कि जिस प्रकार जीव, घट, आदि का परिणाम होना अन्य वहिरंग निमित्तों की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार यदि काल का भी परिणाम होता है । तब तो वह काल का परिणाम यदि वहिरंग अन्य निमित्त कारण की अपेक्षा रखता सन्ता तज्जन्य परिणति को अपने अधीन करता हुआ पुनः तीसरे इतर निमित्त की अपेक्षा करेगा और तीसरे का परिणाम भी अन्य चौथे काल सारिखे वहिरंग कारण की अपेक्षा रखेगा यों पांचवें, छठे आदि वहिरंग कारणों की अपेक्षा की आकांक्षा बढ़ते बढ़ते अनवस्था होजायगी, काल के परिणाम को स्वात्म-लाभ में यदि वहिरंग निमित्तों की अपेक्षा नहीं मानी जावेगी तब तो पुद्गल, जीव, आदि के परिणामों को भी वहिरंग निमित्त कारण माने जा रहे काल की अपेक्षा नहीं होवे, काल के और पुद्गल आदि के परिणामों में वहिरंग कारण की अपेक्षा रखने या नहीं रखने का कोई अन्तर नहीं दीख रहा है, या तो दोनों रखने

अथवा कोई भी पर की अपेक्षा नहीं रखेगा। यदि आप जैन अब ऐसी विपन्न दशा में यों कहें कि काल का परिणाम होता ही नहीं हैं, तब तो हम आक्षेप-कर्त्ता कहेंगे कि सम्पूर्ण अर्थोंके परिणाम का निमित्त कारणपना यह हेतु अनुकूल तर्क वाला नहीं ठहरेगा क्योंकि उस काल के परिणाम करके व्यभिचार होजायगा सम्पूर्ण अर्थों में काल भी आगया किन्तु काल का परिणाम होना ही आप जैन नहीं मानते हैं। ऐसी दशा में सम्पूर्ण अर्थों के परिणाम करा देने में काल निमित्त नहीं होसका। एक बात यह भी है कि सम्पूर्ण वस्तुओं को परिणामी मानने वाले जैनों के यहाँ काल का परिणाम नहीं मानने पर अपसिद्धान्त दोष आजाता है तिस कारण सिद्ध होता है, कि परिणाम होजाना काल का अनुमान कराने वाला नहीं है। जो कि आप जैनों ने पहिले कहा था, इस प्रकार कोई प्रतिवादी कह रहा है।

सोपि न विपश्चित्, कालस्य सकलपरिणामनिमित्तत्वेन स्वपरिणामनिमित्तत्वसिद्धेः सकलावगाहहेतुत्वेनाकाशस्य स्वावगाहहेतुवत् सर्वविदः सकलार्थसाक्षात्कारित्वेन स्वात्मा-साक्षात्कारित्ववद्वान्यथा तदनुपपत्तेः। न चैवं पुद्गलादयः सकलपरिणामहेतवः, स्वपरिणाम-हेतुत्वेपि सकलपरिणामहेतुत्वाभावात् प्रतिनियतस्वपरिणामहेतुत्वात्।

आचार्य कहते हैं कि वह भी आक्षेप कर्त्ता विचारशाली पण्डित नहीं है जब कि काल को सम्पूर्ण पदार्थों का निमित्तपना निर्णीत होचुका है, इस व्यवस्था करके काल को स्वकीय परिणामो का भी निमित्तपना सिद्ध है। काल की परिणति में अन्तरंग कारण भी काल है, और बहिरंग कारण भी काल है अपनी परिणति में स्वयं निमित्त बनजाना कोई असिद्ध नहीं है। यों समझिये जैसे कि आकाश को सम्पूर्ण पदार्थों के अवगाह का हेतुपन करके अपने भी अवगाह का हेतुपना सिद्ध है अथवा सर्वज्ञ को सम्पूर्ण अर्थों का प्रत्यक्षदर्शीपना होने से स्वकीय आत्मा का भी प्रत्यक्ष दर्शनपना सिद्ध है। अन्यथा वह स्वभाव बन नहीं सकता है। अर्थात्—आकाश यदि अपने को अवगाह नहीं देगा तो सकल अर्थों के अवगाह का हेतु नहीं होसकता है जो सर्वज्ञ स्वात्मा को ही नहीं जानता है, वह अन्य सम्पूर्ण पदार्थों को भी नहीं जान सकता है, स्वयं अनुदार होरहा पुरुष दूसरे को उदार नहीं बना सकता है। जिस प्रकार काल अपनेसे सहित अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंके परिणामका हेतु है, इस प्रकार पुद्गल आदिक द्रव्य तो सर्व द्रव्यों के परिणाम करानेके हेतु नहीं होसकते हैं क्योंकि अपनी अपनी परिणति का अन्तरंग हेतु होते हुये भी उनमें सम्पूर्ण द्रव्यों की परिणति के हेतुपन का अभाव है, जब कि सम्पूर्ण पदार्थों में स्वकीय स्वकीय परिणति का अन्तरंग हेतुपना प्रतिनियत होरहा है, हां सूर्यके स्वप्रकाशकपनके समान काल द्रव्य में स्व-परनिमित्तपना स्वभाव व्यवस्थित है "स्वभावोऽतर्कगोचरः।"

ये त्वाहुः, नान्यान्यं परिणामयति भावान् नासौ स्वयं च परिणमते विविधपरिणामभाजां निमित्तमात्रं भवति काल इति। तेपि न कालस्यापरिणामित्वं प्रतिपन्नाः, सर्वस्य वस्तुनः परिणामित्वात्। न च स्वयं परिणमते इत्यनेन पुद्गलादिवत् महत्त्वादेपरिणामप्रतिषेधात्। न चासौ भावानन्योन्यं परिणमयतीत्यनेनापि तेषां स्वयं परिणममानानां कालस्य प्रधानकर्तृत्वप्रतिषेधात्। तत्रापि परिणामहेतुत्वं निमित्तमात्रं भवति काल इति वचनात्। ततः सर्वो वस्तुपरिणामो निमित्तद्रव्यहेतुक एवान्यथा तदनुपपत्तेरिति प्रतिपत्तव्यः।

जो कोई पण्डित यहाँ यों कह रहे हैं कि आप जैनों के यहां तो काल द्रव्य के लिये यों लिखा है कि वह काल द्रव्य भावों को स्वयं नहीं परिणमाता है और स्वयं भी परिणमन नहीं करता है, हां नाना प्रकार परिणामों को धारने वाले पदार्थों का वह काल केवल निमित्त होजाता है, इस प्रकार काल के परिणाम नहीं होना सिद्ध है, फिर आप जैनों ने कालके परिणाम होना कैसे कहा ? अर्थात्—काल द्रव्य का परिणाम नहीं होना चाहिये, गोम्मटसार में कहा है कि—

ण य परिणमदि सयं सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं ।
विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदु ॥५६६ ॥

काल द्रव्य स्वयं परिणमन नहीं करता है और न दूसरे द्रव्यों को अन्य द्रव्यों के साथ परिणमन कराता है,हाँ स्वतः अनेक प्रकार परिणमन कर रहे पदार्थोंका काल द्रव्य हेतु होजाता है। यों कह चुकने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि वे पण्डित भी काल के अपरिणामीपन को विश्वास प्राप्त नहीं करें, जब कि सम्पूर्ण वस्तुयें परिणामी हैं तो काल का अपरिणामीपना नहीं समझा जा सकता है उक्त पंक्ति या गाथाका ऐदम्पर्य यह है कि काल स्वयं परिणमन नहीं करता है, अन्य [illegible] करके कालमें पुद्गल आदि के समान महत्व आदि परिणतियों का निषेध कर दिया जाता है। यानी पुद्गल की जैसे स्थूल, सूक्ष्म, भेद, आदि परिणतियां होती हैं अथवा जीव की जैसे मतिज्ञान, क्रोध, आदि परिणतियां होती हैं वैसी शुद्ध काल द्रव्य की विभाग परिणतियां नहीं होती हैं तथा वह काल भावों को परस्पर में नहीं परिणमाता है, इस दूसरे विशेषण करके भी कालके स्वयं परिणमन कर रहे उन भावोंके प्रधानकर्त्तापन का प्रतिषेध किया गया है। अर्थात्-परिणाम करने में प्रधान कर्त्ता वे पदार्थ स्वयं हैं, हां निश्चय काल या व्यवहारकाल साधारण निमित्त हैं, प्रेरक निमित्त नहीं हाँ कालकी कारणता उस उदासीन कारणता या प्रेरक-कारणता के बीच में वर्त्तरही-सी है, प्रधान कर्त्ता या प्रेरक कारण काल नहीं है फिर भी उसके परिणाम का हेतुपना यानी परिणामोंका केवल निमित्त कारण काल होजाता है, ऐसा जैन सिद्धान्त का वचन है, तिस कारण सिद्ध होताहै कि वस्तुओं के सम्पूर्ण परिणाम उस निमित्त कारण होरहे काल द्रव्यको बहिरंग हेतु मान कर ही होते हैं अन्यथा यानी बहिरंग निमित्त के विना उन परिणामों का होना बन नहीं सकता है, यह भले प्रकार विश्वासपूर्वक समझ लेना चाहिये ।

का पुनः क्रिया ?

परिणाम का विचार होचुका अब कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि सूत्र में कही गयी क्रिया भला फिर क्या पदार्थ है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वार्त्तिकों द्वारा क्रिया के लक्षण और भेदों को कहते हैं।

परिस्पंदात्मको द्रव्यपर्यायः संप्रतीयते ।
क्रिया देशांतरप्राप्तिहेतुर्गत्यादिभेदभृत् ॥३६॥
प्रयोगविस्रसोत्पादाद्द्वेधा सा तत्र तस्तु सा ।
प्रयोगजा पुनर्नानोत्क्षेपणादिप्रभेदतः ॥४०॥

विस्रसोत्पत्तिका तेजोवातांभःप्रभृतिष्वियं।
सर्वाप्यदृष्टवैचित्र्यात् प्राणिनां फलभागिनाम् ॥४१॥

द्रव्य की हलन, चलन आदि परिस्पन्द-आत्मक जो पर्याय भले प्रकार प्रतीत होरही है वह क्रिया है जो कि पदार्थों के प्रकृत देश से अन्य देशों की प्राप्ति का कारण है, यह क्रिया गमन, भ्रमण, आकुंचन, आदि भेदों को धार रही है, जीव के प्रयोग करके उत्पत्ति होने से और जीवप्रयत्नके अतिरिक्त अन्य विस्रसा-आत्मक कारणों करके उत्पत्ति होजाने से वह क्रिया संक्षेप से तो दो प्रकार है, हां कुशल नृत्यकारिणी के नाच या एंजन, मशीन, यंत्रालय, आदिके अनेक परिस्पन्दोंकी अपेक्षा विस्तार से क्रिया के असंख्य भेद होसकते हैं, गेंद का ऊपर उछालना, नीचे कूदना,पैंता फांदना, पांव फैलाना इन उत्क्षेपण आदिक प्रभेदोंसे वह जीवप्रयोग करके उपज रही क्रिया फिर अनेक प्रकार की है। दूसरी विस्रसा यानी जीव प्रयोगके सिवाय अन्य कारणों से जिस क्रिया की उत्पत्ति है ऐसी यह वैस्रसिक क्रिया तो तेजो द्रव्य, बिजली, अग्नि, वायु, आंधी, जलप्रपात, बादल, तरंगितसमुद्र, भूकम्प आदि में होरही अनेक प्रकार हैं ये सभी क्रियायें शुभ अशुभ फलको भोगने वाले प्राणियोंके पुण्य पाप,कर्मोंकी विचित्रता से होरही हैं। जगत् के बहुभाग कार्यों में जीवो का पुण्य पाप ही साक्षात् या परम्परा से कारण पड़ जाता है।

क्रिया क्षणक्षयैकांते पदार्थानां न युज्यते।
भूतिरूपापि वस्तुत्वहानेरेकांतनित्यवत् ॥४२॥
क्रमाक्रमप्रसिद्धिस्तु परिणामिनि वस्तुनि।
प्रतीतिपदमापन्नाप्रमाणेन न वाध्यते ॥४३॥

बौद्धों के यहां मानेगये क्षणिकपन के एकान्त पक्ष में पदार्थों की क्रिया का होना युक्त नहीं पड़ता है क्योंकि कुछ पूर्वदेशस्थिति की अवस्था को त्याग रहे और उत्तरदेशस्थिति की अवस्था को ग्रहण कर रहे तथा अन्वित रूप से कालान्तर-स्थायी होरहे नित्य, अनित्य-आत्मक पदार्थ में ही क्रिया होना सम्भवता है "भूतिर्येषां क्रिया प्रोक्ता" जिन बौद्धों के यहां सर्वथा असत् की उत्पत्ति को ही पदार्थ की क्रिया माना गया है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि "नैवासतो जन्म, सतो न नाशो" सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता है और सत् का सर्वथा विनाश नहीं होता है, परिणामी वस्तु का कथंचित् उत्पाद, विनाश होता रहता है अतः कूटस्थ नित्यपन का एकान्त मानने वाले सांख्यों के यहां जैसे सर्वथा नित्य पदार्थमें क्रिया नहीं होपाती है उसीके समान क्षणिकपक्षमें भी क्रिया नहीं सम्भवती है, पदार्थों में परिस्पन्द या अपरिस्पन्द स्वरूप क्रिया को माने विना वस्तुत्वकी हानि है, जैसे कि खर विषाण कोई वस्तु नहीं है।

'सत्वमर्थक्रियया व्याप्तं' 'अर्थ-क्रिया क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता' अर्थ-क्रियाको करने वाला पदार्थ ही सत् है, प्रत्येक सत् पदार्थ में क्रमसे या युगपत् अर्थक्रिया अवश्य होती रहती है। क्रम और अक्रम की प्रसिद्धि तो परिणाम को धारने वाली वस्तु में होरही सन्ती प्रतीतियों के स्थान को प्राप्त होरही है जो कि किसी भी प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाण करके बाधित नहीं है। अर्थात्-श्री अकलंक देव का

सिद्धान्त वाक्य है "स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थाप्याद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वं" स्वकीय अंशों को पकड़े रहना और परकीय स्वभावों का परित्याग करते रहना इस व्यवस्था से वस्तु का वस्तुत्व प्राप्त कराया जाता है। श्री माणिक्यनन्दि आचार्य महाराजका सूत्र है कि "पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षण-परिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च,, पूर्व आकारों का परित्याग और उत्तर आकारों की प्राप्ति तथा अन्वित ध्रौव्यसे स्थिति इस परिणाम करके अर्थमें अर्थक्रिया होना बन जाता है, अतः परिणाम वस्तुमें अर्थक्रिया या क्रमयौगपद्यकी प्रसिद्धि है,यही प्रमाणों द्वारा प्रतीति होरही है। सर्वथा क्षणिक या सर्वथा नित्य अर्थ में क्रिया नहीं होसकती है।

कथं पुनरेवंविधा क्रिया कालस्योपकारोस्तु यतस्तं गमयेत ? कालमंतरेणानुपपद्यमानत्वात् परिणामवत्। तथाहि—सकृ सवद्रव्यक्रिया वहिरंगसाधारणकारणा, कारणापेक्षकार्यत्वात् परिणामवत् सकृत्सर्वेषामर्थगतिस्थि य गाहवद्वा यत्तद्वहिरंगसाधारणकारणं स कालोऽन्यासंभवात्।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि आप जैनों ने वर्तना' परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व इन उपकारों करके काल का अनुमान ज्ञान किया जाना बताया है किन्तु इस प्रकार की क्रिया फिर किस प्रकार काल का उपकार होवे ? जिससे कि क्रिया उस काल को अनुमान द्वारा समझा सके ? इस प्रश्न का समाधान श्री आचार्य महाराज करते हैं कि काल के विना वह क्रिया का होना किसी भी प्रकार नहीं बन सकता है जैसे कि काल के विना परिणाम होने की कोई युक्ति नहीं है, अतः अन्यथानुपपत्ति की सामर्थ्य से क्रिया करके काल का अनुमान होजाता है, इसी को अनुमान बनाकर यों स्पष्ट समझ लीजिये कि सम्पूर्ण द्रव्यों की युगपत् होरही क्रिया (पक्ष) वहिरंग किसी साधारण कारण करके की जाती है (साध्यदल) कारणों की अपेक्षा रखने वाली कार्य होने से (हेतु) परिणाम के समान (अन्वय दृष्टान्त) अथवा सम्पूर्ण गतिमान् जीव, पुद्गल पदार्थों की युगपत् होरही गति और सम्पूर्ण स्थितिशील पदार्थों की एक ही वार में होरही स्थिति तथा सम्पूर्ण पदार्थों का एक ही साथ होरहा अवगाह ये क्रियायें जैसे वहिरंग साधारण कारणों की अपेक्षा रखती हैं (अन्य तीन अन्वयदृष्टान्त) जो कोई यहां क्रियामें वहिरंग साधारण कारण है वही काल पदार्थ है अन्य किसी पदार्थ की सम्भावना नहीं है।

अर्थात्-पदार्थों के परिणाम होने में साधारण कारण काल (व्यवहार काल) निर्णीत कर दिया गया है पदार्थों की गति में साधारण कारण धर्म द्रव्य को बता दिया है, पदार्थों की स्थिति में उदासीन तिमित्त अधर्म द्रव्य समझाया जा चुका है, आकाश द्रव्य को सब के अवगाह का हेतुपना प्रतीत करा दिया है। इसी प्रकार सभी परिस्पन्द-आत्मक क्रियाओंका वहिरंग कारण काल है। उदासीन कारण तथा च—प्रेरक कारण, निमित्त, उपादान कारण, प्रयोजक कर्ता, साधकतमकरण, अन्तरंग कारण, वहिरंग कारण, इत्यादि अनेक प्रकार कारणों में किसी को निर्बल दूसरे को सबल या किसी को छोटा बड़ा अथवा प्रधान अप्रधान, या मूल्यवान् नहीं कह देना चाहिये देखो पुत्र की उत्पत्ति में माता पिता निमित्त हैं, विद्या पढ़ाने में गुरू जी निमित्त हैं, मोक्ष प्राप्ति में देव, शास्त्र, गुरू भी निमित्त ही हैं, सिद्ध क्षेत्र,जिनालय जिनविम्ब ये सब धर्मलाभके निमित्त ही तो हैं। इन सब निमित्तों की हम पूजा करते हैं। उपादान का उतना आदर नहीं है। हां उपशम क्षेणी या क्षपक क्षेणीमें

निज शुद्ध आत्माका ध्यान करनेपर उपादानका आदर बढ़ जाता है। उदासीन कारण रूप बुढ़ाके पड़े रहनेसे चोर या कुशील पुरुष घरमें नहीं घुस पाते हैं। अचेतन उपादान कारणोंसे नाना कार्योंको चेतन कर्त्ता बना रहे हैं। यहाँ निमित्त कारण चेतन कर्त्ताओं की अपेक्षा, काठ, कुल्हाड़ी, छनी आदि का अधिक सम्मान नहीं है, हां सोने के कड़ों को गढ़ते समय, हथोड़ा, चीमटा, आदि निमित्तों से उपादान मानेगये सोने का मूल्य अधिक है, जब कि कांच को काटने वाली हीरा की कनी के मूल्य से कांच का मूल्य अल्प है, मछली को चलाने में उदासीन निमित्त होरहे जलकी सामर्थ्य न्यून नहीं समझी जा सकती है।

उपादान कारण होरहे जीवों की अपेक्षा निमित्त कारण कर्मों की शक्ति प्रबल है तभी तो वे कर्म इस जीव को नाना गतियोंमें नचाते फिरते हैं, हाँ स्वकीय पुरुषार्थद्वारा कर्मोंका ध्वंस करते समय उपादान की शक्ति बढ़ जाती है। न्यायी राजा, इह लोकभय, पर लोकभय, सभ्यता, ये प्रेरक निमित्त नहीं होते हुये भी अनेक पुरुषों को पापक्रिया करने से बचा लेते हैं, गर्म कील को स्थान दे रहे काठकी अवगाह शक्ति की अपेक्षा सबको युगपत् अवकाश दे रहे आकाश की अवगाह शक्ति बढ़ी चढ़ी है, यहाँ वहाँ फुदक रहे जीव की गति में प्रेरक कारण होरही शक्ति की अपेक्षा स्थिर कालाणु की वह शक्ति प्रबल है जो कि नित्य निगोदिया जीव के व्यवहार राशिमें आगमन का कारण है अतः झट से विना विचारे ही किसी उदासीन कारण को अप्रधान और प्रेरक या उपादान को प्रधान नहीं कह बैठना चाहिये। कारणोंका अपमान इससे अधिक और क्या होसकता है? पहिले कतिपय दृष्टान्तों में लोहे को अल्प मूल्य और सोने को बहुमूल्य कह दिया गया है, यह कहना भी व्यावहारिक है, कोई लोहा भी सोने से अधिक मूल्य रखता है। अनेक धान्य, वनस्पतिओं को उपजाने वाली मिट्टी की प्रशंसा सोने से कम नहीं है, जल अग्नि, वायु भी बड़े मूल्यवान् पदार्थ हैं। उक्त बातें केवल कारण तत्व की तह पर पहुंचाने के लिये कही गयी थीं वस्तुतः विचारा जाय तो सभी कारण अपनी अपनी योग्यता अनुसार परिपूर्ण सामर्थ्यको रखते हैं, कोई छोटा बड़ा नहीं है। अन्न या जलमें अथवा माता या पितामें किसको छोटा बड़ा कह दिया जाय? कारणों की शक्ति पर किसी प्रकार का पर्यनुयोग नहीं चलाना चाहिये प्रकरण में उदासीन कारण या साधारण कारणको छोटा मत समझो, अपेक्षा वश सभी कारण उच्च आसन पर विराजमान किये जा सकते हैं। यहां तक क्रियामें साधारण कारण होरहे काल की अनुमान द्वारा सिद्धि कर दी गयी है।

के पुनः परत्वापरत्वे ?

वर्तना, परिणाम, और क्रिया का विवेचन समझ लिया है। अब महाराज यह बताओ कि सूत्र में कहे गये परत्व और अपरत्व भला क्या पदार्थ हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार परत्व और अपरत्व का लक्षण करते हैं—

विप्रकृष्टेतरदेशापेक्षाभ्यां प्रशस्तेतरापेक्षाभ्यां च परत्वापरत्वाभ्यामनेकांतप्रकरणात् अपरदिक्संबंधिनि निवेद्य वृद्धलुब्धके परत्वप्रत्ययकारणं परत्वं, परदिक्संबंधिनि च प्रशस्ते कुमारतपस्विन्यपरत्वप्रत्ययहेतुरपरत्वं न तद्धि गुणकृतं नचाहेतुकमिति तद्धेतुना विशिष्टेन भवितव्यं स नः काल इति।

दूरदेश-वर्ती और उससे न्यारे निकटदेश-वर्ती पदार्थों की अपेक्षासे होनेवाले तथा प्रशंसनीय और अप्रशंसनीय पदार्थोंकी अपेक्षाओं करके होने वाले दैशिक या गुणकृत परत्व, अपरत्व दोनों करके व्यभिचार हो जानेका प्रकरण आता है। अर्थात्-कालिक परत्वापरत्वके प्रकरणमें देश, दिशा या गुण, दोषकी अपेक्षासे होरहे परत्व,अपरत्वोंमें वैपरीत्य होजाता है। देखिये निकट देश–वर्त्ती अपर दिशाका सम्बन्ध रखने वाले अप्रशस्त (चाण्डाल) लोभी वृद्ध मनुष्य में परत्व (ज्येष्ठत्व) ज्ञान का कारण परत्व स्वभाव है। तथा दूर देश-वर्त्ती पर दिशाका सम्बन्ध कर रहे प्रशस्त कुमार अवस्थावाले तपस्वी में अपरत्व ज्ञान का कारण अपरत्व धर्म विद्यमान है. वह बुड्ढे पुरुष में वर्त रहा परत्व और कुमार मुनि में पाया जा रहा अपरत्व धर्म जब कि गुणों के द्वारा किया गया तो नहीं है यानी गुण के द्वारा किया गया होता तो युवा तपस्वी को पर कहना चाहिये था और निकृष्ट लोभी वृद्ध को अपर कहा जा सकता था। इसी प्रकार वह परत्व, अपरत्व दिशाकृत भी नहीं हैं। दिशा कृत होते तो निकट देश में वर्त रहे बुड्ढे को अपर कहना चाहिये और बुड्ढे की अपेक्षा बहुत दूर देश में स्थित होरहे कुमार तपस्वी को पर कहना चाहिये था किन्तु यहां उल्टी ही, दशा है वृद्ध को पर कहा जा रहा है और युवा साधुको अपर कहा जा रहा है। उक्त परत्व, अपरत्व स्वभाव विचारे हेतु के विना ही किये जा रहे तो नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि जो पहिले नहीं होता हुआ पुनः उपजता है वह अवश्य कारणों से जन्य है। इस कारण उन परत्व, अपरत्वों का कारण दिशा या देश और गुण या दोष तो नहीं है। उनका कारण इन दिशा या गुण के अतिरिक्त कोई विशिष्ट पदार्थ होना चाहिये, बस वही पदार्थ हम स्याद्वादियों के यहां काल माना गया है, इस प्रकार काल की सिद्धि हो जाती है।

सर्वाधिकार – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

काले तर्हि दिग्भेदगुणदोषानपेक्षे परत्वापरत्वे परः कालोऽपरः काल इति प्रत्ययविशेषनिमित्ते किं कृते स्यातामिति चेत्, अध्यारोपकृते गौणे इति केचित्। स्वहेतुके मुख्ये एव स्वान्यप्रत्ययसमधिगम्यत्वादित्यन्ये।

यहां किसी पण्डित का आक्षेप है कि ज्येष्ठ, कनिष्ठ, जीव आदि पदार्थों में परत्व, अपरत्व, यदि काल कृत हैं तो फिर काल में "यह सौ वर्ष का काल पर है, यह दो वर्ष का काल अपर है" इस प्रकार ज्ञान विशेष कराने के निमित्त होरहे परत्व, अपरत्व भला किस पदार्थ के द्वारा किये गये होंगे ? बताओ, दिशाओं के भेद या गुण दोषों की अपेक्षा से तो काल में परत्व अपरत्व नहीं किये जा सकते हैं, कारण कि व्यवहार काल में दिशा भेद का अथवा गुण दोषों का प्रकरण ही कोई नहीं है, यदि अन्य कालकी अपेक्षा इस कालमें परत्व अपरत्व किये जायंगे तो उसमें भी परत्व,अपरत्वको करने के लिये अन्य कालोंकी अपेक्षाको आकांक्षा बढ़ती जा रही होने से अनवस्था दोष आजावेगा। इस आक्षेप का उत्तर कोई उतावले पण्डित झट यों दे बैठते हैं, कि काल में परत्व, अपरत्व तो केवल आरोप किये गये हैं। मूर्त द्रव्यों में पाये जा रहे परत्व, अपरत्व के समान वे मुख्य नहीं हैं, गौण हैं। जैसे कि जपाकुसुम की लालिमा का आरोप स्फटिक में कर लिया जाता है। इस समाधान में अस्वरस है, अतः ग्रन्थकार दूसरे अन्य विद्वान् करके इसको योग्य समाधान कराये देते हैं, कि व्यवहार काल में होरहे वे परत्व अपरत्व भी मुख्य ही हैं, और उनका कारण वह काल स्वय है। क्योंकि स्व और अन्य के परत्व, अपरत्व, का कारण होरहेपन करके वह काल भले प्रकार जाना जा रहा है, आकाश भी तो स्व और पर को अवगाह देता है, सर्वज्ञका ज्ञान या सभी ज्ञान स्व-पर-ज्ञायक हैं, सूय स्व-पर-प्रकाशक है इत्यादि दृष्टान्तों अनुसार काल का भी स्व और पर के परत्व, अपरत्वों, का हेतुपना निर्णीत

होजाता है, इस अन्य विद्वानों के समाधान में ग्रन्थकार की भी शुभ सम्मति है।

न चवं सर्वद्रव्येषु स्वहेतुके परत्वापरत्वे प्रसज्येते, निंबादौ स्वहेतुकस्य तिक्तत्वादेर्दर्शनादोदनादावपि तस्य स्वहेतुकत्वप्रसंगात् निंबादिसंस्कारानपेक्षत्वापत्तेः।

यदि यहां कोई यों कहे कि जैसे काल में परत्व अपरत्व स्वयं कृत हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यों में भी स्वयं निज को हेतु मान कर परत्व अपरत्व होजायंगे, व्यर्थ काल को मानने की आवश्यकता नहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार प्रसंग नहीं उठाया जा सकता है, क्योंकि यों तो नीम, नीबू मिरच, लवण आदि में स्वयं को ही हेतु मान कर उपज रहे तिक्तपन (कडुआ) कटुपन (चरपरा) नुनखरा आदि रसों का देखना होने से भात, दाल, साग, आदि में भी प्राप्त हुये उस कडुआपन आदि को स्व यानी भात आदि को ही हेतु मानकर उपज जानेका प्रसंग आवेगा, ऐसी दशा में भात आदिको नीम, जीरा, मिरच, निबुआ आदि के संस्कार (छोंक) की अपेक्षा नहीं रखने की आपत्ति आवेगी जो किसी को इष्ट नहीं है, दीपकका स्व पर प्रकाशकत्व धर्म मिट्टीके घड़ेमें नहीं धरा जा सकता है।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

व्यवहारकालस्य परिणामक्रियापरत्वापरत्वैरनुमेयत्वं च न मुख्यकालापेक्षया चोद्यमनवद्यं। द्विविधो ह्यत्र कालो मुख्यो व्यवहाररूपश्च तत्र मुख्यो वर्तनानुमेयः, व्यवहारस्तु परिणामाद्यनुमेयः प्रतिपादितः सूत्रेऽन्यथा परिणामादिग्रहणानर्थक्यप्रसंगात् तेषामग्रहणेनैव पर्याप्तत्वात्।

एक बात यह भी है कि वर्तना करके मुख्य काल का अनुमान करा दिया गया था अब परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व करके व्यवहार कालका अनुमान कर लेना योग्य है, अतः मुख्य काल की अपेक्षा करके उठाया गया उक्त तर्क (कटाक्ष) निर्दोष नहीं है। देखो यहां प्रकरण में एक मुख्य दूसरा व्यवहार रूप यों काल दो प्रकारका माना गया है। उन दो में मुख्य काल आचार्य करके वर्तना के द्वारा अनुमान करने योग्य बताया जा चुका है, दूसरा व्यवहार काल तो परिणाम, क्रिया आदि करके अनुमान कर लेने योग्य है, यह सूत्र में समझा दिया गया है। अन्यथा यानी सूत्रकार द्वारा दो मुख्य और व्यवहार काल का प्रतिपादन किया जाना यदि नहीं माना जायगा तो सूत्र में परिणाम, क्रिया, आदि के ग्रहण के व्यर्थपन का प्रसंग होगा क्योंकि निश्चय काल की सिद्धि के लिये तो केवल सूत्र में वर्तना के ग्रहण करके ही परिपूर्ण कार्य का निर्वाह होजाता। अर्थात्—परिणाम आदिक व्यर्थ होकर ज्ञापन करते हैं, कि मुख्य काल से अतिरिक्त व्यवहार काल भी है। द्रव्य संग्रह में कहा है कि "दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो। परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खोय परमट्ठो" शुद्ध द्रव्य मानेगये मुख्य काल में तो परत्व, अपरत्व, प्रत्यय उपजते ही नहीं हैं। वैशेषिकों ने भी मूत द्रव्यों में ही दैशिक या कालिक परत्व, अपरत्व स्वीकार किये हैं। फिर भी कोई यदि सुदर्शन मेरु की चोटी में बैठी हुई कालाणु की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि में धरी हुई कालाणु को पर कहे या सौ वर्ष पहिले का कालाणु की पर्याय को दश वर्ष पूर्व की कालाणु अपर पर्याय अपेक्षा पर कहे तो हमको काल में भी दिशा या व्यवहार काल करके किये गये परत्व, अपरत्व, मानने में कोई आपत्ति नहीं है, हां व्यवहारकालमें ही यदि परत्व अपरत्व धरा जाय तो वह स्वयं व्यवहार काल करके सम्पादित होजाता है जैसे कि प्रभावशाली धार्मिक पुरुष स्वयं धर्मको बढ़ाता हुआ दूसरे भद्र जीवोंको भी समीचीन धर्मसे संस्कारित कर देता है, अतः व्यवहार काल की पुष्टि, करते समय मुख्य काल की अपेक्षा करके उठाया गया कुतर्क अच्छा नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कः पुनरसौ मुख्यः कालो नाम ?

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि फिर भला वह मुख्य काल क्या पदार्थ सम्भवता है ? समझाओ तो सही। ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वार्तिकों द्वारा समाधान करते हैं।

लोकाकाशप्रभेदेषु कृत्स्नेष्वेकैकवृत्तितः।
प्रतिप्रदेशमन्योन्यमवद्धाः परमाणवः ॥४४॥
मुख्योपचारभेदैस्तेऽवयवैः परिवर्जिताः।
निरंशा निष्क्रिया यस्मादवस्थानात्खदेशवत् ॥४५॥
अमूर्तास्तद्वदेवेष्टाः स्पर्शादिरहितत्वतः।
कालाख्या मुख्यतो येस्तिकायेभ्योन्ये प्रकाशिताः ॥४६॥

अखण्ड लोकाकाश के परमाणु बराबर कल्पित किये गये सम्पूर्ण प्रभेदों पर प्रत्येक प्रदेश में एक एक कालद्रव्य की वृत्ति अनुसार परस्पर में एक दूसरे से नहीं बंध रहीं काल परमाणुयें हैं, भले ही निरन्तराल ठसाठस भर रहीं होने के कारण उन का परस्परमें संयोग बना रहे। वे कालाणुयें मुख्य या उपचार इन भेदों वाले अवयवों करके रहित हैं। अर्थात्—पुद्गल परमाणु जैसे उपचरित अवयवों करके सहित हैं, और घट, पट, आदि स्कन्ध तो मुख्य अवयवों करके सहित हैं ही वैसे अवयवों से युक्त कालाणु नहीं हैं, कालाणुयें निरवयव हैं, अत एव अंशों यानी अवयवों करके रहित होरहीं कालाणुयें निरंश कही जाती हैं, कालाणुयें देश से देशान्तर होना स्वरूप क्रिया से रहित हैं, जिस कारण आकाश प्रदेशों के समान अवस्थित होने से वे क्रियारहित होरहीं हैं। अर्थात्—आकाश के प्रदेश जैसे जहां के तहां स्थित हैं, वैसे ही कालाणुयें अवस्थित हैं, अथवा आकाश द्रव्य जैसे अपनी एक संख्या को नहीं छोड़ता है या आकाश के प्रदेश अपनी नियत होरही जिनदृष्ट मध्यम अनन्तानन्त-संख्याका न्यून, अधिक-पना नहीं करते हुये उतने के उतने ही अवस्थित रहते हैं, उसी प्रकार कालाणुयें भी अपनी नियत होरही मध्यम असंख्यातासंख्यात यह इतनी परमाणुवाली संख्या का अतिवर्तन नहीं करती हैं।

तथा उन्हीं आकाश द्रव्य या आकाश प्रदेशों के समान वे कालाणुयें भी अमूर्त इष्ट की गयी हैं, क्योंकि वे स्पर्श रस, गन्ध आदिसे रहित हो रही हैं हां कालाणुओंमें ठोस घन समचतुरस्र छह पैसू बरफीके आकार वाली पुद्गल परमाणु के समान आकृति अवश्य है। जगत्में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी कुछ न कुछ लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई नहीं होय, सम्पूर्ण द्रव्यों में पाये जा रहे प्रदेशवत्वगुण के विकार होरही आकृति का होना अनिवार्य है, इस प्रकार सूत्रकार ने धर्म, अधर्म आकाश, द्रव्यों के लिये "नित्यावस्थितान्यरूपाणि" "निष्क्रियाणि च" सूत्रों करके जो विधान किया है वह विधान ग्रन्थकार ने काल द्रव्य में भी व्यवस्थित कर दिया है, हां "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" इस सूत्र द्वारा धर्म आदिकों में जो प्रदेश प्रचय होने से कायपन की विधि की है, वह सर्वदा परमाणु के

बराबर होरहे काल द्रव्य में लागू नहीं है, कारण कि जो मुख्य रूप से काल नामक द्रव्य हैं, वे श्रुत ज्ञान में पांच अस्तिकायों से न्यारे प्रकाशित किये गये हैं, काल द्रव्य में प्रदेशों का संचय कथमपि नहीं है।

व्यवहारात्मकः कालः परिणामादिलक्षणः।
द्रव्यवर्तनया लब्धकालाख्यस्तु ततोऽपरः ॥४७॥

मुख्य काल और अन्य पांचों द्रव्यों में पाये जा रहे अनेक परिणाम जिसके ज्ञापक चिन्ह हैं वह व्यवहार-आत्मक काल है। तथा जीव पुद्गलों में पायी जा रही परिस्पन्दआत्मक क्रिया भी जिसका ज्ञापक लक्षण है वह व्यवहार काल है एवं जीव पुद्गलोंके विवर्तोंमें पाये जारहे कालिक परत्व अपरत्व भी जैसे व्यवहारके ज्ञप्तिकारक लिंग हैं। अर्थात्-धर्म,अधर्म,आकाश काल इन द्रव्यों का अनादि अनन्त अवस्थान का कोई छोटा या बड़ा नहीं है अतः इनमें कालिक परत्व,अपरत्व नहीं माना जा सकता है, हां धर्म आदिकों के पर द्रव्य को निमित्त मानकर हुये कतिपय स्वभावों में परत्व अपरत्व माना जा सकता है जैसे कि श्री ऋषभदेव भगवान् की मोक्ष के प्रति गतिहेतुत्वगुण के स्वभाव की अपेक्षा भगवान् श्री महावीर स्वामी का मोक्षगमनहेतुत्व नामक धर्म द्रव्य का स्वभाव अपर है एक वर्ष पूर्व नित्य निगोद से निकलने वाले व्यवहार राशि क जीव की मन्द कषाय परिणति के सम्पादक कालाणु के तत्कालीन उपजे स्वभाव की अपेक्षा सौ वर्ष पहिले नित्य निगोद से निकालने वाली किसी जीव की परिणति का सम्पादक हुआ सौ वर्ष पहिला कालाणु का स्वभाव पर है।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भगवान् शान्तिनाथ को सिद्धक्षेत्र में अवगाह देने वाले आकाश के अवगाहकत्व स्वभाव की अपेक्षा श्री नेमिनाथ को सिद्धक्षेत्र में अवस्थान देने वाला आकाश के अवगाहगुण का स्वभाव अपर (पुराना) था शुद्ध द्रव्यों में भी भिन्न भिन्न समयों में होने वाली अनेक द्रव्यों की परिणतियो के सम्पादक अनन्तानन्त उत्पाद विनाश-शाली स्वभाव माने जाते हैं उस द्रव्य के आत्मभूत होरहे विशेष स्वभाव को माने बिना उस द्रव्यके द्वारा किसी भी विशेष कार्यका सम्पादन नहीं हो सकता है। दर्पण में हजारों,लाखों पदार्थों का प्रतिविम्ब पड़ता है इसका रहस्य भी यह है कि पुद्गल-निर्मित दर्पण नामक अशुद्ध द्रव्य के स्वच्छत्व या प्रतिविम्बकत्व नामक पर्यायशक्तिस्वरूप गुण के अनेक उत्पाद विनाशशाली स्वभाव हैं जो कि प्रतिविम्ब्य पदार्थों के योग,वियोग-अनुसार उपजते,विनशते,रहते हैं।

एक युवा मनुष्य अपने मुख करके पान, इलायची, सुपारी, रबड़ी,कड़ी रोटी,नरमपूरी,हलुआ भुंजेचना,दूध,मलाई,रसगुल्ला,इमर्ती,पेड़ा,सकलपारे,चिरवा,ककड़ी,भुरभुरो गजक,आदि को खाता है। यहां प्रत्येक के खाने में मुख की क्रिया और जबड़ों का प्रयत्न न्यारा न्यारा है जिस प्रयत्न से हलुआ खाया जाता है उस प्रयत्न से चने नहीं चबे जा सकते हैं तथा जो देवदत्त बीस सेर वजन ले जाता है वह एक सेर बोझ को भी ढो लेता है किन्तु बीस सेर,पन्द्रह सेर,दस सेर,पांच सेर, बोझा ढोने के प्रयत्न न्यारे न्यारे हैं, पांच सेर को ढोनेके लिये किये गये पुरुषार्थ करके बीस सेर बोझा नहीं लादा जा सकता है यहाँ तक कि सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर सेर,छंटाक,तोला,माशा,रत्ती,चावल,पोस्त, मिलाग्र, तक के ढोने में न्यारा न्यारा पुरुषार्थ तारतम्य मुद्रा से मानना पड़ेगा। कुर्सी, मूढा, खाट, गदेला, तख्त, भूमि चौकी,पलंग,गाड़ी,हाथी,घोड़ा,ऊंट,खच्चर,टट्टू,अरबी घोड़ा आदि पर बैठने के स्वभाव न्यारे न्यारे हैं सीधे साधे टट्टू पर ही घरे रहनेवाले पण्डितजी महाराज तुर्की घोड़ा या ऊंट पर नहीं बैठ सकते हैं क्योंकि उनके पास वैसे उसके उपयोगी स्वभाव या पुरुषार्थ नहीं हैं।

बात यह है कि अल्प से अल्प कार्य के लिये भी कारण में न्यारा न्यारा स्वभाव मानना पड़ता है चाहे वह कारण शुद्ध द्रव्य हो अथवा अशुद्ध द्रव्य होय। पर निमित्त-जन्य ऐसे स्वभावोंके उपजने या विनशजाने से शुद्ध द्रव्य के शरीर में कोई क्षोभ नहीं पहुँचता है जैसे कि दर्पण में पवित्र, अपवित्र, नरम कठोर, भक्ष्य अभक्ष्य, साधु, वेश्या, अग्नि जल, गोप्य अगोप्य, चल स्थिर, शास्त्र शस्त्र, आदि असंख्य पदार्थों का प्रतिविम्ब के पड़ जाने से दर्पण के निज डील में कोई क्षति नहीं आजाती है हां दर्पण के स्वभावों का परिवर्तन अवश्य मानना पड़ेगा। एक छींके पर दस सेर, पांच सेर, एक तोला, आदि बोझके लटकाने की अवस्थाओं में उसकी रस्सी की परिणति न्यारी न्यारी अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी इसीप्रकार सभी द्रव्यों में भिन्न भिन्न छोटे बड़े कार्यों की अपेक्षा उतने अनेक स्वभाव मानने पड़ते हैं, यह जैन न्याय का बहुत अच्छा परिष्कृत सिद्धान्त है।

इस प्रकार परिणाम आदि ज्ञापक लक्षणों करके अनुमित हो रहा व्यवहार-आत्मक काल है और द्रव्य की वर्तना करके जिसने काल इस संज्ञा को प्राप्त किया है वह मुख्य काल तो उस व्यवहार काल से निराला है। अर्थात्—द्रव्यों के पर्यायों को वर्तना करके मुख्य काल का अनुमान कर लिया जाय और परिणाम आदि करके व्यवहार काल की अनुमिति कर ली जाय जगत् का छोटे से छोटा भी कोई पूरा कार्य एक समयसे कमती कालमें नहीं हो पाता है, उस अविभागी कालांश समय के समुदायों की या सूर्योदय आदि की अपेक्षा अनेक व्यवहार काल मान लिये जाते हैं। द्रव्य के परिवर्तन रूप व्यवहार काल है।

कुतश्चित् परिच्छिन्नो ऽन्यपरिच्छेदनकारणम्।
प्रस्थादिवत्प्रपत्तव्योन्योन्यापेक्षभेदभृत् ॥४८॥
ततस्त्रैविध्यसिद्धिश्च तस्यभूतादिभेदतः।
कथंचिन्नाविरुद्धा स्यात् व्यवहारानुरोधतः ॥४९॥

वह व्यवहार काल किसी एक पदार्थ करके परिच्छिन्न (नाप) कर लिया जाता है, और अन्य की परिच्छत्ति का कारण होजाता है, प्रस्थ अढ़इया, धरा, आदि के समान समझ लेना चाहिये। अर्थात्—जैसे दक्षिण देश में आधा सेर, सेर, ढ़ाई सेर आदि को नापने के लिये वर्तन बने हुये हैं, वे पहिले दूसरे नापने वाले पदार्थ करके ठीक मर्यादित कर दिये जाते हैं और पीछे अन्य गेंहू, चावल, आदिसे नापने या तोलने के कारण होजाते हैं, उत्तर प्रान्त में भी दूध का पऊआ, अधसेरा, सेर, आदि के नियत वर्तनों करके परिच्छेद कर लिया जाता है अथवा लोहे, पथरा, पीतल, के बांट भी दूसरे बांटों से तोल नाप कर बना लिये जाते हैं, पुन वे सेर, दुसेरी, मनौटा आदि के बांट इतर, चना, गेंहू, घृत, खांड़, सुपारी आदिको तोलने के कारण होजाते हैं, इसी प्रकार गायों के दोहने के अवसर को गोदोहन वेला कह दिया जाता है, गायें धूल उड़ाती हुयीं चरागाह से जब घर को लौटती हैं, इस क्रिया अनुसार गो धूल समय नियत करलिया जाता है कलेऊ करने की क्रियासे कलेऊ का समय निर्धारित होजाता है, कलेऊ के समय तुम गांव को जाना, यों उस व्यवहार काल द्वारा गांव को जाने की परिच्छित्ति करा दी जाती है।

परमाणु की एक प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश तक होने वाली मन्दगति अनुसार सबसे छोटे कालांश होरहे समय को नाप लिया जाता है, जगत् का कोई भी पूरा कार्य एक समय से कमती काल में नहीं होसकता है। यह व्यवहार काल परस्पर की अपेक्षा से होरहे प्रभेदों को धार रहा है यानी भविष्यकाल कुछ देर पीछे वर्तमान होजाता है, वर्तमान काल थोड़ी देर पश्चात् भूत होजाता है, भूतकाल चिरभूत होजाता है, तथा भूत को पूर्व-वर्त्ती मान कर काल में वर्तमानपन का व्यपदेश है, और वर्तमान को बीच में डाल कर आगे पीछे के कालों को भूत, भविष्य-पन का व्यवहार कर दिया जाता है, तिस कारण परस्परापेक्ष होने से उस काल से भूत, वर्तमान आदि भेदों करके त्रिविधपन की सिद्धि होजाती है- लौकिक व्यवहारों के अनुसार काल में किसी न किसी अपेक्षा से होरही भूत, वर्तमान भविष्यपन की व्यवस्था अविरुद्ध है, कोई भी वादी, प्रतिवादी इसका विरोधी नहीं है जो भी कोई पण्डित "वर्तमानाभाव-पतितः पतित-पतितव्य-कालोपपत्तेः ॥३७॥" तयोरप्यभावो वर्तमानाभावे-तदपेक्षत्वात् ॥ ३८ ॥" नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ॥ ३९ ॥" गौतम न्यायसूत्र में यों वर्तमान काल का खण्डन मण्डन करते हैं, उन सब को व्यवहार के अनुरोध से तीनों काल मानने पड़ते हैं।

आचार्यश्री श्री सुविधिसागर जी महाराज

यथा प्रतितरु प्राप्तप्राप्नुवत्प्राप्स्यदुच्यते ।
तरुपंक्तिं क्रमादश्वप्रभृत्यनुसरन् मतं ॥५०॥
तथावस्थितकालाणूनां जीवाद्यनुसंगमात् ।
भूतं स्याद्वर्तमानं च भविष्यच्चाप्यपेक्षया ॥५१॥

काल के त्रित्व को आचार्य दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं, कि बाग में गमन कर रहे घोड़ा, देवदत्त, आदि द्रव्य जिस प्रकार वृक्षों की पंक्ति का क्रम से अनुसरण कर रहे सन्ते एक एक वृक्ष के प्रति प्राप्त होचुके, प्राप्त होरहे, प्राप्त होवेंगे, यों कहे जा रहे माने गये हैं, तिस प्रकार जहां तहां अवस्थित होरहे कालाणुओं का अनुगमन करने से जीव आदि द्रव्य भी अपेक्षा करके भूत और वर्तमान तथा भविष्य कह दिये जाते हैं।

भूतादिव्यवहारोतः काले स्यादुपचारतः ।
परमार्थात्मनि मुख्यस्तु स स्यात् सांव्यवहारिके ॥५२॥

इस कारण यानी क्रियावान् द्रव्यों की अपेक्षा होने से अथवा व्यवहार काल के द्वारा किया गया होने से परमार्थ स्वरूप मुख्य काल में भूत आदि का व्यवहार तो उपचार से ही कहा गया माना जाता है। अर्थात्—निकट-वर्ती विवक्षित द्रव्य की वर्तना का अनुभव कर चुकी कालाणु भूत कही जाती है, और उस द्रव्य को वर्ता रही कालाणु वर्तमान मानी जाती है, तथा भविष्य में उस द्रव्य की वर्तना का सम्बन्ध करने वाली कालाणु भी भविष्य कह दी जाती है। हां समीचीन व्यवहार काल में, तो वह भूत, वर्तमान, आदि का व्यपदेश मुख्य ही होगा जैसे "यष्टिः पुरुषः,, यहाँ लकड़ी में छड़ीपन का व्यवहार मुख्य है, और पुरुष में लकड़ीपनका व्यवहार लाक्षणिक होरहा गौण है, उसी प्रकार काल परमाणु में भूत आदि व्यवहार गौण है, हाँ व्यवहारकाल में भूत, वर्तमान, भविष्यपन मुख्य हैं।

एवं प्रतिक्षणादित्यगतिप्रचयभेदतः ।
समयावलिकोच्छ्वासप्राणस्तोकलवात्मकः ॥५३॥
नालिकादिश्च विख्यातः कालोनेकविधः सतां ।
मुख्यकालाविनाभूतां कालाख्यां प्रतिपद्यते ॥५४॥

इस प्रकार ढाई द्वीप में प्रति क्षण होरही सूर्य की गति के समुदाय के भेद प्रभेदों से समय, आवलि, उत्श्वास, प्राण, स्तोक, लव स्वरूप और नाली, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष,पूर्व आदिक अनेक प्रकार व्यवहार काल सज्जन विद्वानों के यहाँ प्रसिद्ध होरहा है, जो कि मुख्य काल के विना नहीं होने वाले व्यवहार काल इस संज्ञा को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् मन्दगति से परमाणु का दूसरे प्रदेशपर गमन जितने काल में हो वह एक समय नामका व्यवहार काल है।

जघन्य युक्तासंख्यात प्रमाण समयों का समूह काल आवलि है, संख्यात आवलियों का समूह उच्छ्वास काल है, नीरोग पुरुष का एक वार में श्वास चलना या नाड़ी की गति होना उच्छ्वास प्राण कहा जाता है,सात उच्छ्वास काल का समुदाय एक स्तोक होता है सात स्तोक काल का एक लव होता है,साढ़े अड़तीस या साढे सैंतीस लव कालका संघात एक नाली यानी घड़ी है,दो घड़ीका एक मुहूर्त होता है, तीसमुहूर्तका एक दिन रात, और पन्द्रह दिन रात का एक पक्ष दो पक्षका एक मास,दो मास की एक ऋतु, और तीन ऋतु का एक अयन होता है, दो अयन काल का एक वर्ष होता है, चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वाङ्ग होता है, चौरासी लाख पूर्वाङ्गों का एक पूर्व होता है. अथवा सात नील पांच खर्व साठ अरब ७०५६०००००००००० वर्षों का एक पूर्व होता है, असंख्याते पूर्वों का एक उद्धार पल्य होता है, दस कोटाकोटि उद्धार पल्यों का एक उद्धार सागर होता है असंख्याते उद्धार सागरों का एक अद्धासागर होता है, बीस कोटाकोटी अद्धासागरों का एक कल्प काल होता है, असंख्यात कल्प कालों का एक सूच्यंगुल काल होता है।

यानी एक प्रदेश लम्बे चौड़े और आठ पड़े जौ प्रमाण उत्सेधांगुल परिमित ऊंचे आकाश में परमाणु बरोबर उतने प्रदेश हैं, जितने कि असंख्याते कल्पकालों के समय हैं यों अनेक प्रकार व्यवहार काल सज्जनों के यहां मान्य है । श्वेताम्बर भाई मुख्य काल को नहीं मान कर केवल व्यवहार काल को मान बैठे हैं, वे उचित मार्ग पर नहीं चल रहे हैं, व्यवहार काल मुख्य का अविनाभावी है जैसे कि देवदत्त में उपचार से आरोपा गया सिंहपना क्वचित् मुख्य सिंह को माने बिना नहीं घटित होपाता है।

परापरचिरक्षिप्रक्रमाक्रमधियामपि ।
हेतुः स एव सर्वत्र वस्तुतो गुणतः स्मृतः ॥५५॥

किसी बुड्ढे में परपने की बुद्धि, बालक में अपरपने की कनिष्ठ बुद्धि, देरी से किये गये कार्य में चिरपने की बुद्धि, शीघ्र किये गये कार्य में शीघ्रता का ज्ञान, इसी प्रकार क्रम से होरहा अक्रम से होरहा इत्यादि ज्ञानों का भी बहिरंग कारण प्रधानतया वह व्यवहार-काल ही सर्वत्र माना गया

है। हाँ वास्ताविक मुख्य कालको भी गौण रूप से परापर आदि बुद्धियों का कारण आचार्य परिपाटी अनुसार स्मरण किया गया है। अर्थात्-जहाँ व्यवहारकाल प्रधान कारण है, वहां भी गौण रूप से मुख्य काल कारण होरहा है, वैशेषिकों ने भी "अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरंक्षिप्रमिति काल-लिङ्गानि,, ॥६॥ इस कणाद सूत्र द्वारा काल की ज्ञप्ति करायी है।

क्रियैव काल इत्येतदनेनैवापसारितं।
वर्तनानुमितः कालः सिद्धो हि परमार्थतः ॥५६॥
धर्मादिवर्गवत्कार्यविशेषव्यवसायतः।
वाधकाभावतश्चापि सर्वथा तत्र तत्त्वतः ॥५७॥

कोई पण्डित कह रहे हैं कि काल केवल क्रिया स्वरूप ही है परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर मन्दगति अनुसार चलती है वह क्रिया समय कही जाती है, प्रातः कालसे सायंकाल तक सूर्यका भ्रमण तो दिवस माना जाता है, गोदोहन क्रिया तो गोदोहन वेलासे प्रसिद्ध ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार किसी का कथन तो इस उक्त कथन करके ही दूर फेंक दिया गया है जब कि वर्तना करके अनुमान किये जा चुके मुख्य रूप से काल द्रव्य को सिद्ध कर दिया है जैसे कि गति,स्थिति,आदि कार्य-विशेषों का निर्णय होजाने से तथा सभी प्रकारों करके वास्तविक रूप से उन धर्मादिकों में (के) वाधक प्रमाणों का अभाव हो जाने से भी धर्म आदि द्रव्यों के समूह को सिद्ध कर दिया गया है। अर्थात्-धर्म आदि करके हुये गति आदि कार्यों के समान काल द्रव्य करके भी वर्तना नामक काय हो रहा है और "असम्भवद्बाधकत्वात् सत्वसिद्धिः,, काल द्रव्य का कोई वाधक भी नहीं है।

सांप्रतं सर्वेषां धर्मादीनामनुमेयार्थानामानुमानिकी प्रतिपत्तिः सूत्रसामर्थ्यादुपजाता प्रत्यक्षार्थप्रतीतिवन्न वाध्यत इत्युपसंहरन्नाह।

जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से जाने हुये घट आदि अर्थों की प्रतीति का वाधक कोई नहीं है उसी प्रकार "गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः" इस सूत्र से प्रारम्भकर "वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य" यहां तक के सूत्रों की सामर्थ्य से अनुमान करने योग्य धर्म,अधर्म आदि सम्पूर्ण पदार्थों की अनुमान प्रमाण से होने वाली प्रतिपत्ति उपज चुकी भी किसी प्रमाण से वाधी नहीं जाती है। इस अवसर पर इसी बात के प्रकरणको संकोचते हुये ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकको कहते हैं।

एवं सर्वानुमेयार्थप्रतिपत्तिर्न वाध्यते।
सूत्रसामर्थ्यतो जाता प्रत्यक्षार्थप्रतीतिवत्। ॥५८॥

यद्यपि धर्म,अधर्म,आकाश और कालाणुयें अत्यन्त परोक्ष हैं, हां कितने ही पुद्गलोंका प्रत्यक्ष होता है फिर भी पुद्गल का बहुभाग अस्मदादिकों को परोक्ष है, स्वयं अपने जीवका प्रत्यक्ष भले ही होजाय किन्तु सामान्य जीवों का सम्पूर्ण जीवों का प्रत्यक्ष होजाना अलीक है, हां बोलना,चेष्टा, आदि से कतिपय जीवों का अनुमान किया जा सकता है। यह अच्छी बात है कि श्रुतज्ञानसे सम्पूर्ण द्रव्यों की

प्रतिपत्ति हो जाती है तथापि प्रकाण्ड विद्वान् श्री उमास्वामी महाराज के इन सूत्रों की सामर्थ्य से अनुमान करने योग्य सम्पूर्ण छहों द्रव्यों की इस प्रकार होचुकी प्रतिपत्ति तो किसी भी प्रमाण करके बाधी नहीं जाती है जैसे कि हथेली पर रखे हुये आमलेके समान प्रत्यक्ष किये जारहे पदार्थोंको प्रतीति निर्बाध है। अर्थात-सूत्रकार महाराज ने बड़ी विद्वत्ता के साथ ज्ञापकलिंगों करके अतीव परोक्ष धर्मादिकोंका निर्बाध अनुमान करा दिया है। आस्तिक पुरुष थोड़ासाभी विचार करेंगे तो कुशलता पूर्वक वे धर्मादि द्रव्यों को बाधारहित समझ जायंगे।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यों स्थूल बुद्धि वाले जीव तो प्रत्यक्ष किये जा चुके पदार्थों का ही अपलाप कर दें तो कोई क्या कर सकता है? शरीर में रक्त को सदा गतिमात् रखने वाली शक्ति अवश्य माननी पड़ेगी। हड्डी, मांस,आदिको स्थिर रखने वाले प्रयत्न भी स्वीकार करने पड़ते हैं। भोजन,पान,वायु,आदिको अवगाह देने वाले कारण भी शरीर में विद्यमान हैं, पुद्गल पिण्ड-आत्मक तो शरीर है ही। जीवित शरीर में आत्म-द्रव्य को सभी इष्ट कर लेते हैं, अन्न आदि को पचाने या रस आदि को यहां वहां योग्य अवयवों में पहुंचाने अथवा अवयवों को जीर्ण कराने वाले पदार्थ भी इस शरीर में पाये जाते हैं। इसी प्रकार लोक में छहों द्रव्य भरे हुये हैं यदि किसी को स्वबुद्धि की न्यूनता से उनका परिज्ञान नहीं होय तो इसमें पदार्थों का कोई दाष नहीं है खरहा(खरगोश) यदि कानों से आंखों को ढुवकाकर प्रत्यक्ष पदार्थों को नहीं देखे एतावता उन पदार्थों की असत्ता नहीं मानी जायगी,अथवा उष्णस्पर्श वाले और नाड़ी की क्रिया को रखने वाले शरीर को कोई कुवैद्य मृत शरीर कह रहा यदि उसमें चैतन्य का अनुमान नहीं कर सकता है इतने ही से उस शरीर-वर्त्ती जीव का अभाव नहीं मान लिया जाता है। सर्वज्ञ प्रणीत आगम और गति,उपग्रह,आदि लिंगों से उपजे अनुमानोंकरके अथवा सर्वज्ञ प्रत्यक्ष करके धर्म आदि द्रव्यों की निर्बाध प्रसिद्धि होरही है।

न हि धर्मास्तिकायाद्यनुमेयार्थप्रतिपत्तिरस्मदादिप्रत्यक्षेण बाध्यते तस्य तदविषयत्वात् न संति धर्मादयाऽनुपलब्धेः खरशृंङ्गवदित्याद्यनुमानेन बाध्यते इतिचेन्न,तस्याप्रयाजकत्वात्। परचेतावृत्त्यादिना व्यभिचारात्। दृश्यानुपलब्धिः पुनरत्रासिद्धैव सर्वथा धर्मादीनामस्मदादिभिः प्रत्यक्षतोनुपलभ्यत्वात्। कालात्ययापदिष्टश्च हेतुः प्रमाणभूतागमाबाधितपक्षनिर्देशानंतर प्रयुक्तत्वात् एवमबाधितप्रतीतिगोचरार्थप्रकाशिनः सूत्रकारादयः प्रेक्षावतां स्तोत्रार्हा इति स्तुवंति।

अनुमान करने योग्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि अर्थों की होरही प्रतिपत्ति कुछ हम लोगों के प्रत्यक्ष करके बाधित नहीं होती है। क्योंकि हम लोगों का प्रत्यक्ष उन धर्म आदिकों को विषय ही नहीं कर पाता है, जो ज्ञान जिस पदार्थको विषय ही नहीं कर पाता है। वह उसका साधक या बाधक क्या होगा ? जैसे कि घास खोदने वाला गंवार पुरुष किसी वैज्ञानिक के गूढ़ रहस्यों पर कोई उपपत्ति या अनुपपत्ति नहीं दे सकता है। कोई पण्डित यहां धर्म आदि द्रव्यों का बाधक अनुमान प्रमाण यों उपस्थित करता है, कि धर्म आदिक द्रव्य (पक्ष) नहीं हैं (साध्य) उपलब्धि नहीं होने से (हेतु) गधे के सींग समान (अन्वय दृष्टान्त)। अथवा धर्म आदि द्रव्य नहीं हैं, (प्रतिज्ञा) क्योंकि उनके द्वारा किये माने गये गति, स्थिति आदि कार्य सब प्रेरक निमित्त या उपादान कारणों करके ही

निष्पन्न होजायंगे, साधारण कारणों की आवश्यकता नहीं है। (हेतु) इत्यादिक अनुमानों करके धर्म आदि बाध डाले जाते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वह अनुपलब्धि हेतु अपने साध्य का प्रयोजक नहीं है। अनुकूल तर्क नहीं होने से अपने नियत गढ़ लिये गये नास्तित्व साध्य को नहीं साध पाता है। तथा दूसरे जीवोंके चित्त की वृत्तियां, कृपणों के धन, गुप्त रोग, आदि करके व्यभिचार होजायगा कुटिल मायाचारियोंकी वित्त वृत्तिका बड़े बड़े बुद्धिमानोंको पता नहीं चलपाता है कृपण के धन का परिज्ञान दूसरे पुरुषों को नहीं होता है। कई भिखारियों के पास हजारों रुपये पाये गये सुने जाते हैं। अपने अपने छोटे छोटे रोग और दूसरों के गुप्त रोग नहीं दिखते हैं, फिर भी इस अनुपलब्धि से उनका अभाव नहीं मान लिया जाता है।

हां देखने योग्य होरहे पदार्थों की अनुपलब्धि से उनका अभाव साधा जा सकता है, किन्तु वह दृश्य की अनुपलब्धि तो फिर यहां असिद्ध ही है। क्योंकि अस्मदादि जीवों करके धर्म आदिकों की प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वथा उपलब्धि नहीं होसकती है। अतः देखने योग्य नहीं होने से दृश्यानुपलब्धि हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। तथा यह अनुपलब्धि हेतु बाधितहेत्वाभास भी है क्योंकि प्रमाण भूत आगम से अबाधित होरहे धर्म आदि पक्षों के कथन हो चुकने के अनन्तर प्रयुक्त किया गया है "कालात्ययापदिष्टः कालातीतः"। इस प्रकार बाधा रहित होरहीं प्रतीतियों के विषय--भूत अर्थों के प्रकाशने वाले सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज और श्री समन्तभद्र, श्री अकलंक देव, आदिक आचार्य तो हित अहित, को विचारने वाले प्रेक्षावान् पुरुषों के स्तवन करने योग्य हैं। इस कारण ग्रन्थकार भक्ति वश होकर उन आचार्यों की स्तुति करते हैं। अतीन्द्रिय अनेक सूक्ष्म पदार्थों को निर्बाध प्रतिपत्ति कराने वाले ठोस आचार्यों के ऊपर कृतज्ञ विद्वानों की श्रद्धा होजाना और उन की स्तुति करना स्वाभाविक ही है।

निरस्तनिःशेषविपक्षसाधनैर्जीवभावा निखिलाः प्रसाधिताः।
प्रपंचतो यैरिह नीतिशालिभिर्जयंति ते विश्वविपश्चितां मताः ।५६।

सम्पूर्ण विपक्ष यानी बाधकों का निराकरण कर चुके समीचीन साधनों करके जिन नीति-न्याय-शाली सूत्रकार आदि महाराजों ने विस्तार के साथ सम्पूर्ण अजीवपदार्थों को यहां बाईसमें सूत्र तक पांचवे अध्याय में भले प्रकार सिद्ध करादिया है, जगत् के सम्पूर्ण विद्वानों के यहां मान्य होरहे वे आचार्य महाराज जयवन्ते होरहे हैं। अर्थात्—धन्य हैं वे आचार्य महाराज जिन्होंने न्याय पूर्वक समीचीन युक्तियों करके धर्म आदि अजीव पदार्थों की प्रमाणों से सिद्धि करा दी है, ऐसे तत्वज्ञान के बोधक विद्वानों को सभी शिरसा मान्य करते हैं, वे महामनाः सद् गुरु इस सर्वदा सर्वहित--कारिणी क्रिया करके जयवन्ते होरहे हैं।

इति पंचमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम्।

इस प्रकार पांचवें अध्याय का श्री विद्यानन्द स्वामी कृत पहिला प्रकरण-समूह-स्वरूप पहला आन्हिक यहांतक समाप्त हुआ।

इसके आगे अन्य प्रकरणों का प्रारम्भ किया जायगा।

अतिशयितमहत्वाणुत्वमात्रेण भिन्नं ।
सभघनचतुरस्रं व्योमवत्पुद्गलाणुं ॥
अनुमितगुपकारैर्द्रव्यमाद्यादि चास्याच्च ।
जयति विपुलविद्यानन्द्युमास्वामिसूरिः ॥ १ ॥

यहां कोई विनीत शिष्य श्री उमास्वामी महाराज के प्रति जिज्ञासा प्रगट करता है कि गुरु जी महाराज जो आपने धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल के उपकार बहुत अच्छे कहे हैं वे हमने समझ लिये हैं, किन्तु पुद्गल आपने नहीं कहा कृपा कर उसको समझाइये ऐसी शिष्य की नम्र जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महोदय अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

स्पर्श,रस, गन्ध, और वर्ण ये गुण जिन द्रव्योंमें पाये जाते हैं वे पद्गल हैं। अर्थात्—कोमल, कठिन.भारी, हलका, शीत,उष्ण, रूखा, चिकना, इन आठ पर्यायों वाला स्पश-गुण और कडुआ, चरपरा, कसायला, मीठा, आमला (खट्टा) इन पांच विवर्तों को धार रहा रस गुण है। मधुर में नुनखरे का अन्तर्भाव होजाता है, दक्षिण में नोंन को मीठ कहते भी हैं। तथा सुगन्ध, दुर्गन्ध, दो पर्यायों को धार रहा गन्ध एवं काला, नीला, पीला, सफेद, लाल, इन पांच परिणामों का धारी वर्ण ये गुण पुद्गल के अनुजीवी गुणोंमें से हैं। एक गुणकी एक समयमें एक ही परिणति होसकती है, न्यून, अधिक नहीं। स्पर्श गुण में इतनी विशेषता समझी जाय कि कोमल, कठिन, भारी, हलका, ये चारों परिणाम पुद्गल स्कन्ध के हैं, परमाणु के नहीं। पुद्गल परमाणु में स्पर्श नाम के दो गुण हैं, एक ही स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा उन दोनों गुणों के विवर्त ज्ञात होजाते हैं। इस कारण दोनों का नाम एक स्पर्शगुण रख दिया गया है, सहभावी नित्य होरहे प्रथम स्पर्श गुण की एक समय शीत या उष्ण इन दो पर्यायों में से किसी भी एक पर्याय स्वरूप परिणति होगी और दूसरे स्पर्श गुण का विकार एक समय में चाहे चिकना अथवा रूखा कोई भी एक होगा, यों पुद्गल में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षुः इन चार इन्द्रियों से जानने योग्य पांच गुणों के नानाकालवर्त्ती सोलह या बीस परिणतियों में से एक समय में पांच पायी जाती हैं। हां पुद्गल स्कन्धो में सात परिणतियां युगपत् हारहीं माना जांयगी जैसे कि सम्पूर्ण संसारी अशुद्ध जीवों में अनादि काल से तेरहमे गुणस्थान तक योगशक्ति पायी जाती है, अथवा अनादि काल से चौदहमे गुणस्थान तक पर्याप्ति शक्ति पायी जाती है पश्चात् शुद्ध जीवमें उक्त दो दो पर्याय शक्तियां विनश जाती हैं, उसी प्रकार स्कन्ध अवस्था में पुद्गल के दो पर्याय शक्तियां उपज जाती हैं एक का परिणाम एक समय में हलका या भारी दोनों में से कोई भी एक होगा और दूसरी का विवर्त एक समय नरम, कठिन दोनों में से एक कोई भी होगा पुद्गल का शुद्ध अवस्था होजाने पर परमाणुओं में वे दोनों पर्याय शक्तियां विघट जाती हैं।

स्पर्शग्रहणमादौ विषयबलदर्शनात् । सर्वेषु हि विषयेषु रसादिषु स्पर्शस्य बलं

दृश्यते स्पष्टग्राहिष्विंद्रियेषु स्पर्शस्यादौ ग्रहणव्यक्तेः, सर्वसंसारिजीवग्रहणयोग्यत्वाच्चादौ स्पर्शस्य ग्रहणं ।

इस सूत्र में सब की आदि में स्पर्श का ग्रहण किया गया है क्योंकि स्पर्श नामक विषय का बल अधिक देखा जाता है, सम्पूर्ण रस, गन्ध आदि विषयोंमें स्पर्शका बल प्रधान देखा जा रहा है। छुये जा चुके पदार्थों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों में स्पर्श का ग्रहण आदि में व्यक्त रूप से हो जाता है। अर्थात्— " पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पुण पस्सदे रूवं। फासं रसं व गधं बद्धं पुट्ठं वियाणादि " इस क्रम अनुसार कतिपय इन्द्रियविषयों का शरीर के साथ स्पर्श होते ही आदि में झट स्पर्श छू लिया जाता है। एक बात यह भी है कि यह स्पर्श सम्पूर्ण संसारी जीवोंके ग्रहण करने योग्य है, रस आदिको केवल त्रस ही ग्रहण (सम्वेदन) कर सकते हैं। किन्तु त्रसों से असंख्यात लोकगुणे पृथिवी, जल, तेज, वायु काय के जीव और त्रसों से या उक्त चार धातु से अनन्तानन्त गुणे वनस्पति काय के जीव हैं, ये सभी संसारी जीव स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्श का ज्ञान कर लेते हैं, अतः आदि में स्पर्शका ग्रहण किया गया उचित है।

रसग्रहणमादौ प्रसज्यते विषयबलदर्शनात् स्पर्शसुखनिरुत्सुकेष्वपि रसव्यापारदर्शनादिति चेन्न, स्पर्शे सति तद्व्यापारात। तत एवानंतरं रसवचनं, स्पर्शग्रहणानंतरमेव हि रसग्रहणं ।

यहां कोई पण्डित कटाक्ष करता है कि यों तो आदि में रस के ग्रहण करने का भी प्रसंग आता है, कारण कि रसयुक्त पदार्थों के रस विषय की सामर्थ्य भी अधिक देखी जाती है। स्पर्शके सुख में उत्कण्ठा रहित हो रहे भी जीवों में रस का व्यापार देखा जाता है। मैथुन संज्ञा, कामपुरुषार्थ, अनुकूल छूना, इन क्रियाओं से उदासीन होरहे अनेक जीव प्रेम के साथ रसीले पदार्थके रस का आस्वादन करते देखे जाते हैं, भले ही स्पर्श का जानने वाले जीव गिनती में अधिक होंय एतावता रस का बल न्यून नहीं होजाता है शक्तिशाली पदार्थों के भोक्ता जीव जगत् में थोड़े ही हुआ करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्यों कि स्पर्श के हो चुकने पर ही उस रस का व्यापार देखा जाता है तिस ही कारण सूत्रकार ने स्पर्श के अव्यवहित पीछे रस को कहा है जिस कारण से कि स्पर्श-ग्रहण के अनन्तर होने वाला रस का ग्रहण है।

रूपात्प्राग्गंधवचनमचाक्षुषत्वात् अन्ते वर्णग्रहणं स्थौल्ये सति तदुपलब्धेः । नित्ययोगे मतुर्विधानात् क्षीरिणो न्यग्रोधा इत्यादिवत् स्पर्शादिसामान्यस्य नित्ययोगात्पुद्गलेषु।

रूपसे पहिले गन्धका निरूपण करना तो यों उचित है कि गन्धका चक्षु इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। अन्त में वर्ण का ग्रहण किया जाता है क्योंकि स्थूलता होने पर उस रूप की उपलब्धि हो पाती है। प्रशस्त, नित्ययोग, पुष्कल, निन्दा, अतिशय, आदि अनेक अर्थों को मतुप् प्रत्यय कहता है किन्तु यहां सदा योग बने रहने के अर्थमें मतुप् प्रत्ययका विधान है जैसे कि नित्य ही क्षीरका योग रखने वाले वड़ के पेड़ हैं, यहां मत्वर्थीय इन प्रत्यय नित्ययोग अर्थमें हो रहा है, ज्ञानवान् आत्मा, गुणपर्यायवद्द्रव्यं, इत्यादि स्थलों में नित्य योग अर्थ को कह रहा मतुप् प्रत्यय है। इसी प्रकार अनादि काल से पुद्गलों में स्पर्श आदि गुणों का सामान्य रूप से नित्य योग हो रहा है, अतः " स्पर्शरसगन्ध-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
वर्णवन्तः पुद्गलाः" यह सूत्ररचना समीचीन हो रही समझ लो जाय।

अथ स्पर्शादिमंतः स्युः पुद्गला इति सूचनात्।
क्षित्यादिजातिभेदानां प्रकल्पननिराकृतिः॥ १ ॥

स्पर्श आदि गुणों वाले पुद्गल होते हैं इस प्रकार सूत्रकार द्वारा सूचना कर देने से अब पृथिवी, जल, आदि भिन्न भिन्न जातियों के द्रव्यों की बढ़िया मानी गयी कल्पना का निराकरण कर दिया जाता है। अर्थात्— वैशेषिकों ने एक पुद्गल तत्व को नहीं मानकर पृथिवी, जल, तेज, वायु, इन चार जाति के न्यारे न्यारे चार द्रव्य स्वीकार किये हैं "पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि। ५॥" वैशेषिक दर्शन के पहिले अध्याय का पांचवा सूत्र है। तत्वान्तर होने से इनका परस्पर में उपादान उपादेय भाव भी नहीं माना गया है किन्तु यह सर्वथा अलीक है। वायु से मेघ बन जाता है, मेघ जल से काठ पत्थर अन्न, आदि उपज जाते हैं। लकड़ जलाया गया अग्नि हो जाता है, दीप कलिका का उत्तर परिणाम काजल बन जाता है, पेट में चनों की वायु बन जाती है, जल से मोती हो जाता है इत्यादि रूप से पृथिवी आदि का परस्पर में उपादान उपादेय भाव देखा जाता है अतः विज्ञान मुद्रा से भी एक पुद्गल तत्व की सिद्धि अनिवार्य हो जाती है।

पृथिव्यप्तेजोवायवो हि पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः स्पर्शादिमत्वात् ये न तत्पर्यायास्ते न स्पर्शादिमंतो दृष्टा यथाकाशादयः स्पर्शादिमंतश्च पृथिव्यादय इति तज्जातिभेदानां निराकरणं सिद्धं।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, ये (पक्ष) पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं (साध्य) स्पर्श, रस, आदि गुण वाली होने से (हेतु) जो पदार्थ उस पुद्गल की पर्याय नहीं हैं वे स्पर्श आदि गुणों वाले भी नहीं देखे गये हैं जैसे कि आकाश, काल, आदिक हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) पृथिवी आदिक जब कि स्पर्श आदि गुण वाले हैं। उपनय) अतः वे पुद्गल के पर्याय निर्णीत हो जाते हैं (निगमन)। इस अनुमान द्वारा उस पृथिवी आदिक जातियों के भेद से भिन्न भिन्न माने जा रहे पृथिवी आदि विशेष तत्वान्तरों का निराकरण सिद्ध हुआ।

नन्वयं पक्षाव्यापको हेतुः स्पर्शादिर्जले गंधस्याभावात्तेजसि गंधरसयोः वायौ गंधरसरूपाणामनुपलब्धेरिति ब्रुवाणं प्रत्याह।

यहां वैशेषिक का पूर्व पक्ष है कि आप जैनों का कहा गया स्पर्श आदि से सहितपना या "तद्वत्वं तदेव" इस नियम अनुसार स्पर्श आदि यह हेतु पूरे पक्ष में नहीं व्याप रहा है, पक्ष के एक देश में वृत्ति और पक्ष के दूसरे देशों में अवृत्ति होने से भागासिद्ध हेत्वाभास है, कारण कि पक्ष किये जा रहे पृथिवी, जल, तेज, वायुओं में से पृथिवी में तो स्पर्श आदि चारों रह जाते हैं किन्तु जल में गन्ध नहीं है, तेजो द्रव्य में गन्ध और रस इन दो का अभाव है। वायुमें गन्ध, रस, और रूप तीनों की उपलब्धि नहीं है। वैशेषिक मत अनुसार "वायोर्न वैकादशतेजसो गुणाः। जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश। दिक्कालयोः पंच षडेव चाम्बरे, महेश्वरेष्टौ मनसस्तथैव च॥" पृथिवी में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिकद्रवत्व, वेग यों चौदह गुण माने गये हैं और जल में रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व,

गुरुत्व, सांसिद्धिकद्रवत्व, वेग, स्नेह ये चौदह गुण वर्त रहे कल्पित किये गये हैं तथा तेजो द्रव्य में रूप स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग, परत्व, अपरत्व, नैमित्तिकद्रवत्व, वेग, ये ग्यारह गुण स्वीकार किये गये हैं एवं वायु द्रव्य में स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, वेग ये नौ गुण वर्त रहे इष्ट किये गये हैं । इस प्रकार कह रहे वैशेषिक पण्डित के प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचन को कहते हैं।

नाभावोऽन्यतमस्यापि स्पर्शादीनामदृष्टितः ।
तस्यानुमानसिद्धत्वात्स्वाभिप्रेतार्थतत्त्ववत् ॥ २ ॥

स्पर्श आदि चारों गुण एक दूसरे के अविनाभावी हैं स्पर्श आदि चारों में से किसी एक की भी अज्ञान-वश अनुपलब्धि होजाने से झट उसका अभाव नहीं कह दिया जाता है। (प्रतिज्ञा) जब कि उन में से अन्तरंग, बहिरंग, कारणों के नहीं मिलने के कारण नहीं देखे जारहे उस किसी एक (या दो, तीन) की अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्धि कर दी जाती है (हेतु) अपने अपने दर्शन शास्त्रों अनुसार अभीष्ट किये गये अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थों का जैसे तत्वरूपेण सद्भाव मानना पड़ जाता है। (अन्वय दृष्टान्त) अर्थात्—सभी पदार्थ तो किसी भी दार्शनिक पण्डित को प्रत्यक्ष गोचर नहीं हैं, आकाश, काल, परमाणु, स्वर्ग अपवर्ग, प्रेत्यभाव, [illegible] विशेष पदार्थ, इनका वैशेषिकों ने सर्वज्ञ के अतिरिक्त युष्मदादिकों को प्रत्यक्ष होना नहीं माना है। किन्तु इनकी अनुमानों से सिद्धि कर दी जाती है। छिपे रखे हुये भी कस्तूरी या इत्र की गन्धका निकट देश में घ्राण इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होजाता है, अपने आश्रय भूत पृथिवी को छोड़ कर अकेला गन्ध गुण तो घ्राण में घुस नहीं जाता है, गुण में क्रिया भी नही मानी गयी है, द्रव्य के विना अकेला गुण ठहर नहीं पाता है। अतः गन्धगुण वाले पृथिवी के स्कन्ध ही शीशी से निकल रहे मानने पड़ेंगे अथवा जैन सिद्धान्त अनुसार शीशी में से सुगन्धित पदार्थ नहीं भी निकले फिर भी उस सुगन्धित वस्तु को निमित्त पाकर दूर तक फैल रहे पुद्गल पिण्ड सुरभि होजाते हैं। किन्तु उन नासिका के निकटवर्त्ती सुगन्धित पुद्गलों की गन्ध का जैसा प्रत्यक्ष होजाता है, वैसा उनके रस, स्पर्श, या रूप का इन्द्रियों द्वारा उपलम्भ नहीं होपाता है। इस अवसर पर वैशेषिक जैसे उस सुगन्धित पृथिवी में रूप आदि चारों को स्वीकार कर लेते हैं, नहीं दीखना होने से गन्धवान् द्रव्य में तीन गुणों का अभाव नहीं कह दिया जाता है, उसी प्रकार जलमें गंध, तेज में गन्ध, रस, तथा वायु में गन्ध, रस, रूप, गुणों का अभाव नहीं कह कर सद्भाव स्वीकार करना अनिवार्य है।

किमिदं प्रत्यक्षनिवृत्तिरनुपलब्धिरहोस्वित्सकलप्रमाणनिवृत्तिः ? प्रथमा चेन्न ततः सलिलादिषु स्पर्शादीनामन्यतमस्याप्यभावः सिद्ध्यत् । स्वाभिप्रेतेनातींद्रियेण धर्मादिनानेकांतात् तस्यानुमानसिद्धत्वेष्वपि गंधस्य, तेजसि गंधरसयोः, पवने गंधरसरूपाणामनुमानसिद्धत्वमस्तु । तथाहि आपो गंधवत्यस्तेजो गंधरसवद्वायुः गंधरसरूपवान् स्पर्शवत्त्वात् पृथ्ववत् ।

वैशेषिकों को आचार्य पूछते हैं कि वायु आदि में स्पर्श, रस, आदिकों की प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उपलब्धि नहीं होना यह यहां मानी गई अनुपलब्धि क्या भला अकेले प्रत्यक्ष प्रमाण की निवृत्ति

है अथवा क्या सम्पूर्ण प्रमाणों की निवृत्ति है ? बताओ । यदि पहिली प्रत्यक्ष प्रमाणकी निवृत्तिको अनुपलब्धि पकड़ोगे तब तो उस प्रत्यक्ष की अनुपलब्धि से जल आदि पदार्थों में स्पर्श आदिकों में से किसी भी एक का भी अभाव सिद्ध नहीं होसकेगा । अनुमान को प्रमाण मानने वालों के प्रति अनुमान से जलादि में गन्धादि की सिद्धि करदी जायगी । तथा वह प्रत्यक्षानुपलब्धि हेतु स्वयं वैशेषिकों के यहां अभीष्ट होरहे अतीन्द्रिय पुण्य, पाप, परमाणु, मन आदि करके व्यभिचारी होजायगा, असर्वज्ञ पुरुषोंको धर्मादिकों का प्रत्यक्ष नहीं होता है फिर भी उनका सद्भाव वैशेषिकों ने स्वयं माना है । जैनों के यहां भी धर्म आदिक अतीन्द्रिय पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार की गयीहै । यदि उन पुण्य आदि अतीन्द्रिय पदार्थों की अनुमान से सिद्धि होना इष्ट किया जायगा तब तो जल में गन्ध की, तेजो द्रव्य में गन्ध और रस की, तथा वायु में गन्ध, रस, रूप गुणों की भी अनुमान से सिद्धि करली जाओ, इसका अधिक स्पष्टीकरण यों समझ लिया जाय कि सम्पूर्ण जल (पक्ष) गन्ध वाले (साध्य) स्पर्शवाले होने से (हेतु पृथ्वी के समान (अन्वय दृष्टान्त) । तथा तेजो द्रव्य (पक्ष) गन्ध, रस, गुणों वाला है (साध्य) स्पर्शवान् होने से (हेतु) पृथिवी के समान (अन्वयदृष्टान्त) । एवं वायु (पक्ष) गन्ध, रस, रूप, गुणों वाला है (साध्य) स्पर्श वाला होने से (हेतु) पृथिवी द्रव्य के समान (अन्वयदृष्टान्त) । मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कालात्ययापदिष्टो हेतुः प्रत्यक्षागमविरुद्धपक्षनिर्देशानंतरं प्रयुक्तत्वात् तेजस्यनुष्णत्वे साध्ये द्रव्यत्ववदिति चेत् न नायनरश्मिष्वनुद्भूतरूपस्पर्शविशेषे साध्ये तैजसत्वहेतोः कालात्ययापदिष्टत्वप्रसंगात् ।

वैशेषिक कहते हैं कि जैनों की ओर से कहा गया यह स्पर्शवत्व हेतु बाधितहेत्वाभास है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण और आगम प्रमाणसे विरुद्ध होरहे पक्षनिर्देश के पश्चात् वह हेतु प्रयुक्त किया गया है जैसे कि अग्नि में अनुष्णपना साध्य करने पर प्रयुक्त किया गया द्रव्यत्व हेतु बाधित है इसीप्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से जल में गन्ध नहीं सूंघी जा रही है, अग्निमें गन्ध या रस का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होरहा है, वायुमें गन्ध, रस, रूपों की घ्राण, रसना, और चक्षु से उपलब्धि नहीं होती है । तथा हमारे वैशेषिकदर्शन के द्वितीय अध्यायमें यह सूत्र है "रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी" ।१॥ रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥२॥ तेजो रूपस्पर्शवत् ॥३॥ स्पर्शवान् वायुः ॥४॥"इस आगमसे भी जैनोंका हेतु बाधित है ।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो मनुष्य आदि के चक्षु की किरणों में अप्रकट रूप और अव्यक्त उष्णस्पर्श विशेष को साध्य करने पर तैजसत्व हेतु से बाधित हेत्वाभासपन का प्रसंग आवेगा अर्थात्-वैशेषिकों ने चक्षु का तेजो द्रव्य से निर्मित होना स्वीकार किया है और तेजोद्रव्य में उष्णस्पश और भासुर रूप गुण माने जा चुके हैं, दूरवर्त्ती पदार्थों के साथ प्राप्यकारी चक्षु इन्द्रिय की किरणें संयुक्त होरहीं मानी गई हैं ।

अब वैशेषिकों के प्रति यह प्रश्न उठाया जाता है कि पांचसौ हाथ दूर रखे हुए पदार्थ को देख रहीं दोनों आंखोंकी किरणें भला क्यों नहीं दीखती हैं ? रेलगाड़ी के एंजिन या मोटरकार में लगे हुये विद्युत् प्रदीपों की किरणें तो स्पष्ट दीख जाती हैं, इसी प्रकार चक्षुः की तैजस किरणों का उष्ण स्पश और चमकदार शुक्ल रूप का प्रत्यक्ष भी होना चाहिये आप वैशेषिकों ने तेजो द्रव्य में रूप- स्पर्श,

दोनों का अनुद्भूतपना स्वीकार नहीं किया है, उष्णजल में घुसे हुये तेजो द्रव्य के भास्वर रूप को भले ही प्रत्यक्ष नहीं होय किन्तु प्रविष्ट होरहे माने गये उस अग्नि द्रव्य के उष्ण स्पर्श का प्रत्यक्ष हो रहा है, हां तेजोद्रव्य माने गये सुवर्ण में उष्ण स्पर्श के अनुद्भूत होने पर भी भास्वर रूप अनुद्भूत नहीं होरहा है। अब उस बात उत्तर दो कि आंखों की दूरवर्ती पदार्थ तक पहुँच रहीं मध्यवर्ती तैजस किरणों के भास्वर रूप और उष्ण स्पर्श का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है ?।

इस पर वैशेषिक यह अनुमान कह कर समाधान करते हैं कि चक्षु की किरणों में रूप, रस स्पर्श, अवश्य हैं भले ही वे अनुद्भूत होंय, कारण कि वे चक्षुकी किरणें तेजोद्रव्यकी बनी हुई हैं। इस पर हम जैनों का कहना है कि जैसे जल में गन्ध को साधने पर या तेजो द्रव्य में गन्ध और रस गुण के साधने पर अथवा वायु में रस, गन्ध, रूपों से सहितपना साध्य करने पर प्रयुक्त किये गये स्पर्शवत्व हेतु को आपने बाधित कह दिया है और प्रत्यक्ष या आगम से विरोध दिखलाने का दुस्साहस किया है इसी प्रकार मनुष्य आदि के चक्षु की किरणों में अनुद्भूत रूप स्पर्शों के साधने पर कहा गया तुम्हारा तैजसत्व हेतु भी बाधित क्यों नहीं होजावे ? प्रथम तो मनुष्य, कबूतर, चिड़िया आदि की आंखों में किरणें ही नहीं दीखती हैं यदि बिल्ली, व्याघ्र, कुत्ता, बैल आदि की आंखों में किरणें भी मान ली जांय तो उनका चन्द्रमा, ताराओं तक पहुँचना या बीसों कोस तक के पर्वतों तक पहुँचना तो प्रत्यक्षबाधित है ही और उन मध्यदेश में से होकर जारहीं मानी गयीं किरणों में उष्ण स्पर्श या रूप का स्वीकार करना तो प्रत्यक्ष प्रमाण से नितान्त बाधित है।

जिनागम में "मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा। आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोओ ॥३३॥(गोम्टसार कर्मकाण्ड), मूल में उष्ण होरहे और उष्णप्रभा वाले पदार्थ को अग्निद्रव्य कहा है, सुवर्ण कथमपि अग्नि द्रव्य नहीं है तथैव आंखें या उनकी किरणें भी तेजोद्रव्यसे निर्मित नहीं हैं, ऐसी दशा में चक्षुकी किरणों में उष्णस्पर्श या भास्वररूप स्वीकार करना बाधित पड़ जाता है. यदि अपने तैजसत्व हेतुको अबाधित कहते हो तो हमारे स्पर्शवत्व हेतुको भी अबाधित कहना पड़ेगा। न्याय मार्ग समान होना चाहिये ॥

तत्रागमेन विरोधाभावात्तद्भावप्रतिपादनान्न दोष इति चेत्, तत एवान्यत्र दोषो माभूत। स्याद्वादागमस्य प्रमाणत्वमसिद्धमिति चेन्न, तस्यैव प्रामाण्यसाधनात्। यौगागमस्यैव सर्वत्र दृष्टेष्टविरुद्धत्वेन प्रामाण्यानुपपत्तेः।

यदि वैशेषिक यों कहें कि चक्षुःकी किरणोंमें अनुद्भूत रूप या स्पर्शके मानने पर स्थूल प्रत्यक्ष से भले ही विरोध आवे किन्तु आगम प्रमाण से कोई विरोध नहीं आता है, अतः हमने नयन किरणों में रूप या स्पर्श के सद्भाव को अनुमान द्वारा कह कर भी समझा दिया है कोई दोष नहीं आता है अथवा उन जल आदिमें आगम से विरोध नहीं आनेके कारण उन गन्ध आदिका अभाव होरहा समझा दिया है। यों कहने पर तो हमजैन सिद्धान्तीभी आपको प्रतिपत्ति कराते हैं कि तिस ही कारणसे यानी आगमविरोध होने से अन्य स्थल पर भी कोई बाधा भागासिद्ध, व्यभिचार ये दोष नहीं प्राप्त होओ, अर्थात्—जल आदि में गन्ध आदि को साध्य करने पर भी किसी समीचीन आगम से विरोध नहीं आता है, अतः हमने पृथिवी, जल, तेज, वायु, चारों में रूप, रस गन्ध, स्पर्श, गुणों का सद्भाव साध दिया है।

सर्वाधिकार — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यदि वैशेषिक या नैयायिक यों कहें कि जैनों के स्याद्वाद सिद्धान्त आगम का प्रमाणपन सिद्ध नहीं होसका। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना चाहिये क्योंकि सत्यबात यह है कि उस जिनागम को ही प्रमाणपन की सिद्धि होचुकी है ? पूर्वापर अविरोध, बाधकासम्भव, युक्तिसद्भाव, सम्बन्धाभिधेय, शक्यानुष्ठान इष्टप्रयोजन-सहितपन, तत्त्वोपदेश, आप्तोपज्ञता, अनुल्लंघ्यता, दृष्टेष्टाविरोध आदि हेतुओं से जिनागम को ही प्रमाणपना सधता शोभता है प्रत्युत नैयायिक या वैशेषिकों के आगम को ही सर्वत्र प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणों द्वारा विरोध आने का कारण प्रमाणपना नहीं बन पाता है भावार्थ-नवीन नैयायिक या प्राचीन नैयायिकों के मन्तव्यों में अनेक स्थलों पर विरोध आता है कोई वायु का प्रत्यक्ष मानते हैं अन्य पण्डित वायु का प्रत्यक्ष नहीं मानते है, वैशेषिक दर्शन के छठे अध्याय प्रथम आन्हिकमें "एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥१२॥ तथा विरुद्धानां त्यागः ॥१३॥ हीने परत्यागः ॥१४॥ समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥१५॥ इन सूत्रों द्वारा चोरी और हिंसा का विधान पाया जाता है जो कि पण्डित शंकरमिश्रकृत उपस्कार को देखने पर अधिक स्पष्ट होजाता है।

युक्त्यनुगृहीतत्वेन चागमस्य प्रामाण्यमनुमन्यमानः कथमितरेतराश्रयदोषं परिहरेत् ? सिद्धे ह्यागमस्य तत्प्रतिपादकस्य प्रामाण्ये तत्र हेतोरतीतकालत्वाभावसिद्धिः तत्सिद्धौ च तदनुमानेनानुगृहीतस्य तदागमस्य प्रामाण्यसिद्धिरिति। स्याद्वादिनां तु सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेनागमस्य प्रामाण्यसिद्धौ नायं दोषः। अत एव जलादिषु गंधाद्यभावसाधने सर्वस्य हेतोरतीतकालत्वं प्रत्येतव्यं, तस्य प्रमाणभूतजैनागमविरुद्धत्वात्। ततो न कालात्ययापदिष्टो हेतुः। नाप्यनैकांतिको विपक्षवृत्त्यभावात्।

तथा युक्तियों द्वारा अनुग्रह को प्राप्त होरहेपन करके आगम का प्रमाणपना स्वीकार कर रहा वैशेषिक अपने ऊपर आये हुये इस अन्योन्याश्रयदोष का परिहार भला कैसे कर सकेगा ? कि उस चक्षुरश्मियों के अनुद्भूत रूप, स्पर्श, सहितपन के प्रतिपादक आगम का प्रमाणपना सिद्ध होचुकने पर तो उस चक्षु रश्मियों के अनुद्भूत रूप, स्पर्श, सहितपन को साधने में प्रयुक्त कियेगये तैजसत्व हेतु के बाधितपनेका अभाव सिद्ध होय और हेतुके उस अबाधितपनकी सिद्धि हो चुकने पर उस निर्बाध अनुमान करके अनुग्रहीत होरहे उस आगम के प्रमाणपन की सिद्धि होसके। यह वैशेषिकों के ऊपर परस्पराश्रय दोष आरहा है। हाँ स्याद्वादियोंके यहां तो बाधक प्रमाणोंके असम्भवपनेका बढ़िया निश्चय होचुका है इस कारण जिनोक्त आगमके प्रमाणपनकी सिद्धि करनेमें यह इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है, इस ही कारण से जल आदि में गन्ध आदि का अभाव साधने में कहे गये वैशेषिकों के सम्पूर्ण हेतुओं के (में) बाधित हेत्वाभासपन का विश्वास कर लेना चाहिये क्योंकि वह जल आदि में गन्ध आदि का अभाव तो प्रमाणभूत जिनागमों से विरुद्ध पड़ता है तिस ही कारण स हमारा स्पर्शवत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधित) नहीं है और पूरे विपक्ष या विपक्ष के एक देश में वृत्ति नहीं होने के कारण स्पर्शवत्व हेतु व्यभिचारी भी नहीं है तथा पृथिवी, जल, तेज, वायुओं को पुद्गल द्रव्य की पर्याय होना साधने में दिया गया स्पर्शादिमत्व हेतु भी निर्दोष है।

अन्वयाभावादगमक इति चेन्न, सर्वस्य केवलव्यतिरेकिणोऽप्रयोजकत्वप्रसंगात्

साध्याविनाभावनियमनिश्चयात् कस्यचित्प्रयोजकत्वे प्रकृतहेतोस्तत एव प्रयोजकत्वमस्तु । पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वाभावे क्षित्यादीनां स्पर्शवत्त्वाभावनियमनिश्चयात् ।

यहाँ कोई वैशेषिक आक्षेप करता है कि अन्वयदृष्टान्त नहीं मिलनेके कारण जैनोंका स्पर्शादिमत्व हेतु अपने साध्य किये जा रहे पुद्गल द्रव्य की पर्याय होने को नहीं साध सकता है, अतः इस साध्य का ज्ञप्तिकारण नहीं है अन्वयदृष्टान्त में साध्य के साथ जिनकी व्याप्ति ग्रहण करली जाती है, वे ही हेतु अपने नियत साध्य के गमक होते हैं।

अब आचार्य कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो प्रमेयत्व आदि केवलान्वयी या अन्वयव्यतिरेकी धर्म आदि हेतु भले ही ज्ञापक होजांय किन्तु "जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात् लोष्ठवत्" "पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात् जलादिवत्" इत्यादिक सम्पूर्ण केवल व्यतिरेकी हेतुओं की प्रयोजकता के रहितपन का प्रसंग आवेगा। नैयायिक या वैशेषिकों ने त्रैविध्यमनुमानस्य केवलान्वयिभेदतः, द्वैविध्यं तु भवेद् व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकतः॥ अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकादथोच्यते" यों कह कर केवलव्यतिरेकी लिंग को इष्ट किया है। यदि साध्य के साथ अविनाभाव स्वरूप नियम का निश्चय हो रहने से किसी भी चाहे जिस केवल व्यतिरेकी हेतु को साध्य का प्रयोजक मान लिया जायगा तब तो तिस ही कारण यानी साध्यके साथ अपनी अन्यथानुपपत्ति का निश्चय होजानेसे प्रकरणप्राप्त स्पर्शादिमत्व हेतुका भी प्रयोजकपना स्वीकार कर लिया जाओ, कारण कि साध्य होरहे पुद्गल द्रव्य की पर्यायपन का अभाव होने पर पृथिवी आदिकों को स्पर्शसहितता के अभाव रूप नियम का निश्चय होरहा है "साध्याभावे साधनाभावो व्यतिरेकः"।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एतेन सर्वप्रमाणनिवृत्तिरनुपलब्धिरसिद्धा न तोयादिषु गन्धाद्यभावसाधिनीत्युक्तं वेदितव्यं, प्रवचनस्यानुमानस्य च तद्भावावेदिनः प्रवृत्तेः ।

इस सूत्र की दूसरी वार्तिक का विवरण प्रारम्भ करते हुये दो विकल्प उठाये गये थे कि यह अनुपलब्धि क्या प्रत्यक्ष प्रमाण की निवृत्ति है ? अथवा क्या सम्पूर्ण प्रमाणों की निवृत्ति स्वरूप है। पहिले विकल्प का अच्छा विचार कर दिया गया है, अब दूसरे विकल्प अनुसार ग्रन्थकार कहते हैं कि सम्पूर्ण प्रमाणों की निवृत्ति होजाना स्वरूप अनुपलब्धि तो असिद्ध ही है । नैयायिकों का अनुपलब्धि हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, जब कि अनुमान प्रमाण या आगम प्रमाण ही जल आदि में गन्ध आदि के साधक विद्यमान हैं। अतः जल आदि में गन्ध के अभाव को साधने वाली वह सर्व प्रमाण की निवृत्ति सिद्ध नहीं होसकती है। यों यह दूसरा विकल्प भी इस उक्त कथन करके कह दिया गया समझ लेना चाहिये क्योंकि जल आदि में उन गन्ध आदि के सद्भाव को निवेदन कर रहे आगम प्रमाण और अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति होरही है।

अब पुद्गलों के सम्पूर्ण विशेष परिज्ञान के होचुकने पर भी पुद्गलों के निरूपण में शेष रहे कुछ विकारों का परिज्ञान कराने के लिये सूत्रकार अगले सूत्र को कहते हैं।

शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपो

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

शब्द होना, बंधजाना, सूक्ष्मपना, स्थूलपना, आकृति होना, टुकड़ा होजाना, अन्धकार परिणति, छाया, आतप (घाम) उद्योत (अनुष्णप्रभा) इन दश स्वकीय विकारों वाले भी पुद्गल द्रव्य हैं। अर्थात्—स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः, इस सूत्र करके शुद्ध पुद्गल और अशुद्ध पुद्गलों की सहभावी या क्रमभावी पर्यायों का निरूपण किया गया है किन्तु इस " शब्दबंध " आदि सूत्र करके अशुद्ध द्रव्य होरहे पुद्गल स्कन्धों के विकारों का प्रज्ञापन कियागया है ये शब्द आदि तो उपलक्षण हैं, इन के सिवाय संयोग, प्रकाश, ज्योतिः, वेग, झोक, आदि का भी ग्रहण कर लिया जाय। शब्द आदि में अनेक प्रवादियों की विप्रतिपत्ति है, अतः इनको कण्ठोक्त करदिया है।

पुद्गला इत्यनुवर्तते। तत्र शब्दादीनामभिहितनिर्वचनानां परिप्राप्तद्वंद्वानामेवाभिसंबंधः।

पहले सूत्र से "पुद्गला" इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती है जिनकी निरुक्ति की जा चुकी है और द्वन्द्व समास को परिप्राप्त होचुके ऐसे शब्द, बंध, आदि पदों का ही परस्परापेक्ष सम्बन्ध वहाँ पुद्गलोंमें जोड़ लिया जाता है। अर्थात्–"शपति इति शब्दः" बध्यते इति बन्धः, सूच्यते सूचनमात्रं वा सूक्ष्मः, स्थूल्यते यः स स्थूलः,सस्थीयते सस्थितिर्वा संस्थान, भिद्यते भेदः, तम्यते अनेन तमः, छिद्यते इति छाया, आतप्यते इति आतपः,उद्योत्यते उद्योतनमात्रं उद्योतः,, यों उक्त पदोंकी व्युत्पत्ति कर पुनः "शब्दश्चबंधश्च,, इत्यादि रूप से द्वन्द्व समास कर दिया जाता है, वे शब्द आदिक जिनके विकार हैं, वे शब्द आदि वाले पुद्गल हैं।

शब्दो द्विधा भाषालक्षणो विपरीतश्च। भाषात्मको द्विधा अक्षरात्मकोऽनक्षरात्मकश्च। प्रथमः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृतादिभेदादार्यम्लेच्छव्यवहारहेतुः, अनक्षरात्मको द्वींद्रियादीनामतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुश्च। स एषः प्रायोगिक एव।

उन दस विकारोंमें शब्द नाम का विवर्त दो प्रकार है, द्वीन्द्रिय जीवों से प्रारम्भ कर पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस जीवों द्वारा बोला जा रहा वचन भाषास्वरूप है। दूसरा उससे विपरीत अभाषा-आत्मक है, पहिला भाषाआत्मक शब्द तो अक्षर-आत्मक और अनक्षर-आत्मक यों दो प्रकार है, पहला अक्षरात्मक शब्द तो शास्त्र के अर्थोंका प्रकट करने वाला है जो कि सस्कृत,प्राकृत, देशभाषा, अपभ्रंश, आदि भेदों से आर्यपुरुष या म्लेच्छ पुरुषों के व्यवहार का कारण है। दूसरा अनक्षर-आत्मक शब्द तो द्वीन्द्रिय,त्रीन्द्रिय, आदि जीवोंके अतिशय ज्ञानके स्वरूपकी प्रतिपत्ति करानेका हेतु है, अर्थात्-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, जीव भी कुछ बोलते हैं, मक्खी वर्र, ततैया, झींगुर, डाँस, भनभनाते रहते हैं, भले ही इनका बोलना मन नहीं होने से विचारपूर्वक नहीं है, फिर भी एकेन्द्रिय की अपेक्षा इनका ज्ञान कुछ अतिशय युक्त है, तभी तो विशेष विशेष संध्याकाल, ऋतु, विपत्ति, हर्ष, आदि का अवसर मिलने पर वे बोला करते हैं।

इस पंक्ति का अर्थ यह भी किया जा सकता है, कि अनेक अतिशयों से युक्त होरहे केवलज्ञान के स्वरूप या श्रुत के प्रतिपादन का कारण होरहा श्री अर्हन्त परमेष्ठी का शब्द भी अनक्षर-आत्मक है। प्राचीन विद्वानों द्वारा सुना जा रहा है, कि केवलज्ञानी महाराज की सर्वांगों से उपज रही भाषा अनक्षर-आत्मक है पीछे देवकृत अतिशयों द्वारा श्रोताओं के कानमें अक्षर-आत्मक परिणम जाती है, अस्तु-इतना अवश्य कहना है कि केवलज्ञानी महाराज की भाषा को सर्वथा अनक्षर-आत्मक कहने में जी हिचकता है "देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद्देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात्। साक्षर एव च वर्ण-समूहान्नैवविनार्थगतिर्जगति स्यात्,, इस पर भी विद्वानों को विचार करना चाहिये, हाँ सयोगकेवली के " ण य सच्चमोसजुत्तो जो दुमणोसो असच्चमोसमणो,, यह अनुभय वचन सम्भवता है गोम्मटसार जीवकाण्ड में "मज्झिमचउमणवयणे सण्णिप्पहुदि दु जावखीणोत्ति। सेसाणं जोगित्ति य अणुभयवयणं तु वियलादो,, विकलेन्द्रियों से प्रारम्भ कर तेरहमे गुणस्थान तक अनुभय वचन स्वीकार किया है। सो ये अक्षर अनक्षर-आत्मक शब्द तो द्वीन्द्रिय आदि जीवों के कण्ठ तालु, आदि अवयवों द्वारा किये गये प्रयोग (पुरुषार्थ) को निमित्त पाकर ही उपजते हैं।

अभाषात्मको द्वेधा प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात्। तत्र प्रयोगनिमित्तश्चतुर्धा,ततादिभेदात्। चर्मतननाच्ततः पुष्करादिप्रभवः, तंत्रीकृतो विततो वीणादिसमुद्भवः, कांस्यतालादिजो घनः, वंशादिनिमित्तः शौषिरः, विस्रसानिमित्तः शब्दो मेघादिप्रभवः।

दूसरा उस भाषात्मक शब्द से विपरीत होरहा अभाषात्मक शब्द तो दो प्रकार है पहिला प्रायोगिक तो जीव-प्रयोगों को निमित्त पाकर उत्पन्न होता है और दूसरा वैस्रसिक तो जीव प्रयत्न के अतिरिक्त अन्य सभी शब्द उत्पादक जड़ कारणों की निमित्तता अनुसार उपजा जाता है, उन दो में प्रयोग को निमित्त पाकर हुआ अभाषात्मक शब्द तत, वितत आदि भेदों से चार प्रकार इष्ट किया गया है, चमड़ा के तनने से जो आघात पूर्वक शब्द उपजता है वह तत है, पुष्कर (ढप) नगाड़ा आदि वादित्रों से उपजा हुआ शब्द तत है। तांत बजा कर किया गया शब्द वितत है जो कि वीणा, सारगी चिकाड़ा, आदि बाजों से सुन्दर उाज रहा है। जो कांसे के बने हुये घड़ियाल, घण्टा, झांझरी, मंजीरा आदि बाजोंके अभिघातसे जन्य है वह घन है. वांसरी, बांस, बैन, तुरई, शंख आदि को निमित्त पाकर उपजा हुआ शब्द शौषिर है। दूसरा अभाषात्मक शब्द वैस्रसिक तो मेघ, बिजली, समुद्र आदि से उपज रहा माना जाता है।

बंधो द्विविधो विस्रसाप्रयोगभेदात्। विस्रसा बंधोऽनादिरादिमांश्च, प्रयोगबंधः पुनरादिमानेव पर्यायतः।

पुद्गल की बन्ध नामक पर्याय भी विस्रसा और जीव प्रयोग करके उपजने के अनुसार भेद से दो प्रकार है यहां प्रकरण में विस्रसा शब्द का अर्थ जीव प्रयत्न के अतिरिक्त अन्य सभी कारण हैं। उनमें वैस्रसिक बन्धके दो भेद हैं, उनमें पहिला महास्कन्ध आदि का अनादि बन्ध है और चिकनापन या रूखापन को निमित्त पाकर बिजली मेघ. इन्द्र धनुष आदि का बन्ध हुआ सादि बन्ध है। अर्थात्-इतनी लम्बी चौड़ी, बिजली अनेक चमकीले पुद्गलों का पिण्ड है वे पुद्गल परस्पर में एक दूसरे के साथ बंध रहे हैं सूर्य की किरणों को निमित्त पाकर आकाश में भरे हुए बादल आदि पुद्गलों का इन्द्र धनुष स्वरूप परिणमन होजाता है। जैसे कि एक शुक्ल वर्ण, मोटे, पैलदार, कांच को या पैलदार

हीरा को घाम में रख देने से अथवा प्रकाश में कांच या हीरा को आंख के पास लगा कर पार दृष्टि [illegible] निमित्त, शक्ति अचिंत्य है, अभव्य मुनियों के उपदेश से भी असंख्य जीवों ने मुक्ति प्राप्त की है। पीली हल्दी का शुक्ल चूना लाल कर देता है, जल अमृत है और घृत भी अमृत है किन्तु दोनोंको कई बार घोंट देने पर उनमें विष शक्ति उपज जाती है एक ही पदार्थ किसी को हानिकर होता हुआ दूसरे को लाभकर हाजाता है। अनेक धातुयें कांच में अपने रंग से न्यारी जाति के रंगों को उपजा देती हैं, कसैली हरड़ खा चुकने पर पीया हुआ जल अधिक मीठा लगने लगता है, शुक्ल वर्ण सूर्य या हीरा में कोई पांच या सात रंगो का सम्मेलन नहीं है। तथा दूसरा प्रयोग-जन्य बन्ध तो फिर सादि ही है, आत्मा का मन, वचन, कायों के साथ संयोग होना रूप पर्याय से उपज रहा वह आदिमान् ही होसकता है।

सौक्ष्म्यं द्विविधमंत्यमापेक्षिकं च। तथा स्थौल्य संस्थानमित्थंलक्षणं चतुरस्रादिकमनित्थंलक्षणं च अनियताकारं। भेदः पोढा उत्करश्चूर्णः खण्डश्चूर्णिका प्रतरोऽणुचटनमिति। तमो दृष्टिप्रतिबंधकारणं केषांचित्। छाया प्रकाशावरण। आतप उष्णप्रकाशलक्षणः। उद्योतश्चंद्रादिप्रकाशोऽनुष्णः। त एते शब्दादयः स्वरूपतो भेदतश्च सुप्रसिद्धा एव।

सूक्ष्मपना परिणाम तो अन्त में होने वाला और अपेक्षा से होने वाला यों दो प्रकार है। उसी प्रकार अन्त में होने वाला और अपेक्षा से होने वाला स्थूलपन भी दो प्रकार समझ लेना चाहिये संस्थान नामक पुद्गल परिणति तो एक इस प्रकार नियत आकार स्वरूप है और दूसरी नहीं नियत होरहे आकार स्वरूप है। चौकोर, गोल, तिकौना, लम्बा चौकोर, घन चौकोर, अण्डाकार आदि संस्थान तो इत्थंलक्षण हैं, इनसे अन्य बादलों, वायुओं आदि का आकार अनित्थं-लक्षण है। पुद्गल की भेद नामक पर्याय तो उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर, अणुचटन, इन भेदों से छह प्रकार है, करौंत (आरा) बरमा आदि करके काठ, लोहा, चांदी, आदि का उत्कर नामक भेदन किया जाता है, जौ, गेंहूं, आदि का सतुआ, चून आदि स्वरूप से भिदना तो चूर्ण है, घट आदिकों के टुकड़े, कपाल ठिकुचची, आदि खण्ड कहे जाते हैं। उड़द, मूंग, आदि के टुकड़े चुनी कही जाती है, मेघपटल, आदि के छिन्न, भिन्न, होजाने पर किये गये टुकड़े प्रतर हैं, संतप्त लोह-पिण्ड आदि को हथौड़ा, घन, आदि करके ताड़न करने पर जो फुलिंगा उछलते हैं, वह अणुचटन नामका भेद होना है, यों भेद के छः विकल्प हैं।

पुद्गल की अन्धकार नामक पर्याय तो किन्हीं दिवाचर जीवों के देखने का प्रतिबन्धक हेतु है। अर्थात्—बिल्ली, सिंह, कुत्ता उल्लू, चमगादर आदि रात्रिचर जीवों की दृष्टि को अन्धकार नहीं रोक पाता है, हां मनुष्य, कबूतर, चिड़िया आदि के चाक्षुष प्रत्यक्षों को अन्धकार रोकदेता है। प्रकाश को रोकने वाले पदार्थों के निमित्त से पुद्गल की छाया नामक पर्याय उपज जाती है।

भावार्थ—जगत् में सर्वत्र पुद्गल स्कन्ध भरे हुये हैं। सूर्यका प्रकाश होजाने पर वे ही पुद्गल जैसे आतप रूप परिणम जाते हैं। चन्द्रमा का निमित्त पाकर उद्योत स्वरूप चमकीले परिणम जाते हैं। उसी प्रकार प्रकाशक पदार्थों का आवरण होजाने पर वे पुद्गल स्कन्ध ही काले काले अन्धकार या स्वल्प काली छाया अथवा अन्य जाति के प्रतिविम्ब स्वरूप परिणम जाते हैं। निमित्त, नैमित्तिक, कई प्रकार के होते हैं, अग्नि को निमित्त पाकर हुयी काली ईंट को लाल ईंट रूप पर्याय तो निमित्त के

नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती है। जल में अग्नि के निमित्त से आगयी उष्णता घण्टे दो घण्टे पीछे विघट जाती है। वैशेषिक जो ऐसा मानते हैं कि उष्ण जल में अग्नितत्व घुस आता है। उस अग्नि का ही उष्ण स्पर्श प्रतीत होता है, अग्नि के उद्भूत उष्ण स्पर्श से जल की गांठ का शीतस्पर्श छिप जाता है, यह वैशेषिकों का सिद्धान्त असत्य है। वास्तविक सिद्धान्त यह है कि जल का शीत स्पर्श ही अग्नि का निमित्त पाकर उष्ण स्पर्श होकर बदल गया है, पानी जल पुद्गल के स्पर्श गुण का पहिले शीत परिणाम था अग्नि को निमित्त पाकर अब उस स्पर्श गुण की उष्ण पर्याय उपज गयी है जैसे कि भिन्न भिन्न वृक्षों को निमित्त पाकर उपादान हो रहे मेघ जल का उन उन वृक्षों के रस स्वरूप परिणाम होजाता है।

मोक्षमार्ग के अपूर्व अधिकारी आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

राजगृहीके कुण्डोंका जल प्रथम से ही उष्ण है, शीतकालमें अन्य कूपोंका जल भी कुछ उष्ण रहता है हां पीछे वायु, वह्निभूमि, को निमित्त पाकर शीतल होजाता है। तथा कोई नैमित्तिक काय तो नैमित्तिकके नष्ट होजाने पर झट नष्ट होजाते हैं, जैसेकि बिजलीका प्रकाश है। दर्पण स्वच्छ जल, चांदी का थाल, आदि में पड़ रही छाया, वर्ण आकृति आदि स्वरूप से परिणामी है किन्तु घाम, चांदनी, आदि के अवसर पर वृक्ष, मनुष्य, आदि की पड़ रही छाया तो केवल प्रतिविम्ब स्वरूप है वस्त्र के अनेक परत अथवा कई कागजों की तह के भीतर "ऐक्सरे" यंत्र के द्वारा प्रकाश के पहुँचा देने पर उस तहों के भीतर रखे हुये पदार्थ का प्रतिविम्ब पड़ जाता है अतः छाया का लक्षण उचित है। आतप तो उष्ण प्रकाश स्वरूप है, तथा चन्द्र, पटवोजना, पन्ना आदि का अनुष्णप्रकाश तो पुद्गल की उद्योत पर्याय है।

अर्थात्—"मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा। आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोओ" (गोम्मटसार कर्मकाण्ड) इस गाथा अनुसार आतप का लक्षण तो मूल में अनुष्ण और प्रभा में उष्ण होरहे पदार्थ का प्रकाश स्वरूप किया गया है, और मूल में अनुष्ण होते हुये अनुष्ण प्रभा के उत्पादक पदार्थ का प्रकाश उद्योत है, सूर्य का विमान अनुष्ण है वह उष्ण आतप का निमित्त होजाता है। जैसे कि मूल में शीतल होरही पानी की वर्फ उदर में दाह को बढ़ा देती है, लाल वस्त्र आंखों में उष्णता का सम्पादक है, अनुष्ण होरहा मकरध्वज या अभ्रक भस्म रोगी के उदर में आग फूंक देता है। इत्यादि दृष्टान्तों से निमित्तों की अचिंत्य शक्तियों का प्रभाव प्रकट होरहा है। यों ये शब्द, बन्ध, आदिक पुद्गल परिणाम स्वरूप से और भेदों से भले प्रकार प्रसिद्ध ही हैं, विज्ञान भी इस सिद्धान्त का परिपूर्ण रीत्या पोषक है।

कुतः पुनः पुद्गलाः शब्दादिमन्तः सिद्धा इत्याह।

कोई शिष्य पूछता है कि ये पुद्गल फिर किस युक्ति से शब्द आदि पर्यायों वाले सिद्ध हैं? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अगली वार्त्तिक द्वारा समाधान को कहते हैं।

प्रोक्ताः शब्दादिमन्तस्तु पुद्गलाः स्कंधभेदतः।
तथा प्रमाणसद्भावादन्यथातदभावतः ॥१॥

अणुस्वरूप पुद्गल तो केवल अनुजीवी गुण, प्रतिजीवीगुण, सप्तभंगी-आत्मक अनेक स्वभाव तथा इतर धर्मों को धार रहे हैं किन्तु स्कन्ध नामक भेदों से प्रसिद्ध होरहे स्थूल पुद्गल ही शब्द आदि

विकारों वाले अच्छे कहे जाचुके हैं क्योंकि तिस प्रकार शब्द आदि पर्याय वाले पुद्गलों के साधक प्रमाणों का सद्भाव है। अन्यथा उन शब्द आदिकों का अभाव होजावेगा अथवा पुद्गल की पर्याय नहीं ज्ञापन कर शब्द आदिकों को दूसरे प्रकार साधने वाले प्रमाणों का अभाव है। अर्थात्—जैसे वैशेषिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। कोई बंध को संयोग विशेष स्वीकार करते हैं, स्थूलता, सूक्ष्मता, तो परिमाणत्व की व्याप्य जातियां हैं। आकृति भी परिमाण विशेष है, भेद को विभाग या ध्वंस में गर्भित कर लेते हैं। तेजोद्रव्य का अभाव-स्वरूप अन्धकार माना गया है। आतप और उद्योत को दूरवर्त्ती सूर्य, चन्द्रमा, पटवीजना, के निमित्त से यहां ही के फैले हुये पुद्गलों का विकार नहीं मानकर सूर्य या चन्द्रमा की चली आई किरणों स्वरूप अभीष्ट किया गया है जो कि तैजस या पार्थिव होसकेंगी किन्तु यह उन पण्डितों का मन्तव्य अप्रामाणिक है।

न हि परमाणवः शब्दादिमन्तः सन्ति विरोधात् स्कंधस्यैव शब्दादिमत्तया प्रतीतेः। शब्दस्याकाशगुणत्वान्न तद्वान् पुद्गलस्कंध इत्येके, तस्यामूर्तद्रव्यत्वादित्यन्ये। तान् प्रत्याह।

परमाणुयें तो शब्द आदि पर्यायों के धारी नहीं हैं क्योंकि विरोध आता है देखिये शब्द, बंध, आदिक परिणतिओं का हम, तुम, आदि को बहिरंग इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है सूक्ष्म परमाणु अतीन्द्रिय है यदि परमाणु के ये शब्द आदि परिणाम होते तो छद्मस्थ जीवों को इनका इन्द्रियप्रत्यक्ष ही नहीं हो पाता। हाँ अन्तिम सीमा को प्राप्त होरही सूक्ष्मता भले ही परमाणु में पायी जाय यदि एक परमाणु का दूसरी परमाणु के साथ बंध होगा तो वह बन्ध पर्याय द्वयणुक स्कन्ध की समझी जायगी। परमाणुओं का संयोग कहा जा सकता है जो कि अबद्ध पुद्गल परमाणुओंमें, कालाणुओं में, धर्म अधर्म में भी पाया जाता है, अतः सिद्ध है कि शब्द, बंध आदि विकारों से सहितपने करके स्कन्ध की ही प्रतीति होरही है। यहाँ कोई एक पण्डित यों आक्षेप कर रहे हैं कि आकाश द्रव्य का गुण शब्द है अतः शब्दवान् आकाश कहा जा सकता है, उस शब्दवाला पुद्गल स्कन्ध नहीं है तथा अन्य कोई मीमांसक पण्डित यों कह रहे हैं कि वह शब्द द्रव्य तो है किन्तु स्पर्श आदि या परिच्छिन्न परिमाण नहीं होने के कारण वह शब्द अमूर्त द्रव्य है और भी कई-पण्डितों की अनेक विप्रत्तिपत्तियां हैं। उन पण्डितों के प्रति ग्रन्थकार महाराज अग्रिम-वार्त्तिकों द्वारा समाधान कहते हैं।

न शब्दः खगुणो वाह्यकरणज्ञानगोचरः।
सिद्धो गंधादिवन्नैव सोमूर्तद्रव्यमप्यतः ॥२॥

शब्द आकाश का गुण नहीं सिद्ध हो पाता है क्योंकि वह बहिरंग इन्द्रियों से जन्य हुये ज्ञान का विशेष होरहा है जैसे कि बहिरंग इन्द्रिय प्रत्यक्षों के विषय होरहे गन्ध आदिक पदार्थ आकाश के गुण नहीं हैं अर्थात्-जब कि आकाश अत्यन्त परोक्ष पदार्थ है तो उसके गुणों का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कथमपि नहीं होसकता है, केवलज्ञान या विशिष्ट श्रुतज्ञान के अतिरिक्त सर्वावधि और विपुलमति मनः पर्यय ज्ञानों की भी अरूपी आकाश या उसके ततोऽपि अधिक सूक्ष्म गुणों में प्रवृत्ति नहीं है फिर बहिरिन्द्रिय प्रत्यक्ष का यहां क्या मूल्य होसकता है? तथा इस ही कारण से यानी बहिरंग इन्द्रियों का विषय होने से वह शब्द अमूर्त द्रव्य भी नहीं है मूर्त द्रव्य का विवर्त ही बहिरंग इन्द्रियों से जाना जा सकता है।

न स्फोटात्मापि तस्यैकस्वभावस्याप्रतीतितः।
शब्दात्मनस्सदा नानास्वभावस्यावभासनात् ॥ ३ ॥

यह सुना जा रहा शब्द तो स्फोटस्वरूप भी नहीं है अर्थात्-मीमांसकों ने वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, को अर्थ का वाचक माना है शब्द के समान स्फोट को भी मीमांसक नित्य और व्यापक स्वीकार करते हैं नियत अर्थ की प्रतीति का हेतु होरहा वह स्फोट अक्रम और निरंश माना गया है। आचार्य कहते हैं कि मीमांसकों के यहाँ स्फोट की कल्पना नहीं हो सकती है, स्फोट का नित्यपना और व्यापकपना भी निराकृत होजाता है पूर्व के अप्रकट रूप का त्याग करने पर और उत्तर वर्त्ती प्रकट रूप का ग्रहण करने पर स्फोट का कूटस्थ नित्यपना बाधित होजाता है। व्यंजक कारणों करके स्फोट की अभिव्यक्ति यदि स्फोट से अभिन्न की गयी तो फिर स्फोट ही किया गया समझा जायगा, भिन्न पड़ी हुयी अभिव्यक्ति से स्फोटका स्वरूप पूर्ववत् अन्धेरेमें ही पड़ा रहेगा। यों स्फोटवाद में अनेक दोष आते हैं। तथा वह शब्द तीव्र, मन्द, खर, निषाद, धैवत, उदात्त, अपभ्रंश संस्कृत, सत्य आमंत्रण, निष्ठुर, आदि अनेक स्वभावों वाला है एक ही स्वभाव वाले शब्द की प्रतीति नहीं हो रही है नाना स्वभावों वाले शब्द स्वरूपका सर्वदा प्रतिभास हो रहा है, किसी भी एक शब्दको दूरदेश-वर्त्ती, निकटदेश-वर्त्ती, अति समीप देशवर्त्ती, अनेक पुरुष न्यारे न्यारे ढंगों से सुनते हैं, यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकस्वभावभेदाः ,, इस नियम अनुसार वे सम्पूर्ण स्वभाव शब्द की आत्मा में प्रविष्ट होरहे माने ही जाते हैं, स्वचतुष्टयसे शब्द है, परकीय चतुष्टयसे नहीं, यों भी शब्द अनेक स्वभावों वाला है। शब्द में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, भी है, अतः अनेक युक्तियों से नाना स्वभाव-वाला शब्द सिद्ध हो जाता है।

अतःप्रकाशरूपस्तु शब्दस्फोटोपरोध्वनेः।
यथार्थगतिहेतुः स्यात्तथा गंधादितोपरः ॥ ४ ॥
गंधरूपरसस्पर्शस्फोटः किं नोपगम्यते।
तत्राक्षेपसमाधानसमत्वात्सर्वथार्थतः ॥ ५ ॥

शब्दाद्वैतवादी पण्डित सम्पूर्ण ज्ञानों या अर्थों को शब्द-आत्मक स्वीकार करते हैं उनका अनुभव है कि यदि ज्ञानों में से शब्द स्वरूप को निकाल दिया जाय तो ज्ञान का पूरा शरीर मर जायगा, वाग्रूपता ही तो ज्ञान को प्रकाशती है, वही विचार करने वाली है, अनादि अनन्त शब्द ब्रह्म ही जगत् के अनेक पदार्थों स्वरूप परिणम जाता है वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और सूक्ष्मा ये चार वाणी हैं, इनमें सूक्ष्म वाणी अन्तरंग प्रकाशस्वरूप है, यह शब्दस्फोट भी कहा जा सकता है जो कि वायुस्वरूप ध्वनिसे निराला है, यही शब्दस्फोट वाच्यकी यथार्थ प्रतीति का कारण है। ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रथम तो शब्दाद्वैत ही प्रत्यक्षबाधित है अर्थ या ज्ञानों को यदि शब्द से अनुविद्ध माना जायगा तो बालक, गूंगे, मौनव्रती, आदि को पदार्थों का प्रतिभास नहीं हो सकेगा, पत्थर, अग्नि, तोपगोला, बिजली, आदि शब्दों के सुनते ही कान जलजाने, फूट जाने आदि का प्रसंग आवेगा जब कि शब्द केवल श्रोत्रइन्द्रिय का विषय है तो वह अन्य इन्द्रियों के विषयों या सम्पूर्ण ज्ञानों के साथ तादात्म्य

कथमपि नहीं रख सकता है अन्तःप्रकाशरूप तो चैतन्यपदार्थ ही है, वाणी या शब्दस्फोट अन्तर्ज्योतीरूप नहीं हैं, ध्वनि से निराला अन्तरंग प्रकाशस्वरूप शब्द स्फोट यदि न्यूनातिरिक्त अर्थों की ज्ञप्ति का हेतु समझा जायगा तब तो गन्ध, रूप, आदि से निराला गन्ध स्फोट रूपस्फोट, रसस्फोट, स्पर्शस्फोट भी क्यों नहीं स्वीकार किये जायेंगे जो कि अर्थ-प्रसिद्ध हो रहे गन्ध को अर्थ का प्रत्यापक नहीं मानकर गन्धमें एक नित्य व्यापक निरंश, गन्धस्फोट मान लियाजाय जैसे कि शब्दस्फोट गढ़ लिया गया है। यदि गन्धस्फोट पर कोई आक्षेप किया जायगा तो वही आक्षेप मीमांसकों के शब्दस्फोटपर भी लागू होगा। मीमांसक यदि शब्द स्फोट पर लगाये गये आक्षेप का कोई समाधान करेंगे वही समाधान गन्धस्फोट के लिये भी औषधी होजायगा, रसस्फोट आदि में भी यही लगा लेना। सत्यार्थ रूप से विचार करने पर शब्दस्फोट के समान उन गन्धस्फोट आदि में भी आक्षेप और ससाधान सभी प्रकार तुल्यरूप से लागू होजाते हैं।

नाकाशगुणः शब्दो बाह्येंद्रियविषयत्वाद्गंधादिवदित्यत्र न हेतुर्व्यभिचारी विपक्षावृत्तित्वात। पटाकाशसंयोगेन व्यभिचार इतिचेन्न, तस्याकाशगुणत्वैकांताभावात् तदुभयगुणत्वात। तत्र बाह्येंद्रियविषयत्वासिद्धेः संयोगिनो गगनस्यातीन्द्रियत्वात। पटस्येंद्रियविषयत्वेपि तत्संयोगस्य तदयोगात। तदुक्तमन्यैः। "द्विष्ठ (द्वय)। संबंधसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात। द्वयस्वरूपग्रहणे सति संबंधवेदनं" इति।

शब्द (पक्ष) आकाश द्रव्य का गुण नहीं है (साध्य) वहिरंग इन्द्रियों का विषय होने से (हेतु) गन्ध आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। यों इस अनुमान में प्रयुक्त किया गया वाह्य इन्द्रियों का विषयपना हेतु व्यभिचार दोष वाला नहीं है क्योंकि विपक्ष या विपक्ष के एक देश में भी नहीं वर्त रहा है। यदि यहाँ कपड़ा और आकाश दोनों के संयोग करके व्यभिचार उठाया जाय कि भले ही आकाश अतीन्द्रिय है फिर भी आंखों या स्पर्श इन्द्रिय से कपड़ा जान लिया जाता है, अतः कपड़ा और आकाश का संयोग वहिरंग इन्द्रियों से ग्राह्य तो है किन्तु उस संयोग में "आकाश के गुण होने का अभाव" यह साध्य नहीं है, पटके समान आकाशका भी गुण "पटआकाश संयोग" हो रहा है

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह व्यभिचार दोष तो नहीं उठाना क्योंकि उस पट-आकाश संयोग को एकान्तरूप से आकाश के ही गुण होजाने का अभाव है वह पट-आकाशसंयोग तो वस्त्र और आकाश दोनों का गुण है, अतः उस वस्त्र-आकाश संयोग में वहिरंग इन्द्रियों का गोचरपना असिद्ध है, कारण कि वस्त्र आकाश संयोग का धारी माना गया आकाशद्रव्य तो अतीन्द्रिय है भले ही उस संयोग का धारक पट भी है और पट वहिरंग इन्द्रियों का विषय भी हो रहा है तथापि उन अतीन्द्रिय आकाश और इन्द्रियगोचर पटके संयोगको उस वाह्य इन्द्रिय की विषयता का अयोग है। अन्य वैशेषिक विद्वानों ने भी उस बात को यों अपने ग्रन्थों में कहा है कि दोनों के या दो में रहने वाले सम्बन्ध का परिज्ञान केवल एक ही पदार्थ के स्वरूप का सम्वेदन करने से नहीं होजाता है दोनों के स्वरूप का ग्रहण होने पर ही उन में रहने वाले सम्बन्ध का ज्ञान हो सकता है "द्वौ अवयवौ यस्य तद्द्वयं, द्वयोस्तिष्ठतीति द्विष्ठः।,, बात यह है कि दोनों में एकम एक होकर ठहर रहे सम्बन्ध की प्रतिपत्ति तो दोनो का परिज्ञान होजाने पर हो सकती है, अन्यथा नहीं। अतः वहिरंग इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकने के कारण उस वस्त्र-आकाश के संयोग करके हेतु में व्यभिचार दोष नहीं लगता है।

एतेनैतदपि प्रत्युक्तं । यदुक्तं यौगैः— न स्पर्शवद्द्रव्यगुणः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वादकारणगुणपूर्वकत्वाद्वा सुखादिवदिति, पक्षस्य प्रकृतानुमानबाधितत्वात् । शब्दस्य द्रव्यार्थादेशादयावद्द्रव्यभावित्वासिद्धिश्च रूपादिवत् पर्यायार्थादेशादकारणगुणपूर्वत्वस्याप्यसिद्धिः शब्दपरिणतानां पुद्गलानामपरापरसदृशशब्दारंभकत्वात् । अन्यथा वक्तृदेशादन्यत्र शब्दस्याश्रवणप्रसंगात्

इस उक्त कथन करके इस बातका भी खण्डनकर दिया गया है जो कि वैशेषिकों या नैयायिक ने यों कहा था कि शब्द (पक्ष) स्पर्शवाले पृथिवी, अप, तेज, वायु द्रव्यों का गुण नहीं है (साध्य) क्योंकि हम आदि जीवों के प्रत्यक्ष का विषय होता सता शब्द अपने आश्रय माने गये द्रव्य के परिपूर्ण भागों में वृत्ति होरहा नहीं है (एक हेतु)। अथवा अपने कारण के गुणों को पूर्ववर्त्ती मान कर शब्द नहीं उपजता है, अर्थात्—घट रूप आदिक जैसे अपने कारणके कारण होरहे मृत्तिका के रूप या कपाल के रूप से उपज जाते हैं वैसा अपने कारणों के गुणों अनुसार शब्द की उत्पत्ति नहीं है (दूसरा हेतु) सुख, इच्छा, आदि से समान (अन्वयदृष्टान्त)।

इस पर आचार्य कहते हैं कि इस प्रतिज्ञा की प्रकरण-प्राप्त अनुमान से बाधा प्राप्त होजाती है, भावार्थ-शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः, शब्दो न दिक्कालमनो गुणः विशेषगुणत्वात्, नात्मविशेष-गुणः शब्दो बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात्, इन अनुमानों से परिशेष न्याय द्वारा शब्द को आकाश का गुण सिद्ध करने का वैशेषिकों ने प्रयत्न किया है, किन्तु शब्द आकाश का गुण नहीं है बहिरंग इन्द्रिय (कान) का विषय होने से गन्ध आदि के समान, इस निर्दोषअनुमान करके वैशेषिकों के अनुमान का हेतु बाधित हेत्वाभास होजाता है तथा द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन करने से शब्द के अयावद्द्रव्यभावित्व की असिद्धि है जैसे कि रूप, रस, आदिक पदार्थ अपने आश्रय होरहे द्रव्य में यावत्द्रव्यभावि हैं द्रव्य के कुछ भागोंमें रहें, कुछ भागोंमें नहीं रहें ऐसे नहीं हैं। इसी प्रकार जो द्रव्य शब्द होकर परिणत होगया है, उस उतने द्रव्य का शब्द नाम का विवर्त यावत्द्रव्यभावी है, अयावत्द्रव्यभावि नहीं है। वैशेषिकों का दूसरा हेतु अकारणगुणपूर्वकपना भी असिद्ध है क्योंकि पर्यायार्थिक नय अनुसार कथन करने से शब्द स्वरूप परिणत होरहे पुद्गलही उत्तरोत्तर सदृश शब्दोंका आरम्भ करने वाले माने जाते हैं, अतः शब्द कारण-गुण-पूर्वक ही है, अन्यथा यानी शब्दों को यदि कारणगुणपूर्वक नहीं माना जायगा तो वक्ता के मुख प्रदेश के सिवाय अन्य स्थलों में शब्द के नहीं सुने जाने का प्रसंग आवेगा अतः वैशेषिकों के दोनों हेतु स्वरूपासिद्ध हैं।

ननु च वक्तृव्यापारात्पुद्गलस्कन्धः शब्दतया परिणमन्नेकोनेको वा परिणमेत् ? न तावदेकस्तस्य सकृत्सर्वदिक्षु गमनासंभवात् । यदि पुनर्नानाभिः सर्वादिक्कैः श्रोतृभिः श्रूयते शब्दस्तावानेव वक्तृव्यापारनिष्पन्नः तच्छ्रोत्राभिमुखं गच्छतीति मतं, तदा सदृशशब्दकोलाहलश्रवणं श्रोतृजनस्य कुतो न भवेत् ? सर्वेषां शब्दानामेकैकश्रोतृग्राह्यत्वपरिणामं वादिनश्चेत्, तर्ह्येकैकः शब्द एकैकश्रोतृग्राह्यत्वपरिणतः सर्वादिक्कं गच्छन्नेकैकनैव श्रोत्रा श्रूयत इत्यायातं । तच्चायुक्तं,एकदिक्केषु सप्रणिधिषु श्रोतृषु श्रवणप्रत्यासन्नश्रोतृ श्रोत्रस्य परापरशब्दश्रवणविरोधात् ।

वैशेषिकोंकी ओर से बड़ा लम्बा यह आक्षेप उठाया जारहा है, कि जैनों के प्रति वैशेषिक प्रश्न करते हैं कि वक्ता के व्यापार से पुद्गल स्कन्ध ही शब्दस्वरूप करके परिणमन कर रहा जैनों ने माना है, वह क्या एक ही शब्द होके परिणमेगा ? अथवा क्या वह पुद्गल अनेक शब्द होकर परिणम जावेगा ? बताओ, पहिले विकल्प अनुसार एक ही शब्द तो परिणम नहीं सकता है क्योंकि अकेले उस पौद्गलिक शब्द का एक ही वार सम्पूर्ण दिशाओं में दशों ओर गमन करने का असम्भव है, एक छोटी वस्तु एक समय में एक ही दिशा की ओर जा सकती है।

यदि फिर द्वितीय विकल्पअनुसार जैनों का यह मन्तव्य होय कि सम्पूर्णदिशाओं में प्राप्त होरहे जितने भी श्रोताओं करके शब्द सुना जा रहा है, उतने ही शब्द उस वक्ता के व्यापारों से उपज रहे सन्ते उन उन श्रोताओंके कानों के सन्मुख होते हुये चले जाते हैं। उन जैनों करके यों अभीष्ट किया गया होय तब तो हम वैशेषिक कहेंगे कि ऐसी अवस्था में असंख्य जनों का सदृश शब्दों के कोलाहल का सुनना भला क्यों नहीं होगा ?

यानी एक स्थल पर अनेक उपज रहे शब्द तो मिश्रित कोलाहल रूप से सुने जाने चाहिये इस पर जैन यदि यों कहैं कि सम्पूर्ण शब्दों का एक ही एक श्रोता करके ग्राह्यपने का परिणाम उपजता है, अतः सम्पूर्ण श्रोताओं को कई शब्दों का कोलाहल सुनाई नहीं पड़ता है, तब तो हम वैशेषिकों को कहना पड़ताहै कि एक ही एक शब्द एक एक श्रोता करके ग्रहण योग्यपन की परिणति से युक्त होकर सम्पूर्ण दिशाओं की ओर जा रहा सन्ता एक एक ही श्रोता करके सुना जाता है यह अभिप्राय आया किन्तु वह कथन अयुक्त है क्योंकि एक ही दिशा में वर्त रहे और कुछ समान दूरी पर विराज रहे श्रोताओं के स्थित होते सन्ते अति निकट-वर्त्ती श्रोताओं के कानों द्वारा उत्तरोत्तर शब्द के सुनने का विरोध आवेगा अर्थात्-जब शब्द तो एक ही श्रोता के सुनने योग्य उपजेगा तब उसी दिशा में कुछ दूर बैठे हुये श्रोताओं ने जिन शब्दों को सुन लिया है उन शब्दों को उसी दिशा में बैठे हुये निकट देश-वर्ती श्रोता नहीं सुन सकेंगे किन्तु जिसको दूर-वर्ती श्रोता सुनते हैं उस शब्द को निकटवर्त्ती श्रोता तो अवश्य ही सुनते हैं इस आक्षेप का समाधान करना कठिन पड़ेगा।

परापर एव शब्दः परापरश्रोतृभिः श्रूयते न पुनः सः एवेति चेत्, स तर्हि परापरशब्दः किं वक्तृव्यापारादेव प्रादुर्भवेदाहोस्वित्पूर्वश्रोतृशब्दात् ? प्रथमपक्षे कथमसौ परापरैः श्रोतृभिः श्रूयमाणः पूर्वपूर्वैः सममाकर्णश्रेणिस्थैरपि न श्रूयते इति महदाश्चर्यं। न चैवं कारणगुणपूर्वकः शब्दः सिद्ध्येत् द्वितीयविकल्पे पर्यन्तस्थितश्रोतृश्रुतशब्दादपि शब्दांतरोत्पत्तिः कथं न भवेत् ? पुद्गलस्कंधस्य तदुपादानस्य सद्भावात्। वक्तृव्यापारजनितवायुविशेषस्य तत्सहकारिणस्तत्राभावादिति चेत्, तर्हि वायवीयः शब्दोस्तु किमपरेण पुद्गलविशेषेण तदुपादानेन कल्पितेनादृष्टकल्पनामात्रहेतुना किं कर्तव्यं, तथोपगमे स्वमतविरोधस्ततः स्याद्वादिनो दुर्निवार इति कश्चित्।

वैशेषिक ही कहे जा रहे हैं, कि यदि जैन यों कहैं कि अगले अगले देशों में वर्त रहे श्रोताओं करके फिर वह का वही शब्द थोड़ा ही सुना जाता है, किन्तु वक्ता के मुख से निकले हुये शब्द करके

उपज रहे अन्य अन्य अगले अगले शब्द ही उन श्रोताओं करके सुने जाते हैं। यों जैनों के कहने पर तब तो हम वैशेषिक पूछते हैं, कि वह उत्तरोत्तर उपज रहा शब्द क्या वक्ता के व्यापार से ही उत्पन्न होगा ? अथवा क्या पहिले पहिले श्रोताओं द्वारा सुने जा चुके शब्द से उपजेगा ? बताओ, जैनों द्वारा प्रथम पक्ष ग्रहण करने पर तो हम वैशेषिक कहते हैं, कि उत्तरोत्तर देश-वर्त्ती श्रोताओं करके सुना जा रहा वह शब्द भला उन आकाश श्रेणियों पर बैठे हुये अन्य श्रोताओं करके भी पहिले पहिले शब्दों के साथ क्यों नहीं सुना जाता है ? यह बहुत बड़ा आश्चर्य है।

एक बात यह भी है कि इस प्रकार वक्ता के व्यापार ही से शब्द की उत्पत्ति मानने पर जैनों का यह सिद्धान्त कि शब्द कारण-गुण-पूर्वक है, सिद्ध नहीं होपायेगा अर्थात्—वीचीतरंग न्याय से यदि पूर्व शब्द परिणत पुद्गलों करके ही अन्य शब्दों की उत्पत्ति मानी जाय तब तो कारण गुण पूर्वक शब्द सध पायेगा, अन्य प्रकारों से नहीं। यदि जैन दूसरा विकल्प लेवें कि श्रोताओं के पूर्व पूर्व शब्दों से उत्तर शब्दों की उत्पत्ति होती है, उस विकल्प में यहां वहां निकट स्थित होरहे श्रोताओं करके सुने गये शब्द से भी पुनः अन्य शब्दों की उत्पत्ति क्यों नहीं होजावेगी ? उन शब्दों के उपादान कारण माने जा रहे पुद्गल स्कन्धों का सर्वत्र सुलभतया सद्भाव पाया जाता है। यदि स्याद्वादी यों कहें कि शब्दों के उत्पादक उपादान कारण पुद्गल स्कन्ध तो हैं किन्तु उस शब्द का सहकारी कारण होरहा वक्ता के व्यापार से उत्पन्न हुये विशेष वायु का वहां अभाव है। अतः मन्द मन्द शब्द से दूर देश तक अन्य शब्दों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, सुपुष्ट दृष्टान्त तो खेतों में असख्यों मन पड़ी हुई है। किन्तु थोड़े से बीज या ऋतु इन सहकारी कारणों के नहीं मिलने से हजारों, लाखों, मन अन्न नहीं उपज पाता है, यों जैन कहें तब तो शब्द वायु से निर्मित हुआ कह दिया जाओ उसके उपादानरूप से कल्पित किये जा रहे दूसरे पुद्गल विशेषों करके क्या करने योग्य कार्य शेष रह जाता है ? ऐसा असत् पुद्गल तो केवल प्रमाणों द्वारा नहीं देखे जा चुके पदार्थों की कल्पना का ही हेतु है, शब्द का उपादान माना गया पुद्गल कोई वस्तुभूत नहीं है ; अवस्तु से क्या किया जासकता है ?

इस पर जैन यों इष्ट आपत्ति करें कि हम तिस प्रकार शब्द को वायु से उत्पन्न हुआ स्वीकार कर लेंगे वैशेषिकों के यहां माना गया आकाश का गुण शब्द नहीं होना चाहिये, यों मानने पर तो उस स्वीकृति से स्याद्वादी विद्वान के यहां आरहे अपने मत से विरोध का किसी भी प्रकार से निवारण नहीं किया जा सकता है। क्योंकि स्याद्वादियों ने शब्द को केवल वायुनिर्मित नहीं मान कर भाषा-वर्गणा या शब्दयोग्य पुदगल स्कन्धों से उत्पन्न हुआ माना है बांसरी, बैन, पीपनी, हारमोनियम, में यद्यपि विशिष्ट छेदों में से निकल रही वायु ही शब्द स्वरूप होजाती है। किन्तु जैन मत में वहाँ भी तिस जाति के पुद्गल स्कन्धों की ही शब्द परिणति हुई मानी जाती है, इस प्रकार ननु च से प्रारम्भ कर यहां तक कोई वैशेषिक पण्डित कह रहा है।

सोप्यनालोचितवचनः, शब्दस्य गगनगुणत्वेपि प्रतिपादितदोषस्य समानत्वात्। तथाहि—शंखमुखसंयोगादाकाशे शब्दः प्रादुर्भूतेक एव प्रादुर्भवदनेको वा ? प्रथमपक्षे कुतस्तस्य नानादिक्कैः श्रोतृभिः श्रवणं ? सकृत्सर्वदिक्कगगनासंभवात्। अथानेकस्तदा शब्देकोलाहलश्रुतिप्रसंगः समानः शब्दस्यानेकस्य सकृदुत्पत्तेः, सर्वदिक्काशेषश्रोतृश्रूयमाणस्य तावद्भेदसिद्धेः।

अब ग्रन्थकार कहते हैं कि वह कोई वैशेषिक भी विचारे जा चुके वचनों का बोलने वाला नहीं है जब कि शब्द को आकाश का गुण स्वीकार करने पर भी जैनों के ऊपर कहे जा चुके दोष उन्हीं वैशेषिकों के ऊपर समान रूप से लागू होजाते हैं इसी बात को स्पष्टरूप से यों समझिये कि आप वैशेषिकों के यहाँ शंख और मुख के संयोग से आकाश में उपज रहा शब्द क्या एक ही उत्पन्न होगा ? अथवा क्या अनेक शब्द उपज जावेंगे ? बताओ। पहिला पक्ष ग्रहण करनेपर उस एक ही शब्द का नाना दिशाओं में विराज रहे अनेक श्रोताओं करके भला कैसे श्रवण हो सकता है ? एक ही अंगूर को भला सौ आदमी मुखादिक कैसे खावेंगे ? वैशेषिकों ने जैसे कहा था उसी प्रकार हम भी कहते हैं कि एक ही शब्द का सम्पूर्ण दिशाओं में वृत्ति होजाने के लिये एक ही समय गमन करने का असम्भव है

अब द्वितीय कल्पना अनुसार यदि वैशेषिक यों कहें कि मुख से शंख को बजाने पर अनेक शब्द उपज जाते हैं तब तो शब्दों के कोलाहल के श्रवण का प्रसंग समान रूप से उठाया जा सकता है जैसा कि आपने हमारे ऊपर उठाया था। दो सौ, चार सौ, गज दूर से मेला या हाट का शब्द जैसे कोलाहल रूप से सुनाजाता है उसी प्रकार एक ही वार में अनेक शब्दों की उत्पत्ति होजाने से कोलाहल सुनाई पड़ेगा तथा सम्पूर्ण दशों दिशाओं में बैठे हुये अशेष श्रोताओं करके सुने जा रहे शब्द के उतने परिमाण को लिये हुये प्रकार भिन्न भिन्न सिद्ध होजावेंगे। (प्रकारे धा)।

यदि पुनरेकैकस्यैव शब्दस्यैकैकश्रोतृग्राह्यस्वभावतयोत्पत्तेर्न समानशब्दकलकलश्रुतिरिति मतं, तदैकदिक्केषु समानप्रणिधिषु श्रोतृषु प्रत्यासन्नतमश्रोतृश्रुतस्य शब्दस्यांत्यत्वाच्छब्दांतरारंभकत्वविरोधाच्छेषश्रोतृणां तच्छ्रवणं न स्यात्। तस्यापरशब्दारंभकत्वे चांत्यत्वाव्यवस्थितिः। प्रत्यासन्नतमश्रोतृश्रवणमपि न भवेत् तदभावे चाद्य एव शब्दः श्रूयते नांत्य इति सिद्धांतव्याघातः।

यदि फिर हमारे ऊपर किये गये आपादन के समान वैशेषिकों का यह मन्तव्य होय कि एक एक ही शब्द की एक एक श्रोता द्वारा ग्रहण करने योग्य स्वभाव रूप से उत्पत्ति होती है अतः अनेक समान शब्दों का कलकल रूप से सुनना नहीं होता है। तब तो हम जैन भी कह देंगे कि एक दिशा में स्थितहोरहे समान निकटता वाले श्रोताओं में भी अतीव निकट-वर्ती श्रोता द्वारा सुना जा चुका शब्द तो अन्तिम है, अन्तिम शब्द को अन्य शब्दों के आरम्भ करने का विरोध है जैसे कि चरम अवयवी पुनः अन्य अवयवी का उत्पादक नहीं माना गया है, इस कारण शेष श्रोताओं को उस मन्द शब्द का श्रमण नहीं हो सकेगा। यदि उस शब्द को अन्य उत्तरोत्तर शब्दों का आरम्भक माना जायगा तो उस शब्द के अन्तिमपन की व्यवस्था नहीं होसकेगी और अधिक निकटवर्ती श्रोता को भी उस शब्द का सुनना नहीं होसकेगा। टेलीफोन या टेलीग्राफद्वारा मन्द उच्चारित शब्द भी सैकड़ों हजारों कोस चला जाता है फिर भी अन्तिम जो कोई शब्द होगा वह पुनः शब्द का उत्पादक नहीं माना गया है। यदि वैशेषिक अतीव निकटवर्ती श्रोता को उस अन्तिम भी शब्द का सुनाई होजाना मानेंगे तो आदि में उपजा हुआ ही शब्द सुना जाता है अन्तिम शब्द नहीं सुना जाता है इस सिद्धान्त का व्याघात होजायगा। अर्थात्-सरोवर के मध्य में डेल डाल देने से जैसे सब ओर को जल की लहरें उठती हुई फैल जाती हैं उसी प्रकार वीची-तरंग-न्याय करके अथवा बदम्ब-गोलक न्यायसे

शब्द उपज रहा है यों फैलरहा शब्द पहिला ही पहिला जहां किसीके कान में पड़ेगा वह उसको सुनाई देजायगा उससे पिछला शब्द तो आगे देशमें चला जायगा अतः आगे वाले श्रोताओं के प्रति वह पहिला पहिला होता हुआ सुनाई पड़ता जायगा। वक्ता, श्रोताओं में साधारण रूप से बोला जारहा या टेलीफोन अथवा बिना तार का तार आदि द्वारा फेंका गया जो सब से अन्त का शब्द होगा उसको कोई नहीं सुनसकेगा, उत्तरक्षण में शब्द मर ही जायगा।

अथ प्रत्यासन्नतमश्रोतारं प्रत्यसौ शब्दोंत्यस्तेन श्रूयमाणत्वान्न प्रत्यासन्नतरं तेन तस्याश्रवणात् तेनाप्यश्रूयमाणत्वेन अन्त्यो न तु प्रत्यासन्नं प्रति तत एव सोपि तमेव प्रत्यन्त्यो न दूरश्रोतारं प्रतीतिमतिः, सापि न श्रेयसी, शब्दस्यैकस्यान्त्यत्वानन्त्यत्वविरोधात्तस्य निरंशत्वोपगमात्।

अब यदि स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय लेकर वैशेषिकों का यों मन्तव्य होगया होय कि अत्यधिक निकटवर्ती श्रोता के प्रति वह मन्द शब्द बोला गया अन्तिम कहा जायगा क्योंकि धीरे से कहा गया शब्द उस करके सुना जा रहा है किन्तु कुछ थोड़े निकट-वर्ती हो रहे पुरुष के प्रति वह मन्द शब्द अन्तिम नहीं है क्योंकि उस पुरुष ने उस शब्द को नहीं सुना है तथा उस थोडे निकटवर्ती पुरुष ने भी जिस कुछ तीव्र शब्द को सुन पाया है वह कुछ तीव्र शब्द उस कुछ अन्तर लेकर बैठे हुये निकट--वर्ती पुरुष के प्रति तो अन्तिम है किन्तु उससे अधिक अन्तर पर बैठे हुये निकट-वर्ती पुरुष के प्रति अन्तिम नहीं है क्योंकि इसने उस शब्द को सुना नहीं है तिस ही कारण से यानी उस करके सुना जा रहा होने से वह निकट-वर्ती पुरुष के लिये कहा गया शब्द उस ही के प्रति अन्तिम है, दूरवर्त्ती श्रोता के प्रति अन्तिम नहीं है।

भावार्थ—एक हाथ अन्तराल देकर बैठे हुये पुरुष के प्रति जो वक्ता का शब्द अन्तिम है वह चार हाथ दूर बैठे हुये श्रोता के लिये अन्तिम नहीं है और जो चार हाथ दूर बैठेहुये श्रोता के लिये अन्तिम है वह दस हाथ दूर वर्त रहे श्रोता के लिये चरम नहीं है, दस हाथ दूर के श्रोता द्वारा अन्तिम सुना जा रहा व्याख्याता का शब्द भी सौ हाथ दूर बैठे हुये श्रोता के प्रति अन्तिम नहीं है। वैशेषिकों की ऐसी बुद्धि होजाने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि वह बुद्धि भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि एकान्तवादी वैशेषिकों के सिद्धान्त-अनुसार एक ही शब्द के अन्तिमपन और अनन्तिमपन का विरोध है क्योंकि वैशेषिकोंने शब्दको अंशों या स्वभावोंसे रहित स्वीकार किया है, यों आदिम शब्दके सुने जानेका सिद्धान्त बिगड़ता है।

अथ तस्यापि धर्मभेदोपगमाददोषः स तर्हि धर्मशब्दस्य जातिरेव भवितुमर्हति न गुणादिः शब्दस्य स्वयं गुणत्वात् तदाश्रयत्वासंभवात्। न च तदंत्यत्वं तदनंत्यत्वं वा जातिरेकव्यक्तिनिष्ठत्वात् जातेस्त्वनेकव्यक्तिवृत्तित्वात्।

इसके अनन्तर वैशेषिक यदि यों कहे कि हम शब्द नामक धर्मी का भेद स्वीकार नहीं करते हैं हां शब्द के तीव्रपन, मन्दपन, मध्यमपन, आदि धर्मभेदों को मान लेते हैं, अतः हमारे ऊपर कोई दोष नहीं आता है। इस पर ग्रन्थकार प्रश्न उठाते हैं कि शब्द का वह अन्तिमपन या आद्यपन धर्म

सामान्यस्वरूप पदार्थ होसकता है नित्य होकर अनेकों में समवाय सम्बन्ध से जाति ही ठहर सकती है अन्त्यत्व कोई गुण तो नहीं है जैसे कि पृथक्त्व, द्वित्व, आदि गुण हैं अथवा वह अन्त्यत्व कोई कर्मपदार्थ या विशेष पदार्थ, आदि स्वरूप भी नहीं है क्योंकि शब्द स्वयं गुण माना गया है, वैशेषिकों के यहां गुणों में गुण, क्रिया, विशेष, ये भाव नहीं ठहर पाते हैं " गुणादिनिर्गुणक्रियः ,, जब कि शब्द स्वयं गुण है, इस कारण शब्द को उन गुणादिकों के आश्रय होजाने का असम्भव है, हां जाति, समवाय, और अभाव ये कुछ नियत पदार्थ शब्द गुण में आश्रित होजाते हैं किंतु वह अन्तिमपन अथवा अनन्तिमपन धर्म भला जाति तो नहीं होसकते हैं क्योंकि भले ही लाखों, करोड़ों, अनन्ते भी पदार्थ क्यों न हों उनमें अन्तिम या आद्य एक ही होगा अतः एक व्यक्ति में ही वृत्ति होने के कारण अन्तिमत्व या आदिमत्व सामान्य पदार्थ नहीं है " नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतं सामान्यं ,, जाति की अनेक व्यक्तियों में वृत्ति मानी गयी है " व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः । रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक संग्रहः ,, । तभी तो आकाशत्व को जाति नहीं माना है ।

अथैकश्रोतृश्रवणयोग्योनेकः शब्दोंत्योऽनन्तश्चापरश्रोतृश्रवणयोग्योस्तीति मत, तर्ह्याद्योपि शब्दोंत्यः स्यात् कस्यचिच्छ्रवणयोग्यत्वात् कर्णशष्कुल्यन्तः-प्रविष्टकाशशब्दवत् वर्णघोषवद्वा तथा चाद्यः शब्दो न श्रूयते इति सिद्धान्तविरोधः ।

अब इसके पश्चात् वैशेषिकों का यह मन्तव्य है कि एक श्रोता के सुनने योग्य हो रहा शब्द भी एक नहीं है, अनेक हैं अत अनेक शब्दों में अन्त्यपन, अनन्त्यपन ये जातियां ठहर जावेंगी इस कारण वह शब्द अन्तिम या अनन्तिम अथवा दूसरे श्रोताओं के सुनने योग्य है, अथवा शब्द के धर्म जाति न सही सखण्डोपाधि अवश्य है । ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो आदि में हुआ शब्द भी अन्तिम हो जाओ क्योंकि वह आदिम शब्द भी किसी न किसी निकटवर्ती श्रोताके सुनने योग्य तो है ही । जैसे कि कचौड़ी के समान बहिरंग उपकरण को धार रही कर्ण इन्द्रिय के भीतर प्रविष्ट होचुका आकाश यह शब्द आदिम होताहुआ भी अन्तिम है कोई कोई एकान्त में कहा गया शब्द एक ही के कान में घुस जाता है अथवा किसी के कान के समीप मुख लगाकर बड़ेबल से बोला गया घोष आत्मक शब्द आद्य होता हुआ भी अन्त्य है और उस प्रकार होने पर वैशेषिकों के यहाँ आद्य शब्द नहीं सुना जाता है, इस सिद्धान्तका विरोध होजावेगा अर्थात्-वैशेषिकों ने अन्तिम शब्दका सुनना ही क्वचित् स्वीकार किया है, जो शब्द जिस व्यक्ति के प्रति अन्तिम होता जाता है यानी उसके कान में लीन हो जाता है वह उसी शब्द को सुन सकता है आदि के शब्द तो शब्दान्तरों के आरम्भक होते जाते हैं, दार्शनिकों के सिद्धान्त भी अनेक अनुभवों के अनुसार विलक्षण होजाते हैं ।

अथ न श्रवणयोग्यत्वादन्त्यत्वं किं तर्हि ? आद्यापेक्षया शब्दान्तरानारंभकत्वापेक्षया चेन्यभिमतिस्तदाद्यस्यांत्यत्वं तदंत्यस्यानंत्यत्वं कथमुपपद्यते ? येनैकस्यांत्यत्वमनंत्यत्वं च स्यात् । ततः सूक्तं प्रत्यासन्नतमश्रोतृश्रुतशब्दाच्छब्दांतरस्याप्रादुर्भावादेकदिक्कसप्रणिधिश्रोतृपंक्त्या शब्दश्रवणाभावप्रसंग इति ।

अब पुनः वैशेषिकों का अभिमानपूर्वक यह मन्तव्य होय कि सुनने योग्य होने के कारण उस शब्द का अन्तिमपना नहीं है तो क्या है ? इसका उत्तर हम वैशेषिक यों कहते हैं कि आदि में हुये

शब्द की अपेक्षा करके और अन्य शब्दों का आरम्भक नहीं होने की अपेक्षा करके उस शब्द का अन्तिमपना व्यवस्थित है। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिक तो आदिम शब्द की अन्तिमपना और उस अन्तिम शब्द का अन्तिमपना भला किस प्रकार युक्तियों से घटित हो सकता है, जिससे कि एक ही शब्द का अन्तिमपना और अनन्तिमपना व्यवस्थित होसके, तिसकारण हमने बहुत अच्छा कहा था कि अत्यधिक निकट बैठे हुये श्रोता के द्वारा सुने गये मन्द शब्द से अन्य शब्दों का प्रादुर्भाव नहीं होता है, अतः एकदिशा में बैठे हुये निकट निकट वर्ती श्रोताओं की पंक्ति करके शब्द के सुने जाने के अभाव का प्रसंग उठाना यों ठीक है।

स्यान्मतं, शंखमुखसंयोगादाकाशे बहवः शब्दाः समानाः प्रत्याकाशप्रदेशकदंबके शंखादुपजायंते ते च पवनप्रेरिततरंगात्मवच्छब्दांतरारभंते, ततो भिन्नदिक्कसप्रणिधिश्रोतृपंक्तेरिवैकदिक्कसप्रणिधिश्रोतृपंक्तेरपि प्रतिनियतसंततिपतितस्यैव शब्दस्य श्रवणमेकस्य च श्रोतुर्न पुनरन्यस्य यतो निगदितदोषः स्यादिति तदप्यनालोचिताभिधानं शब्दसंततेः सर्वतोपर्यन्ततापत्तेः। समवायिकारणस्य गगनस्यासमवायिकारणस्य च शब्दस्य शब्दांतरहेतुत्वे तद्धेतोः सद्भावात्। शंखमुखसंयोगपवनाकाशसंयोगस्य शब्दकारणस्य भावान्नायमभिमतः शब्दः शब्दान्तरमारभते यतः शब्दसंततेरपर्यन्तता स्यादिति चेत्, तर्हि वायवीयः शब्दोस्तु किमाकाशेन समवायिना कल्पितेनेति मतान्तरं स्यात्। शब्दाच्छब्दोत्पत्तौ न स्यात्तस्यापि तत्संयोजकत्वात्।

यदि वैशेषिकों का यह मन्तव्य होय कि शंख और मुख का संयोग होजाने से समवायि कारण आकाश में बहुत से समान शब्द आकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर सरसों या कदम्बकपुष्प की आकृति अनुसार शंख से उपज जाते हैं और वे शब्द तो पवन से प्रेरीगयीं तरंगों के समान या दूसरी दूसरी तरंगों के समान शब्दान्तरोंकी उत्पत्ति करते चले जाते हैं तिस कारण भिन्न भिन्न दिशाओं में वर्त रहे समान-निकटता वाले श्रोताओं की पंक्ति के समान एक दिशा में बैठे हुये सन्निकट श्रोताओं की पंक्ति को भी प्रतिनियत होरही शब्द धारा की संतति में पड़े हुये ही शब्द का सुनना एक ही श्रोता को होसकता है, किन्तु फिर दूसरे श्रोताओं को वह शब्द सुनाई नहीं पड़ता है, जिससे कि जैनों के द्वारा पूर्व में कहा गया दोष हम वैशेषिकों के ऊपर लग बैठे।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वैशेषिकों का वह कथन भी नहीं विचार कर बकदेना मात्र है क्योंकि यों तो शब्द की संततिधारा के सब ओर से अपर्यन्तपने का प्रसंग आता है। यानी एक शब्द की धारा लाखों, करोड़ों, अनन्ते, योजनों तक चली जायगी जब कि अन्य शब्दों की उत्पत्ति के कारण माने जा रहे समवायिकारण आकाश और असमवायिकारण शब्द का सर्वत्र सब ओर सद्भाव पाया जाता है। यदि पहिले जैनों द्वारा कराये गये निवारण समान वैशेषिक शब्द के अनन्तपन का यों निवारण करें कि शब्द का कारण आकाश भले ही सर्वत्र व्यापक है, और असमवायिकारण शब्द भी अत्यधिक दूर तक शब्दों को उपजाने के लिये सन्नद्ध है। किन्तु शंख और मुख के संयोग से उपज रही वायु के साथ होरहा आकाश संयोग भी शब्द का प्रकृष्ट कारण माना गया है, उस कारणके नहीं होने

से अन्तिम माना गया शब्द पुनः अन्य शब्दोंकी लहरों को नहीं उपजाता है, जिससे कि शब्द की संतति का पर्यन्तपना नहीं होसके।

यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं, कि यदि शब्द को उपजाने में वायु को इतनी प्रधानता दी जाती है, तब तो शब्द को वायुतत्व से बनाहुआ मान लिया जाओ समवायिकारण होकर कल्पना किये गये आकाश तत्व से क्या लाभ है ? यों और कहने पर वैशेषिकों को अन्यमतियों के मत को स्वीकार कर लेने का प्रसंग आवेगा। जैनमत अनुसार किसी किसी शब्द को वायुनिर्मित कहने में कोई क्षति नहीं है, पीपनी बजाने, बांसरी बजाने, डकार लेने, छींकने, आदि के शब्दों में वायु ही शब्दस्वरूप से परिणम जाती है, जिसमें कि शब्दयोग्य वर्गणायें भरी हुई हैं। आहार करने योग्य या पेय पदार्थों में भी तो अतीन्द्रिय वर्गणायें घुसी हुई हैं। शब्दानुविद्ध वादी पण्डित भी "स्थानेषु विवृत्ते वायौ कृत-वर्णपरिग्रहः, आदि स्वीकार करते हैं किन्तु शब्द को आकाश का गुण मानने वाले वैशेषिक कथमपि शब्द को वायु नामक उपादान कारण से बन रहा नहीं मानते हैं, अतः शब्द को वायवीय मानने पर वैशेषिकों के ऊपर मतान्तर दोष आता है, यहां वैशेषिकों को लेने के देने पड़ जाते हैं। "दोज का बदला तीज" है। ऐसा लौकिक न्याय है, दूसरी बात यह है, कि वायु का अडंगा लगा देने पर अब शब्द से शब्द की उत्पत्ति [illegible] होसकेगी क्योंकि [illegible] शब्द को भी वायुसंयोग से जन्य मान लिया जावेगा जब अत्यक्ष परोक्ष आकाश की कल्पना करली जाती है, तो शब्दों के उत्पत्तिस्थल में व्याप्त (सब के यहां आवश्यक मानी जा रही) वायु की कल्पना करना तो अतीव सुलभ है।

सत्येवाकाशे शब्दस्योत्पत्तिस्तत्समवायिकारणं न तत्प्रतिषेधहेतवो गमकाः स्युर्बाधितविषयत्वादिति मतं, तदा शब्दः स्पर्शवद्द्रव्यपर्यायो बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्स्पर्शादिवदित्यनुमानात्तस्य पुद्गलपर्यायत्वे सिद्धे तत्प्रतिषेधहेतवोनुमानबाधितविषयत्वादेव गमकाः कथमुपपद्येरन् ?

वैशेषिक कहते हैं, कि आकाश के होने पर ही शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है अतः वह आकाश इस शब्द का समवायिकारण है, ऐसे उस आकाश का निषेध करने वाले हेतु अपने साध्य के ज्ञापक नहीं होसकेंगे क्योंकि उनका विषय तो बाधित होजायगा, अतः आकाश की सिद्धि होचुकने पर साध्य की बाधा उपस्थित होजाने से वे हेतु कालात्ययापदिष्टहेत्वाभास होजायंगे। यों वैशेषिकों का मत होगा। तब तो हम जैन कहते हैं, कि शब्द (पक्ष) स्पर्शवाले द्रव्यों का पर्याय है, (साध्य) बहिरंग इन्द्रियों से जन्य हुये प्रत्यक्ष का विषय होने से (हेतु) स्पर्श, गन्ध आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान से उस शब्द को पुद्गल द्रव्य का पर्याय होना सिद्ध होचुकने पर पुनः वैशेषिकों की ओर से उस स्पर्शवान् द्रव्य की पर्याय होने का प्रतिषेध करने वाले हेतु भला अनुमानप्रमाण करके स्वकीय-विषयभूत साध्य के बाधित होजाने से ही किसी प्रकार ज्ञप्तिकारक होसकेंगे ? । अर्थात्—हम आकाश द्रव्य का खण्डन नहीं करते हैं, किन्तु आकाश को शब्द का उपादान कारण नहीं मानते हुये स्पर्शवान् द्रव्यों के उपादेय होरहे शब्द को स्वीकार करते हैं । ऐसा दशा में वैशेषिकों के हेतु बाधितहेत्वाभास होजाते हैं।

एतेन यदुक्तं सोगतैः—एकद्रव्याश्रितः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रिय-

प्रत्यक्षत्वाद्रूपवदिति । तदपि प्रत्याख्यातं, पुद्गलस्कन्धस्यैकद्रव्यस्य शब्दाश्रयत्वोपपत्तेः सिद्धसाधनत्वात् । गगनाश्रयत्वे साध्ये साध्यविकलो दृष्टान्तः, स्याद्धेतुश्च विरुद्धः । तथाहि— स्पर्शवदेकद्रव्याश्रितः शब्द सामान्यवि शेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् रूपादिवत् । न च हेतोरात्मना व्यभिचारस्तस्यान्तःकरणप्रत्यक्षत्वात् नापि घटादिना तस्य बाह्येन्द्रियद्वयप्रत्यक्षत्वात् न रूपत्वेन तस्यासामान्यविशेषवत्त्वान्नापि संयोगेन तस्य बाह्यानेकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वाद्द्वयं गुणसंयोगस्यानेकद्रव्याश्रितस्य स्पर्शनेन च साक्षात्करणात् । ततः सूक्तं-न शब्दः खगुणो बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् गन्धादिवादिति तस्य पुद्गलपर्यायत्वव्यवस्थितेः ।

यहां बौद्ध बोलते हैं, इस बात को नैयायिक कहें तो और भी अच्छा लगेगा कि शब्द (पक्ष) एक ही द्रव्य के आश्रित होरहा है । (साध्य) सामान्य विशेषवान् होते सन्ते बहिरंग एक इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किये जाने से (हेतु) रूप के समान (अन्वयदृष्टान्त) । आचार्य कहते हैं कि इसप्रकार जो बौद्धों ने कहा था इस उक्त कथन करके इसका भी खण्डन कर दिया गया है, क्योंकि इसमें सिद्धसाधन-दोष है, बंध जाने के कारण एक अशुद्ध द्रव्य होरहे पुद्गल स्कन्ध को शब्द का आश्रयपना निर्णीत कर दिया गया है । अतः आप उसी के उसी सिद्ध होरहे शब्द के एक द्रव्याश्रितपन सिद्धान्त को साध रहे हैं ।

यदि एक द्रव्य पद से नैयायिक या बौद्धों का यह अभिप्राय होय कि एक आश्रयभूत गगन नामक द्रव्य के आश्रित होरहे शब्द को साध्य किया गया है । तब तो तुम्हारे अनुमान का दृष्टान्त साध्य से विकल होजायगा क्योंकि रूप तो आकाश के आश्रित नहीं है, कोई भी वादी आकाश में रूप गुण को वर्त रहा नहीं स्वीकार करता है, और तुम्हारा हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हुआ जाता है, कारण कि गगन के आश्रित होने से विरुद्ध होरहे पृथिवी आदि के आश्रितपन के साथ हेतु की व्याप्ति है । इसी बात को यों स्पष्ट कर समझ लीजियेगा कि शब्द (पक्ष) स्पर्शवाले एक द्रव्य के आश्रित होरहा है, (साध्य) क्योंकि सामान्य के विशेष होरहे गुणत्व, शब्दत्व, आदि जातियों का धारण करते सन्ते बाह्य एकेन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय वह है (हेतु) । रूप, रस आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)

हमारे इस हेतु का आत्मा करके व्यभिचार नहीं आता है, क्योंकि उस आत्मा का बाहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है । अन्तरंग मन इन्द्रिय करके आत्मा का प्रत्यक्ष होना सब ने स्वीकार किया है, तथा घट, पट, आदि करके भी उस हेतु का व्यभिचार नहीं है, क्योंकि बहिरंग होरहीं दो स्पर्शन और चक्षुः इन्द्रियों करके घट आदि के प्रत्यक्ष होने की योग्यता है और हमारे हेतु में बहिरंग एक इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होना यह पद पड़ा हुआ है । तथा रूपगुण में रहने वाली रूपत्व जाति करके हमारे हेतु में व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि जाति में पुनः कोई साधारण सामान्य सत्ता द्रव्य या विशेष सामान्य पृथिवीत्व, घटत्व, आदि नहीं रहता है " जातौ जात्यन्तरानङ्गीकारात् " अतः रूपत्व जाति किसी भी सामान्य विशेष को धारने वाली नहीं है, हेतु का सत्यन्त विशेषण वहां नहीं घटा । तथा संयोग गुण करके भी हेतु का व्यभिचार नहीं आता है क्योंकि वह संयोग तो बहिरंग अनेक इन्द्रियों द्वारा हुये प्रत्यक्ष का गोचर है यद्यपि दो अंगुलियों का संयोग विचारा स्पर्श वाले अनेक द्रव्यों के आश्रित है किन्तु उस संयोग का चक्षु और स्पर्श इन्द्रिय करके भी साक्षात्कार होजाता है । तिस कारण हमने यों दूसरी वार्तिक में बहुत अच्छा कहा था कि शब्द (पक्ष) आकाश का गुण नहीं

मार्गदर्शक है (साध्यदल) बहिरंग इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया गया होने से (हेतु) गन्ध, रस, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। कारण कि उस शब्द को पुद्गल द्रव्य का पर्यायपना युक्तिपूर्वक व्यवस्थित कर दिया है, यहां तक पहिली वार्त्तिक के विवरण में एक विद्वान् करके उठाये गये शब्द को आकाश के गुण होने के आक्षेप का निराकरण कर दिया है। अब वहीं उठाये गये शब्द को अमूर्त द्रव्य कहने वाले किसी अन्य विद्वान् के कटाक्ष का ग्रन्थकार निवारण करते हैं।

तथा नामूर्तिद्रव्यं शब्दः बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षात् घटादिवत्। न नभसा व्यभिचारः साधनस्य, नभसो बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वात्। ननु च शुषिरस्य चक्षुषा स्पर्शनेन च साक्षात्करणाच्छुषिरं तदाकाशमिति वचनाद्बाह्येंद्रियप्रत्यक्षमेवाकाशं तस्येति परूपणादिति चेत्, नैतन्सत्यं, शुषिरस्य घनद्रव्याभावरूपत्वादुपचारतस्तत्राकाशव्यपदेशाद् घनद्रव्याभावस्य च द्रव्यान्तरसद्भावरूपत्वात्। तत्र चक्षुषः स्पर्शनस्य च व्यापारात्। परमार्थतस्तत्प्रत्यक्षत्वाभावान्नभसः तथा हि—नभो न बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षममूर्तद्रव्यत्वादात्मादिवत् यत्तु बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षं तन्नामूर्तद्रव्यं यथा घटादिद्रव्यं इति न नभसा व्यभिचारी हेतुः।

तथा शब्द (पक्ष) अमूर्त द्रव्य नहीं है (साध्यदल) बहिरंग इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष का विषय होने से (हेतु) घट आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। हमारे इस बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व हेतु का आकाश करके व्यभिचार नहीं आता है। क्योंकि अत्यन्त परोक्ष आकाश का बहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होने पाता है। यहां कोई प्रश्न उठाते हैं, कि छिदका चक्षु या स्पर्श इन्द्रिय करके प्रत्यक्ष किया जारहा है, और जो छेद है, वह आकाश है। ऐसा शास्त्रीय वचन है, अतः आकाश भी बहिरंगइन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष का विषय है ही। उस आकाशका "यह छेद, यह कुआ, यह मुख,, आदि इस प्रकार "यह ये" ऐसे प्रत्यक्षसूचक इदं शब्द की वाच्यता करके निरूपण किया जाता है। अर्थात्—यह मोरी बड़ी है, यह छेद छोटा है,यह कुआ गहरा है, मुखमें कौर धर दो, कान में दवाई डाल दो, इसी प्रकार एँड़ा, गुदस्थान, तिखाल, घर, गुहा, ये सब आकाश स्वरूप ही पदार्थ हैं, चारों ओर के मिट्टी या ईंट के घेरे को मोरी नहीं कहते हैं, किन्तु घेरे के बीच में आगये आकाश को मोरी कहा जाता है, चलनी में से चून छनता है, कोतगली में मनुष्य जा रहा है, पेट में रोटी रखी है, यहां गली, पेट, आदि शब्दों से पोल ही समझी जाती है और जो पोल है, वह आकाश है, इस प्रकार आँखों या स्पर्शन से आकाशका प्रत्यक्ष भी स्पष्ट किया जा रहा है। अतः जैनों के हेतु का आकाश करके व्यभिचार दोष लगना तदवस्थ रहा।

इस प्रकार कह चुकने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना सत्य नहीं है, कारण कि छेद तो घने द्रव्यों का अभाव स्वरूप है, अतः उपचार से उस छेद में आकाश का वचनव्यवहार कर दिया जाता है। वस्तुतः विचारा जाय तो जैन सिद्धान्त में तुच्छ अभाव स्वीकार नहीं किया गया है,

घनद्रव्य का अभाव तो अन्य द्रव्यों के सद्भाव स्वरूप है, उस अन्य पौद्गलिक द्रव्य में चक्षुः या स्पर्शन इन्द्रिय का व्यापार होरहा है। अतः परमार्थरूप से उस द्रव्यान्तर का प्रत्यक्षहोना तो आकाश का प्रत्क्षय हुआ नहीं कहा जा सकता है,आकाश द्रव्य अत्यन्त परोक्ष है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान की भी उस में प्रवृत्ति नहीं है, इन्द्रियजन्य ज्ञान को कौन पूंछे ? अन्धकार, उजाला, या चारों ओर घेरा, यहां वहां के चमड़ा आदि पौद्लिक पिण्ड पदार्थों को ही कूप, तिखाल, घर, गुद स्थान, कान आदि मानना चाहिये। आकाश का "इदमः प्रत्यक्षकृते समीपतरनिष्ठ एतदो रूपं, अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्,, इस नियम अनुसार प्रत्यक्ष होरहे अर्थ के वाचक इदम् शब्द द्वारा प्ररूपण नहीं होसकता है, किसी भी दार्शनिक ने आकाश का बहिरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होना स्वीकार नही किया है। इसी बात का स्पष्टीकरण यों समझो कि आकाश (पक्ष) बहिरंग इन्द्रियों से उपजे प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं है, (साध्य) अमूर्तद्रव्य होने से (हेतु ,परमाणुकालआत्मादि की सदृष्टिसे अन्वयदृष्टान्त) जो बाहरली इन्द्रियों द्वारा हुये प्रत्यक्ष का गोचर है वह तो अमूर्त द्रव्य नहीं है, जैसे कि घट, पट, आदि अशुद्ध द्रव्य हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त)। इस कारण हमारा बाह्यइन्द्रियप्रत्यक्षत्व हेतु आकाश करके व्यभिचारी नहीं है।

स्यादाकूत ते अमूर्तं द्रव्यं शब्दः परममहत्त्वाश्रयत्वादाकाशवदित्यनुमानबाधितः पक्ष इति। तदसम्यक् परममहत्त्वाश्रयत्वस्यासिद्धत्वात्। तथाहि—न परममहान् शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात् पटादिवत् न पि मुख्यप्रत्यक्षेण नभसा,तस्यास्मदादिमनःप्रत्यक्षत्वासिद्धेः। संव्यवहारतोनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य स्वसंवेदनस्य सुखादिप्रतिभासिनश्चक्षुरादिपरिच्छिन्नार्थस्मरणस्य च विशदस्याभ्युपगमात् गगनादिष्वतीन्द्रियेषु मानसप्रत्यक्षानवगमात्।

यदि तुम मीमांसकों की यह चेष्टा होय कि शब्द (पक्ष) अमूर्तद्रव्य है, (साध्य), परम महत्त्व नामक परिणाम का आश्रय होने से (हेतु), आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस अनुमान से जैनों की "शब्द अमूर्त है" यह प्रतिज्ञा बाधित होजाती है। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह कुतर्क करना समीचीन नहीं है, कारण कि शब्द को परम महापरिणाम का आश्रयपना असिद्ध है अतः तुम्हारा हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, इस बात को हम यों स्पष्ट रूप से समझाते हैं, कि शब्द (पक्ष) परममहान् नहीं है (साध्यदल) हम आदि छद्मस्थ जीवों के प्रत्यक्षज्ञान का विषय होने से (हेतु) पट आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस अनुमान के हेतु में भी मुख्यप्रत्यक्ष का विषय होरहे आकाश करके व्यभिचार दोष नहीं आता है। क्योंकि उस आकाश को हम आदि अवाग्दर्शी जीवों के मन से उत्पन्न हुये प्रत्यक्ष का गोचरपना असिद्ध है।

सांख्यों के यहां मानी गयी व्यापक प्रकृति करके भी हेतु का व्यभिचार नहीं आताहै, आकाश या सांख्यों की प्रकृति अथवा वैशेषिकों के काल द्रव्य का मनः इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होपाता है। बात यह है, कि "इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त देशतः सांव्यवहारिकम्,, समीचीन व्यवहार के अनुरोध से मनः

अनिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का, और स्वसंवेदन प्रत्यक्षका, तथा सुख आदि को प्रतिभास कर रहे ज्ञान का, एवं चक्षु आदि द्वारा ज्ञात किये अर्थों के स्मरणका, विशद प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया गया है।

भावार्थ–भले ही स्मरण,प्रत्यभिज्ञान,आदिक परोक्ष ज्ञान होंय,संशय,विपयय,विचारे मिथ्याज्ञान होंय किन्तु इनका स्वसवेदन तो प्रत्यक्ष ही होरहा है। "भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः। वहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते" (देवागम)। सुख, इच्छा, वेदना, आदि को जानने वाले ज्ञान का स्वसम्वेदन संज्ञी जीव के प्रमाणात्मक हुआ मानस प्रत्यक्ष कहा जा सकता है, यद्यपि स्मरणज्ञान परोक्ष है फिर भी चक्षु आदि से जाने जाचुके अर्थ के स्मरण का पुनः पुनः इन्द्रिय करके प्रत्यक्ष होना सब को अभीष्ट है, अतः इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से उत्पन्न हुये एक देश विशदज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहदेते हैं, गगन,काल,आदि अतीन्द्रियपदार्थोंमें मानस प्रत्यक्ष द्वारा अवगति होना कथमपि नहीं इष्ट किया गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागरजी महाराज

नचैवं मतिज्ञानस्य सर्वद्रव्यविषयत्ववचनं विरुध्यते, गगनादीनामतीन्द्रियद्रव्याणां स्वार्थानुमानमतिविषयत्वाभ्युपगमात्।

यहां कोई आक्षेप करता है कि " मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु " यह श्री उमास्वामी महाराज द्वारा निर्णीत हो चुका है " तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं " वह मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय को निमित्त पाकर उपजता है यह भी समझा दिया गया है आकाश में भले ही वहिरंग इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं होय. यह उचित है किन्तु अनिन्द्रिय मन से जन्य भी मतिज्ञान की विषयता यदि आकाश में नहीं मानी जायगी तो इस प्रकार मतिज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण द्रव्यों का विषय होजाना यह सूत्रकार का कथन विरुद्ध पड़ जाता है, जैन आचार्यों को परस्पर-विरोधी वचन नहीं बोलना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि यह आक्षेप नहीं करना क्योंकि " मतिस्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् " इस सूत्र करके अनुमान ज्ञानको मतिज्ञान स्वरूप ठहराया है।

" अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।
" आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं " (गोम्मटसारजीवकाण्ड)

इस लक्षण गाथा अनुसार अर्थ से अर्थान्तर का ज्ञान श्रुतज्ञान समझा जाता है। अर्थात् जहाँ साधन से साध्य का भेद दृष्टिगोचर होरहा है वहाँ न्यारे ज्ञापकहेतु से हुआ साध्य का ज्ञान तो श्रुतज्ञान कहा जायगा किन्तु साध्य और साधन में कथंचित् अभेद को विचारते हुये जो अनुमान प्रवर्तेगा वह मतिज्ञान कहा जायगा। स्वार्थानुमान और परार्थानुमान यों अनुमान के दो भेद हैं अभिनिबोधनामक मतिज्ञान स्वार्थानुमान है, परार्थानुमान तो श्रुतज्ञान में जायगा। आकाश, काल, धर्म आदि अतीन्द्रिय द्रव्यों को हम स्वार्थानुमान नामक मतिज्ञान का विषय होना स्वीकार करते हैं, अतः कोई पूर्वापर विरोध नहीं है। मन इन्द्रिय से सुख, वेदना, आत्मा आदि पदार्थों का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष होजाता है तथा अनिन्द्रिय नामक मन को आलम्बन

करता हुआ नो-इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम स्वरूप लब्धि को पूर्ववृत्ति कर आकाश आदि द्रव्यों का अवग्रह आदि मतिज्ञान-स्वरूप उपयोग पहिले ही हो जाता है उसके पश्चात् झट उस मतिज्ञान से श्रुतज्ञान प्रवर्त जाता है, मतिज्ञान से जाने हुये अर्थ में अन्य विशेषों का जानने के लिये श्रुतज्ञान प्रवर्तता है, अतः आकाश, धर्म, आदि को मतिज्ञान कुछ जान लेता है पश्चात् श्रुतज्ञान उनका अधिक प्रतिभास कर लेता है "श्रुतं मतिपूर्वं"

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आकाश की अवगति में श्रुतज्ञान का पूरा हाथ होते हुये भी कुछ मतिज्ञान का हाथ रह चुका है। मतिज्ञान कितने अंश का परिज्ञायक है ? इसके विवेक को विचक्षण विद्वान ही कर सकते हैं जैसे कि ईहा मतिज्ञान-पूर्वक हुये ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान के विषय में ईहा का हाथ कितना है ? इसका भेद-विज्ञान करना साधारण बुद्धि वाले का कार्य नहीं है। मनःपर्ययज्ञान और श्रुतज्ञान के पहिले उस विषय के स्वल्प अंशों को जानने वाला मतिज्ञान प्रवर्त जाता है तभी तो इन दो ज्ञानों के प्रथम दर्शन होने की आवश्यकता नहीं। विभङ्ग ज्ञान के प्रथम भी दर्शन नहीं होता है, हाँ मतिज्ञान के पहिले महासत्ता का आलोचक दर्शन उपयोग अवश्य हो गया था, अतः आकाश के कुछ विषय अंश का मनःपूर्वक परोक्ष मतिज्ञान होते हुये भी आकाश का मानसप्रत्यक्ष होना स्वीकार नहीं किया गया है, जैसा कि सुख, दुःख, आत्मा आदि का मन इन्द्रिय से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हुआ इष्ट किया गया है, अतः हमारे हेतु का आकाश से व्यभिचार दोष नहीं लगता है।

अस्मदादिप्रत्यक्षाया सत्तयानेकांत इत्यपि न स्याद्वादिना चाम्यते, सत्तायाः सर्वथा परममहत्त्वाभावात् । परममहतो द्रव्यस्य नभसः सत्ता हि परममहती नामर्वगत-द्रव्यादिसत्ता। न च नभसः सत्तास्मदादिप्रत्यक्षा ततो न तया व्यभिचारः। न च सकल-द्रव्यपर्यायव्यापिन्येकैव सत्ता प्रसिद्धा, तस्यास्तथोपचारतः प्रतिपादनात् । परमार्थतस्तदेकत्वे विश्वरूपत्वविरोधात् । सत्प्रत्ययाविशेषादेकैव सत्तेति चेन्न सर्वथा सत्प्रत्ययाविशेषस्यासिद्धत्वात् संयुक्तप्रत्ययाविशेषवत् ।

यदि वैशेषिक हमारे अस्मदादि प्रत्यक्षत्व हेतु का सत्ता जाति करके व्यभिचार उठावें कि द्रव्य, गुण, कर्मों, में वर्त्त रही सत्ता जाति का हमको प्रत्यक्ष होता है किन्तु वहाँ परम महत्वाभाव यह साध्य तो नहीं है क्योंकि सत्ता जाति सर्वत्र व्याप रही है। आचार्य कहते हैं कि स्याद्वादी विद्वान करके यह व्यभिचार भी सहन करने योग्य नहीं है क्योंकि सत्ता जाति के सभी प्रकार परम महापरिमाण-धारीपन का अभाव है, एक तो वैसे ही वैशेषिकों ने सत्ता की द्रव्य, गुण, कर्मों, में ही वृत्ति स्वीकार की है, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव, इन चार पदार्थों में सत्ता जाति नहीं ठहरती कही है दूसरे परम महत्व परिमाण नामक गुण तो द्रव्य में ठहर सकता है, जाति में गुणों का निवास नहीं माना गया है। हाँ जिसी आकाश में परमपहत्वगुण समवाय से रहता है उसी में सत्ता जाति भी समवाय सम्बन्ध से ठहर जाती है, इस कारण

सत्ता में परममहत्त्वगुण एकार्थसमवाय सम्बन्ध से पाया भी गया किन्तु आकाश की सत्ता का हम आदि को प्रत्यक्ष नहीं होपाता है, तिस कारण हेतु के नहीं ठहरने से उस आकाश की सत्ता करके व्यभिचार दोष नहीं आया। अव्यापक हो रहे घट, पट, आदि द्रव्यों की या अव्यापी रूप, रस, क्रिया आदि पदार्थों की सत्ता तो वृत्यनियामक हुये एकार्थ समवाय सम्बन्ध से भी परम महान नहीं है।

एक बात यह भी है कि सम्पूर्ण द्रव्य अथवा पर्यायों में व्यापरही और एक ही मानी जा रही सत्ता जाति प्रसिद्ध भी नहीं है। देवदत्त, घट, पट, कालाणु, आदि में कोई भी एक व्यापक सत्ता की प्रतीति नहीं होती है। केवल अनेक पदार्थों में न्यारी न्यारी वर्त रहीं अवान्तरसत्ताओं का कल्पित पिण्ड मान कर गढ़ लो गयी उस महासत्ता का तिस प्रकार उपचार से ही एकपन या व्यापकपन क्वचित् शास्त्र में समझा दिया गया है यदि वास्तविक रूप से उस सत्ता को एक माना जायगा तो वह जगत के सम्पूर्ण पदार्थों-स्वरूप नहीं हो सकेगी जगत का कोई भी एक पदार्थ विचारा जड़ चेतन, विषअमृत, परमात्मा अशुद्धात्मा, आदि में एक स्वरूप होकर नहीं ठहर सकता है, जड़ या चेतन द्रव्यों के सामान्य गुण को कहे जा रहे अस्तित्व, वस्तुत्व, आदिक स्वभाव भी प्रत्येक में न्यारे न्यारे हैं। विष अमृत, अग्नि जल, आदि पर्यायों के विवर्तयिता माने गये पुद्गलों के रूप रस, आदि आदि गुण भी प्रत्येक में अलग अलग हैं किन्तु सत्ता को विश्वरूप माना गया है।

वागर्थसिद्धि — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"सत्ता सयलपयत्था सविस्सरूवा अणंत पज्जाया।
भगोप्पादधुवत्था सप्पडिवक्खा हवदि एगा" (पंचास्तिकाय)

विश्वरूप वही पदार्थ हो सकता है जो सम्पूर्ण विरुद्ध, अविरुद्ध, पदार्थों में तन्मय होकर ओत प्रोत घुस रहा हो। परीक्षा-दृष्टि से विचारने पर निर्णीत हो जाता है कि ऐसा सब में ओत पोत घुसने वाला कोई पदार्थ जगत में नहीं है सब को न्यारी न्यारी अनन्तानन्त अवान्तर सत्तायें ही संग्रहनय की अपेक्षा महासत्ता नाम को पाजाती हैं जैसे कि न्यारे न्यारे अनेक वृक्षों का एक विशिष्ट सन्निकटपन हो जाने से उपवन या वन यह नाम पड जाता है, अतः वैशेषिकों को वस्तुतः एक ही व्यापक सत्ताजाति का आग्रह नहीं करना चाहिये।

वैशेषिक कहते हैं "सदिति लिंगाविशेशात् विशेषलिंगाभावाच्चैको भावः" ॥ १७। (वैशेषिक दर्शन के पहिले अध्याय में द्वितीय आन्हिक का सूत्र है) तदनुसार घटः सन् है, आत्मा सन् है, रूपं सत् है, क्रिया सती है, इत्यादि सत् सत् इत्याकारक प्रत्ययों में कोई विशेषता नहीं देखी जाती है, इस कारण सत्ता जाति एक ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि सत् सत् इन ज्ञानों का सभी प्रकारों से अन्तर रहित होजाना असिद्ध है, जैसे कि पट के साथ साथ घट संयुक्त है, आत्मा के साथ कर्म संयुक्त है, अधर्म द्रव्य के साथ धर्मद्रव्य संयुक्त है, आकाश का काल के साथ संयोग हो रहा है, इत्यादिक संयुक्तपने को विषय कर रहे ज्ञानों की अविशेषता असिद्ध है अर्थात्-स्थूल रूप से उक्त स्थलों पर संयुक्त हैं, संयुक्त हैं, ऐसे एक से ज्ञान

उपज जाते हैं किन्तु वस्तुतः विचारने पर वे संयोग गुण जैसे विशिष्ट हो रहे न्यारे न्यारे माने गये हैं उसी प्रकार समान आनुपूर्वी होते हुये भी सत्ता जाति न्यारी न्यारी माननी पड़ेगी अतः असिद्ध हेत्वाभास हो रहे "सत्प्रत्ययाविशेष" हेतु से सत्ता का एकपना सिद्ध नहीं होसकता है। समवाय भी एक नहीं सधपाता है। यहाँ तक निर्णय हुआ कि अस्मदादि करके प्रत्यक्षका विषय होने से शब्द परम महान नहीं है, भले ही लहरी प्रवाह से शब्द को हजारों कास लम्बा मान लिया जाय किन्तु मीमांसको के अभिप्राय अनुसार शब्द का आकाश के समान व्यापक द्रव्यपना नहीं प्रतीत किया जा रहा है।

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अत्रान्ये प्राहुः—न द्रव्यं शब्दः किं तर्हि ? गुणः प्रतिषिद्धमानद्रव्यकर्मत्वे सति सत्त्वाद् रूपवत् । शब्दो न द्रव्यमनित्यत्वे सत्यस्मदाद्यबाह्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात् । शब्दो न कर्माचाक्षुषप्रत्यक्षत्वाद्रसवदिति । तदयुक्तं—मीमांसकान् प्रति तेषां वायुनास्मदाद्यबाह्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वस्य व्यभिचारादायोरस्मदादिप्रत्यक्षत्वात् । अनित्यत्वविशेषणस्य चाप्रसिद्धत्वात् द्रव्यत्वप्रतिषेधानुपपत्तेः । कर्मत्वप्रतिषेधनस्याचाक्षुषप्रत्यक्षत्वस्य वायुकर्मणानैकान्तिकत्वात् ।

यहां प्रकरण पाकर कोई दूसरे वैशेषिक विद्वान् अपने मन्तव्य को बहुत बढ़िया मानते हुये यों कह रहे हैं कि शब्द (पक्ष) द्रव्य नहीं है (साध्य)। तो शब्द क्या पदार्थ है ? इसका उत्तर यह है कि शब्द तो गुण है (प्रतिज्ञा) द्रव्यों और कर्मों से भिन्न होते सन्ते सत्तावाला होने से (हेतु) रूप के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्—सत्तावाले तीन ही द्रव्य, कर्म, गुण, पदार्थ हैं तिन में से द्रव्य और कर्म से भिन्नपना यों विशेषण लगा देने पर सविशेषण सत्तावत्व हेतु से शब्द में गुणत्व की सिद्धि होजाती है। वैशेषिक अपने हेतु के विशेषण को यों अनुमान द्वारा पुष्ट करते हैं, कि शब्द (पक्ष) द्रव्य नहीं है, (साध्य) अनित्य होते सन्ते अस्मदादिकों के चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नहीं होने से (हेतु) रस के समान (अन्वयदृष्टान्त)। हम आदि के चक्षुओं द्वारा नहीं जानने योग्य आकाश आदि नित्य द्रव्य हैं, अतः अनित्यत्वे सति इस विशेषण से आकाश, दिक्, काल, आत्मा, मन और पृथिवी आदि चारों धातुओं के परमाणुओं करके सम्भवने योग्य व्यभिचार की निवृत्ति होजाती है, शेष घट आदि अनित्य द्रव्यों द्वारा आपादन करने योग्य व्यभिचार का निवारण अस्मदादि अचाक्षुषप्रत्यक्षत्व से होजाता है। तथा शब्द (पक्ष) कर्म पदार्थ नहीं है, (साध्य) क्योंकि वह चक्षुरिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं है (हेतु), रस के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार शब्दका द्रव्यपन और कर्मपन का अभाव साध दिया गया है।

आचार्य कहते हैं, कि मीमांसको के प्रति या जैनों के प्रति वह वैशेषिकों का कथन युक्ति रहित है क्योंकि उन मीमांसकों के यहाँ वायु करके अस्मदादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष का नहीं गोचरपन हेतु का व्यभिचार आता है, वायु का हम आदि की स्पर्शन इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। वैशेषिकों ने भी वायु का चक्षुः द्वारा प्रत्यक्ष होना अभीष्ट नहीं किया है, अतः बीजना की वायु, आंधी, श्वास

लेना, आदि वायुयें अनित्य होरही सन्ती हम आदि के चक्षुओं द्वारा नहीं जानी जाती हैं, किन्तु वे वायुयें द्रव्य तो हैं, यह व्यभिचार हुआ। एक बात यह भी है, कि मीमांसकोंके प्रति कथन करने से शब्द का अनित्यपना विशेषण अप्रसिद्ध है जब कि मीमांसक शब्द का नित्यपना स्वीकार कर रहे हैं। अतः अस्मदादि अचाक्षुष प्रत्यक्षपन हेतु से शब्द में द्रव्यपन का निषेध नहीं सध सकता है, तथा शब्द में कर्मपन का निषेध करने वाले अचाक्षुष प्रयक्षत्व हेतु का वायु की चलन क्रिया करके व्यभिचार आता है। अर्थात्-वायु की क्रिया चक्षुरिन्द्रिय से नहीं जानी जाती है किन्तु उस क्रिया में क्रियात्वाभाव नामक साध्य नहीं रहा, वायु क्रिया तो कर्म पदार्थ है।

द्रव्यं शब्दः क्रियात्वाद्बाणादिवदित्यपरे । ते यदि स्याद्वादमतमाश्रित्याचक्षते तदाप्रसिद्धान्तः शब्दस्य पर्यायतया प्रवचने निरूपणादन्यथा पुद्गलानां शब्दवत्वविरोधात् । द्रव्यार्थादेशाद्द्रव्यं शब्दः पुद्गलद्रव्याभेदादिति चेत् किमेवं गंधादिरपि द्रव्यं न स्यात ।

यहाँ कोई दूसरे पण्डित जी यों कह रहे हैं कि शब्द (पक्ष) द्रव्य है, (साध्य) क्रियावाला होने से (हेतु), बाण, गोली, वायु, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि वे पण्डित जी यदि स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय लेकर कहरहे हैं तब तो उनके ऊपर अप्रसिद्धान्त नामक दोष है, क्योंकि वे जैन सिद्धान्त से बाहर जा रहे हैं, जैन शास्त्रों में शब्द को पर्यायरूप से कथन किया है "सद्दो बंधो सुहमो थूलो संठाण भेदतमछाया। उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया" यानी शब्दको पुद्गलकी पर्याय नहीं माना जायगा तो पुद्गलोंको शब्द-सहितपन का विरोध होजावेगा द्रव्य ही सहभावी क्रमभावी पर्यायों को धारते हैं, हाँ स्याद्वाद सिद्धान्त के बल बूते पर द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से पुद्गल द्रव्यके साथ शब्द पर्याय का अभेद होजाने के कारण यदि शब्द को द्रव्य कहा जायगा तब तो इस प्रकार गन्ध आदिक भी क्यों नहीं द्रव्य होजावें पोली या चापलूसीकी बातें हमको मनोहर नहीं भासती हैं, युक्तिसिद्ध निर्णीत जैन-सिद्धान्त का निभय होकर आश्रय लेना चाहिये। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि अनुसार गन्ध गुण, की सुगन्ध दुर्गन्ध, पर्यायें नहीं ज्ञात हुयीं केवल नित्य द्रव्य ही प्रतीत होता रहता है। अतः शब्द के समान गन्ध, रूप आदि भी द्रव्य हो जाओ किन्तु यह प्रामाणिक मार्ग नहीं है।

गन्धादयो गुणा एव द्रव्याश्रितत्वात् निर्गुणत्वाच्च "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः इति वचनान्निष्क्रियत्वाच्चेति चेत्,शब्दस्तत एव गुणोस्तु ।

शब्द को द्रव्य मानने वाले अपर विद्वान् कहते हैं। कि गन्ध, रूप, आदि तो गुण ही हैं, (प्रतिज्ञा), द्रव्य के आश्रित हारहे होने से और गुणों करके रहित होने से (दो हेतु)। देखो स्वयं सूत्रकार ने ऐसा कहा है, कि जो अधिकरण भूत द्रव्य के आश्रित होरहे सन्ते स्वयं पुनः अन्यगुणों से रहित हैं, वे गुण हैं। एक बात यह भी है कि क्रियाओं से रहित हाने के कारण (तीसरा हेतु) भी गन्ध आदिक तो गुण ही समझे जायंगे। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारण यानी

द्रव्य के आश्रित होने से तथा गुण रहित होने से और क्रिया रहित होने से, शब्द भी गुण होजाओ शब्द के द्रव्यपन का एकान्त बखाने जाना ठीक नहीं है।

सहभावित्वाभावान्न गुण इति चेत्, कथं रूपादिविशेषास्तत एव गुणा भवेयुः। सामान्यार्पणात्तेषां सहभावित्वात् पुद्गलद्रव्येण तद्गुणास्ते इति चेत्, शब्दस्सहभावित्वं समवायिकारणमस्तु भवत एव पृथिवीद्रव्याभावे गन्धस्यानुत्पत्तेः पृथिवी द्रव्यमेव तत्समवायिकारणमाकाशं तु निमित्तमिति चेत् तर्हि वायुद्रव्यस्याभावे शब्दस्यानुत्पत्तेः तदेव तस्य समवायिकारणमस्तु गगनं तु निमित्तमात्रं तस्य सर्वोत्पत्तिमतामुत्पत्तौ निमित्तकारणत्वोपगमात्। पवनद्रव्याभावे पि भेरीदंडसंयोग एव शब्दस्योत्पत्तेर्न पवनद्रव्यं तत्समवायि पृथिव्यप्तेजोद्रव्यवदिति चेत् तर्हि शब्दपरिणामयोग्यं पुद्गलद्रव्यं शब्दस्योपादानकारणमस्तु वाय्वादेरनियततया तत्सहकारित्वसिद्धेः।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यदि अपर विद्वान् यों कहें कि "सहभाविनो गुणाः" अनादि से अनन्त काल तक द्रव्य के साथ विद्यमान रहने वाले गुण होते हैं, सहभावी नहीं होने से शब्द गुण नहीं होसकता है, यों कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि तिस ही कारण से यानी सहभावी नहीं होने से रूप, रस, आदि गुणों के काले, खट्टे, आदि विशेष विवर्त भला किस प्रकार गुण होसकेंगे ? बताओ यदि आप यों कहो कि रूप, रस, आदि के विवर्तों में अन्वित होरहे सामान्य की विवक्षा करने से उन काले आदि विशेषों का पुद्गल द्रव्य के साथ सहभावीपना है, अतः वे उस पुद्गल के गुण कह दिये जाते हैं तब तो हम जैन कहते हैं, कि यों पुद्गल द्रव्य के साथ शब्द का भी सामान्य रूप से सहभावीपना है अतः शब्द का समवायीकारण भी पुद्गल द्रव्य होजाओ। केवल आप वैशेषिकों के यहाँ ही गन्ध का समवायी कारण पृथिवी और स्नेह का समवायी कारण जल तथा भास्वर रूप का समवायी कारण तेजो द्रव्य आदि मान रखे हैं, सामान्य की अपेक्षा से सहभावी होने के कारण आकाश के भी गन्ध आदि गुण होजाओ। सत्य बात तो यह है कि शब्द हो चाहे गन्ध, स्नेह रूप अनुष्णाशीत, आदि होवे इन सब का समवायी कारण पुद्गल द्रव्य ही प्रतीति सिद्ध है।

यदि तुम यों कहो कि पृथिवी द्रव्य के नहीं होने पर और आकाश द्रव्य के होते सन्ते भी गन्ध की उत्पत्ति नहीं होपाती है। अतः पृथिवी द्रव्य ही उस गन्ध का समवायी कारण होसकेगा आकाश द्रव्य तो केवल निमित्त कारण है, जैसे कि काल द्रव्य सब कार्यों का निमित्त माना गया है "जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः,, यों कहो तब तो हम जैन आपादन करते हैं, कि वायु द्रव्य के नहीं होने पर कहीं भी शब्द नहीं उपज पाता है अतः वह वायु द्रव्य ही उस शब्द का समवायीकारण होजाओ, आकाश तो केवल निमित्तकारण मान लिया जाय क्योंकि सम्पूर्ण उपजने वाले कार्यों की उत्पत्ति में उस आकाश का निमित्त कारण होजाना स्वीकार किया गया है।

यदि तुम यह कटाक्ष करो कि बड़े नगाड़े के साथ वेग युक्त दण्डका संयोग होजाने से शब्द की

उत्पत्ति होजाती है। बांस आदिके फटने पर विभाग से भी शब्द पैदा होता है, शब्द से भी शब्द उपज जाता है "संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः३१ (वैशेषिक दर्शनके द्वितीय अध्यायमें प्रथमआन्हिक का यह सूत्र है।) अतः वायु द्रव्य तो उस शब्द का समवायीकारण नहीं माना जाता है, जैसे कि मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज अन्वय व्यतिरेक नहीं घटने से पृथिवी, जल, तेजो द्रव्य, ये शब्द के समवायी कारण नहीं हैं तुम्हारे यों कहने पर, तब तो यही जैन सिद्धान्त अच्छा जंचजाता है, कि शब्द नामक पर्याय रूप से परिणमने योग्य पुद्गल द्रव्य ही शब्द का उपादान कारण मान लिया जाओ, वायु, आकाश, आदि तो अत्यावश्यक होकर नियत कारण नहीं हैं, यानी वायु या आकाश ही शब्द स्वरूप होकर नहीं परिणमते हैं, हां वे शब्द की उत्पत्ति में सहायक मात्र हैं, अतः उस शब्द के सहकारी कारण होकर प्रसिद्ध होजाते हैं।

कुतस्तन्निसिद्धिरिति चेत्, पृथिव्यादेः कुतः ? प्रतिविशिष्टस्पर्शरूपरसगंधानामुपलंभात्पृथिव्याः सिद्धिः, स्पर्शरूपरसविशेषाणामुपलब्धेरपां, स्पर्शरूपविशेषयोरुपलब्धे तेजसः। स्पर्शविशेषस्योपलंभाद्वायोः। स्वाश्रयद्रव्याभावे तदनुपपत्तेरिति चेत्, तर्हि शब्दस्य पृथिव्यादिष्वसंभविनः स्फुटमुपलंभात्तदाश्रयद्रव्यस्य भाषावर्गणापुद्गलस्य प्रसिद्धिरन्यथा तदनुपपत्तेः।

यदि वैशेषिकों का पक्ष ले रहे अपर पण्डित यों विभीषिका दिखलावें कि बताओ उस शब्द परिणतियोग्य पुद्गल द्रव्य की किस प्रमाण से सिद्धि करोगे ? यों कहने पर तो हम जैन भी यों घोंस देसकते हैं, कि तुम ही बताओ कि पृथिवी आदि न्यारे न्यारे चार तत्वों को आप कैसे किस ढंग से साधेंगे ? यदि वैशेषिक यों कहें कि अन्य द्रव्यों की अपेक्षा प्रत्येक पृथिवी तत्व में विशिष्ट रूप से पाये जा रहे पार्थिव स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, गुणों की उपलब्धि होजाने से पृथिवी द्रव्य की सिद्धि होजाती है, विशिष्ट होरहे स्पर्श, रूप, रसों, की उपलब्धि होजाने से जल द्रव्य को साध लिया जाता है, उष्णस्पर्श और भास्वर रूप इन विशेषगुणों के देखने से तेजोद्रव्य की प्रसिद्धि होजाती है, योगवाही अनुष्णाशीतस्पर्श विशेष का उपलम्भ होजाने से वायु द्रव्य को सिद्ध कर दिया जाता है, क्योंकि अपने आश्रय होरहे नियत द्रव्य के विना उन स्पर्श आदि विशेषों का उपलम्भ होना नहीं बन पाता है, यों वैशेषिकों के कथन करने पर, तब तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि पृथिवी, जल, आदि में कथमपि उपादेय होकर नहीं सम्भव रहे शब्द का विशदरूप से उपलम्भ होरहा है, अतः उस शब्द के उपादानरूप से आश्रय होरहे भाषावर्गणा स्वरूप पुद्गल द्रव्यकी प्रमाणोंसे सिद्धि होजाती है, अन्यथा यानी भाषा वर्गणा या शब्द योग्यवर्गणा के विना उस शब्द की उत्पत्ति होना नहीं बन सकता है, उपादान कारण के विना शब्द का उपजना असम्भव है।

न च परमाणुरूपः पुद्गलः शब्दस्याश्रयोस्मदादिबाह्येंद्रियप्रत्यक्षत्वात् छायातपादिवत् स्कंधरूपस्तु स्यादिति सूक्ष्मशब्दगुणत्वसंभवः सूक्ष्मभाषावर्गणापुद्गलेभ्योस्मदादिबा-

बाह्येन्द्रियग्राह्यपुद्गलस्कंधात्मा शब्दः प्रादुर्भवन् कारणगुणपूर्वक एव पटरूपादिवत्। ततोऽकारण-पूर्वकत्वादित्यसिद्धो हेतुरयावद्द्रव्यभावित्वादिवत्।

रूप, रस, आदि का आश्रय भले ही परमाणु होजाओ किन्तु परमाणु स्वरूप पुद्गल द्रव्य सूक्ष्म स्थूल माने गये शब्द का आश्रय नहीं होसकता है, (प्रतिज्ञा) बाह्य इन्द्रिय करके ग्रहण करने योग्य होने से (हेतु) बादरसूक्ष्म, होरहे छाया, घाम, चाँदनी, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) हाँ मोटा स्कन्धस्वरूप पुद्गल तो शब्दका आश्रय होसकेगा इसकारण सूक्ष्मरूप से शब्द गुण को तदात्मक होकर धार रहे सूक्ष्म भाषा वर्गणा नामक पुद्गलों से हम आदि की बाहरली इन्द्रियों करके ग्रहण करने योग्य पुद्गलस्कन्ध स्वरूप शब्द-पर्याय प्रगट होजाती है, जो कि कारण गुण-पूर्वक ही है, जैसे कि पटरूप, मोदकरस, आदि हैं। अर्थात्-सूतों के रूप अनुसार कपड़े में रूप उपज जाता है, खांड या बूरे की मिष्टता अनुसार लड्डू मीठा होजाता है, इसी प्रकार सूक्ष्मरूप से शब्द गुण को धार रहीं यानी शक्ति रूप से झटिति शब्द होने की योग्यता को धार रहीं पुद्गलवर्गणाओं करके शब्द उपज जाता है, पूर्ववर्त्ती होरहे कारण के गुण कार्य में आजाते हैं, तिस कारण वैशेषिकों द्वारा कहा गया "अकारण-गुणपूर्वकत्वात्" यह हेतु असिद्धहेत्वाभास है जैसे कि अयावत्द्रव्य-भावित्व, द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सत्व, आदिक हेतु असिद्ध हैं। भावार्थ-योगों ने शब्द में सार्श्वत्व, द्रव्यके गुण नहीं होने को साध्य करने पर अयावत् द्रव्यभावित्व और अकारणगुणपूर्वकत्व ये दो हेतु कहे थे उक्त विचारणा होचुकने पर वे दोनों हेतु सिद्ध नहीं होपाये हैं।

कश्चिदाह अकारणगुणपूर्वकः शब्दोऽस्पर्शद्रव्यगुणत्वात् सुखादिवदिति तस्यापि परस्पराश्रयः। सिद्धे ह्यकारणगुणपूर्वकत्वे शब्दस्यास्पर्शवद्द्रव्यगुणत्वं सिद्ध्येत् तत्सिद्धौ वाकारणगुणपूर्वकत्वमिति। तथा नाकारणगुणपूर्वकः शब्दोऽस्मदादिबाह्येन्द्रियज्ञानपरिच्छेद्यत्वे सति गुणत्वात् घटरूपादिवदित्यनुमानविरुद्धश्च पक्षः स्यात् नह्यत्र हेतोः परमाणुरूपादिना व्यभिचारः सुखादिना वा, बाह्येन्द्रियज्ञानपरिच्छेद्यत्वे सतीति विशेषणात्।

कोई वैशेषिक का एक-देशी पण्डित यों यहां कह रहा है कि शब्द (पक्ष) स्वकीय कारणों के गुणों को पूर्व-वृत्ति मानकर आत्म-लाभ कर रहे निज गुणों का धारी नहीं है (साध्य) स्पर्श गुण से रीते हो रहे किसी द्रव्य विशेष का गुण होने से (हेतु सुख, इच्छा आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। ग्रन्थकार कहते हैं कि उस वैशेषिक के यहां भी अन्योन्य श्रय दोष आता है। शब्द को अकारणगुणपूर्वकपना सिद्ध हो चुकने पर विचारा नहीं स्पर्श वाले द्रव्य का गुण होना सिद्ध होय और शब्द को स्पर्शरहित द्रव्य का गुण होना सध चुकने पर तो शब्द का अकारण-गुण पूर्वकपना सध सके। अर्थात्-वैशेषिकों ने पहिले " यदुक्तं योगैः" यहां से प्रारम्भ कर " न स्पर्शवद्द्रव्यगुणः शब्दः अकारणगुणपूर्वकत्वात् " इस

अनुमान द्वारा अकारणपूर्वकत्व हेतु से स्पर्शवद्द्रव्यगुणत्वाभाव को शब्द में साधा था और अब अस्पर्शद्रव्यगुणत्व हेतु से अकारण गुण पूर्वकत्व को साध रहे हैं, यह स्पष्ट इतरेतराश्रय दोष दीख रहा है, दोनों में से यदि एक सिद्ध होय तब तो दूसरे असिद्ध साध्य को वह समझा सकता है किन्तु जब दोनों ही अंधेरे में पड़े हुये हैं तो किस असिद्ध से कौन से असिद्ध की सिद्धि की जा सकती है ? एक अन्धे को दूसरे अन्धे द्वारा अज्ञात या अपरिचित पथ का प्रदर्शन नहीं कराया जा सकता है तथा एक बात यह भी है कि शब्द (पक्ष) कारणों के गुणों को पूर्ववर्ती स्वीकार कर उपज रहा नहीं है (साध्य) हम आदि असर्वज्ञ जीवों की बहिरंग इन्द्रियों से उपजे हुये ज्ञान द्वारा जाना जा रहा सन्ता गुण होने से (हेतु) घटरूप, पटरूप, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस निर्दोष अनुमान करके भी तुम्हारा पक्ष विरुद्ध होजाता है अर्थात्-वैशेषिकों का अस्पर्शवद्द्रव्यगुणत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। इस अनुमान में कहे गये हेतु का परमाणुरूप, द्व्यणुकरूप, आदि करके अथवा सुख, इच्छा, आदि करके व्यभिचार दोष नहीं आता है क्योंकि हेतु के शरीर में बहिरंग इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से ज्ञेय होते सन्ते ऐसा विशेषण दे रखा है। भावार्थ-यदि केवल गुणत्व ही विशेष्य दल होता तो व्यभिचार अवश्य ही हो जाता, जब कि परमाणुरूप आदि या सुख आदि गुण तो हैं किन्तु वे अकारणगुणपूर्वक ही हैं, कारण गुणपूर्वकत्व या अकारण-गुणपूर्वकत्व का अभाव वाले वे नहीं हैं। वैशेषिकों के यहाँ परमाणुरूप के कारण होरहे परमाणु का और सुख के कारण होरहे नित्य आत्मा का कोई कारण ही नहीं माना गया है। जैनसिद्धान्त अनुसार यद्यपि "भेदादणुः" भेदसे अणु पर्याय की उत्पत्ति और पर्यायार्थिक नय अनुसार आत्मा के भी उत्पाद, व्यय ध्रौव्य माने गये हैं फिर भी परमाणु या आत्मा के गुणों का कारण-गुणपूर्वकपना नियत नहीं है। एक बात यह भी यहाँ विचार में रखने की है वैशेषिकों के मत की अपेक्षा यह विशेषण दिये जा रहे हैं, वैशेषिकों की युक्तियों से ही यदि वैशेषिकों के सिद्धान्त का निराकरण होजाय यह हमें प्रशस्त मार्ग जंचता है क्योंकि इसमें अधिक झंझटें नहीं उठानी पड़ती हैं।

तथापि योगिबाह्येंद्रियप्रत्यक्षेण परमाणुरूपादिनानेकांत इति न शंकनीयमस्मदादिग्रहणात्। पृथिवीत्वादिसामान्येनानित्यद्रव्यविशेषेण समवायेन कर्मणा वा व्यभिचार इत्यपि न मंतव्यं गुणवादिति वचनात् न चैव व्याद्वादिनामयसिद्धान्तः शब्दस्य पर्यायत्ववचनात् पर्यायस्य च गुणत्वात् तथा चाहुरकलंकदेवाः, शब्दः पुद्गलपर्यायः स्कंधः छायातपादिवदिति।

तिस प्रकार बाह्य-इन्द्रिय इस विशेषण द्वारा परमाणुरूप या सुख आदि करके व्यभिचार की निवृत्ति होते हुये भी यदि वैशेषिकों के मन में यह आशंका होय कि जैनों के

अस्मदादि बाह्येन्द्रिय ज्ञान परिच्छेद्यत्वे सति गुणत्व हेतु का योगी की बहिरंग इन्द्रियों से उपजे हुये प्रत्यक्षज्ञान के विषय होरहे परमाणु रूप आदि करके व्यभिचार होजायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो वैशेषिकों को शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि तुम्हारे सिद्धान्त का विचार कर ही हेतु में " अस्मदादि " इस पद का ग्रहण है अर्थात् हम आदि लौकिक प्रत्यक्ष करने वाले जीवों की बहिरंग इन्द्रियों से परमाणु के रूप या आत्मा के सुख की ज्ञप्ति नहीं हो पाती है सन्निकर्ष को प्रत्यक्षप्रमाण मानने वाले वैशेषिकों ने तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्षों में योगज सन्निकर्ष भी स्वीकार किया है। युक्त और पुंजान स्वरूप दो योगियों के समाधि विशेष से उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान और चिन्ता की सहकारिता से उपजा सूक्ष्म, स्थूल, व्यवहित विप्रकृष्ट अर्थों का प्रत्यक्ष होजाता है वे योगी तो हम आदि से विलक्षण हो रहे जीव ही समझे जावेंगे, जैन सिद्धान्त अनुसार यदि हेतु कहा जाता तो " अस्मदादि" पद व्यर्थ ही था क्योंकि चाहे सर्वज्ञ होय या अवधि ज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी होय, बहिरंग इन्द्रियों से ये अतीन्द्रिय पदार्थों को कथमपि नहीं जान पाते हैं तथा हमारे बाह्येन्द्रियज्ञानपरिच्छेद्यत्वे सति गुणत्व हेतु का पृथिवीत्व, घटत्व, आदि जातियों करके तथा नित्य द्रव्यवृत्ति अन्त्य विशेषों से नहीं किन्तु अनित्य द्रव्यों के विशेष करके अथवा अनित्य द्रव्यों के विशेषण हो रहे समवाय करके एवं हलन, चलन, आदि क्रिया करके व्यभिचार दोष आजाय यह तो नहीं मान लेना चाहिये क्योंकि गुणत्वात् ऐसा हेतु का विशेष्य दल कहा गया है।

अर्थात्-भले ही " उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो, द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये। विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ॥ ५४ । क्रियां जातिं योग्यवृत्ति समवायं च तादृशं। गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥ ५५ ॥ (कारिकावली) इस नियम अनुसार पृथिवीत्व आदि जातियों का अनित्य द्रव्य, गुण, कर्मों, में वर्त रहे समवाय का और प्रत्यक्षयोग्य क्रिया ओंका, बहिरंग इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो जाना वैशेषिकों के यहाँ मान लिया गया है, वे पृथिवीत्व आदिक कारणगुणपूर्वक नहीं है किन्तु गुण नहीं होने से उन करके व्यभिचार नहीं होपाता है वैशेषिकों के सिद्धान्त अनुसार शब्द में गुणपना मान लेने से इस प्रकार शब्द में कारणगुणपूर्वकपन या अकारणगुणपूर्वकत्वाभाव का साधन करने पर स्याद्वादियों के यहाँ अपसिद्धान्त यानी सर्वज्ञ की आम्नाय करके प्राप्त होरहे स्वकीय सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं आता है क्योंकि जैन सिद्धान्त में शब्द का पर्यायरूप से कथन किया गया है और पर्याय का गुणपना मान लिया गया है।

इसी बात को यों श्री अकलंकदेव महाराज तिस प्रकार कह रहे हैं कि छाया, आतप उद्योत, आदि के समान शब्द नामक स्कन्ध भी पुद्गल द्रव्य की पर्याय है अर्थात् " सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाः" यों गुणों को द्रव्य का सहभावी पर्याय अभीष्ट किया ही गया है तभी तो पुद्गल द्रव्य के अनादि से अनन्त काल तक साथ हो रहे रूप, रस, आदि गुण सहभावी पर्याय हैं और जीव के चेतना, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र, अस्तित्व, वस्तुत्व, आदि गुण सहभावी पर्याय माने गये हैं " गुणसमुदायो द्रव्यं " गुणों का समुदाय द्रव्य है, नित्य गुणों का समुदाय जैसे नित्यद्रव्य है उसी प्रकार पर्याय शक्ति या अनित्य गुणों का तादात्म्यक पिण्ड होरहा अशुद्ध द्रव्य है। संसारी जीव में भावयोग, पर्याप्ति, आदि तो पर्यायात्मक गुण है, अग्नि

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नामक पुद्गल में दाहकत्व पाचकत्व, शोषकत्व स्फोटकत्व आदि पर्याय-शक्तियां (अनित्यगुण) विद्यमान हैं। विष पुद्गल में मारकत्व शक्ति है किन्तु विष की कालान्तर में अमृत, औषधि दुग्ध, आदि परिणति होजाने पर उसमें जीवकत्व शक्ति उपज जाती है। सर्प के मुख में दूध विष हो जाता है। शब्द नामक पुद्गल स्कन्ध या अशुद्ध द्रव्य भी अनेक पर्याय शक्तियों को धार रहा है। गाली के शब्दों से दुःख उपजता है, प्रशसा-सूचक शब्दों से हर्ष उत्पन्न होता है, मंत्र-आत्मक शब्दों से अनेक सिद्धियां होजाती हैं, सांप, बिच्छू, आदि के विष उतर जाते हैं तोपके या बिजली के शब्दों से गर्भपात हो जाता है, भीतें फट जाती हैं, हृदय को धक्का लगता है, किसी किसी के कान बहरे हो जाते हैं। यों शब्द में भी अनेक पर्यायात्मक शक्तियां विद्यमान हैं। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद है, अतः शब्द को गुण कहने मे जैनो को कोई जैन सिद्धान्त से विरोध नहीं आता है। एक बात यह भी है कि इस प्रकरण में वादी आचार्य महाराज ने प्रतिवादी वैशेषिकों के प्रति उन्हीं की युक्तियों से उन्हीं के सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करना अपना ध्येय कर लिया दीखता है वैशेषिकों ने शब्द को आकाश का गुण स्वीकार कर रक्खा है।

स्यान्मतं, न शब्दः पुद्गलस्कंधपर्यायोऽस्मदाद्यनुपलभ्यमानस्पर्शरूपरसगंधाश्रयत्वात्सुखादिवदिति। तदसत् द्व्यणुकादिरूपादिना हेनोर्व्यभिचारात् शब्दाश्रयत्वेऽस्मदाद्यनुपलभ्यमानानामप्यनुद्भूततया स्पर्शादीनां सद्भावसाधनात् गन्धाश्रयत्वे स्पर्शरूपरसवत्। गंधा हि कस्तूरिकादेर्गंधद्रव्याद्दूरे गंधं समुपलभ्यमाने घ्राणेंद्रिये सम्प्राप्तः स्वाश्रयद्रव्यरहिताः न संभवंति, गुणत्वाभावप्रसंगात्। नापि तदाश्रयद्रव्यमस्मदादिभिरुपलभ्यमानस्पर्शरूपरसं न च तत्रानुद्भूतवृत्तयः स्पर्शरूपरसा न संति पार्थिवेष्यविरोधात्।

यदि वैशेषिकों ने यह मत ठान लिया होय कि शब्द (पक्ष) पुद्गलस्कंध की पर्याय नहीं है (साध्य) हम आदि अल्पज्ञ जीवों के द्वारा नहीं देखे जा रहे स्पर्श, रूप, रस, गन्धों का आश्रय होने से (हेतु , सुख आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-शब्द यदि पुद्गल का पर्याय होता तो उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, हमको इन्द्रियो द्वारा दीख जाते किन्तु नहीं दीखते हैं अथवा हम आदि करके स्पर्श, रूप, रस गन्धों का आश्रयपना शब्दों में नहीं देखा जाता है, यों हेतु मानकर अन्वयदृष्टान्त में घटित करलो। अतः सुख ज्ञान आदि के समान शब्द भी पुद्गल की पर्याय नहीं है, गुण कारण भी पूर्वक शब्द नहीं है। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकों का वह कथन प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि दो या तीन अणुओं के संयोग अथवा बन्ध से उपजे हुये द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि के रूप, रस, आदि गुणों करके तुम्हारे हेतु का व्यभिचार दोष आता है द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि के रूप, रस, आदि का हमें, तुम्हें, प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु वे पुद्गल या पुद्गल-स्कन्ध के पर्याय माने गये हैं। अधिकरण भूत शब्द के आश्रित होते सन्ते उन हम आदि द्वारा अनुद्भूत होने के कारण नहीं भी देखे जा रहे स्पर्श रूप आदिकों का शब्द में

सद्भाव साध दिया जाता है।

अथवा शब्द गुण का आश्रयपना होते सन्ते पुद्गल में हम आदि द्वारा अप्रकट होने के कारण नहीं देखे जा रहे भी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णों का सद्भाव साध दिया जाता है जैसे कि उद्भूत गन्ध गुण का आश्रय होते हुये गन्धिल द्रव्य में अनुद्भूत हो रहे स्पर्श, रूप, रसों, का सद्भाव सिद्ध किया जा चुका है, देखिये कस्तूरी, इत्र, आदिक गन्धयुक्त द्रव्यों से कुछ दूर प्रदेशों में सुगन्ध को भले प्रकार प्रत्यक्ष कर रही नासिका इन्द्रिय में अच्छा प्राप्त हो रहा गन्ध बेचारा अपने आश्रय-भूत द्रव्य से रहित हो रहा तो नहीं सम्भवता है, गुण या पर्याय बेचारे द्रव्य के विना अकेले तो कथमपि नहीं ठहर सकते हैं आश्रय हो रहे द्रव्य के विना यदि गुण ठहर जाय तो गुणपन के अभाव का प्रसंग आजायगा " द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः " यह गुणों का सिद्धान्त लक्षण है, अतः नाक में आया हुआ गन्ध अपने आधार होरहे द्रव्य के साथ ही आया वह गन्ध का आश्रयभूत द्रव्य भी हम तुम आदि करके देख लेने योग्य स्पर्श रूप रसों का धारी नहीं है और उस गन्ध द्रव्य में अप्रकट होकर वर्त रहे स्पर्श, रूप रस नहीं होंय यह तो आप वैशेषिक नहीं मान सकते हैं क्योंकि पृथिवी में गन्ध के साथ रूप, रस, स्पर्शों का अनिवार्य अविनाभाव सम्बन्ध है पृथिवी द्रव्य से निर्मित होते सन्ते गन्ध युक्त माने गये कस्तूरी आदि में स्पर्श, रूप, रसों के भी ठहरने का कोई विरोध नहीं है।

यथा वायोरनुपलभ्यमानरूपरसगन्धस्य तेजसश्चानुपलभ्यमानरसगंधस्य सलिलस्य चानुपलभ्यमानगंधस्य पर्याया अनत्यनुमानागम स्पर्शरूपरसगन्धाः प्रसिद्धास्तथानुपलभ्यमानस्पर्शरूपरसगंधस्यापि भाषावर्गणापुद्गलस्य पर्यायः शब्दो निस्संदेहं प्रसिद्धत्येव।

आचार्य महाराज अभी वैशेषिकों को समझा ही रहे हैं कि जिस प्रकार अनुद्भूत होने के कारण नहीं देखे जा रहे रूप, रस, गन्धों को धार रही वायु के और इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा नहीं देखे जा रहे अप्रकट रूप, गन्धों को धारने वाले तेजोद्रव्य के, तथा नासिका द्वारा नहीं जानी जा रही अव्यक्त गन्ध के धारी जल के, पर्याय हो रहे स्पर्श, रूप, रस गन्ध गुण प्रसिद्ध हैं, इस प्रसिद्धि में अनुमान प्रमाण या समीचीन आगम का कोई अतिक्रमण नहीं होता है तिसी प्रकार अप्रकट होने के कारण हम तुम आदिकों को नहीं भी दीख रहे स्पर्श, रूप, रस, गन्धों को धारनेवाले भाषावर्गणा स्वरूप पुद्गल की पर्याय होरहा शब्द संदेह-रहित प्रसिद्ध हो जाता ही है। अर्थात्-भाषावर्गणा नामक पुद्गल के परिणाम होरहे अकेले शब्द का ही बहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, भाषावर्गणा की या उससे बने हुये शब्द की रूप, रस, गन्ध, स्पर्श परिणतियों का बहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है जैसे कि वायु की पर्यायों में यद्यपि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, चारों हैं फिर भी वायु के प्रकट स्पर्श का त्वचाइन्द्रिय से प्रत्यक्ष होजाता है अप्रकट रूप, रस, गन्ध का नहीं।

कथमन्यथैवमाचक्षाणः प्रतिक्षिप्यते परैः । न वायुगुणोनुष्णाशीतस्पर्शोऽपाकजः उपलभ्यत्वे सत्यस्मदाद्यनुपलभ्यमानगन्धाश्रयत्वान्सुखादिवत् । तथा न भासुररूपोष्णस्पर्शस्तेजोद्रव्यगुण उपलभ्यत्वे सत्यस्मदाद्यनुपलभ्यमानगंधाश्रयत्वात् तद्वत् । तथा न शीतस्पर्शनीलरूपमधुररसाः सलिलगुणा उपलभ्यत्वे सत्यस्मदाद्यनुपलभ्यमानगंधाश्रयत्वात्तद्वदेवेति ।

आचार्य ही समझा रहे हैं कि अन्यथा यानी उन उन द्रव्यों में आवश्यक होरहे वे वे विशेष-गुण नहीं दीखने मात्र से यदि नहीं माने जायगे तो इस वक्ष्यमाण प्रकार कह रहा कोई आक्षेपकर्ता तो इन दूसरे वैशेषिक विद्वानों करके भला कैसे निराकृत कर दिया जाता है ? आक्षेपकर्त्ता का वैशेषिकों के प्रति यह वचन है कि वैशेषिकों करके "अपाकजोऽनुष्णाशीतः स्पर्शस्तु पवने मतः,, वायु में अनुष्णाशीत होरहा अपाकज (अग्निपाक से नहीं उपजा) स्पर्श मानागया है, किन्तु अनुष्णाशीत होकर अपाकज होरहा स्पर्श (पक्ष) वायु का गुण नहीं है । (साध्य) उपलम्भ करने योग्य होते सन्ते हम आदि करके नहीं देखेजारहे रूप, रस, गन्धों, का आश्रय होजाने से (हेतु) सुख आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। तथा दूसरा अनुमान यों है। कि "स्पर्शउष्णस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरं' इस प्रमाण अनुसार माने गये चमकीला शुक्लरूप और उष्णस्पर्श (पक्ष) तेजो द्रव्य के गुण नहीं हैं (साध्य) दीखने योग्य होते सन्ते हम आदि करके तेजोद्रव्य में गन्ध का आश्रयपना नहीं देखा जा रहा होने से (हेतु) उसी के समान यानी जैसे कि तेजो द्रव्य के गुण ये सुख, ज्ञान, आदिक नहीं हैं, (अन्वयदृष्टान्त) ।

तिसी प्रकार तीसरा अनुमान यों कहा जा रहा है कि शीत स्पर्श और नील रूप या अभास्वर शुक्ल तथा मीठा रस ये (पक्ष) जल के गुण नहीं समझे जा सकते हैं। (साध्य) क्योंकि इनके आश्रय माने गये जल द्रव्य में उपलम्भ होते सन्ते हम आदि करके गन्ध का आश्रयपना नहीं देखा जाता है। जैसे कि वे ही सुख आदिक जल के गुण नहीं माने गये हैं, केवल पृथिवी के ही तो अभीष्ट किये गये गुण रूप आदि प्रसिद्ध होजाते हैं । भावार्थ—वैशेषिक जैसे यों कह बैठते हैं, कि जिस भाषावर्गणा नामक पुद्गल के स्वकीय गुण मान लिये गये रूप, रस, गन्ध, स्पर्शों, की हमें उपलब्धि नहीं होती है, अतः शब्द उस भाषावर्गणा पुद्गल की पर्याय नहीं माना जा सकता है। उसी प्रकार दूसरा प्रतिवादी भी वैशेषिकों को यों उलाहना दे सकता है, कि जिस वायु के रूप, रस, गन्ध हमें उपलम्भ होने योग्य होते सन्ते भी नहीं दीख रहे हैं, उस वायु का गुण अनुष्णाशीत स्पर्श नहीं होसकता है इसी प्रकार जिस जल का प्रत्यक्ष करने योग्य गन्ध हमें नहीं दीखता कहा जाता है उस जल के शीत स्पर्श अभास्वर शुक्ल रूप और मधुर रस ये भी गुण नहीं कहे जा सकते हैं। जैसे कि जिस शरीर में प्रत्यक्ष करने योग्य सिर नहीं दीखता है। उसका धड़ जीवित नहीं माना जा सकता है, फिर वैशेषिकों ने "वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ" क्यों कहा था अपने ऊपर पक्षपात करते हुये दूसरे पर उसी आक्षेप को करना उचित मार्ग नहीं है, पर विद्वान् वैशेषिक जैसे

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

बखानने वाले अन्य पण्डित का प्रतिक्षेप कर देते हैं, उसी प्रकार वैशेषिकों का भी प्रतिक्षेप किया जा सकता है। वैशेषिक जो समाधान करेंगे वही समाधान शब्द को भाषावर्गणा नामक पुद्गल की पर्याय मानने में किया जा सकता है, कोई अन्तर नहीं है।

नदी, सरोवर, बावड़ी में भरा हुआ स्वच्छ जल कुछ नीला दीखता है यह सूर्य प्रकाश के निमित्त से हुआ गम्भीर जल का औपाधिक रूप है, उसी जल को यदि आकाश में उछाला जाय तो धौला प्रतीत होता है। जल में घुस गये कुछ प्रकाश और कुछ अन्धकार के अनुसार जल नीला दीख जाता है, जैसे कि कषैली हर्र आदि को खा लेने के पश्चात् पीये गये जल का स्वाद पहिले से अधिक मीठा भासता है, नील आकाश का प्रतिविम्ब पड़ना भी स्वच्छ जल को नील दिखाने में सहायक होजाता है। वस्तुतः विचारा जाय तो आकाश अत्यन्त परोक्ष है, आंखों से नहीं दीख सकता है। यहाँ से हजारों कोसों ऊपरले प्रदेश में पाई जा रही सूर्यकान्ति और अन्धकार का सम्मिश्रण होजाने से नीले नीले देखे जा रहे अभ्र मण्डल को व्यवहारीजन आकाश कह देते हैं। सच पूछो तो वह अन्धकार या प्रभा का अथवा दोनों का मिल कर बन गया कोई रूप है, तभी तो रात्रि में अन्धकारवश वह नभोमण्डल काला काला दीखता है, उद्योत, बिजली, की चमक आदि से भी बादलों में कतिपय वर्ण दीखने लग जाते हैं, ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यदि पुनः स्पर्शादयो द्रव्याश्रया एव गुणत्वात्सुखादिवत् यत्तद्द्रव्यं तदाश्रयः स वायुरनलः सलिलं क्षितिरित्यनुमानसिद्धत्वात्स्पर्शविशेषादीनां वाय्वादिगुणत्वे शब्दोपि सामान्यार्पणया किं न भाषावर्गणापुद्गलद्रव्येण सहभावीष्टो येन तद्गुणो न स्यात्। विशेषार्पणात् यथा रूपादयः पर्यायास्तथा शब्दोपि पुद्गलपर्याय इति कथमसौ द्रव्य स्यात्? षड्द्रव्यप्रतिज्ञानविरोधाच्च।

यदि फिर वैशेषिक यों कहें कि स्पर्श आदिक तो (पक्ष) द्रव्य के आश्रय पर ही ठहर सकते हैं। (साध्य) गुण होने से (हेतु) सुख आदि के समान (अन्वय दृष्टान्त)। जो कोई उनका अधिकरण होरहा द्रव्य है, वह वायु, अग्नि, जल, अथवा पृथिवी होसकेगा। इस प्रकार अनुमान के सिद्ध होजाने के कारण अनुष्णाशीत नामक स्पर्शविशेष या भास्वररूपविशेष, सांसिद्धिक द्रवत्व आदि को वायु, अग्नि, आदि का गुणपना है यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं, कि शब्द को सामान्य धर्म की विवक्षा करने से भाषावर्गणा नामक पुद्गलद्रव्य का सहभावी क्यों नहीं इष्ट करलिया जाय? जिससे कि शब्द उस भाषावर्गणा का गुण नहीं होसके।

अर्थात्—द्रव्य के सहभावी गुण होते हैं। "सहभाविनो गुणाः" क्रमभाविनः पर्यायाः,, सामान्य अंशों के अनुसार रूप, रस, आदि भी तो पुद्गल द्रव्य के गुण माने गये हैं, तद्वत् सामान्य रूप से भाषावर्गणा का सहभावी शब्द है, कण्ठ, तालु, आदि निमित्तों के मिलने पर कोई भी भाषावर्गणा किसी भी आकार आदि शब्द होकर परिणम सकती है, हाँ विशेष अंशों की अपेक्षा करने से तो जिस

प्रकार रूप आदिक पर्याय हैं, उसी प्रकार शब्द भी पुद्गल का पर्याय है, इस कारण वह शब्द भला किसप्रकार द्रव्य होसकेगा ?। अर्थात्-शब्द कोई द्रव्य नहीं है, हां किसी पुद्गल द्रव्यका गुण या पर्याय अवश्य सब जाता है, दूसरी बात यह है, कि "शब्दो द्रव्यं क्रियावत्त्वात् वाणादिवत्" इस दूसरों के
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
अनुमान अनुसार शब्द को द्रव्य मानने पर जीव आदि छः द्रव्यों की नियत संख्या अनुसार की गयी प्रतिज्ञा से विरोध आता है, शब्द को मिला कर जीव आदि द्रव्य सात हुये जाते हैं, द्रव्यों की सात संख्या इष्ट नहीं ।

शब्दद्रव्यस्य पृथिव्यादिवत्पुद्गलद्रव्येंतर्भावान्न तद्विरोध इति चेत्, गंधद्रव्यादीनामपि तद्वत्तत्रान्तर्भावात्तद्विरोधासिद्धेर्गुणत्वं किमभिधीयते, ज्ञानादीनां च द्रव्यत्वमस्तु जीवद्रव्येंतर्भावप्रसक्तेः द्रव्यसंख्यानियमाविघातात् । तथा च न कश्चिद्गुण इति द्रव्यस्याप्यभावः तस्य गुणवत्त्वलक्षणत्वात् । ततो द्रव्यगुणपर्यायव्यवस्थामिच्छता ज्ञानादिरूपादीनामिव शब्दस्य सहभाविनो गुणत्वं क्रमभुवस्ते पर्यायत्वमभ्युपगंतव्यं । क्रियावत्त्वं च शब्दस्यासिद्धं गंधादिवत् तदाश्रयस्य पुद्गलद्रव्यस्य क्रियावत्त्वोपचारात् ।

शब्द को द्रव्य कहने वाले वादी यदि यों कहैं कि आप जैन भाई पृथिवी, जल अग्नि, वायु को पुद्गल द्रव्य में ही गर्भित करेंगे, शब्द को द्रव्य मानने पर भी पृथिवी, जल आदि के समान उसका पुद्गल द्रव्य में अन्तर्भाव होजायगा, अतः द्रव्यों की छह संख्या के प्रतिक्रमण की शंका करते हुये जैनों को कोई उस प्रतिज्ञा से विरोध नहीं आता है । अर्थात् जाति की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य एक है, किन्तु व्यक्तियों की अपेक्षा तो जीव द्रव्य से भी अनन्तानन्त गुणे पुद्गल द्रव्य हैं । अतः शब्द को द्रव्य होजाने दो, कोई भय नहीं है । यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि इसी प्रकार उन पृथिवी आदिकों के समान गन्धवान् द्रव्य के गुण होरहे गन्ध आदि का भी उस पुद्गल द्रव्य में अन्तर्भाव होजाने से उस प्रतिज्ञात से विरोध आजाना असिद्ध है, अतः क्यों फिर गन्ध, रूप, आदि के गुणपन का समर्थन किया जाता है ?। तथा इसी ढंग से ज्ञान, सुख आदि को भी द्रव्यपना सध जाओ ज्ञान आदि द्रव्यों का जीव द्रव्य में अन्तर्भाव होजाना प्रसंगप्राप्त होजाने से द्रव्यों की संख्या के नियम का कोई विघात नहीं होपाता है, और तिस प्रकार दशा होने पर कोई भी अस्तित्व, वस्तुत्व, रूप, रस, ज्ञान, सुख, आदि गुण बेचारे स्वकीय स्वरूप से नहीं ठहर पायेंगे, सभी गुण द्रव्य बन बैठेंगे । तथा यों द्रव्यों का भी अभाव होजायगा क्योंकि गुण-सहितपना उन द्रव्यों का लक्षण माना गया है, जब गुण ही नहीं रहे तो गुणवान् की सिद्धि कैसे होसकती है ?। तिस कारण यदि अनिष्ट प्रसंगों को निवारण करने की आशा है, तो बने बनाये सिद्धान्त को मत बिगाड़ो । द्रव्य और गुण तथा पर्यायों की सुव्यवस्था को चाहने वाले विद्वानों करके सहभावी होरहे ज्ञान सुख, आदि अथवा रूप, रस, आदिकों के गुण होजाने-समान सहभावी होरहे शब्द का भी

गुणपना और क्रमभावी होरहे ज्ञान आदि या रूप आदि के पर्यायपन-समान इस क्रमभावी शब्द
मार्गदर्शक : सोऽमर्यादस्य का बहुविधप्रमाणस्य की सज्ञा स्वीकार कर लेने योग्य है।

एक बात यह भी है, कि शब्द को द्रव्य साधने पर प्रयुक्त किया गया क्रियावत्व हेतु तो स्वरूपासिद्धहेत्वाभास है। पक्ष में हेतु नहीं वर्तता है, गन्ध आदि के समान उस शब्द के आधार होरहे पुद्गलद्रव्य के मुख्य क्रिया-सहितपन का शब्द में उपचार कर दिया गया है. अर्थात्-दूर-वर्त्ती कस्तूरी के छोटे छोटे कण नासिका के निकट आगये हैं। अथवा कस्तूरी के निमित्त से गन्ध युक्त होगये यहाँ वहाँ के दूसरे वायु, धूल, आदि अशुद्ध द्रव्य क्रियावान् होकर घ्राण में आगये हैं गन्धगुण बेचारा आश्रयरहित होकर अकेला नहीं आसकता है. अतः गन्धवान् की मुख्यक्रिया का जैसे गन्ध में उपचार कर लिया जाता है, उसी प्रकार शब्द के आश्रय होरहे पुद्गल की मुख्य क्रिया का शब्द में उपचार से कथन कर दिया जाता है. आधार का धर्म आधेय में रख दिया जाय इसमें आश्चर्य नहीं। अतः मुख्यतया क्रियावान् नहीं होने से शब्द का द्रव्यपना नहीं सिद्ध होसकता है. असिद्ध हेत्वाभास से प्रकृत साध्य की सिद्धि नहीं होपायगी।

स्यान्मत, न शब्दपर्यायः श्रोत्रग्राह्यो द्रव्यं साध्यते किं तु तदाश्रयः पुद्गलविशेष इति, तर्हि क्रियावद्द्रव्यपर्यायः शब्दः परमार्थतः साध्यः।

सम्भवतः मीमांसकों का मन्तव्य यह होवे कि हम कान से ग्रहण करने योग्य शब्द नामक पर्याय को द्रव्य नहीं साध रहे हैं, किन्तु उस शब्द के आश्रय होरहे पुद्गल विशेष को द्रव्य सिद्ध करते हैं, तब तो हम जैन कहते हैं। कि यों तो क्रियावान् द्रव्य का पर्याय होरहा शब्द ही वास्तविक रूप से साधने योग्य हुआ, चलो अच्छी बात है, जैन सिद्धान्त भी ऐसा ही है, कि पुद्गल द्रव्य का विवर्त यह शब्द है, जो कि पुद्गलद्रव्य भाषावर्गणा स्वरूप होरहा सन्ता क्रियावान् भी है। तभी तो पुरुषप्रयत्न से अथवा वायु, बिजली, आदि शक्ति से शब्द बहुत दूर तक फेंका हुआ चला जाता है. आघात, प्रतिघात, प्रतिवायु करके शब्द लौट भी आता है. अतः द्रव्य गुण, पर्यायों में से शब्द को पुद्गल द्रव्य का पर्याय मान लेना अच्छा जंचता है शब्द कहने से पर्याय ही पकड़ी जाती है। जैसे कि मतिज्ञान कहने से चेतना गुण की विशेषपर्याय का झटिति बोध होजाता है, चेतनागुण या जीव द्रव्य की मतिज्ञान से उपस्थिति होजाना कठिन है।

स्यादाकूतं ते, न द्रव्यं शब्दः साध्यते, नापि सर्वथा पर्यायः किं तर्हि? द्रव्यपर्यायात्मा, ततो न कश्चिद्दोषः क्रियावत्त्वस्य हेतोरपि परमार्थतस्तत्र सिद्धेः अनुवातप्रतिवाततिर्यग्वातेषु शब्दस्य प्रतिपत्त्यप्रतिपत्तीषत्प्रतिपत्तिदर्शनात् क्रियाक्रियावत्त्वसाधनादिति। किमेव गन्धादिर्द्रव्यपर्यायात्मा न साध्यते? 'द्रव्यपर्यायात्मार्थ' इत्यकलंकदेवैरभिधानात् स्पर्शादीनां चेंद्रियार्थत्वकथनात्, स्पर्शरसरूपगन्धशब्दास्तदर्था इति सूत्रसद्भावात्।

यदि तुम प्रतिवादियों की यह भी चेष्टा होय कि हम शब्द को कोरा द्रव्य नहीं साध रहे है, और सभी प्रकारों से शब्द को केवल पर्याय भी नहीं साधते हैं, फिर हम शब्द को कैसा स्वीकार करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि यह शब्द तो द्रव्य और पर्याय इनका उभयआत्मक है, तिस कारण द्रव्यपर्याय-आत्मक होने से शब्द के विचार में हमारे ऊपर कोई दोष नहीं आता है, उस द्रव्य पर्याय स्वरूप शब्द में क्रिया-सहितपन हेतु की भी परमार्थ रूप से सिद्धि होजाती है जो कि "द्रव्यं शब्दः क्रियावत्वात् वाणादिवत्" इस अनुमान में अपर विद्वान् ने हेतु कहा था। शब्द में क्रिया का होना प्रसिद्ध ही है, देखिये अनुकूल वायु चलने पर शब्द की अच्छी प्रतिपत्ति होती दीखती है, अर्थात्-जिस ओर से वायु आरही है उसी ओर से बोला जा रहा यदि शब्द सुनाई देवे तो शब्द अच्छा विशदरूप से सुन लिया जाता है। हां यदि वायु पश्चिम से पूर्व की ओर वेग से बह रही है, और वक्ता पूर्व की ओर से पश्चिम दिशा में बैठे हुये श्रोता को कोई शब्द कह रहा है तो ऐसी प्रतिकूल वायु की दशा में वक्ता के शब्द की श्रोता को प्रतिपत्ति नहीं होपाती है, तथा तिरछी वायु चलने पर तो शब्द की कुछ थोडी सी प्रतिपत्ति होजाती है, यानी पूर्व, पश्चिम, दिशा में वक्ता श्रोता बैठे होंय और उत्तर से दक्षिण या दक्षिण से उत्तर की ओर वायु चल रही होय तो शब्द की थोड़ी श्रुति यानी कुछ प्रतिपत्ति कुछ अप्रतिपत्ति होरही देखी जाती है, अतः शब्द के क्रिया या क्रियासहितपन को यों साध दिया जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यहां तक कह चुकने पर आचार्य कहते हैं. कि क्यों जी इस प्रकार गन्ध, रस, आदि को द्रव्यपर्याय-आत्मक क्यों नहीं साधा जाता है ? बताओ। श्री अकलंकपदेव महाराज ने भी 'अर्थ तो द्रव्य-पर्याय-आत्मक है।" इस प्रकार निरूपण किया है, तथा स्पर्श गन्ध, आदिकों को इन्द्रियों के गोचर पदार्थ होजाना कहा जा चुका है, क्योंकि इसी तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय में स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द, ये उन इन्द्रियों के विषयभूत अर्थ हैं, ऐसे तत्व-सूचक सूत्र का सद्भाव है।

अथ पर्यायप्राधान्यात् पर्याय एव गंधादयः शब्दस्तथा किमपर्यायः ? शब्दो द्रव्यार्थादेशात् द्रव्यमिति चेत्, तर्हि तथा विशेषणं कर्तव्यं। स्याद्द्रव्यं शब्द इति तदप्रयुक्तमपि वा तत्रैषितव्यं। ततो नैकांतेन द्रव्यं शब्दः स्याद्वादिनां सिद्धो यतस्तस्य द्रव्यत्वप्रतिषेधेऽपसिद्धांतः तस्यामूर्तद्रव्यत्वप्रतिषेधाद्वा न दोषः कश्चिदवतरति

अब यदि पूर्वपक्ष को धारने वाले यों कहैं कि पर्याय को अपना ज्ञातव्य समझ रही पर्यायार्थिकनय के अनुसार पर्याय अर्थ की प्रधानता होजाने से गन्ध आदिक तो पर्यायें ही हैं, द्रव्य नहीं। तब तो हम जैन कहेंगे कि तिस प्रकार पर्याय अर्थ की प्रधानता से शब्द को क्या पर्याय नहीं समझ रखा है ? यानी शब्द भी पर्याय से भिन्न नहीं है. यदि तुम यों कहो कि द्रव्यार्थिकनय अनुसार कथन करने से शब्द को द्रव्य कह दिया जाता है, तब तो हम स्याद्वादवादी कहदेंगे कि शब्द को द्रव्य कहते हुये तिस प्रकार 'द्रव्य अर्थ पर दी गयी दृष्टि अनुसार, यों विशेषण करना चाहिये "शब्द कथं-

चित् द्रव्य है" इस प्रकार 'द्रव्यं शब्दः, वहां नहीं भी प्रयुक्त किया गया-'स्यात्' शब्द ढूढ़ लेना चाहिये अर्थात्-"स्यात् द्रव्यं शब्दः, स्यादपर्यायः शब्दः" यों जैन सिद्धान्त अनुसार द्रव्य-पर्याय-आत्मक ही शब्द सिद्ध हुआ। तिस कारण स्याद्वादी विद्वानों के यहां ऐकान्तरूप से शब्द को द्रव्य नहीं सिद्ध किया गया है, जिससे कि उस शब्द को द्रव्यपन का निषेध करनेपर स्याद्वादियों के यहां अपसिद्धान्त दोष आजाता।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अथवा शब्द को अमूर्तद्रव्यपन का प्रतिषेध करने से भी जैनों के यहां कोई दोष नहीं उतर पाता है अर्थात्-एकान्त रूप से शब्द जब द्रव्य नहीं सध चुका तो शब्द को गुणपना साधते हुये अन्य विद्वानों ने जो द्रव्यपन का निषेध ध्वनित किया था उस द्रव्यपन का निषेध कहने में स्याद्वादसिद्धान्त से कोई विरोध नहीं आता है। तथा 'नामूर्तिद्रव्यं शब्दः बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत्' इस अनुमान करके शब्द के अमूर्तद्रव्यपन का निषेध करने में भी हमें कोई जिनागम से विरोध प्राप्त नहीं होता है, जब शब्द के एकान्त रूप से द्रव्यपन का निषेध किया जा चुका है, तो अमूर्त द्रव्यपन का निषेध तो सुतरां होगया परिश्रम नहीं करना पड़ा। इस सूत्र की दूसरी वार्त्तिक का विवरण होचुका अब तीसरी वार्त्तिक का व्याख्यान प्रारम्भ होता है।

कश्चिदाह-स्फोटोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुर्न ध्वनयस्तेषां प्रत्येक समुदितानां वार्थप्रतिपत्तिनिमित्तानुपपत्तेः। देवदत्तादिवाक्ये दकारोच्चारणादेव तदर्थप्रतिपत्तौ शेषशब्दोच्चारणवैयर्थ्यान्न प्रत्येकं तन्निमित्तत्वं युक्तं, दकारस्य वाक्यांतरेपि दर्शनात् संशयनिरासार्थं शब्दांतरोच्चारणमुचितमेवेति चेन्न, आवृत्त्या वाक्यार्थप्रतिपत्तिप्रसंगात्। वर्णान्तरेपि तस्यैवार्थस्य प्रतिपादनात्।

कोई मीमांसकों के एकदेशी वैयाकरण पण्डित यहां स्फोट को सिद्ध करते हुये अपना लम्बा चौड़ा पूर्व-पक्ष रखते हैं कि जिससे वाच्यार्थ स्फुटित होता है, वह शब्दों में वत रहा नित्य-स्फोट ही अर्थ की प्रतिपत्ति कराने का हेतु है, ध्वनियां यानी वर्ण, पद, वाक्य, या गर्जन, हुँकार, चीत्कार आदि शब्द तो वाच्यार्थों के प्रतिपादक नहीं हैं क्योंकि प्रत्येक प्रत्येक होरहे उन शब्दों को या समुदाय प्राप्त होरहे भी शब्दों को शाब्दबोध कराने का निमित्तकारणपन बन नहीं सकता है, देखिये 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लांदण्डेन' इत्यादि शब्द में सब से पहिले के केवल दकार वर्ण का उच्चारण करदेने से ही उस पूरे वाक्यार्थ की यदि प्रतिपत्ति होजायगी तो शेष दशों शब्दों का उच्चारण करना व्यर्थ पड़ता है। किन्तु अकेले वर्ण से पूरे पद, वाक्य या श्लोक के अर्थ की प्रमिति नहीं होपाती है, अतः युक्तियों से यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक प्रत्येक वर्ण तो उस अर्थज्ञप्ति का निमित्त नहीं होसकता है

यदि कोई यों कहे कि दकार का तो 'दधि भोजय दिवा भुंजीत, आदि अन्य वाक्यों में भी दर्शन होरहा है। अतः देवदत्त गामभ्याज का अर्थ क्या देवदत्त करके गाय का घेर लाना या दही को खवाना अथवा क्या दिन में खाना आदि अर्थ हैं ? तथा गकार से गाय की प्रतीति होती है, तो

औकार इस पद से औदधि इस पद का अर्थ भी जान लिया जाओ, ऐसे संशयों का निराकरण करने के लिये दकार के अतिरिक्त अन्य शब्दों का उच्चारण करना उचित ही है। वैयाकरण कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो कई वार आवृत्ति करके वाक्यों के अर्थ की प्रतिपत्तियों के होजाने का प्रसंग आवेगा जबकि अन्य वर्णों में भी उस ही अर्थ का प्रतिपादन किया जा चुका है।

अर्थात्-एक शब्द कई वाक्यों में आकर सुना जाता है। जब अनेक वाक्यों में प्रत्येक वर्णों का सांकर्य होरहा है, तो अनेक वार कई वाक्यार्थों की प्रतिपत्ति होजाना अनिवार्य है। 'देवमर्चयेत्, कुदेवम् नार्चयेत्, तिष्ठति प्रतिष्ठते, पण्डितानां मतः पण्डितंमन्य, अभिनन्दन नाभिनन्दन, गौः (पशु) गौः (वाणी) आदि अनेक समान अनुपूर्वी वाले शब्दों करके कई वार उन उन अर्थों की प्रतिपत्ति होना बन बैठेगा जो कि इष्ट नहीं है। अतः प्रत्येक वर्ण तो अर्थ का प्रत्यायक नहीं होसकता है।

न च समुदितानामेव वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं प्रतिक्षणं विनाशित्वे समुदायासंभवात्। कल्पितस्य तत्समुदायस्य तद्धेतुत्वेऽतिप्रसंगात्।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वैयाकरण ही अभी आक्षेप किये जा रहे हैं कि पद या वाक्य में समुदित हो रहे ही शब्दों को भी वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति का निमित्तपना नहीं बन पाता है क्योंकि नैयायिक, बौद्ध या जैनों के यहां भी प्रत्येक क्षणमें शब्द का विनाश होजाना मानने पर उन नष्ट होचुके शब्दों का उस क्षणवर्ती एक शब्द के साथ समुदाय नहीं बन सकता है दैशिक समुदाय बनाने के लिये एक समय में सजातीय अनेक पदार्थों का विद्यमान रहना आवश्यक है जब कि बौद्धों ने " द्वितीयक्षणवर्तिध्वंस प्रतियोगित्वं क्षणिकत्वं " पहिले क्षण में आत्म-लाभ होकर दूसरे क्षण में विनश जाना क्षणिकत्व माना है और नैयायिकों ने "तृतीयक्षणवर्तिध्वंस-प्रतियोगित्व क्षणिकत्वं,, पहिले क्षण में उपज कर दूसरे क्षण में विद्यमान रहते हुये शब्द का तीसरे क्षण में विनशजाना क्षणिकपन स्वीकार किया है हां जैनों ने शब्द का कतिपय आवलि कालों तक ठहरना स्वीकार किया है, वस्त्रों को धो रहे धोबी के मोंगरा का शब्द कई आवलि के पश्चात् सौ हाथ दूर खड़े हुये श्रोता को सुनाई पड़ता है, रात के समय तोप दगने पर प्रकाश दर्शन के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् कोस दो कोस दूरवर्त्ती श्रोता को उसका शब्द सुनाई देता है भले ही यहां शब्द की लहरों की कल्पना कर उत्पाद, विनाश-शाली अन्य ही शब्दों का श्रोता के कान तक पहुँचना माना जा सकता तथापि सुगन्धित पदार्थ का निमित्त पाकर दूर तक के सुगन्धित बन गये लम्बे, चौड़े, पिण्ड के समान अथवा अग्नि को निमित्त पाकर चारों ओर फैल रहे उपादान कारण पुद्गल स्कन्धों की उष्णपरिणति होजाने के समान दूर तक उसी शब्द का सुनना निर्णीत किया जाता है अन्यथा गोम्मटसार जीवकाण्ड में "अट्ठसहस्स धणूणं विसया दुगुणा असण्णित्ति,, और " सण्णिस्स वार सोदे,, इस प्ररूपण अनुसार असंज्ञी जीव के कर्ण इन्द्रिय का विषय आठ हजार धनुष दूर तक का शब्द कहा गया है तथा संज्ञी जीव का कान बारह योजन तक के शब्द को सुन लेना माना गया है, यह सिद्धान्त भला रक्षित कैसे रह सकेगा ?

बताओ शब्द-धारायें तो बारह योजनों से भी अधिक दूर तक पहुँचती होंगी किन्तु चक्रवर्ती की भी कर्ण इन्द्रिय का विषय इससे अधिक दूर वर्त रहा शब्द नहीं है, अतः शब्द के सुने जाने की प्रकृष्ट मर्यादा केवल बारह योजन की नियत करदी गयी है शब्द की धारायें तो सैकड़ों योजन तक पहुँच जाती होंगी। [illegible] के सहारे हजारों मीलों के दूरवर्ती शब्द को यहाँ सुन लिया जाता है। प्रकरण में यह कहना है कि नष्ट हो चुके पदार्थों का दैशिक समुदाय नहीं बन सकता है यदि बौद्ध या नैयायिक यों कहें कि भले ही पूर्व उच्चारित शब्द नष्ट हो चुके हैं फिर भी उनके सद्भाव की कल्पना कर उनका समुदाय गढ़ लिया जाता है जो कि वाच्य अर्थ का प्रतिपादक हो जाता है, यों कहने पर तो हम वैयाकरण कहते हैं कि यदि उन मरे हुये शब्दों के कल्पित किये गये समुदाय को वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति का निमित्तकारणपना माना जायगा तो अति प्रसंग होजायगा अर्थात्-महीनों पहिले सुने जा चुके विनष्ट शब्दों द्वारा भी अर्थप्रतिपत्ति होने लग जायगी ऐसी दशा में अनेक शब्दबोधों के होजाने का प्रसंग आजाने पर व्यर्थ में उन्मत्तता छा जायगी जो कि किसी को अभीष्ट नहीं है, अतः प्रत्येक शब्द या समुदित शब्द तो वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति को नहीं करा सकते हैं।

नित्यत्वाद्वर्णानां समुदायः संभवतीति चेत् न, अभव्यक्तानां तेषां क्रमवृत्तित्वात्तदभिव्यंजकवायूनामनित्यत्वात् क्रमभावित्वात् क्रमशस्तदभिव्यक्तिसिद्धेः। तेषामनभिव्यक्तानामर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वे तदभिव्यंजकव्यापारवैयर्थ्यादतिप्रसंगाच्च तत एवाभव्यक्तभिव्यक्तशब्दसमूहादर्थप्रतिपत्तिरिति प्रतिव्यूढं।

वैयाकरण ही कह रहे हैं कि यदि कोई मीमांसक यों कहे कि शब्द क्षणिक या कालान्तरस्थायी नहीं है किन्तु सभी अकार आदि वर्ण नित्य हैं, अतः नित्य वर्णों का समुदाय होजाना अक्षुण्ण सम्भव जाता है, यों कहने पर तो हम वैयाकरण कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि शब्द को नित्य मानने वालों के यहाँ भी उन शब्दों की अभिव्यंजकों द्वारा होरही अभिव्यक्तियों की प्रवृत्ति क्रम से मानी गयी है। अतः अभिव्यक्त होरहे उन नित्य भी वर्णों को क्रम से वृत्ति मानी जायगी क्योंकि उन शब्दों की अभिव्यक्ति करनेवाली वायुयें अनित्य हैं इस कारण उन वायुओं का क्रम करके उपजना होने से उन शब्दों की भी क्रम से अभिव्यक्ति सिद्ध हुयी, अतः अभिव्यक्त वर्णों का समुदाय नहीं बन सका। यदि नहीं भी अभिव्यक्त होरहे उन वर्णों को अर्थ की प्रतिपत्ति कराने में हेतु मान लिया जायगा तो उन वर्णों के अभिव्यंजक होरहे वायु, कण्ठ, तालु, वंशविभाग, दो हथेलियों का संयोग, तार, तांत, आदि के व्यापारों का व्यर्थपना हुआ जाता है।

एक बात यह भी है कि शब्द को नित्य मानने वाले वादी के यहाँ अनेक शब्द अनभिव्यक्त पड़े हुये इष्ट किये गये हैं, वे शब्द भी अर्थ की प्रतिपत्ति को करा देवेंगे, यह अति प्रसंग दोष आजायगा। इस शब्दों को अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति के पुण्य से पाये हुये अवसर को हाथ से

नहीं खोदेना । विचार कर कोई यों कह बैठता है कि कुछ अभिव्यक्त हो रहे उच्चारित शब्द और नहीं प्रकट हुये आगे, पीछे, के शब्दों का समूह होजाने से वाच्य अर्थ की प्रतिपत्ति होजायगी। उत्तर पक्ष पर बैठे हुये वैयाकरण कहते हैं कि तिस ही कारण से यानी अभिव्यंजकों के व्यापार का व्यर्थ पना आजाने से और अतिप्रसंग होजाने से उक्त सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है अर्थात् जैसे मरे हुये और जीवित पुरुषों का कोई सम्मेलन नहीं बन सकता है उसी प्रकार अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त शब्दों का समूह बन जाना अलीक है ;

पूर्वपूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारापेक्षादन्त्यवर्णश्रवणाद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति चेन्न,तत्संस्काराणामनित्यत्वेन्त्यवर्णश्रवणकाले सत्त्वविरोधादसतोपेक्षानुपपत्तेः ।

यदि नैयायिक या वैशेषिक यों कहें कि भले ही पहिले पहिले वर्ण नष्ट हो जाते हैं फिर भी वे पहिले पहिले वर्ण अगले अगले वर्णों में संस्कार को प्रविष्ट करते जाते हैं अर्थात् जैसे कि ऋण देने वाला वणिक् अपने अधमर्ण होरहे किसान से ब्याज के ऊपर ब्याज लगाता हुआ प्रति तीसरे वर्ष सरकारी स्टाम्पों को बदलवाता रहता है अथवा रसायन को बनाने वाला वैद्य उसी औषधि में अनेक भावनायें देता रहता है, वनस्पति शास्त्र का वेत्ता फूल या फलों को उत्तरोत्तर वृक्ष या बेलों की सन्तान अनुसार बहुत बड़ा कर लेता है, विशेष बलधारी जीव एक गाय के दूध को दूसरी गाय को पिलाकर और दूसरी गाय के दूध को तीसरी गाय को पिलाकर यों चौथी, पांचवीं आदि सौ गायों तक प्रक्रिया करके सौवीं गाय के दुग्ध का मावा बना कर पौष्टिक मोदक बनाते सुने जाते हैं एक निकृष्ट हिंसक हकीम ने किसी कामातुर यवन को यों पुष्टि-कर प्रयोग बताया था कि कितने ही सांढ़ों यानी सरपट चलने वाले विशेष विषधर जन्तुओं को प्रथम चालीस मुर्गे खांय पुनः चालीसवें मुर्गे को वे उनतालीस मुर्गे खाजांय यों उनतालीसवें को शेष अड़तीस और अड़तीसमे को शेष सैंतीस आदि क्रम से भक्षण करते हुये जब एक मुर्गा शेष रहे उसका मांस भक्षण करने से बड़ा भारी काम विकार हो जाता है ।

इस प्रयोग को धिक्कार है, वक्ता और श्रोता दोनों ने तीव्र पाप से अनन्त कामवासना के महापापों को उपजा कर अनन्त नरक निगोद को बढ़ाया है (धिक्, मोह) इसी प्रकार पहिले शब्द का ज्ञान दूसरे शब्द के ज्ञान में अपने संस्कार को धर देता है और तीसरे शब्द के ज्ञान में पहिले शब्द से संस्कृत द्वितीय शब्द के ज्ञान का संस्कार धर दिया जाता है यों पहिले, दूसरे, तीसरे, आदि के संस्कारों को क्रम क्रम से लेरहे चौथे, पांचमे, आदि शब्द ज्ञानों के संस्कारों से युक्त होरहा अन्तिम शब्द का श्रावणप्रत्यक्ष झटिति वाक्य अर्थ की प्रतिपत्ति करा देता है वैयाकरण कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि शब्द या ज्ञान के समान उनके संस्कार भी तो अनित्य हैं, ऐसी दशा में अन्तिम वर्ण के सुनने के अवसरपर उन संस्कारों के विद्यमान रहनेका विरोध है जो वस्तु विद्यमान ही नहीं है उसकी "वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति करना" आदि किसी भी कार्य में अपेक्षा करते रहना उचित नहीं पड़ता है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य [illegible]

कल्पनारोपितसंस्कारापेक्षायां कल्पनारोपितादेव वाक्यार्थप्रतिपत्तिप्रसंगात् तत्संस्काराणां कालांतरस्थायित्वेंत्यवर्णश्रवणाहितसंस्कारस्य पूर्ववर्णश्रवणाहितसंस्कारैः सहार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वमिति तत्संस्कारसमूहोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुर्न शब्द इत्यायातं। न चैतद्युक्तं, वर्णश्रवणाहितसंस्कारेभ्यो वर्णस्मरणमात्रस्यैवोपपत्तेः पदश्रवणाहितसंस्कारेभ्यः पदस्मरणमात्रवत्।

वैयाकरण के प्रति वैशेषिक कह रहे हैं कि भले ही पूर्व शब्दों या उनके पूर्व-वर्त्ती ज्ञानों के समान उन ज्ञानों के संस्कार भी मर चुके हैं फिर भी कल्पना से आरोपे जा चुके उन संस्कारों की अपेक्षा करना वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति में मान लिया जाता है, मरे हुयेकी मूर्तियां या चित्र कुछ कार्य को कर ही देते हैं " यो लुप्यते स लुप्यमानार्थ-विधायी" । यों कहने पर तो हम वैयाकरण कहेंगे कि तब तो कल्पना करके आरोपे गये ही संस्कार से वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होने का प्रसंग प्राप्त हुआ मर गयीं गाय, भैंसों की तस्वीरें या खिलोने दूध नहीं देते हैं, कल्पित कारणों से झूठ मूठ कल्पित ही कार्य होसकते हैं जैसे कि बच्चे खेला करते हैं, किन्तु यह कार्यकारण भाव कोई बच्चों का खेल नहीं है, वस्तुभूत भाव-आत्मक कारण को यथार्थ कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करना पड़ता है झूट मूठ कल्पित कर लिये गये संस्कार कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं।

हाँ उन संस्कारों को क्षणिक नहीं मान कर यदि देर तक कालान्तर-स्थायी माना जायगा, तब तो अन्तिम वर्ण के सुनने से धार लिये गये संस्कार को पहिले पहिले वर्णों के सुनने द्वारा आधान किये जा चुके संस्कारों के साथ अर्थ की प्रतिपत्ति का कारणपना आया और यों उन सस्कारों का समूह ही अर्थ की प्रतिपत्ति कराने का हेतु हुआ शब्द तो वाच्य अर्थ का प्रतिपादक नहीं होसका यह अनिष्ट आपत्ति आई किन्तु यह शब्द को पदार्थ का प्रतिपादक नहीं मानते हुये सस्कारों को अर्थ की प्रतिपत्ति का कारण मान लेना वैशेषिकों को कथमपि उचित नहीं है, दे-व-द-त्त आदि वर्णों के सुनने से जमालिये गये संस्कारों से केवल वर्णों का ही स्मरण होना बन सकता है, जैसे कि देव दत्त-गां-अभ्याज शुक्लाम् दण्डेन इत्यादि पदों के श्रावण-प्रत्यक्ष द्वारा जड़ लिये गये संस्कारों से केवलपदों का ही स्मरण हो सकता है वाक्य के अर्थ की या प्रकरण के अर्थ की अखण्ड प्रतिपत्ति नहीं होसकेगी।

अथ संकेतबलोपजातपदाभिधेयज्ञानाहितसंस्कारेभ्योर्थप्रतिपत्तिरिष्यते तथापि पदार्थप्रतिपत्तिरेव स्यान्न वाक्यार्थप्रतिपत्तिः। न च पदार्थसमुदायप्रतिपत्तिरेव वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति युक्तं वर्णार्थसमुदायप्रतिपत्तिरेव पदार्थप्रतिपत्तिरूपत्वसंगात्। न च वर्णानामर्थवत्त्वाभावे पदस्यार्थवत्त्वं घटते, तस्य प्रकृतिप्रत्ययादिसमुदायात्मकत्वात् प्रकृत्यादीनां च अर्थवत्त्वोपगमात्।

वैयाकरण ही कहे जा रहे हैं कि अब यदि वैशेषिक यों इष्ट करें कि भले ही वर्णों के संस्कार से वर्णों का स्मरण होसके किन्तु जो वृद्धव्यवहार से हमने पूर्व में यो संकेत ग्रहण कर रखा है

कि गम् डोस् सु गकार के उत्तरवर्ती ओकार वर्ण वाले गो पद से सींग सासना वाला पशु समझा जाता है, घट शब्द से शंख की सी ग्रीवा और बड़े पेट वाला पदार्थ कहा जाता है, इत्यादिक रूप से पदों के संकेतों की सामर्थ्य से उत्पन्न होचुके अभिधान करने योग्य अर्थों के ज्ञान द्वारा धरदिये गये संस्कारों करके वाच्य की प्रतिपत्ति होजायगी। इस पर हम वैयाकरण कहते हैं कि तो भी पदों के अलग अलग अर्थों की ही प्रतिपत्ति होसकेगी वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होसकेगी। वही वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नहीं होसकना, दोष खड़ा रहा। यदि वैशेषिक यों कह बैठें कि पदार्थों के समुदाय की प्रतिपत्ति ही वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति है, इस पर हम वैयाकरण कहते हैं कि यह कहना युक्तिपूर्ण नहीं है, इस ढंग से तो प्रत्येक वर्णों करके कहे गये अर्थों के समुदाय की प्रतिपत्ति को ही पदार्थ की प्रतिपत्ति स्वरूप होजाने का प्रसंग आजावेगा क्योंकि गकार, ओकार आदि वर्णों के अर्थसहितपन का अभाव हो जाने पर गौ आदिक पद को गाय अर्थ करके सार्थकपना नहीं घटित हो पाता है।

बात यह है कि प्रकृति, प्रत्यय, विकरण, आगम आदि का समुदाय स्वरूप वह पद है और व्याकरण शास्त्र में प्रकृति आदि को अर्थसहित स्वीकार किया गया है। अर्थात्-जिससे प्रत्यय लाया जाता है वह प्रकृति है भू, गम, दिव, जिन, आदि प्रकृतियां हैं प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः प्रकृतियों से जो लाया जाता है वह प्रत्यय है जो कि तिप्, तस्, झि, सु, औ, जस् आदि है और प्रकृति तथा प्रत्यय के बीच में शप्, शन्, शनु, आदि विकरण आजाते हैं नुम्, कुक्, टुक्, घुट् आदि आगम होजानेके वर्ण हैं। प्रकृतियोंके अर्थ सत्ता गमन, आदि न्यारे न्यारे हैं, प्रत्ययों के भी, कर्ता, एकत्व, वर्तमान काल आदि अनेक अर्थ हैं यों अर्थवान् होरहे प्रकृति, प्रत्यय, आदि वर्णों का समुदाय ही पद है, अतः वर्णों के अर्थों का समुदाय ही पदार्थ मान लिया जाओ।

यदि पुनः प्रकृत्यादयः स्वार्थापेक्षयार्थवंतोपि पदार्थापेक्षया निरर्थका एवेति मतं तदा पदान्यपि स्वाभिधेयापेक्षयार्थवंत्यपि वाक्यार्थापेक्षया निरर्थकानि किं न भवेयुः ! तदुक्तं—
"ब्राह्मण्यार्थो यथा नास्ति काश्चद्ब्राह्मणकादिके देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः। इति।

वैयाकरण ही कहे जा रहे हैं, कि नैयायिकों का फिर यदि यह मन्तव्य होय कि प्रकृति, प्रत्यय, आदिक यद्यपि अपने अपने नियम होरहे अर्थ की अपेक्षा सार्थक हैं। फिर भी वर्णों के समुदाय होरहे पद के स्वकीय अर्थ की अपेक्षा करके वे निरर्थक ही हैं। यों मन्तव्य होने पर तब तो हम वैयाकरण कहेंगे कि यों तो वाक्य रूप समुदाय में पड़े हुये अनेक पद भी अपने अपने कथन करने योग्य अर्थों की अपेक्षा सार्थक होते हुये भी वाक्य के अर्थ की अपेक्षा करके क्यों नहीं निरर्थक होजाओ ? कोसों दूर पड़े हुये एक एक मनुष्य की अपेक्षा अनुसार दस, बीस मनुष्यों का मिल जाना मेला नहीं कहा जा सकता है, अतः देवदत्त, गाय, आदि पद केवल स्वार्थ का ही कह सकेंगे समुदित वाक्यार्थ को नहीं, वही हमारे ग्रन्थ में यों कहा गया है कि जिस प्रकार ब्राह्मण करके आदि जा रहे

कम्बल में कोई ब्राह्मणता का सूचक अर्थ नहीं है, उस ही प्रकार "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" इस वाक्य में देवदत्त आदि पद भी निरर्थक हैं।

तथा च न पदार्थसमुदाय एव वाक्यस्यार्थस्तस्य ततोन्यत्वादेकत्वेनाप्रतीयमानत्वादभ्याजनक्रियादेर्देवदत्तादिवाक्यार्थत्वात्। न च तस्य वर्णेभ्य इव पदेभ्योपि प्रतिपत्तिः संभवतीति तत्प्रतिपत्तिहेतुर्वर्णपदव्यतिरिक्तः कश्चिद्वस्त्वात्माभ्युपगंतव्यः। स च स्फोट एव, स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोट इति तस्यैकरूपता पुनरेकाकारप्रतिभासादवसीयते नानाकारेभ्यो हेतुभ्यस्तदयोगादहेतुकत्वप्रसंगादिति।

व्याकरणवेत्ता ही अपना सिद्धान्त कह रहे हैं कि और उक्त ढंग से तिस प्रकार दशा होजाने पर पदों के अर्थों का समुदाय ही वाक्य का अर्थ नहीं होसका क्योंकि उस वाक्य का अर्थ उन पदों के न्यारे न्यारे तितरे बितरे अर्थों से भिन्न हैं, पदों के अर्थ और वाक्य के अर्थ की एकपन करके प्रतीत नहीं होरही है, अभ्याजन यानी घेर लाना क्रिया आदिक तो देवदत्त गां इत्यादिक वाक्य का अर्थ है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"एकतिङ् वाक्यं" उस वाक्य के अर्थ की न्यारे न्यारे वर्णों से जैसे प्रतिपत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार पुष्पप्रकीर्ण समान यहां वहां बिखर रहे स्वतन्त्र पदों से भी वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होना नहीं सम्भवता है। इस कारण उस वाच्य अर्थ की प्रतिपत्ति को कराने का कारण कोई वर्णों और पदों से व्यतिरिक्त होरहा वस्तुभूत-आत्मक पदार्थ स्वीकार कर लेना चाहिये और मीमांसकों के साथ स्वल्प मतभेद को धार रहे हम वैयाकरणों के यहां वही वस्तु स्फोट माना गया है।

स्फोट शब्द की निरुक्ति से भी यही अर्थ निकलता है, कि जिससे वाच्य अर्थ स्फुट होजाता है, इस कारण वह स्फोट माना गया है।

यों उस स्फोट का एक-रूपपना तो फिर एक आकार वाले होरहे प्रतिभास से निर्णीत कर लिया जाता है, क्योंकि अनेक आकार वाले हेतुओं से एक अखण्ड वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होजाने का प्रयोग है, यदि शब्द में ठहर रहे स्फोट को एक स्वरूप नहीं माना जायगा तो वाच्यार्थ की एक अखण्ड प्रतिपत्ति को निर्हेतुकपन का प्रसंग होगा किन्तु प्रतिनियत देश, काल, आकारों वाली यह समीचीन प्रतिपत्ति तो विना कारणोंके नहीं होसकती है। यहां तक मीमांसक पण्डित अपने स्फोटवाद के पूर्व पक्ष को पूर्ण कर चुके हैं।

सोप्ययं स्फोटवादी प्रष्टव्यः, किमयं स्फोटः शब्दात्मकोऽशब्दात्मको वा? इति। न तावदाद्यः पक्षः श्रेयान्, तस्य स्फोटस्य शब्दात्मनः सदैकस्वभावस्याप्रतीतेः वर्णपदात्मनो नानास्वभावस्यावभासनात्, वर्णपदेभ्यो भिन्नस्यैकस्वभावस्येव शब्दस्य श्रोत्रबुद्धौ प्रतिभासनादसिद्धा स्वभावानुपलब्धिः स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्वा न स्फोटाभावमावनीति चेत् न, तस्य वर्णपदश्रवणकाले पश्चाद्वा प्रतिभासाभावात्।

अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं, कि इस प्रकार कह रहा यह प्रसिद्ध विद्वान् स्फोट-वादी भी यों प्रश्न करलेने योग्य है, कि क्योंजी यह तुम्हारा स्फोट क्या शब्द-आत्मक है ? अथवा क्या शब्द स्वरूप नहीं होरहा किसी अन्य पदार्थ स्वरूप है ? बताओ, आदि का पक्ष ग्रहण करना तो श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि शब्द स्वरूप मान लिये गये उस स्फोट की सर्वदा एक स्वभाव वाले होरहे की प्रतीति नहीं होती है, वर्णों, पदों, स्वरूप होरहे अनेक स्वभाववाले शब्दका सदा प्रतिभास होरहा है।

यदि वैयाकरण यों कहैं कि वर्ण और पदों से भिन्न होरहे एक स्वभाव वाले ही शब्द का कर्ण इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में प्रतिभास होरहा है। अतः स्फोट के अभाव को साधने वाली स्वभाव अनुपलब्धि अथवा स्वभावविरुद्धोपलब्धि तो असिद्ध है। अर्थात्- "स्फोटो नास्ति अनुपलब्धेः अथवा स्फोटो नास्ति अनेक स्वभावात्मकशब्दस्यैवोपलब्धेः" इन अनुमानों में पड़े हुये दोनों हेतु बेचारे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हैं। असत् हेतु तो स्फोट के अभाव को नहीं साध सकते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि शब्द और वाच्यार्थ के मध्य में व्यर्थ गढ़ लिये गये उस स्फोट का वर्ण और पदों के श्रावण प्रत्यक्ष के अवसर पर अथवा पीछे भी प्रतिभास नहीं होता है। जिस उपलम्भ योग्य माने गये पदार्थका ज्ञान नहीं होय फिर भी उसका सद्भाव माने चले जाना केवल बालाग्रह मात्र है।

स हि यदि तावदाख्यातशब्दः प्रतिभासत एव वाक्यात्मा तदा नैकस्वभावोऽनेकवर्णात्मकत्वात् भिन्न एवाख्यातशब्दोऽभ्याजेत्यादिवर्णेभ्य इत्ययुक्तं, तथा प्रतीत्यभावात्।

वैयाकरणों का विचार है-

"आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघात-वर्त्तिनी। एकोऽनवयवः शब्दःक्रमो बुद्धयनुसंहृतिः ॥ १ ॥
पदमाद्यं पदं चांत्यं पदं सापेक्षमित्यपि। वाक्यं प्रतिमतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम् ॥ २ ॥"

न्याय को जानने वाले विद्वानों की वाक्य के लक्षण प्रति अनेक प्रकार भिन्न भिन्न मतियां हैं। कोई भवति, पचति, इत्यादि आख्यात शब्द को वाक्य मानते हैं। एक तिङ् वाक्यं"।

अन्य पण्डित तो वर्णों या पदों के संघात यानी समुदाय को वाक्य कहते हैं, कोई संघात में वर्त रही जाति को वाक्य कहते हैं, इतर पण्डित बेचारे अवयवों से रहित होरहे एक अखण्ड स्फोट-आत्मक शब्द को वाक्य मान रहे हैं, वर्णों के क्रम को वाक्य कोई कोई मान बैठे हैं, चारों ओर से संकोच कर बुद्धि का एक शब्द पिण्ड द्वारा परामर्श किया जाना वाक्य भी क्वचित् माना जा रहा है, तथा अन्य पदों की अपेक्षा रखने वाला आद्यपद अथवा अन्य पदों की अपेक्षा रखने वाला अन्तिम पद भी वाक्य होसकता है, यों वाक्य के लक्षण में कई सम्मतियां हैं तदनुसार आचार्य महाराज एक एक मन्तव्य पर क्रम से विचार चलाते हैं।

वाक्य के लक्षणों में सब से पहिले तिङन्त आख्यात शब्द को वाक्य मानने वाले वैयाकरण यदि यों कहैं कि वह आख्यात शब्द तो वाक्यस्वरूप होता हुआ सब को प्रतिभासता ही है, तब तो हम

जैन कहेंगे कि वह आख्यातशब्दस्वरूप वाक्य बेचारा (पक्ष) एक स्वभाव वाला हो नहीं है। अनेक वर्ण-आत्मक होने से (हेतु) देखो पचति, करोति, आदि वाक्य अनेक स्वभाव वाले हैं, पच् धातु का अर्थ पाक स्वभाव है, तिप् प्रत्यय के अर्थ तो वर्तमानकाल, स्वतन्त्रकर्तृत्व, एकत्व संख्या आदि स्वभाव है, अतः एक स्वभाव वाला आख्यात शब्द नहीं होसका जोकि स्फोट माना गया है। यदि वैयाकरण यों कहैं कि अभ्याज, पचति आदि आख्यातों में पड़े हुये अ+भ्+आ×अ×ज×शप्× हि। पच्×शप्+तिप् इत्यादि वर्णों से आख्यात शब्द भिन्न ही है। जोकि स्फोट माना गया है, आचार्य कहते हैं कि यह वैयाकरण का कहना अयुक्त है, क्योंकि तिस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है, अभ्याज में पड़े हुये वर्णों के सिवाय या पचति में पड़े हुये वर्णों के अतिरिक्त किसी आख्यात शब्द की प्रतीति नहीं होरही है।

वर्णव्यंग्योंत्यवर्णश्रवणानंतरमेकः प्रतीयत एवेति चेन्न, वर्णानां प्रत्येकं समुदितानां वा स्फोटाभिव्यक्तौ हेतुत्वाघटनादर्थप्रतिपत्ताविव सर्वथा विशेषाभावात्। यदि पुनः कथंचिद्वर्णाः स्फोटाभिव्यक्तिहेतवः स्युस्तदा तथैवार्थप्रतिपत्तिहेतवः संतु किमनया परम्परया ? वर्णेभ्यः स्फोटस्याभिव्यक्तिस्ततोभिव्यक्तादर्थप्रतिपत्तिरिति। कथंचिदव्यतिरिक्तः स्फोटो वर्णेभ्य इति तस्य श्रोत्रबुद्धौ प्रतिभासनोपगमे कथमेकानेकस्वभावोसौ न स्यात् ? सुखदुःखादिपर्यायात्मकात्मवत् नवपुराणादिविशेषात्मकस्कंधवद्वा।

यदि वैयाकरण यों कहैंकि वर्णों से प्रगट होने योग्य और अन्तिम वर्णके सुनने के पश्चात एक स्वभाववाला आख्यात शब्द प्रतीत हो ही जाता है। आचार्य कहते हैं, कि यों तो नहीं कहना क्योंकि प्रत्येक प्रत्येक होरहे वर्णों को अथवा समुदाय प्राप्त होरहे वर्णों को स्फोट की अभिव्यक्ति में कारण-पना घटित नहीं होता है, जैसे कि मीमांसकों ने अर्थ की प्रतिपत्ति कराने में प्रत्येक ध्वनियों या समुदित ध्वनियों को निमित्त कारण नहीं होने दिया था। हमारे यहां अर्थ की प्रतिपत्ति कराने में और तुम्हारे यहां स्फोट की अभिव्यक्ति कराने में प्रत्येक शब्द या समुदित शब्दों की कारणता की सभी प्रकारों से कोई विशेषता नहीं है। अर्थात्–"स्फोटोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुर्न ध्वनयः,, इत्यादि ग्रन्थ द्वारा जैसे आप वैयाकरण प्रत्येक शब्द या समुदित शब्दों को अर्थ की प्रतिपत्ति का निमित्त–पना उड़ा देते हैं, उसी प्रकार हम जैन भी स्फोट की अभिव्यक्ति करने में प्रत्येक या समुदित शब्द को कारण होजाने का खण्डन कर देवेंगे, आप जो अपने लिये समाधान करेंगे वही समाधान हमारे लिये लागू होजायगा हमारे सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करना तुम्हारे सिद्धान्तपर भी चरितार्थ कर दिया जायगा, इस विषय का हम, तुम, में कोई रेफ मात्र भी अन्तर नहीं है, आपके यहां मीमांसा–श्लोकवार्तिक ग्रन्थ है, तो हमारे यहां तत्वार्थश्लोकवार्तिक महान् ग्रन्थ है, वार्तिकों की चिकित्सा वार्तिकों से कर दी जायगी।

यदि सम्हल कर आप फिर यों कहैं कि अनेक वर्ण ही कथंचित् स्फोट की अभिव्यक्ति

कराने में हेतु होसकेंगे तब तो हम जैन कह सकेंगे कि तिस ही प्रकार कथंचित् एकपन और अनेकपन धार रहे वे वर्ण ही अर्थ की प्रतिपत्ति कराने में निमित्त कारण होजायो, इस व्यर्थकी लम्बीपरम्परा से क्या लाभ है ? कि प्रथम तो बहुत से वर्णों से नित्य स्फोट को प्रगट किया जाय पश्चात् उस अभिव्यक्त हुये स्फोट से अर्थ की प्रतिपत्ति की जाय, दार्शनिकों के यहां ऐसी निरर्थक परम्परा नहीं मानी जाती है। इस कारण सिद्ध होता है कि आपका माना हुआ वह स्फोट वर्णों से कोई भिन्न नहीं है, कथंचित् अभिन्न है यों वर्णों से अभिन्न होरहे उस स्फोट का यदि श्रोत्र-जन्य ज्ञान में प्रतिभास जाना स्वीकार किया जायगा तो [illegible] वह स्फोट भला एक अनेक स्वभाव वाला क्यों नहीं हो सकेगा ? यानी-शब्दआत्मक स्फोट एक, अनेक स्वभाव वाला है। जैसे कि सुख, दुख, ज्ञान, पुरुषार्थ (प्रयत्न) आदि अनेक पर्यायों के साथ तदात्मक होरहा आत्मा बेचारा एक अनेक स्वभाव वाला है, देखिये स्वयं आत्मा द्रव्य एक है। उससे अभिन्न होरहे सुख दुःख आदिक अनेक विवर्त हैं, अतः आत्मा यह एक-अनेक-आत्मक है।

अथवा दूसरा दृष्टान्त यों समझिये कि नवीन, पुरानी, अर्धजीर्ण, आदि अवस्था विशेषों के साथ तदात्मक होरहा वस्त्र, गृह, आदि पुद्गल स्कन्ध जैसे एक अनेक-आत्मक है, अनेक पुद्गल द्रव्यों का पिण्ड होरहा स्कन्ध नामक अशुद्ध पुद्गल द्रव्य एक है, उसकी अभिन्न होरही नयी, पुरानी, आदि अवस्थायें न्यारी न्यारी अनेक हैं, इसी प्रकार शब्द भी एक-अनेक स्वभाव वाला है, भले ही शब्द की किसी एक शक्ति या पूरे शब्द का नाम स्फोट कर लिया, इस अर्थ के बिना हुये कोरे शब्द मात्र के भेद से हम वैयाकरणों के साथ कोई विवाद नहीं करते हैं "अर्थे तात्पर्यं न तु शब्दजाले,,

भाषावर्गणापुद्गलद्रव्यं हि स्वसहकारिविशेष-वशादकाररूपतामासाद्य भकारादि-रूपतामापादयत् क्रमशः प्रतिनियतवक्तृ-श्रोतृविशेषादेरभ्याजेत्यादिराख्यातशब्दः प्रतिभासते न चासौ वाक्यं देवदत्तादिपदनिरपेक्षस्तदुच्चारणस्य वैयर्थ्यापत्तेः। सत्तापेक्षस्य तु वाक्यत्वे देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेत्यादि कथंचित्पदात्मकं वाक्यमेकानेकस्वभावमाख्यातशब्दवदभिधातव्यं, तन्निराकृतौ च सर्वैकान्ता लंघनप्रसंगात्।

भाषा वगणा स्वरूप पुद्गल द्रव्य तो नियत होरहे अपने विशेष विशेष सहकारी कारणों के वश से " अभ्याज" यहां अकार स्वरूप को प्राप्त कर भकार, यकार आदि-पन को धार रहा सन्ता क्रम क्रम से प्रति-नियत होरहे वक्ता विशेष या श्रोता विशेष आदि को अभ्याज, पच, गच्छ, आदिक आख्यात शब्द स्वरूप करके प्रतिभास जाता है किन्तु वह अकेला आख्यात शब्द तो देवदत्त, गो, आदि पदों की नहीं अपेक्षा रखता हुआ कथमपि वाक्य नहीं होसकता है, वैयाकरणों के यहां यदि केवल तिङन्त आख्यात शब्द ही पूरा वाक्य मान लिया जायगा तो उन देवदत्त, गां, आदि पदों के उच्चारण करने के व्यर्थपन का प्रसंग आजावेगा। यदि उन देवदत्त आदि पदों के सद्भाव की अपेक्षा रखने वाले आख्यात शब्द को वाक्यपना इष्ट करोगे तबतो " हे देवदत्त तू धौली गाय

को डण्डे करके घेरला " इत्यादि पदों के साथ कथंचित् तादात्म्य को धार रहा वाक्य एक अनेक स्वभाव वाला ही कथन करने योग्य उचित पड़ा जैसे कि पहिले अभि, आङ, अञ्, शप् हि, आदिक शब्दों के साथ कथंचित् तदात्मक होरहा आख्यात शब्द बेचारा एक और अनेक स्वभाव वाला मान लिया जा चुका है यदि वाक्य के एक अनेक स्वभावों का निराकरण किया जायगा तो वैयाकरणों को बौद्धों के क्षणिकत्व एकान्तके अवलम्बन करने का प्रसग आजायगा। शब्द को नित्य मानने वाले वैयाकरण उन क्षणिकवादी बौद्धों का सहारा लेने के लिये कथमपि उत्कण्ठित नहीं होंगे।

क्रमभुवां केषांचिद्वर्णानां वास्तवैकपदत्वाभावे क्षणिकवर्णभागानामपि पारमार्थिकैकवर्णत्वासिद्धेस्तथोपगमे वांतर्बहिश्चात्मनो घटादेश्च क्रमभाव्यनेकपर्यायात्मकस्याभावानुषंगात। तस्तन्मद्भावमभ्युपगच्छता क्षणिकानेकक्रमवृत्तिवर्णभागात्मकमेकं वर्णमभ्युपेयं, तद्वदनेकक्रमवर्तिवर्णात्मकमेकं पदं तादृशानेकपदात्मकं च वाक्यमेषितव्यं। ततो न ख्यातशब्दो वाक्यात्मैकस्वभाव एव कथंचिदनेकस्वभावस्य तस्य प्रतीतेः।

क्रम क्रम से हुये देखे जा रहे नियत किन्हीं किन्हीं वर्णों का यदि वास्तविक रूप से एक पदपना नहीं माना जायगा तो एक वर्ण के क्षणिक अंशों को भी समुदित होकर वास्तविक एक वर्ण होजाना नहीं सिद्ध होसकेगा और तैसा स्वीकार कर लेने पर यानी क्रमभावी अनेक अंशों का एक पिण्ड होजाना नहीं मानने पर तो अन्तरंग आत्म तत्व को और बहिरंग घट, पट, आदि पदार्थों को क्रमभावी अनेक पर्यायों के साथ तदात्मक होरहेपन के अभाव का प्रसंग आजावेगा। अर्थात् एक आत्मा अनेक सुख, दुख, राग, द्वेष, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, दान, लाभ, आदि परिणति-आत्मक नहीं होसकेगा। तथा एक घट अनेक कपाल, कपालिका आदि अवयव-आत्मक और कपड़े का एक थान अनेक तन्तु-आत्मक नहीं बन सकेगा तिस कारण उन आत्मा घट, पट, आदि अंशी पदार्थों के सद्भाव को स्वीकार करने वाले वैयाकरण करके क्रम से वर्त रहे और क्षणिक होरहे अनेक वर्ण भागों के साथ तदात्मक होरहा एक वर्ण प्रसन्नता-पूर्वक मान लेना चाहिये अर्थात्-आठ अंशों की एक खाट, या दो हाथ, दो पाँव, नितम्ब, पीठ, उरःस्थल, सिर, इन आठ अंगों का एक शरीर माना ही जाता है, प्रत्येक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अंग भी आठ इष्ट किये गये हैं, इसी प्रकार अ का स्वर पूर कर गाने वाले गन्धर्व देर तक अलापते रहते हैं वहां अवर्ण के कितने ही अंश स्पष्ट सुने जा रहे हैं, शीघ्र बोल दिये गये अकार में भी अनेक उसके अवयव भूत अंश हैं उनका समुदाय एक " अ " अक्षर है।

बस उसी " अ " के समान क्रम से वर्त रहे अनेक अ, भ, आदि वर्णों के साथ तदात्मकता को धार रहा एक पद होता है और पिण्ड होरहे तिन्हीं वर्ण या पदों के समान अनेक पदों के साथ तदात्मक होरहा वाक्य इष्ट कर लेना चाहिये देखिये फूली पौनी में पाये जा रहे छोटे छोटे रूआंओं

से मिलकर लम्बा सूत उपजता है, सूत मे अंड़ियां और अंड़ियों मे आंटे और आंटों से थान होजाता है उसी प्रकार अक्षर के छोटे छोटे अंशों से एक अक्षर और अनेक अक्षरों से एक पद, तथा अनेक पदों से एक वाक्य होजाता है तिस कारण वाक्य स्वरूप माना गया आख्यात शब्द बेचारा एक स्वभाव वाला ही नहीं है जो कि वैयाकरणों ने मान रखा है किन्तु कथंचित् अनेक स्वभावों वाले उस आख्यात शब्द की प्रतीति होरही है प्रतीति-सिद्ध पदार्थ को सहर्ष स्वीकार करलेना चाहिये। यहाँ तक वैयाकरणों के मत में वाक्य माने गये आख्यात शब्द का विचार कर दिया गया है।

एतेन पदमाद्यमंत्यं चान्यद्वा पदांतरापेक्षं वाक्यमेकस्वभावमिति निरस्तं, तस्याप्याख्यातशब्दवत्कथंचिदनेकस्वभावस्य प्रतिभासनात्।

इस उक्त कथन करके "देवदत्तः ओदनं पचति" देवदत्त भात को पकाता है यहाँ आदि का पद देवदत्त अथवा अन्त का पद पचति एवं और भी कोई मध्य का पद तो अन्य पदों की अपेक्षा रखता हुआ एक स्वभाव वाला वाक्य है, इस वैयाकरणों के मन्तव्य का भी आचार्य ने निराकरण कर दिया है क्योंकि अन्य पदों की अपेक्षा रखते हुये उस आद्य पद या अन्तिम पद का आख्यात शब्द के समान कथंचित् अनेक स्वभाव वाले का ही प्रतिभास होरहा है। बात यह है कि जितने भी कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, विशेषण, क्रिया इत्यादिक अर्थों के वाचक पदों करके शब्दबोध होता है परस्पर-अपेक्षा रखते हुये उन पदों के निराकांक्ष होरहे समुदाय को वाक्यपना प्रसिद्ध है, अतः वह वाक्य आख्यात शब्द के समान अनेक स्वभावों वाला है।

एकोनवयवः शब्दो वाक्यमित्ययुक्तं, तस्य सावयवस्य प्रतिभासनात्। तस्य चावयवेभ्योनर्थान्तरत्वेऽनेकत्वमेव स्यात्, तदर्थान्तरत्वे संबंधासिद्धिः उपकारकल्पनायां वाक्यस्यावयवकार्यत प्रसंगस्तैरकार्यत्वादवयवानां वा वाक्यकार्यता तेनोपक्रियमाणत्वात् उपकारस्य ततोर्थांतरत्वे संबंधासिद्धिरनुपकारात् तदुपकारांतरकल्पनायामनवस्थाप्रसंग इति वाक्यतदवयवभेदाभेदैकांतवादिनामुपालम्भः। तदाद्यानां यथाप्रतीतिकथंचित्तदभेदोपगमात् एकानेकाकारप्रतीतेरेकानेकात्मकस्य जात्यंतरस्य व्यवस्थितेः।

अंशों से रहित होरहा एक निरवयव शब्द तो वाक्य है यह न्यायवेदियों का कथन भी युक्तियों से रीता है क्योंकि उस अवयवों से सहित होरहे वाक्य का सभी विद्वानों को परिज्ञान होता है कर्ता कर्म, क्रिया, करण आदि सभी तो अपने अपने अर्थों को लिये हुये वाक्य के अवयव होरहे हैं जैसे कि एक थान के अनेक तन्तु अवयव होरहे हैं, यदि उस वाक्य को अपने कर्ता, कर्म, आदि वस्तुओं से अभिन्न माना जायगा तो वह वाक्य अनेक अनेक स्वभाव वाला ही होगा। अनेकों से अभिन्न अनेक पदार्थ हैं या अनेक स्वभावों वाला ही है। हाँ यदि वाक्य का उन अवयवों से भेद माना जायेगा तो वाक्य और अवयवों के परस्पर हो रहे सम्बन्ध की सिद्धि नहीं बन सकेगी और

तब तो सम्बन्ध के विना "इन अवयवों का यह वाक्य है" अथवा उस वाक्य के ये अवयव हैं यों सम्बन्ध का निरूपण करने वाली षष्ठी विभक्ति नहीं उतर सकती है, उपकार किये जाने पर ही सम्बन्ध की व्यवस्था मानी गयी है, पिता पुत्र सम्बन्ध, गुरु शिष्य सम्बन्ध, पति पत्नी सम्बन्ध, स्व-स्वामी सम्बन्ध, कार्य कारण भाव, आदि में परस्पर उपकार द्वारा नाता जुड़ा हुआ है, शिष्य का उपकार गुरु पढ़ा कर कर देता है और शिष्य भी गुरु जी की सेवा, अनुकूल व्यवहार, श्रद्धा, करता हुआ उपकार करता है। इत्यादि प्रकार अनुसार यदि यहाँ वाक्य और उसके अवयव होरहे पदों में सम्बन्ध की स्थिरता के लिये उपकार की कल्पना की जायगी, तब तो वाक्य को अवयवों के कार्य होजाने का प्रसंग होजायेगा क्योंकि उन अवयवों ने वाक्य के ऊपर उपकार किया है जो कि उपकार उस उपकृत हुये वाक्य से अभिन्न है, अतः अवयवों ने उपकार क्या किया मानो वाक्य को ही बनाया। अथवा यदि वाक्य की ओर से अवयवों के ऊपर उपकार कियाजाना माना जायेगा तो अवयवों को वाक्य के कार्य होजाने का प्रसंग आवेगा क्योंकि उस वाक्य करके अनेक अवयव उपकार को प्राप्त किये जा रहे हैं, वाक्य ने अवयवों से अभिन्न होरहा अवयवों का उपकार किया मानो अवयवों को ही बनाया, शब्द को नित्य मानने वाले मीमांसक या वैयाकरण उन पद या उन वाक्यों का बनाया जाना इष्ट नहीं कर सकेंगे।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शब्द अनित्य नहीं होजांय इसलिये वैयाकरण यदि अवयवों की ओर से वाक्य पर किये गये उपकार को वाक्य से भिन्न पड़ा रहा स्वीकार करेंगे अथवा वाक्य की ओर से किये गये अवयवों के ऊपर उपकार को अवयवों से निराला पड़ारहा मान बैठेंगे तब तो उपकृत से उपकार को भिन्न मानने पर उन उपकृत और उदासीन होकर भिन्न पड़े हुये उपकारों के परस्पर सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकी क्योंकि उपकार होने से सम्बन्ध व्याप्य होरहा है जहाँ उपकार कोई नहीं है वहाँ सम्बन्ध भी नहीं है। जगत में स्वार्थ का नाता है, साक्षात् या परम्परा प्रयोजन सिद्धि के विना कोई किसी से सम्बन्ध ही नहीं रखता है, अतः अवयव और वाक्यों में उपकार हुये विना जैसे सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकी थी उसी प्रकार उपकृत और भिन्न पड़े हुये उपकारों में परस्पर उपकार हुये विना सम्बन्ध (गठ बन्धन) नहीं हो सकता है, अतः इन उपकृत वाक्य या पदों को न्यारे उपकार के साथ जोड़ने के लिये यदि उनके अन्य उपकारों की कल्पना की जायगी तो अनवस्था दोष होजाने का प्रसंग आता है, कारण कि भेदपक्ष में वे उपकार भी भिन्न ही पड़े रहेंगे उनके जोड़ने के लिये पुनः अनेक उपकारों को मध्य में लाने की आकांक्षा बढ़ती ही चली जायगी, हाँ किये गये उपकारों को यदि उपकृत से अभिन्न मान लिया जाय तो अनवस्था टल सकती है किन्तु यों मान लेने पर उपकृत वाक्य या पद अनित्य हुये जाते हैं, शब्द को नित्य मान रहे पण्डित अनवस्था को भले ही सहन करलें परन्तु शब्द का अनित्यपना उनको सह्य नहीं है।

इस प्रकार वाक्य और उसके अवयवों का भेद-एकान्त अथवा अभेद एकान्त को खण्डन

रहे वादी पण्डितों के ऊपर ये उपर्युक्त उलाहने आते हैं भेदैकान्त-वादी जैसे वाक्य और अवयवों के अथवा उपकृत या उपकारों के अभेद होने को बखान रहे अभेद-वादी को उक्त उलाहना दे देता है तथा अभेदैकान्तवादी सांख्य पण्डित जैसे वाक्य और अवयवों या उपकृत और उपकारों के सर्वथा भेद को बखान रहे भेदैकान्तवादी के ऊपर उक्त उपालम्भ उठादेता है, उसी प्रकार स्याद्वादी विद्वान दोनों भेदवादी या अभेदवादी पण्डितों के ऊपर दोनों उपालम्भ धर देते हैं। हाँ स्याद्वादियों के ऊपर कोई उलाहना नहीं आता है क्योंकि स्याद्वादियों के यहाँ प्रतीतियों का अतिक्रमण नहीं कर उन वाक्य या उसके अवयवों में कथंचित् अभेद होना स्वीकार किया गया है। घट, पट, वाक्य, गृह, आदि अर्थों की एक और अनेक आकारों के साथ तदात्मकपने करके प्रतीति होरही है, सर्वथा एक और सर्वथा अनेक से निराली तीसरी ही जातिका एक-अनेक-आत्मकपना व्यवस्थित होरहा है, अतः कथंचित् भेद अभेद को मानने वाले अनेकान्त-वादियों के यहाँ कोई उलाहना नहीं आता है, स्याद्वादी ही प्रत्युत एकान्तवादियों के ऊपर अनेक उलाहने लाद देते हैं।

न हि वाक्यश्रवणानंतरमनेकाकारप्रतीतिः सर्वदा सर्वत्र सद्भावप्रसंगात्। नापि वर्णपदमात्रहेतुका तदाकारत्वप्रसंगाद्वर्णादिपदप्रतीतिवत्। ततो वाक्याकारपरिणतशब्दद्रव्यहेतुक-वाक्यप्रतीतिश्च तथा परिणतशब्दद्रव्यमेकानेकाकारं परमार्थतः सिद्धं बाधकाभावात्।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"नमः श्री वर्द्धमानाय. देवदत्तो गच्छति, देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन,, इत्यादि वाक्यों को सुनने के पश्चात् अनेक आकारों की ही प्रतीति नहीं होती है ? यदि ऐसा होता तो सभी कालों में और सभी देशों में अनेक आकार वाली प्रतीति होने के ही सद्भाव का प्रसंग आजावेगा अर्थात्-वाक्य या श्लोक ही क्या बड़े बड़े प्रकरणों' व्याख्यानों से भी पीछे एक अखण्ड शाब्दबोध का होना अनुभूत होरहा है, तभी तो बड़े बड़े व्याख्यानों या ग्रन्थों का सार एक वाक्य में सामान्य रूप से कह दिया जा रहा है। इतने बड़े महान् तत्वार्थ-सूत्र ग्रन्थ में जीव आदि सात तत्वों का अधिगम कराते हुये मोक्षमार्ग का प्रदर्शन किया गया है। देखिये जैसे एक महा काव्य में अनेक सर्गों का एकीकरण है। एक सर्ग में कतिपय प्रकरणों का अन्वित अभिधान है. एक प्रकरण में कतिपय श्लोकों का समवाय किया गया अर्थ परस्पर जुड़ रहा है, एक श्लोक में कई वाक्य गुंथ रहे हैं, एक वाक्य में कई पद और एक पद में कई वर्ण समुदित होरहे हैं। अथवा जैसे कई सिपाहियों के उपर एक जमादार और कई जमादारों के ऊपर एक थानेदार तथा कई थानेदारों को स्वाधिकार वृत्ति कर रहा एक सुपरिटेन्डेन्ट है, एवं इनके ऊपर भी अधिकारी-वर्ग इसी क्रम से नियत है, इसी प्रकार वाक्यों के सुने जाने के पश्चात् एक आकार वाली भी प्रतीति होजाती है, बड़े से बड़े ग्रन्थों की संक्षेप से एक वाक्यता कर ली जाती है। ऋद्धिधारी मुनि अन्तर्मुहूर्तमें द्वादशाङ्गका पाठ कर लेते हैं, द्वादशाङ्गके प्रमेय अर्थ का तो उससे भी अल्पकाल में अध्यवसाय कर लेते हैं। परीक्षार्थी छात्र अपने स्वभ्यस्त

ग्रन्थ का दो मिनट में सङ्कलनात्मक पारायण कर जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज तथा श्रोतुर्वक्तुर्गतेर्नान्यहेतुत्वं केवल वर्ण या पद को ही हेतु मान कर कोई प्रतीति नहीं होती है, यदि ऐसा माना जायगा तो वाक्य द्वारा उन वर्णों या पदों के एक आकार को धारने वाली ही प्रतीति होने का प्रसंग आवेगा जैसे कि वर्ण को या पद को सुन कर वर्ण की प्रतीति हुआ करती है, तिस कारण सिद्ध होता है कि वाक्यके आकार होकर परिणम गये शब्द द्रव्यको हेतु मानकर उपजी वाक्यकी प्रतीति जैसे एकाकार और अनेकाकार वाली है, उसी प्रकार तिस तिस पद या वाक्यस्वरूप से परिणमने योग्य शब्द द्रव्य भी एक, अनेक-आकारों वाला वास्तविक रूप से सध जाता है, इसको बाधने वाले प्रमाणों का अभाव है। जब शब्द द्रव्य में अथंचित् एक और कथंचित् अनेक आकार विद्यमान हैं तो उसके अनुसार हुई वाक्य की प्रतीति भी एक, अनेक आकारों को धारेगी ही। अथवा वाक्य-प्रतीति को भी दृष्टान्त बना कर शब्द-योग्य द्रव्य में एक अनेक आकारों को साध लिया जाय, जैन सिद्धान्त अनुसार सभी पदार्थों में एकत्व और अनेकत्व धर्म विद्यमान हैं। जो एकत्व को ही पदार्थ में मानते हैं, वे अनेकत्व का निषेध करते हैं, तो भी पहिला एकत्व धर्म और दूसरा अनेकत्व का अभाव, यों ही सही, दो धर्म तो पदार्थों में ठहर ही गये, झगड़ा बढ़ाना व्यर्थ है।

कथं नानाभाषावर्गणापुद्गलपरिणामवर्गानामेकद्रव्यत्वमिति चेत् तत्रोपचारान्नानाद्रव्यादिसंतानवत्। किं पुनस्तदेकत्वोपचारनिमित्तमिति चेत्, तथा सदृशपरिणाम एव तद्वत्।

यहाँ किसी की शंका है, कि भाषावर्गणा स्वरूप अनेक पुद्गल द्रव्यों के पर्याय होरहे वर्णों का भला एक द्रव्य का ही परिणाम होना किस प्रकार बन सकता है ? यों कहने पर आचार्य समाधान करते हैं, कि उन वर्गणाओं में एक अशुद्धद्रव्य-पने का उपचार है। जैसे कि अनेक द्रव्य, गुण, अविभागी प्रतिच्छेद आदि की संतान को एक कह दिया जाता है। अर्थात्-जैसे दैशिक समुदायवाली धान्यराशि बेचारी अनेक धान्यों से अभिन्न है, उसी प्रकार कालसम्बन्धी प्रत्यासत्ति को धार रहे अनेक संतानियों से सन्तान भी अभिन्न है, एक द्रव्य की नाना पर्यायों को सुलभतया एक कहा जा सकता है, क्योंकि उन सहभावी या क्रमभावी पर्यायों में एक द्रव्य का अन्वित होना प्रसिद्ध है। अतः एक द्रव्य की असंख्यात या अनन्त पर्यायों में मुख्य रूप से भी एकत्व धरा जा सकता है। किन्तु नाना द्रव्यों की सन्तानों में तो एकपना उपचार से ही अरोपा जा सकता है।

यहाँ शंकाकार पुनः पूछता है, कि उपचार तो निमित्त या प्रयोजन के बिना नहीं प्रवर्तता है, अतः अनेक भाषा वर्गणाओंमें एकपनके उपचार करनेका निमित्त क्या है ? इसका उत्तर आचार्य यों कहते हैं कि तिसप्रकार अनेक भाषावर्गणाओं की सदृश परिणति ही एकपन के उपचार का निमित्त कारण है, जैसे कि अनेक द्रव्य या गुणों की सन्तानों में एकपने के उपचार का निमित्त कारण तिस तिस प्रकार उनका सदृश परिणमन होना है। अर्थात्-जीवकाण्ड गोम्मटसार में 'अणु संखा संखेज्जा-

णंताय अगेज्जगेहिं अन्तरिया । आहारतेजभासामण-कम्मइया धुवक्खंधा ॥ अणु आदि पुद्गल के तेईस भेदों को दिखलाते हुये "सिद्धाणतिमभागो पडिभागो गेज्झगाण जेट्ठट्ठ,, इस प्रतिभाग अनुसार भाषावर्गणाओं का बनना समझाया है ।

कण्ठ तालु आदि के निमित्त अनुसार उन भाषावर्गणाओं की समान रूप से किसी भी अकार, चकार आदि शब्द बन जाने की योग्यता है, जैसे कि मेघ जल उन उन वृक्षों में वैसा वैसा रस होकर परिणम जाता है । अतः "सदृशपरिणामस्तिर्यक् सामान्यं,, समान परिणति वालों में सामान्य (जाति) रहता है 'सामान्ये एकत्वं,, जाति की अपेक्षा एकवचन कह देने मे कोई क्षति नहीं पड़ती है, अतः भाषावर्गणा स्वरूप अनेक अशुद्धपुद्गल द्रव्यों को उपचार से कह दिया गया है, अनेक तन्तुओं से जैसे एक अवयवी थान बन जाता है । उसी प्रकार अनन्त भाषावर्गणाओं से एक एक क, ख, गौः, आदि शब्द बन जाते हैं, यह एकत्व के उपचार करने का प्रयोजन भी है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वर्णक्रमो वाक्यमित्यपरः । सोऽपि वर्णेभ्यो भिन्नमेकस्वभावं क्रमं यदि ब्रूयात्तदा प्रतीतिविरोधः तस्य श्रोत्रबुद्धावप्रतिभासनात् । सम्बन्धानुपपत्तेश्चानवयववाक्यवत् । वर्णेभ्योऽनर्थांतरत्वे तु क्रमस्य वर्णा एव न कश्चित्क्रमः स्यात् ।

अब व्याकरण का एक देशी दूसरा विद्वान् यों कह रहा है। कि वर्णों का क्रम ही वाक्य है अर्थात्- पहिले एक वर्ण सुनाई दिया पुनः दूसरा वर्ण, पश्चात् तीसरा वर्ण सुनने में आया इत्यादि प्रकार करके वर्णोंका क्रम होजाना ही वाक्य है। आचार्य कहते हैं कि वह वर्ण क्रम को वाक्य कह रहा विद्वान् भी क्रम को यदि वर्णों से भिन्न ही या एक स्वभाव वाला ही कहेगा तब तो प्रतीतियों से विरोध आता है, क्योंकि उन वर्णों से सर्वथा भिन्न और एक स्वभाव वाले मानेजारहे क्रम का कर्णेन्द्रियजन्य ज्ञान में प्रतिभास नहीं होता है । दूसरी बात यह है, कि सर्वथा भिन्न होरहे क्रम का और उन वर्णों का सम्बन्ध भी ता नहीं बन सकता है । जैसे कि अनवयव एक शब्द को वाक्य कहने वाले पण्डित के यहाँ निरंश वाक्य का अपने भिन्न पड़े हुये अवयवों के साथ सम्बन्ध नहीं बन पाता है, इस बात को ग्रन्थकार अभी पूर्व प्रकरण में सिद्ध कर चुके हैं।

हाँ वर्णों से क्रम का अभेद मानने पर तो सम्बन्ध नहीं बन सकने का दोष टल गया किन्तु सर्वथा अभेद पक्ष लेने पर अनेक वर्ण ही ठहरते हैं, कोई क्रम नहीं ठहर पायेगा ऐसी दशा में क्रम को वाक्य कहे चले जाना उचित नहीं जंचता है।

मन्यमेतदेवं यावंतो यादृशा ये च पदार्थप्रतिपादने वर्णा विज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैव बोधका इति वचनात् ततोन्यस्य वाक्यस्य निराकरणादितीतरः । सोपि यदि वर्णानां क्रमं प्रत्याचक्षीत तदाग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्याकारादयो ये यावंतश्च वर्णाः स्वेष्टवाक्यार्थप्रतिपादने विज्ञातसामर्थ्यास्ते तावंत एव वेत्युद्गमेनापि समुच्चार्यमाणास्तथा स्युर्विशेषाभावात् ।

अथ येन क्रमेण विशिष्टास्ते तथा दृष्टास्तादृशा एव तदर्थस्यावबोधका इति मतं, तर्हीष्टः क्रमो वर्णानामन्यथा तेन विशेषणाघटनात्।

वर्ण क्रम को वाक्य मानने वाले विद्वान् पर ठेस जमा रहा कोई इतर पण्डित यों कहता है, कि यह कथन इस प्रकार सत्य होसकता है कि जितने और जिस जिस प्रकार के जिन जिन वर्णों की पदार्थ के प्रतिपादन करने में सामर्थ्य जानी जा चुकी है, वे वर्ण उस ही प्रकार से वाच्यार्थ का बोध करा देते हैं, इसप्रकार हमारे शास्त्रोंमें निरूपण है, उन वर्णों से न्यारे वाक्य का निराकरण करदिया जाता है। अर्थात् - योग्य अनुपूर्वी को लिये हुये वर्ण ही वाक्य हैं, उनसे न्यारा कोई क्रम वाक्य नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि वह मीमांसक पण्डित भी वर्णों के क्रम का यदि निराकरण करेगा तब तो स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला पुरुष अग्निष्टोम नामक यज्ञ करके याग करे इस मन्त्र के आकार, गकार आदिक जितने भी जो जो वर्ण हैं, जिनकी कि अपने इष्ट वाक्यार्थ का प्रतिपादन करनेमें शक्ति जानी जा चुकी है, वे वर्ण उतने ही यानी न्यून. अधिक, नहीं होरहे ही वाक्यार्थ को कहेंगे तब तो उद्गम यानी क्रम भंग होजाने से भी उच्चारण किये जारहे तिस प्रकार वाक्यार्थ के प्रतिपादक होजाओ क्योंकि वर्णों के क्रम को नहीं मानने वाले के यहां चाहे वर्ण ठीक क्रम से बोल दिये जांय ? अथवा अक्षरों को आगे पीछे कर विपरीत क्रम से भी बोल दिया जाय वे अपने अर्थ को कहतेही रहने चाहिये कोई अन्तर नहीं है। ऐसी दशा में घट को टघ या साधन को नवसा कहने वाले व्युत्क्रमभाषी के शब्दों करके भी अर्थ प्रतिपत्ति बन बैठेगी, अशुद्धियां भी नष्ट प्राय होजांयगी।

अब यदि तुम यों कहो कि वे वर्ण जिस क्रम करके विशिष्ट होरहे तिस प्रकार संकेत काल में देखे जा चुके हैं, उनके समान जातीय वर्ण ही उस वाच्य अर्थ का परिज्ञान कराते हैं। आचार्य कहते हैं, कि यों मन्तव्य होय तब तो वर्णों का क्रम तुमने इष्ट ही कर लिया अन्यथा यानी वर्णों के क्रम का प्रत्याख्यान करते ही चले जाते तो उस क्रम करके सहित पना यह वर्णों का विशेषण घटित नहीं होसकता था इससे सिद्ध है, कि वर्णों के क्रम को वाक्य मानना कोई बुरा पक्ष नहीं है।

वर्णाभिव्यक्तेः क्रमो न वर्णानां तेषामक्रमत्वात्। उपचारात्तु तस्य तत्र भावात्तद्विशेषणत्वमुपपद्यत एवेति चेन्न, एकांतनित्यत्वे वर्णानामभिव्यक्तेः सर्वथानुपपत्तेः, उपचारासमर्थनात्तत्र मुख्यक्रमस्य प्रसिद्धेः।

वर्णों के क्रम को वाक्य नहीं चाहने वाले मीमांसक यदि यों कहें कि वर्ण तो नित्य हैं, व्यापक हैं, नित्य विद्यमान होरहे पदार्थ का काल-सम्बन्धी क्रम और व्यापक होरहे पदार्थ का देशिक क्रम बन नहीं सकता है, हां कण्ठ, तालु, ध्वनि, आदि अभिव्यंजकों द्वारा होरही वर्णों की अभिव्यक्ति का क्रम तो माना जा सकता है, किन्तु वर्णों का क्रम नहीं है, क्योंकि उन वर्णों का क्रम-रहितपना निर्णीत है, हां उपचार से तो उस क्रम का उन वर्णों में सद्भाव मान लियाजाता है, अतः क्रम से वर्ण

सुनाई देरहे हैं, यों क्रम को उन वर्णों का विशेषण होजाना बन जाता ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वर्णों को एकान्त रूप से सर्वथा नित्य मानने पर वर्णों की अभिव्यक्ति की सभी प्रकारों से असिद्धि होजाने की युक्तियों द्वारा समर्थन किया जा चुका है। अर्थात्-अनभिव्यक्त स्वभाव को छोड़ कर अभिव्यक्त परिणति को ग्रहण कर रहे वर्ण सर्वथा नित्य नहीं कहे जा सकते हैं, नित्य पक्ष में सभी वर्णों की संकीर्ण अति होने लग जायगी, आदि अनेक दोषों की सम्भावना है, अतः वर्णों की अभिव्यक्ति का पक्ष सर्वथा निर्बल है, युक्तियों से वर्णों में मुख्य क्रम की ही प्रसिद्धि होरही है, अतः वर्णों के क्रम को वाक्य कहने वाले का मत अनेकान्त पक्ष का अवलम्ब करते हुये हमें अच्छा जंचता है, व्यर्थ ही चाहे जिस सन्मुख आये हुये का निराकरण या तिरस्कार करने की टेव हमें अच्छी नहीं जंचती है।

कः पुनरयं क्रमो नाम वर्णानामिति चेत्, कालकृता व्यवस्थेति ब्रूमः। कथमसौ वर्णानामिति चेत्, वर्णोपादानादुदात्ताद्यवस्थावत्। तर्ह्यौपाधिकः क्रमो वर्णानामिति चेन्न, उदात्ताद्यवस्थानामप्यौपाधिकत्वप्रसंगात्। औपाधिक्युदात्ताद्यवस्था एव वाचो वर्णत्वात् ककारादिवदिति चेन्न, तेषां स्वयमनंशत्वासिद्धेः स्वभावतस्तथात्वोपपत्तेरन्यथा ध्वनीनामपि स्वाभाविकोदात्तत्वाद्ययोगात्।

ग्रन्थकार के प्रति कोई पूछता है, कि आप क्रम को वाक्य मानने वाले का इतना अधिक पक्षपात कर रहे हैं, तो बताओ जैन सिद्धान्त अनुसार यह वर्णोंके क्रमका लक्षण भला फिर क्या है? न्यायवेदियों के यहां जो भी कुछ क्रम का लक्षण किया जायगा उसमें न्यून, अधिक, करते हुये आप अवश्य ही अनेकान्तप्रक्रिया को जड़ देंगे।

यों कहने पर इसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं, कि व्यवहारकाल करके की गई वर्णों की व्यवस्था ही क्रम है, ऐसा हम स्पष्ट निरूपण करते हैं। इस पर पुनः प्रश्न उठाया जाता है कि वह कालकृत व्यवस्था भला वर्णों का क्रम कैसे कही जा सकती है? बताओ, यानी यह तो वही कथन हुआ कि "पेट में पीड़ा और आँख में ओषधि लगाई गयी"।

यों आक्षेप प्रवर्तने पर तो आचार्य कहते हैं, कि वर्णों करके व्यवहारकाल को निमित्त पाकर हुई परिणतियों का ग्रहण कियाजाता है, जैसे कि उदात्त, अनुदात्त, प्लुत, अनुनासिक, निरनुनासिक ह्रस्व, आदिक अवस्थाओं का उपादान वर्ण कर लेते हैं, अतः पहिले, पिछले, समयों में क्रम से होरही वर्णों की उत्पत्ति अनुसार वर्णों का क्रम माना जाताहै। "कालो न यातो वयमेव याताः" इसका अभिप्राय भी वही है कि समय नहीं गया उन उन समयों में हुई हमारी अमूल्य अवस्थायें व्यर्थ निकल गयीं, समय बेचारा चला भी जाय तो हमें कोई अनुताप नहीं है।

पूर्व पक्ष वाला पण्डित कहता है कि तब तो वर्णों का क्रम वास्तविक नहीं होकर केवल उपाधि के अनुसार कियागया औपाधिक हुआ जैसे कि जपापुष्प के सन्निधान से स्फटिक को लाल

कह दिया जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो नहीं कहना क्योंकि वर्णों के क्रम को यदि औपाधिक माना जायगा तो वर्णों की स्व शरीर होरही उदात्त, स्वरित, आदि अवस्थाओं के भी औपाधिक पने का प्रसंग आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है। पुनः यदि तुम कहो कि वचन की उदात्त, अनुदात्त, आदि अवस्था तो उपाधियों से जन्य ही है यानी वर्णों की गांठ का स्वरूप नहीं है (प्रतिज्ञा) वर्ण होने से (हेतु) ककार चकार, आदि वर्णों के समान (अन्वय दृष्टान्त)। अर्थात्-न्यारे न्यारे अभिव्यजको अनुसार वाचाओं की क, च, हैं, आदि वर्ण व्यवस्था प्रकट हो जाती है, उच्च उच्चारण नीच उच्चारण, आदि अभिव्यंजकों द्वारा उदात्त आदि अवस्था गढ़ ली जाती है किन्तु ये अवस्थायें शब्द का मूल शरीर नहीं हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ग्रन्थकार कहते हैं यह तो नहीं कहना क्योंकि उन वर्णों का स्वय मूल शरीर से अंश रहित-पना असिद्ध है, यथार्थरूप से विचारा जाय तो वर्णों के स्वकीय स्वभाव से ही निसप्रकार ककार, चकार, उदात्त, अनुदात्त, आदि अवस्थायें गांठ की बन रही हैं अन्यथा यानी ककार, उदात्त आदि अवस्थाओं को अभिव्यञ्जक कारणोंका ही स्वरूप मानते हुये यदि शब्दोंकी मूल पूंजी नहीं माना जायेगा तो हम कह सकते हैं कि ध्वनियों के भी अपने गांठ की स्वाभाविक उदात्तपन आदि अवस्थाओं का योग नहीं बन सकेगा यानी ध्वनियों में भी उदात्तपन गांठ का नहीं है किसी दूसरे पदार्थ से ऋण लिया गया है और दूसरे पदार्थ में भी कहीं अन्य स्थल से उधार लियागया होगा यों कहने वाले का मुख कोई पकड़ा नहीं जा सकता है। एक बात यह भी है कि ककार, अकार, उदात्त, आदि अवस्थाओं को यदि वाचाओं का औपाधिक स्वरूप माना जायगा तो फिर वाचाओं की गांठ का कोई निज शरीर ठहरता ही नहीं है, जब गांठ का कोई शरीर नहीं तो औपाधिक धर्म किस पर चढ़ बैठे ? बात यह है कि जगत् के सभी पदार्थ अनेक अंशों से सहित हैं जो जिसका स्वरूप, प्रमाणों से सिद्ध है वह उसी का अंग माना जाता है, वर्णों के ककार, उदात्त, आदि निज अंश प्रतीत-सिद्ध हैं, अतः वे औपाधिक नहीं कहे जा सकते हैं। खांड़ का मीठापन, जल का द्रवपन, अग्नि की उष्णता, वायु का बहना, पत्थर का गुरुत्व, ये सब गांठ के अंश हैं, औपाधिक नहीं हैं।

ततः स्वकारणविशेषवशात् क्रमविशेषविशिष्टानामकारादिवर्णानामुत्पत्तेः कथंचिदनर्थान्तरं क्रमः। स च सादृश्यसामान्यादुपचारादेकः प्रतिनियतविशेषाकारतया त्वनेक इति स्याद्वादिनामेकानेकात्मकः क्रमोपि वाक्यं न विरुध्यते।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि अपने अपने उत्पादक विशेष कारणों के वश से हुये क्रम विशेष करके विशिष्ट होरहे ही आकार आदि वर्णों की उत्पत्ति होरही है, अतः वह काल-सम्बन्धी क्रम वर्णों से कथंचित् अभिन्न है जैसे कि यथाक्रम आतान, वितान, स्वरूप किये गये तन्तुओं का दैशिक क्रम थान से अभिन्न है और वह अनेक वर्णों से अभिन्न होरहा क्रम यद्यपि वस्तुतः अनेक है तो भी सदृशपरिणाम-स्वरूप सामान्य के पाये जाने से वह क्रम उपचार से एक कह दिया जाता है प्रत्येक

वर्णों में आनुपूर्वी-अनुसार नियत होरहे स्वकीय विशेष आकारों करके तो वे क्रम अनेक ही हैं। इस प्रकार स्याद्वादियों के यहां एक-आत्मक और अनेक-आत्मक होरहा क्रम भी वाक्य होजाय तो कोई जैन सिद्धात से विरोध नहीं आता है "बालादपि हितं ग्राह्यं,, शत्रोरपि गुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि,. परीक्षा-प्रधानियों को उक्त दोनों नीतियां पालनी पड़ती हैं, हां वर्णों से सर्वथा भिन्न या एक स्वभाव वाला ही मान लिये गये क्रम का तो हम स्याद्वादी भी निराकरण कर देते हैं "सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथाक्षीर-मिवाम्बुमध्यात्" इस नीति अनुसार वाक्य के लक्षण माने गये क्रम को सम्हालते हुये हमें वाक्यों से अभिन्न और एकानेकात्मक होरहे क्रम को वाक्य कह देना उचित आन पड़ता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वर्णसंघातो वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यमित्यन्ये, तेषामपि न वर्णेभ्यो भिन्नः संघातोनंशः प्रतीतिमार्गावतारी, संघातत्वविरोधाद् वर्णान्तरवत्। नापि ततोऽनर्थान्तरमेव संघातः प्रतिवर्ण-संघातप्रसंगात्। न चैको वर्णः संघातो भवेत्। कथंचिदन्योनन्यश्च वर्णेभ्यः संघात इति चेत्, कथमेकानेकस्वभावो न स्यात् ? कथंचिदनेकवर्णादभिन्नत्वादनेकस्तत्स्वात्मवत्। संघातत्वपरिणामादेशात्ततो भिन्नत्वादेकः स्यादिति प्रतीतिसिद्धेः।

अब कोई अन्य पण्डित वाक्य का लक्षण यों कहते हैं कि वर्णों का संघात ही वाक्य है जो कि वाक्य द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ की प्रतिपत्ति का ज्ञापक कारण है। आचार्य कहते हैं कि उनके यहां भी वर्णों से सर्वथा भिन्न होरहा और अंशों से रहित माना गया ऐसा कोई संघात तो प्रतीतियों के निश्चित मार्गपर नहीं उतरता है क्योंकि संघातपने का विरोध होजायगा जैसे कि अन्य वर्णों का समुदाय न्यारा पड़ा हुआ उन वर्णोंका संघात नहीं है। भावार्थ-जैसे अन्य वर्णों का संघात कर दिया गया इन प्रकृत वर्णों का सम्मेलन नहीं कहा जा सकता है उसी प्रकार इन प्रकृत वर्णों से भिन्न पड़ा हुआ संघात भला इन वर्णों का कैसे भी नहीं होसकता है, चावलों के समुदाय को गेहूँ का ढेर कोई नहीं कहता है भेड़ों का झुण्ड भी मनुष्यों का मेला नहीं कहा जासकता है, उसी प्रकार देवदत्त इस पद में एकत्रित होरहे वर्णों का समुदाय बेचारा महावीरदास इस पद स्वरूप संघात नहीं हो सकता है। यों उन वर्णों से भिन्न पड़ा हुआ संघात भी उन्हीं वर्णों का अविष्वग्भाव नहीं कहा जायेगा। तथा उन वर्णों से संघात अभिन्न ही होय ऐसा भी एकान्त करना ठीक नहीं है क्योंकि यों तो प्रत्येक वर्ण अनुसार संघात होजाने का प्रसंग आजावेगा किन्तु एक वर्ण तो संघात हो नहीं सकता है।

अर्थात्-चार वर्णों से सर्वथा अभिन्न यदि संघात माना जायगा तो चार संघात अनायास ही बन बैठेंगे कोरे एक को संघात कहना विरुद्ध है, सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद पक्षों में आये हुये दोषों को टालते हुये आप यदि वर्णों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होरहा संघात मानो तब तो जैन मत का अनुसरण करते हुये आपके यहां वह संघात-स्वरूप वाक्य बेचारा एक अनेक स्वभावों को धारने वाला किस प्रकार नहीं होजावेगा ? देखिये अनेक वर्णों के साथ कथंचित् अभेद

होजाने से वह संघात अनेक हैं जैसे कि उन वर्णों के निज निज स्वरूप न्यारे न्यारे होरहे अनेक हैं तथा निराले पड़े हुये पृथक पदार्थों का एकी भाव होना-स्वरूप संघातपन परिणति की अपेक्षा कथन करने से उन अनेक वर्णों से भिन्न होने के कारण वह संघात एक समझा जायेगा, यह प्रतीतियों से सिद्ध विषय है। अतः परस्पर अपेक्षा रखने वाले वर्णों के निरपेक्ष समुदाय रूप पद को प्राप्त हुये वर्णों का काल प्रत्यासत्ति स्वरूप संघात है जो कि वर्णों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है। शब्दों के उच्चारण अनुसार वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति कराने में कालकृत प्रत्यासत्ति अभीष्ट है, हां पुस्तक में लिखे हुये उपचरित वर्णों की देश प्रत्यासत्ति से किया गया संघात भी चोखा माना जा सकता है, यों जैन सिद्धान्त अनुसार संघात का विवेचन करने पर वर्णों के संघात को वाक्य कह देने में कोई अनिष्टापत्ति नहीं है।

एतेन संघातवर्तिनी जातिर्वाक्यमिति चिंतितं, तस्याः संघातेभ्यो भिन्नायाः सर्वथानुत्पत्तेः। कथंचिदभिन्नायास्तु संघातवदेकानेकस्वभावत्वसिद्धर्नांशः शब्दात्मा कश्चिदेको वाक्यस्फोटोस्ति श्रावणबुद्धौ जात्यंतरस्यार्थप्रतिपत्तिहेतोः प्रतिभासनात् एकानेकात्मन एव सर्वात्मना वाक्यस्य सिद्धेः।

जैन मत अनुसार उक्त प्रकार का संघात वाक्य हो सकता है, इस विवरण करके संघात में वर्त रही जातिको वाक्य कहने का भी चिन्तन (चिन्तवन) करदिया जा चुका समझ लेना चाहिये संघातों से सर्वथा भिन्न हो रही उस जाति का तो सभी प्रकारों से सिद्धि नहीं होसकती है जैसे घट से सर्वथा भिन्न घटत्व जाति नहीं सध पाई है तथा जातिवान् से सर्वथा अभिन्न भी कोई जाति नहीं सिद्ध होपाती है। हां अभी बखान दिये गये संघात के समान उस संघात में वर्त रही कथंचित् अभिन्न होरही जाति के तो एक अनेक स्वभाव से सहितपने की सिद्धि होजाती है. परस्पर अपेक्षा रखते हुये पदोंके निराकांक्ष संघात में वर्त रही सदृश परिणाम स्वरूप और उन वर्णों या पदों से कथंचित् अभिन्न होरही जाति को वाक्यपना सुघटित है। उचित निर्णयों को मानने के लिये हम सर्वथा सन्नद्ध बैठे रहते हैं, अतः अंशोंसे रहित होरहा नित्य एकस्वभाव वाला कोई भी एक वाक्य स्फोट नहीं है। आख्यात शब्द, आद्यपद, अन्त्यपद, एक अन्वय शब्द, वर्णक्रम, वर्णसंघात, संघातवर्तिनी जाति, इनको यदि वाक्य स्फोट कहा जायगा सो आपके मन्तव्य अनुसार इनका एक स्वभाव और अंश रहित स्वरूप से किसी को भी प्रतिभास नहीं होरहा है किन्तु सांश, अनित्य, एक स्वभावी, कथंचित् अनेक-स्वभावी, स्वरूप से ये जाने जारहे हैं। वाच्य अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के करण होरहे उक्त वाक्यों का श्रोत्र इन्द्रिय जन्य श्रावणप्रत्यक्ष में तो ऐसों का ता परिज्ञान होरहा है जो कि सर्वथा एक और सर्वथा अनेक यानी अभेद और सर्वथा भेद इन दोनों पक्षों से निराली जाति के अनेक तीसरे कथंचित् भेदाभेद स्वरूप को धार रहे हैं, अपने सम्पूर्ण निज स्वरूप करके एकात्मक, अनेकात्मक हो रहे ही वाक्य की सिद्धि होरही है, विवाद बढ़ाना व्यर्थ है। तीसरी वार्तिक का विवरण होचुका, अब

इस सूत्र की चौथी वार्त्तिक का विवरण किया जाता है।

यदि पुनरंतःप्रकाशरूपः शब्दस्फोटः पूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनोन्त्यवर्णश्रवणानंतरं वाक्यार्थनिश्चयहेतुर्बुद्ध्यात्मा ध्वनिभ्योऽन्योभ्युपगम्यते, स्फुटत्यर्थोस्मिन् प्रकाशत इति स्फोट इत्यभिप्रायात्, तदाप्येतस्यैकानेकात्मकत्वे स्याद्वादसिद्धिरात्मन एव वाक्यार्थग्राहकत्वपरिणतस्य भाववाक्यस्य संप्रत्ययात्, तस्य स्फोट इति नामकरणे विरोधाभावात्। तस्य निरंशत्वे तु प्रतीतिविरोधः, सर्वदा तस्यैकानेकस्वभावस्य त्रिधांशकस्य प्रतिभासनात्।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आख्यात शब्द, संघात, आदि को वाक्य कहने वाले न्यायवेदी पण्डित बुद्धि को भी वाक्य मानते हैं बहिरंग वाक्य को शब्दस्फोट मानने में कुछ अवधीरणा पाकर अब वैयाकरण विद्वान् अन्तरंग ज्ञान को स्फोट मानते हुये पूर्व पक्ष कहते हैं। स्फोट वादी के ऊपर विचार चलाते हुये आचार्य महाराज ने सबसे प्रथम दो विकल्प उठाये थे कि वह स्फोट शब्द स्वरूप है? अथवा क्या शब्द से किसी न्यारे पदार्थ स्वरूप है? प्रथम विकल्प का विचार होचुका है, अब दूसरे अशब्दात्मक स्फोट के विकल्प का विचार चलाते हैं।

अन्तरंग में ज्ञानप्रकाशरूप होरहा बुद्धिस्वरूप स्फोट है, जोकि पूर्व पूर्व में सुने जा चुके वर्णों के ज्ञान के धारे गये संस्कारोंवाले आत्मा को अन्तिम वर्ण के श्रावण प्रत्यक्ष अनन्तर हुई वाक्य के अर्थ की निश्चय प्रतिपत्ति करा देने का हेतु है, यह बुद्धि-स्वरूप शब्द स्फोट उन वायु स्वरूप या शब्दस्वरूप ध्वनियों से निराला स्वीकार किया गया है। जिस ज्ञान में वाक्यार्थ स्फुट होकर भास जाता है, यानी शाब्दबोध प्रकाश जाता है, यों इस निरुक्ति करने के अभिप्राय से यह बुद्धि स्वरूप स्फोट माना गया है। आचार्य कहते हैं,कि यदि द्वितीयपक्ष अनुसार फिर यों कहोगे तब भी इस बुद्धिस्वरूप शब्द-स्फोट को एकआत्मक अनेकात्मकपना मानने पर स्याद्वाद सिद्धान्तकी ही सिद्धि होती है, क्योंकि आत्मा के ही वाक्यार्थ के ग्राहक होकर परिणम गये ज्ञान-स्वरूप भाववाक्यपन का इस तुम्हारे स्फोट करके समीचीन ज्ञान होता है, उस भाववाक्य-स्वरूप आत्मा का स्फोट ऐसा नाम कर देने में हमें कोई विरोध नहीं करना है। पदार्थ ज्ञान को आवरण करने वाले ज्ञानावरण कर्म और तदनुकूल वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से विशिष्ट होरहा आत्मा पदस्फोट है, तथा वाक्यार्थ ज्ञान को रोकने वाले ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से सहित होरहा आत्मा वाक्यस्फोट है वाक्य या वाक्यार्थ ज्ञान के उपयोगी विशेषपुरुषार्थ से युक्त होरहे आत्मा की विशेषबुद्धि ही भाववाक्य या स्फोट है, हाँ उस बुद्धिस्वरूप शब्दस्फोट को यदि अंशों से रहित माना जायगा तब तो प्रतीतियों से विरोध आवेगा क्योंकि एक स्वभाव,अनेक स्वभाव, एकानेकस्वभाव, यों तीनप्रकार अंशों के धारी उस भाववाक्य का सदा प्रतिभास होता रहता है।

भावार्थ–जैन सिद्धान्त अनुसार भावमन, भाव इन्द्रियां, भाव वाक्य, ये सब आत्मा की परि-

प्रतियां ज्ञान स्वरूप पड़ती हैं, वीर्यान्तराय कर्म, ज्ञानावरण कर्म, श्रुतज्ञानावरण कर्म, इनके क्षयोपशम से उत्पन्न हुयी आत्मा की ज्ञान-शक्ति भाव वाक्य है, कण्ठ, तालु, आदि में व्यापार कर रहे क्रियावान् या क्रिया सम्पादक आत्मा की वह शक्ति पौद्गलिक वचनों को बनाने में भी सहायक होजाती है। सप्तभंगी के पहिले तीन भंगों अनुसार वह भाव-वाक्य-स्वरूप आत्मा कथंचित् एक स्वभाव, अनेक स्वभाव, और एकानेकस्वभावों को धार रहा है, प्रत्येक ज्ञान में सम्वेदक, सम्वेद्य सम्वित्ति, ये तीन अंश पाये जाते हैं, सम्पूर्ण सत् पदार्थों में उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीन अंश भी पाये जाते हैं। श्री समन्तभद्राचार्य भगवान् तो "बुद्धि-शब्दार्थसंज्ञास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचकाः। तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः" इस देवागम की कारिका अनुसार प्रत्येक अर्थ को तीन प्रकार से विभाजित करते हैं, घट शब्द, घटअर्थ, घटज्ञान, इन स्वरूपों से "घट" माना जा सकता है, व्याकरण पढ़ने वाले विद्यार्थी को घट कह देने से वह घटः घटौ घटाः। घटं घटौ घटान् इत्यादि शब्द रूपों को सुनाने लग जाता है, यह शब्द हुआ। कुम्हार के प्रति घट कहदेने से वह मिट्टी के घड़े को सौंप देता है, यह अर्थ है। न्याय को पढ़ने वाले छात्र के सन्मुख कहे गये घटद्वारा घटज्ञान करा दिया जाता है, यह ज्ञान-परक है, यों सभी अभिधेय अर्थों की त्रिधा अंश कल्पना होसकती है, अतः चाहे शब्द-आत्मक वाक्य को स्फोट माना जाय अथवा भले ही बुद्धिस्वरूप शब्द को स्फोट कहा जाय प्रतीतियों अनुसार इनको सांश और एकानेक स्वभाववान् मान लेने पर तो हमें कोई प्रसंग नहीं उठाना है। संज्ञा मात्र से भेद होजाने पर हमारा तुमसे कोई विरोध नहीं है हां अर्थभेद तो अवश्य खटका उत्पन्न करता है। उसके लिये जैन सिद्धान्त अनुसार समीचीन युक्तियों के मिल जाने पर स्फोट-वादी वैयाकरणों को संतोष कर लेना चाहिये।

न चायमभिनिवेशः शब्दस्फोट इति श्रेयान् गन्धादिस्फोटस्य तथाभ्युपगमार्हत्वात्। यथैव शब्दः वक्तुर्गृहीतसंकेतस्य क्वचिदर्थप्रतिपत्तिहेतुस्तथा गंधादिरपि, विशेषत्वात्। एवंविधमेकं गंधं समाघ्रायान्यावधार्यः प्रतिपत्तव्यः स्पर्शं संस्पृश्य, रसं चास्वाद्य, रूपं वालोक्येत्थंभूतमीदृशो भावः प्रत्येतव्य इति समयग्राहिणां पुनः क्वचित्तादृग्गन्धाद्युपलंभात्तथाविधार्थनिर्णयप्रसिद्धेर्गंधादिज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनस्तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतोर्गंधादिपदस्फोटतोत्पत्तेः। पूर्वपूर्वगंधादिविशेषज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनोत्यंगंधादिविशेषोपलंभानन्तरं गंधादिविशेषसमुदायगम्यार्थप्रतिपत्तिहेतोर्गंधादिवाक्यस्फोटत्वघटनात्।

हमें वैयाकरणों के प्रति एक बात यह भी कहनी है कि आप को केवल शब्दस्फोट का ही आग्रह किये चले जाना श्रेष्ठ मार्ग नहीं पड़ता है क्योंकि यों तुम्हारे यहां माने गये शब्दस्फोट की प्रक्रिया अनुसार तिसप्रकार गन्धस्फोट, रसस्फोट, हस्तस्फोट आदि का स्वीकार कर लेना भी उचित पड़ जायगा देखिये जैसे ही आप वाक्यस्फोट को मानते हुये "जिससे अर्थ स्फोट होता है वह स्फोट है" यों निरुक्तिकरके शब्दस्फोटको इस प्रकार पुष्ट करते हैं कि इस घट शब्दको सुन कर कम्बु-

ग्रीवा आदि वाला अर्थ समझ लेना चाहिये, यों संकेत ग्रहण कर पुनः वक्ता के शब्द से आत्मा को शब्दस्फोट द्वारा घटार्थ की प्रतिपत्ति होजाना स्वीकार करते हैं क्योंकि संकेत किया गया शब्द कहीं न कहीं अर्थ की प्रतिपत्ति कराने का हेतु है, उसी प्रकार गन्धस्फोट आदि में भी ये ही युक्तियां चरितार्थ होजाती हैं,कोई अन्तर नहीं है, उनको सुनिये, जैसे पदस्फोट या वाक्यस्फोटका संकेत ग्रहण कर-लिया जाता है उसी प्रकार गन्ध आदि स्फोट का भी संकेत ग्रहण यों कर लिया जाता है कि इस प्रकार के एक गन्ध को भले प्रकार सूंघ कर इस प्रकार इस जाति का अर्थ समझ लिया जाय और इस प्रकार के स्पर्श को अच्छा छू कर इसके समानजातीय अन्य ऐसे स्पर्श वाले अर्थों को समझ लिया जाय एवं इस ढंग के रस का आस्वादन कर इस प्रकार के रस वाले इतर पदार्थों को जान लिया जाय अथवा ऐसे रूप का अवलोकन कर इस जाति के अन्य रूपवान पदार्थों की प्रतीति कर ली जाय, यों संकेतों को ग्रहण कर चुके जिज्ञासुओं को पुनः कहीं पर तिस जाति के गंध आदि का उपलम्भ होजाने से जैसा पहिले देखने. सुनने में आया था उसी प्रकार के अर्थ का निर्णय होजाना प्रसिद्ध होरहा है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थात्-" घटपदात् घटरूपोऽर्थो बोद्धव्यः, आनय-पदात् आनयन-क्रिया प्रत्येतव्यः ,, घट पद से घट अर्थ समझ लिया जाय और आनय पद से आनयन क्रिया जान ली जाय, ऐसा संकेत ग्रहण हो जानेपर पुनः उन शब्दों के श्रवण अनुसार वैसे अर्थ कि प्रतिपत्ति होजाने को देखते हुये जैसे वैयाकरण पदस्फोट या वाक्यस्फोट की उत्पत्ति कर लेते हैं उसी प्रकार बेला, मौलश्री, चम्पा, चमेली, जुही के फूलों की गन्ध को एकवार सूंघ कर वृद्ध वाक्य द्वारा संकेत ग्रहण कर चुका कुमार पुनः वैसी गंध को सूंघता हुआ उन बेला आदि के फूलों की प्रतिपत्ति कर लेता है तथा आग, मकराना, मखमल, आदि को छूकर उनमें संकेत कर चुका पुरुष पुनः अंधेरे में भी कहीं उन पदार्थों का स्पर्श होजाने पर वैसे उन अग्नि आदि अर्थों का परिज्ञान कर लेता है और आम, केला, पेड़ा, इमरती, अंगूर, अनार आदि के रसों को चाटकर संकेत ग्रहण कर चुका बालक पुनः कहीं अंधेरे में भी उन रसों का स्वाद लेता हुआ उन आम, अमरूद आदि का परिज्ञान कर लेता है एवं कामिनी, रत्न, सुवर्ण, पशु पक्षी, आदि के रूपों को देख कर उन रूपवान पदार्थों में संकेत ग्रहण कर रहा निकट बैठा हुआ युवा पुरुष पुनः अन्यत्र वैसे वैसे रूपों को देख कर कामिनी, रत्न आदि पदार्थों की ज्ञप्ति कर लेता है, रोगी की नाड़ी गति अनुसार वैद्य भूत, भविष्य के परिणाम को कह देता है, गणित ज्योतिष या फलित ज्योतिषशास्त्र के वेत्ता विद्वान भूत, भविष्य, वृत्तान्तों को जान लेते हैं।

अतः गन्ध आदि के द्वारा पूर्व में धार लिये गये धारणा नामक संस्कार को प्राप्त कर चुके और उन उन संकेत ग्रहीत वाक्यार्थों की प्रतिपत्ति के हेतु होरहे आत्मा के बुद्धि-स्वरूप गन्ध पदस्फोट, स्पर्श पद स्फोट आदि होना युक्ति सिद्ध हो जाता है जैसे कि शब्दों का बुद्धि स्वरूप पद-स्फोट मान लिया गया था। तथा पहिले पहिले संकेत ग्रहण करते समय गन्ध आदि के विशेष ज्ञानों के संस्कार को धार रहे आत्मा को अन्तिम गन्ध, स्पर्श आदि विशेषों की उपलब्धि पश्चात् गंध आदि

विशेषों के समुदाय करके जाने गये अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु होरहे गंध वाक्य स्फोट, स्पर्शवाक्य-स्फोट, होना भी सुघटित है।

अर्थात्-आत्मा "देवदत्त घटमानय" इस शब्द पंक्ति के देवदत्त पद को सुनाता है इस पद का संस्कार जमा लेता है पुनः " घटं ,, पद को सुन कर इसकी धारणा कर लेता है, पुनः अन्तिम आनय पद को सुन कर झट वाक्य प्रतिपत्ति कर लेता है यों होते देखकर वाक्यस्फोट को जैसे वैयाकरण मान लेते हैं उसी प्रकार पहिले गन्ध को सूंघ कर उसका संस्कार धार लिया गया पश्चात्-दूसरी गन्ध को सूंघा उसकी भी धारणा को आत्मा में जमा लिया, यों पहिले पहिले गंध ज्ञानों के संस्कारों का आधान कर रहा आत्मा अन्तिम गन्ध का घ्राणज प्रत्यक्ष कर पूरी गंध धाराओं के समुदाय की प्रतिपत्ति कर लेता है, अतः इस प्रतिपत्ति का कारण गन्ध वाक्य स्फोट भी घटित हो जाता है, इसी ढंग से स्पर्श, रस, रूपों, के पहिले पहिले धार लिये गये संस्कारों वाले आत्मा को अन्तिम स्पर्शादि की उपलब्धि होजाने पर उन उन अर्थ समुदाय आदि की हुई प्रतिपत्ति के कारण माने जाने योग्य स्पर्श वाक्य स्फोट, रसवाक्यस्फोट, रूपवाक्यस्फोट, भी गढ़े जा सकते हैं। नाड़ीगति स्फोट आदि अनेक बुद्धि-स्वरूप स्फोटों को मानने में वैयाकरणों के यहां कोई क्षति नहीं पड़ जायगी " संग्रहःखलु-कर्त्तव्यः परिणामे सुखावहः ,, इस नीति से भी कथंचित् लाभ होजाता है।

तथा लोकव्यवहारस्यापि कर्तुं सुशकत्वात् कायप्रज्ञप्तिवत्। हस्तपादकरणमात्रिकांगहारादिस्फोटवद्वा पदादिस्फोट एव घटते न पुनः स्ववयवक्रियाविशेषाभिव्यंग्यो हंसपद्मादिर्हस्तस्फोटः स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तेर्हेतुरिति स्वल्पमतिसंदर्शनमात्रम्।

गंध पद स्फोट, गंधवाक्य स्फोट, आदि को साधने के लिये तिस प्रकार लोक व्यवहार सुलभता से किया जा सकता है। जैसे कि शरीर के द्वारा भूख, प्यास, आदि का प्रज्ञापन करने वाले सूचक चिन्ह कर दिये जाते हैं अर्थात् कोई पथिक उस देश की भाषा का नहीं जानता हुआ पानी पीने के लिये अपने होठ के साथ तिरछी अर्धअंजली को चिपटा कर ओक द्वारा संकेत कर देता है इतने से ही विभिन्न देश के मनुष्य को प्यासा जानकर पानी पिला देते हैं, घोड़े का संकेत कर देने पर चढ़ने या बेचने के लिये घोड़ा ला देते हैं, आंख मीच कर या मटका कर भी कई व्यंग कर दियेजाते हैं अथवा हस्तस्फोट, पादस्फोट, करणस्फोट, मात्रिकास्फोट, अंगहारस्फोट, नितम्बचालनस्फोट आदि के समान सुलभता से लोक व्यवहार को करते हुये गन्ध स्फोट, स्पर्शस्फोट, आदि मान लेने चाहिये। यदि यहां वैयाकरण यों कहैं कि पदस्फोट, वाक्यस्फोट, आदि ही सुघटित हैं किन्तु फिर नाचते समय नर्तक के अपने अपने हाथ, पैर, अंगुली, आदि अवयवों की क्रिया विशेष से प्रगट होने योग्य हंस, पद्म, आदि हस्तस्फोट तो अपने निर्देश्य या अभिनय करने योग्य अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु नहीं घटित होपाता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किसी का कहना तो अपनी बुद्धि की अल्पता को दिखलाना मात्र है।

भावार्थ-नर्तक या नर्तकी गायन के अनुसार शारीरिक भावों को करते हैं, कोई कोई तो दक्ष नृत्यकार मुख से एक अक्षर भी नहीं बोलता हुआ उस गीत के सभी भावों को नृत्य द्वारा शरीर की चेष्टाओं से ही समझा देता है। नृत्य कला में हंस, पक्ष, आदि सांकेतिक क्रियाओं को हस्त स्फोट सिखाया जाता है, कदाचित् हंस जैसे अपनी रोमावली को फुरफुरा देता है, उसी प्रकार नर्तक को अपने अवयवों की क्रिया करनी पड़ती है, ये क्रियायें कभी कभी शब्दों से भी अधिक प्रभाव उत्पन्न करा देती हैं। यदि कोई यों कहे कि वर्ण तो अनित्य हैं, अतः वे लम्बे, चौड़े, अर्थ के प्रतिपादक नहीं होसकते हैं इस कारण अर्थों की प्रतिपत्ति कराने का हेतु शब्द-स्फोट मान लिया जाता है, तब तो हम जैन भी कह देंगे कि क्रिया भी तो अनित्य है, कोई भी क्रिया बड़ी देर तक होने योग्य अभिनेय अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं करा सकती है, अतः वाक्यस्फोट के समान हस्त स्फोट या गन्ध स्फोट आदि भी वैयाकरण को अभीष्ट कर लेने चाहिये, ऐसा आचार्यों की ओर से आपादन किया जारहा है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एतेन विकुटितादिः पादस्फोटो हस्तपादसमायोगलक्षणः करणस्फोटः, करणद्वयरूपमात्रिका स्फोटो, मात्रिका सहस्रलक्षणांगहारादिस्फोटश्च न घटत इति वदन्ननवधेयवचनः प्रतिपादितो बोद्धव्यः, तस्यापि स्वस्वावयवाभिव्यंग्यस्य स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतोरशक्यनिराकरणात्।

इस उक्त गंध स्फोट आदि या हस्तस्फोट के आपादन करके वैयाकरण के ऊपर पादस्फोट आदि का भी आपादन कह दिया गया समझ लेना चाहिये। देखो यदि वैयाकरण यों कहें कि विकुट्टित यानी शरीर को घुमाना आदि क्रिया स्वरूप पाद स्फोट और हाथ, पावों, का युगपत् व्यापार करते हुए समायोग कर लेना स्वरूप करण स्फोट तथा दोनों करण स्वरूप होरहा मात्रिका स्फोट एवं सहस्रमात्रिकाओं का समूह स्वरूप अंगहार आदिक स्फोट तो घटित नहीं होपाते हैं, क्योंकि इनमें नियम रूप से ज्ञातव्य अर्थ की प्रतिपादकता नहीं देखी जाती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इसप्रकार कह रहा वैयाकरण तो प्रामाणिक वचन कहने वाला नहीं माना जा सकता है, यों कह दिया गया समझ लेना चाहिये। जब कि नर्तक या नर्तकी जनों के अपने अपने अवयवों द्वारा अभिव्यक्त करने योग्य उन पादस्फोट आदि का अपने अपने कहने योग्य या अभिनय करने योग्य अर्थों की प्रतिपत्ति के कारण होरहे स्वरूप करके निराकरण नहीं किया जा सकता है।

अर्थात् गाना, बजाना, नाचना, ये तीन तौर्यत्रिक हैं, नाच द्वारा अभिनय जो दृष्टा के हृदय में प्रभाव उत्पन्न करता है, वह शब्दों द्वारा साध्य कार्य नहीं है, तभी तो गीतों या अन्य गद्य, पद्यों की मुद्रित पुस्तकों के निकट होने पर भी रुपयों का व्यय कर रसीले पुरुष नाटकों को देखते हैं, बड़ी बड़ी सभाओं में हुये श्रेष्ठ वक्ताओं के व्याख्यान यद्यपि पुस्तकाकार रूप कर वितीर्ण होजाते हैं। फिर भी श्रोताजन अधिक रुपया व्यय कर वक्ताओं के व्याख्यानों को सुनते हैं, इसका यही रहस्य है,

कि उनकी सूरतें मूरतें, वेगवती चेष्टायें, हाव, भाव, विभ्रम, विलास, आदि सभी क्रियायें तो पत्रों या पुस्तकों में नहीं मुद्रित होसकती हैं, अतः वैयाकरण विद्वानों को हस्त स्फोट आदि भी स्वीकार कर लेना चाहिये अन्यथा वे शब्द स्फोट से भी हाथ धो बैठेंगे।

न चैवं स्याद्वादसिद्धांतविरोध श्रोत्रमतिपूर्वस्येव घ्राणादिमतिपूर्वस्य पि श्रुतज्ञा स्येष्टत्वात् तत्परिणतात्मनस्तद्धेतोः स्फोट इति संज्ञाकरणात्।

आपादन करने वाले जैनों के प्रति यदि वैयाकरण यों आक्षेप करें कि जैसे जैनों ने आख्यात शब्द वर्णक्रम आदि को कुछ न्यून, अधिक करते हुये जैन सिद्धान्त की प्रक्रिया अनुसार आदेश मान्य कर लिया था और बुद्धिस्वरूप शब्द स्फोट को आत्मा की ग्राहकत्व परिणति मान कर भाववाक्य कहते हुये स्याद्वाद सिद्धि इष्ट कर ली थी उसी प्रकार यदि कुछ जैनत्व का रंग चढ़ा कर गन्ध स्फोट आदि को भी इष्ट कर लिया जायगा ऐसी दशा में यदि स्याद्वादसिद्धान्त से विरोध आगया तो तुम जैन फिर कहां शरण लोगे ? दूसरों से भी गये और अपनों से भी गये।

ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार स्याद्वाद नीति अनुसार गन्ध स्फोट आदि माननेपर हमको सर्वज्ञोक्त स्याद्वाद सिद्धान्त के कोई विरोध नहीं पड़ता है क्योंकि शब्दों के श्रोत्र इन्द्रिय-जन्य मति-ज्ञान को कारण मान कर हुये श्रुतज्ञान के समान हमने नासिका, स्पर्शन, आदि इन्द्रियों से उपजे गन्ध का सूंघना, स्पर्श का छू लेना, आदि मतिज्ञानों को भी पूर्ववर्त्ती मान कर हुये श्रुतज्ञानों को इष्ट किया गया है, उस ज्ञेय अर्थ की प्रतिपत्ति के हेतु होरहे और सदृशगंधवान् या अभिनेय अर्थों के ग्राहकपन परिणाम से युक्त होरहे आत्मा की गन्ध-स्फोट, हस्तस्फोट ऐसी संज्ञायें कर ली जाती हैं, चाहे शब्द स्फोट हो अथवा गन्ध-स्फोट हो बुद्धिस्वरूप ग्राहकत्व परिणति कोई आत्मतत्व से निराला पदार्थ नहीं है।

गंधादिभिः कस्यचिदर्थस्य संबंधाभावात् तत्र तदुपलंभनिमित्तकप्रत्ययानुपपत्तेर्न तथा परिणतो बुद्ध्यात्मा स्फोटः संभवतीति चेत्, ततएव शब्दस्फोटोपि मास्म भूत् शब्दस्यार्थेन सह योग्यतालक्षणसंबंधसद्भावात् तत्संभवे तत एवेतरसंभवः। गंधादीनामर्थेन सह योग्यताख्यसम्बन्धाभावे संकेतसहस्रेपि ततस्तत्प्रतीत्ययोगाच्छब्दतः शब्दार्थवत्।

वैयाकरण अपने ऊपर आये हुये आपादनों का निराकरण यों करते हैं, कि गंध, स्पर्श, हंसपक्ष्म, विस्फुटित आदि के साथ किसी भी अविनाभावी होरहे अर्थ का सम्बन्ध नहीं है। अतः "स्फुटति अर्थः अस्मिन् आत्मनि, इस निरुक्ति अनुसार उस आत्मा में स्फोट सम्पादक माने गये उन पूर्व पूर्व के गन्ध आदि विशेषों के उपलम्भ को निमित्त पाकर हुयी मानी जा रही उन सदृश गन्ध वा अभिनेय (शरीर क्रियाओं द्वारा दिखाने योग्य प्रमेय) अर्थों की प्रतीति नहीं बन पाती है। अतः तिस प्रकार ग्राहकत्व परिणति से युक्त होरहा बुद्धिस्वरूप आत्मा स्फोट नहीं सम्भवता है। यों कहने पर तो

हम जैन कहेंगे कि तिस ही कारण से अतीत में कहा गया शब्द स्फोट भी मत होओ, भैंस के सन्मुख वीणा बजाने या श्लोक सुनाने के समान बहुत से शब्दों करके भी तो नियत अर्थों की प्रतीति नहीं होपाती है। पुनः यदि वैयाकरण यों कहें कि शब्द का तो अर्थ के साथ योग्यता-स्वरूप सम्बन्ध विद्यमान है, अतः वह शब्द स्फोट सम्भव जाता है, तब तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि तिस कारण यानी गन्ध, हंस पक्ष्म आदि का भी अपने अर्थ के साथ योग्यता नामक सम्बन्ध होजाने के कारण दूसरे गन्धस्फोट आदि भी सम्भव जायंगे. आक्षेप और समाधान दोनों स्थलों पर समान हैं। गन्ध, रूप आदिकों का यदि उनके द्वारा ज्ञेय अर्थों के साथ योग्यता नामक सम्बन्ध नहीं माना जायगा तो हजार संकेत करने पर भी उन गन्ध आदिकों से उन पुष्प, अग्नि, आम्रफल, कामिनी, आदिक अर्थों की प्रतिपत्ति नहीं होसकेगी। जैसे कि अपरिचित भिन्न भाषाओं के शब्दों से अथवा पशु पक्षियों के शब्दों से संकेत किये बिना शब्दों के उन वाच्यार्थों की प्रतीति नहीं होपाती है।

प्रतिपत्तुरगृहीतसंकेतस्य शब्दस्य श्रवणात् किमयमाहेति विशिष्टार्थे संदेहेन प्रश्नदर्शनादर्थसामान्यप्रतिपत्तिसिद्धेः शब्दसामान्यस्यार्थसामान्येन योग्यतासंबंधसिद्धिरिति चेत्, तत एव रूपादिसामान्यस्य स्वदर्शार्थसामान्येन योग्यतासिद्धिरस्तु स्वयमप्रतिपन्नसंकेतस्यांगुल्यादिरूपदर्शने केनचित्कृते किमयमाहेति विशिष्टार्थे संशयेन प्रश्नोपलंभादर्थसामान्यप्रतिपत्तिसिद्धेरविशेषात्।

वैयाकरण कहते हैं कि शब्द चाहे कैसा भी होय बुद्धिमान पुरुष को सामान्य रूप से उसका अर्थ स्वल्प भास ही जाता है। जिस शब्द के साथ संकेत ग्रहण नहीं भी किया गया है, उस शब्द का श्रवण करने से "यह शब्द किस अर्थ को कह रहा है" यों विशिष्ट अर्थ में संदेह होजाने से प्रश्न उठाना देखा जाता है। अतः अर्थापत्या सिद्ध होजाता है, कि प्रतिपत्ति करने वाले ज्ञाता को शब्द के सामान्य अर्थ की प्रतिपत्ति हो चुकी है, इस कारण सामान्य रूप से शब्दों की सामान्य रूप से अर्थों के साथ योग्यता नामक सम्बन्ध की सिद्धि होरही समझ लो जाती है। सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः (गौतम न्याय सू॰) अर्थात्—दूर से किसी गाम या नगर को देख कर यों विशेषों में संशय उपजता है कि यह कौनसा नगर है? कानपुर है या प्रयाग है? यों विशेषांशों में प्रश्न करना देखा जाने से प्रश्न-कर्त्ता पुरुष को सामान्य नगर का ज्ञान होचुका निर्णीत कर लिया जाता है। उसी प्रकार दूर से शब्द को या गायन को अथवा भूख या प्यास, काम-पीड़ा, अनुसार प्रयुक्त की गई गाय भैंस की रेंक को सुन कर भी विशेषांशों में संशय होरहा देखा जाता है। अतः अर्थापत्या जान लिया गया कि प्रतिपत्ता को उन शब्दों के सामान्य अर्थ की प्रतिपत्ति होचुकी है, किन्तु गंध आदि का ज्ञात कर तो किसी भी सामान्य या विशेष अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होपाती है, अतः गन्ध स्फोट आदि का मानना अनावश्यक है, वैयाकरणों के यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं। कि तिस ही कारण से यानी गन्ध आदि सामान्य को भी स्वकीय ज्ञातव्य अर्थ के साथ सामान्यरूप से

ज्ञापकपन की योग्यता होने से ही रूप आदि सामान्य क अपने द्वारा देखने योग्य सामान्य रूप से अन्य अर्थों के साथ भी योग्यता नामक सम्बन्ध की सिद्धि होरही मान ली जाओ तथा हस्त पाद आदि क्रियाओं की भी अपने अभिनेय अर्थ के साथ सामान्य रूप से प्रतिपादनार्थ योग्यता नामक सम्बन्ध बन रहा भी मान लिया जाय किसी पुरुष ने अंगुली आदि के रूप या अवयव-संचालन का किसी विशेष अर्थ के साथ स्वयं संकेत ग्रहण नहीं किया है, ऐसी दशा में किसी स्वामी या नतक ने अंगुली आदि के रूप का दिखलाना किया उसको देख कर उस पुरुष द्वारा 'यह चिन्ह किस अर्थ को कह रहा है ?" यों विशिष्ट अर्थ में संशय करके प्रश्न उठाना देखा जाता है, अतः सिद्ध होजाता है. कि उस पुरुष को अंगुली आदि के रूप के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ की सामान्य रूप से प्रतिपत्ति प्रथम से ही थी तभी तो विशेष अंशों में संशय उठाया गया है। शब्दसामान्य और गन्ध सामान्य या अवयव क्रिया सामान्य में कोई विशेषता नहीं है।

अर्थात् तुम्हारे परामर्श अनुसार सभी पदार्थ कुछ न कुछ अर्थों को कह ही रहे हैं, अलङ्कार की रीति से भूमि भी यह शिक्षा देती है कि मेरे समान सबका सहनशील होना चाहिये चाहे खोदले भले ही कूड़ा करकट डाल दे, हमें क्षमा है। खम्भ सिखा रहा है, कि अपने ऊपर आये हुये बोझ को सहर्ष झेल लेना चाहिये। काटने वाले को भी गंध दे रहा चन्दन वृक्ष सिखाता है, कि मित्र, शत्रु, किसी के भी साथ राग द्वेष मत करो वात्सल्य भावों को बढ़ाओ। आकाश समझाता है, कि मेरे समान सम्पूर्ण जीव अलिप्त होजावें यही द्रव्यों, का स्वाभाविक स्वरूप है। अग्नि से पापों के ध्वंस करने की शिक्षा लो। घड़ी यन्त्र कह रहा है कि व्यर्थ में समय को मत खोओ, मेरे समान सदा शुभ काय करने में लगे रहो। इत्यादि प्रकारों से कुत्ता, हंस, हाथी, वेश्या, गधा, कौआ, आदि से भी स्वामिभक्ति, स्वल्पनिन्दा, नीरक्षीरविवेक समान न्याय करना, गमन, लोकचातुर्य, संतोष पूर्वक लोलुपताके बिना उदर भर लेना, चेष्टा, आदि कृत्य सीखे जा सकते हैं, ऐसी अवस्था में शब्दस्फोट के समान तुम गंध स्फोट आदि का प्रत्याख्यान नहीं कर सकते हो।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तदेवं शब्दस्येवार्थे गंधादीनां प्रतिपत्तिं कुर्वतामाक्षेपसमाधानानां समानत्वादंतः प्रकाशरूपे बुद्ध्यात्मनि स्फोटे शब्दादन्यस्मिन्नुपगम्यमाने गंधादिभ्यः परस्फोटार्थप्रतिपत्तिहेतुर्घ्राणादींद्रियमतिपूर्वश्रुतज्ञानरूपोभ्युपगंतव्योऽन्यथा शब्दस्फोटव्यवस्थातप्रसंगात् स च। नैकस्वभावो नानास्वभावतया सदावभासनात्।

तिस कारण इस प्रकार शब्द के द्वारा जैसे वाच्यार्थ में प्रतिपत्ति करली जाती है अतः बुद्धि स्वरूप शब्द स्फोट मान लिया जाता है उसी प्रकार गंध, हाथ, पांव, अंगुली आदि से भी अपने अपने ज्ञेय अर्थों की प्रतिपत्ति होजाने को करने वाले विद्वानों के यहां आक्षेप और समाधान करना समान रूप से लागू होता है, अतः गन्ध स्फोट, अंगहारस्फोट, भूमि स्फोट, आदि भी मान लिये जाओ, अन्तरंग में प्रकाश स्वरूप होरहे बुद्धि आत्मक स्फोट को वैयाकरणों के यहाँ यदि शब्द से निराला स्वीकार

किया जायगा। ऐसा होने पर तो गंध आदि द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति का कारण होरहा गंध आदि से भिन्न वह स्फोट भी स्वीकार कर लेना चाहिये जो कि जैन सिद्धान्त अनुसार नासिका, चक्षु, आदि इन्द्रियों से जन्य मतिज्ञान को पूर्ववर्ती मान कर हुये श्रुतज्ञान स्वरूप है। अन्यथा यानी आक्षेपों या समाधान के समान होने पर भी यदि पक्षपात-वश केवल शब्दस्फोट को ही मान कर गंध स्फोट आदि को नहीं स्वीकार किया जायगा तो तुम्हारे शब्द स्फोट की व्यवस्था नहीं बन सकने का प्रसंग आजावेगा जो कि तुम वैयाकरणों को इष्ट नहीं है। यदि सभी स्फोटों को मानते हुये वैयाकरण इष्टापत्ति कर लें तो इतना ध्यान रहे कि वे शब्दस्फोट, गन्धस्फोट, स्पर्शस्फोट, रस स्फोट रूप स्फोट, अथवा हस्त आदि स्फोट भी एक ही स्वभाव को नहीं धार रहे हैं किन्तु अनेक स्वभावों से समवेत होरहे उन श्रुतज्ञान स्वरूप स्फोटों का सदा प्रतिभास होरहा है।

बात यह है कि वैयाकरणों के यहां माने गये नित्य, निरंश, शब्दस्फोट के साथ हमें कोई इष्टापत्ति नहीं है क्योंकि ऐसे स्फोट में कोई युक्ति नहीं है, तथा स्याद्वाद प्रक्रिया अनुसार शब्दस्फोट, गन्धस्फोट, आदि को श्रुतज्ञान स्वरूप मान लेने पर हमें कोई द्वेष भी नहीं है। संयुक्त विषय में द्वेष काहे का ? श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई अन्तःप्रकाश स्वरूप जिस लब्धि से शब्द द्वारा अथवा गन्ध, अवयव क्रिया आदि द्वारा अन्य सम्बन्धी अर्थोंको स्फुटरूप से प्रतिपत्ति कर ली जाती है उस लब्धि को स्फोट कह देने में जैन सिद्धान्त का कोई अतिक्रमण नहीं होजाता है असम्भवद्बाधकत्व, और युक्तियों से भरपूर होरहा सिद्धान्त ही जिनोक्त निर्णय है।

एतेनानुसंहृतिर्वाक्यमित्यपि चिंतितं, पदानामनुसंहृतेर्बुद्धिरूपतया प्रतीतेरनुसंधीयमानानामेकपदाकारायाः सर्वथैकस्वभावत्वाप्रतीतेः।

इस आख्यात शब्द, आद्यपद, अन्त्यपद, वर्णक्रम, वर्णसंघात, संघातवर्तिनी जाति, बुद्धि-आत्मक स्फोट, इनके उक्त निरूपण करके अनुसंहृति को वाक्य मानने वाले के मन्तव्य का भी चिन्तन कर दिया गया समझ लेना चाहिये अथवा बुद्धि को वाक्यपन का निराकरण करने वाले इस प्रकरण करके अनुसंहृति के वाक्यपन का प्रत्याख्यान कर दिया गया भी यों विचार लो कि वर्णों का या पदों का अनुसंहार यानी परामर्श करना तो बुद्धि-स्वरूप हो करके प्रतीत होरहा है। पदों को सुनकर संकेतगृहीता पुरुषके चित्त में स्फुरायमान होरहे परामर्श को जैन सिद्धान्त में भाव वाक्य अभीष्ट किया गया है अनुसंधान यानी अन्वित रूपसे विचार करने योग्य पदों या वर्णों को एक पद या एक आकार वाली प्रतीति होरही है जो कि एक अनेक-आत्मक है, सर्वथा एक स्वभाव वाली ही अनुसंहृति की प्रतीति नहीं होपाती है।

अत्रापरे प्राहुः न पदेभ्योऽर्थान्तरमेकस्वभावमेकानेकस्वभावं वा वाक्यमाख्यातशब्द-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
किया जायगा। ऐसा होने पर तो गंध आदि द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति का कारण होरहा गंध आदि से भिन्न वह स्फोट भी स्वीकार कर लेना चाहिये जो कि जैन सिद्धान्त अनुसार नासिका, चक्षु, आदि इन्द्रियों से जन्य मतिज्ञान को पूर्ववर्ती मान कर हुये श्रुतज्ञान स्वरूप है। अन्यथा यानी आंखों या समाधान के समान होने पर भी यदि पक्षपात-वश केवल शब्दस्फोट को ही मान कर गंध स्फोट आदि को नहीं स्वीकार किया जायगा तो तुम्हारे शब्द स्फोट की व्यवस्था नहीं बन सकने का प्रसंग आजावेगा जो कि तुम वैयाकरणों को इष्ट नहीं है। यदि सभी स्फोटों को मानते हुये वैयाकरण इष्टापत्ति कर लें तो इतना ध्यान रहे कि वे शब्दस्फोट, गन्धस्फोट, स्पर्शस्फोट, रस स्फोट रूप स्फोट, अथवा हस्त आदि स्फोट भी एक ही स्वभाव को नहीं धार रहे हैं किन्तु अनेक स्वभावों से समवेत होरहे उन श्रुतज्ञान स्वरूप स्फोटों का सदा प्रतिभास होरहा है।

बात यह है कि वैयाकरणों के यहां माने गये नित्य, निरंश, शब्दस्फोट के साथ हमें कोई इष्टापत्ति नहीं है क्योंकि ऐसे स्फोट में कोई युक्ति नहीं है, तथा स्याद्वाद प्रक्रिया अनुसार शब्दस्फोट, गन्धस्फोट, आदि को श्रुतज्ञान स्वरूप मान लेने पर हमें कोई द्वेष भी नहीं है। संयुक्त विषय में द्वेष काहे का ? श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई अन्तःप्रकाश स्वरूप जिस लब्धि से शब्द द्वारा अथवा गन्ध, अवयव क्रिया आदि द्वारा अन्य सम्बन्धी अर्थोंको स्फुटरूप से प्रतिपत्ति कर ली जाती है उस लब्धि को स्फोट कह देने में जैन सिद्धान्त का कोई अतिक्रमण नहीं होजाता है असम्भवद्बाधकत्व, और युक्तियों से भरपूर होरहा सिद्धान्त ही जिनोक्त निर्णय है।

एतेनानुसंहृतिर्वाक्यमित्यपि चिंतितं, पदानामनुसंहृतेर्बुद्धिरूपतया प्रतीतेरनुसंधीयमानानामेकपदाकारायाः सर्वथैकस्वभावत्वाप्रतीतेः।

इस आख्यात शब्द, आद्यपद, अन्त्यपद, वर्णक्रम, वर्णसंघात, संघातवर्तिनी जाति, बुद्धिआत्मक स्फोट, इनके उक्त निरूपण करके अनुसंहृति को वाक्य मानने वाले के मन्तव्य का भी चिन्तन कर दिया गया समझ लेना चाहिये अथवा बुद्धि को वाक्यपन का निराकरण करने वाले इस प्रकरण करके अनुसंहृति के वाक्यपन का प्रत्याख्यान कर दिया गया भी यों विचार लो कि वर्णों का या पदों का अनुसंहार यानी परामर्श करना तो बुद्धि-स्वरूप हो करके प्रतीत होरहा है। पदों को सुनकर संकेतग्रहीता पुरुषके चित्त में स्फुरायमान होरहे परामर्श को जैन सिद्धान्त में भाव वाक्य अभिष्ट किया गया है अनुसंधान यानी अन्वित रूपसे विचार करने योग्य पदों या वर्णों को एक पद या एक आकार वाली प्रतीति होरही है जो कि एक अनेक-आत्मक है, सर्वथा एक स्वभाव वाली ही अनुसंहृति की प्रतीति नहीं होपाती है।

अत्रापरे प्राहुः न पदेभ्योऽर्थान्तरमेकस्वभावमेकानेकस्वभावं वा वाक्यमाख्यातशब्द-

रूपं पदान्तरापेक्षं, नापि पदसंघातवर्तिजातिरूपं वा, न अनेकस्वभावशब्दरूपं क्रमरूपं वा नापि बुद्धिरूपमनुसंहृतिरूपं वा, न चाद्यपदरूपमन्त्यपदरूपं वा, पदमात्रं वा पदांतरापेक्षं यथा व्याख्यायतेऽन्यैः 'आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी । एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतीं ।। पदमाद्यपदं चांत्यं पदसापेक्षमित्यपि । वाक्यं प्रतिमतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिना" मिति ।। किं तर्हि ? पदान्येव पदार्थप्रतिपादनपूर्वकं वाक्यार्थावबोधं विदधानानि वाक्यव्यपदेशं प्रतिपद्यन्ते तथा प्रतीतेरिति ।

यहां कोई दूसरे अभिहितान्वयवादी प्राचीन नैयायिक और भाट्ट मीमांसक तथा अन्विताभिधानवादी प्राभाकर मीमांसक पण्डित यों बढ़ कर कह रहे हैं कि पदों से भिन्न होरहा एक स्वभाव वाला अथवा अनेक स्वभाव वाला आख्यात शब्द-स्वरूप वाक्य नहीं है जो कि जैनों ने पदान्तरों की अपेक्षा रखता हुआ और अन्य आख्यात शब्द-स्वरूप वाक्य की नहीं अपेक्षा रखता हुआ वर्ण समुदाय वाक्य मनवा दिया है। तथा वर्णों या पदों का संघात अथवा संघातवर्त्तिनी जाति-स्वरूप भी वाक्य नहीं है जैसा कि जैनों ने कथंचित् भेदाभेदात्मक होरहे एकानेक स्वभाव वाले संघात अथवा संघातों में वर्त रही सदृश परिणाम लक्षण जाति को वाक्य ठहरा दिया था। तथा एक निरवयव शब्दस्वरूप अथवा वर्णों का क्रम-स्वरूप भी वाक्य को हम मीमांसक नहीं मानते हैं जो कि जैनों ने अनवस्था का भय दिखाते हुये अपने ऊपर आये हुये उपालम्भों को दूसरे के सिर टाल कर जात्यन्तर एकानेकाकार शब्द को वाक्य सधवा दिया था, वर्ण क्रम में भी व्युत्क्रम का डर दिखाकर कालकृत सांश वर्णक्रम को वाक्य सिद्ध कर दिया था। एवं बुद्धि-स्वरूप अथवा अनुसंहृति स्वरूप भी वाक्य नहीं बन पाता है जैसा कि जैनों ने अपने भाव-वाक्यों में वैयाकरणों को घसीट कर स्वानुकूल बना लिया था।

अन्य पदों की अपेक्षा रखने वाला आद्य पद और इतर पदोंकी अपेक्षासहित होरहा अन्तिम पद ये भी वाक्य नहीं हो सकते हैं या अन्य आगे पीछे के पदोंकी अपेक्षा रखरहा कोई भी मात्र मध्यवर्त्ती पद वाक्य नहीं हो सकता है जो कि एकानेकस्वभाव वाला नियत कर जैनों ने भी वाक्य मान लिया था। सच पूछो तो ये कोई वाक्य नहीं हैं,यह केवल सब फटाटोप है जिस प्रकार कि अन्य विद्वानोंने अपने सिद्धान्त में यों वाक्य का लक्षण बखाना है कि " भवति, पचति " ऐसा आख्यात शब्द वाक्य है, वर्णों का संघात वाक्य है, संघातों में वर्त रही जाति वाक्य है, निरंश एक शब्द वाक्य है, वर्णों का क्रम वाक्य है, बुद्धि वाक्य है, अनुसंहृति को वाक्य कहा जा सकता है, आद्य पद और पदों की अपेक्षा रखने वाला अन्तिम पद ये भी वाक्य होसकते हैं यों न्याय को जानने वाले विद्वानों के यहां वाक्य के प्रति बहुत प्रकार भिन्न भिन्न मतियां होरही हैं। मीमांसक ही कहे जा रहे हैं ये कोई भी वाक्य नहीं सम्भवते हैं तो वाक्य क्या है ? इसका उत्तर यह है कि पद ही पूर्व में अपने पदार्थों का प्रतिपादन करते हुये वाक्यार्थ के ज्ञान को कर रहेसन्ते वाक्य इस नाम को प्राप्त कर लेते हैं लोक और शास्त्र में तिसी प्रकार प्रतीति होरही है यहां तक मीमांसक कह चुके हैं। मीमांसकों का अनुभव

है कि वाक्य अर्थकी प्रतिपत्ति करते समय उन पदों की भावना (धारणा नामक संस्कार) को रखने वाले पुरुष के उस प्रतिपत्ति करने में मूल कारण तो पदों के अर्थ माने गये हैं, अतः पदार्थ-प्रतिपत्ति पूर्वक वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होजाना इष्ट कर लिया गया है।

तेषामपि यदि पदांतरार्थैरन्वितानामेवार्थानां पदैरभिधानात् पदार्थप्रतिपत्तेर्वाक्यार्थविबोधः स्यात्तदा देवदत्तपदाद्देवदत्तार्थस्य गामभ्याजेत्यादिपदवाक्यार्थैरन्वितस्याभिधानात् तदुच्चारणवैयर्थ्यमेव वाक्यार्थावबोधसिद्धेः।

वाक्य को कहकर वाक्यार्थ की भी परिभाषा कर रहे मीमांसकों के प्रति अब आचार्य महाराज कहते हैं कि उन मीमांसकों के यहां भी "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" इस वाक्य में यदि अन्य पदों के अर्थ के साथ अन्वय प्राप्त होरहे ही अर्थों का पदों करके कथन कर देने से पदार्थ प्रतिपत्ति से ही वाक्यार्थ ज्ञान हुआ माना जायेगा अर्थात्-देवदत्त पद को देवदत्त अर्थ तो गां, अभ्याज आदि पदों के गाय, घेर लाना, आदि अर्थों के साथ अन्वित होरहा है और गां आदि पदो के अर्थ तो पहिले पिछले पदों के अर्थों के साथ अन्वित होरहे हैं, ऐसा प्राभाकरों का अन्विताभिधानवाद का पक्ष है अशेष पूर्व पदों के अभिधेय अर्थों करके अन्वित होरहे अन्तिम पदार्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ ज्ञान होजाता है। तब तो अकेले देवदत्त पदसे ही "गामभ्याज शुक्लां" इत्यादि पद पूर्वक हुये वाक्यार्थ से अन्वित होरहे देवदत्त इस अर्थ का कथन होजायगा, अतः उन गां आदि शेष पदों का उच्चारण करना व्यर्थ ही पड़ेगा जब कि एक ही पद से पूरे वाक्य के अर्थ का चारों ओर से ज्ञान होजाना सिद्ध है "अर्कं चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' अर्थात्-कर्ता,कर्म,क्रिया ये सब पद जब अन्वित ही होरहे हैं तो एक पद के उच्चारण से ही पूरे वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होजानी चाहिये, शेष पद व्यर्थ पड़जांयगे एक किसी अवयवमें कम्पादिया गया बांस सभी पंगोलियों में कम्प जाता है। एक बात यह भी है कि यों वाक्यों का अखण्ड अन्वय मानने पर प्रथम पद को ही जैसे पूरा वाक्यपना आजाता है उसी प्रकार जितने पद हैं उतने वाक्य बन बैठेंगे अथवा जितने पदों के अर्थ हैं उतने वाक्यों के अर्थ हो जायेंगे, अतः मीमांसकों को कथंचित् भेदाभेद या एकानेक स्वभाव की शरण लेना अनिवार्य होजाता है। अन्य पदोंके अर्थों से अन्वित होरहे ही अर्थोंका पदों करके कथन मानने वाले अन्विताभिधान-वादी प्रभाकर गुरु की मीमांसा ठीक नहीं है।

स्वयमविवक्षितपदार्थव्यवच्छेदार्थत्वान्न गामित्यादिपदोच्चारणवैयर्थ्यमिति चेत्, किमेवं स्फोटवादिनः प्रथमपदेनानवयवस्य वाक्यस्फोटस्याभिव्यक्तावपि व्यक्त्यंतराहितव्यंजकपदव्यवच्छेदार्थस्य पदांतरोच्चारणमनर्थकमुच्यते ? यतस्तदेव पदैरभिव्यक्तं ततोऽन्यदेवार्थप्रतिपत्तिनिमित्तं न भवेत्। तथा सत्यावृत्या सत्या वाक्याभिव्यक्तिप्रसंगः पदांतरैस्तस्याः पुनः प्रकाशनादितिचेत्, तवाप्यावृत्या वाक्यार्थावबोधः स्यात्। प्रथमपदेनाभिहितस्यार्थस्य द्वितीयादिपदार्थाभिधेयैरन्वितस्य द्वितीयादिपदैः पुनः पुनः प्रतिपादनात्।

यदि प्रभाकर मीमांसक यों कहें कि "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" यहां देवदत्त पद को गां, अभ्याज, इन पदों की आकांक्षा होरही है, अतः गां, अभ्याज, ये तो विवक्षित पद हैं और पढो जाओ, सो ओ, पीओ, आदि क्रियापद या घडे को, पुस्तक को, आदि कर्म पद अविवक्षित पद हैं अतः स्वयं को विवक्षित नहीं होरहे ऐसे निठल्ले पदार्थों का व्यवच्छेद करना प्रयोजन होने से गां, अभ्याज, आदि पदोंके उच्चारणको व्यर्थपना नहीं है। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तुम प्राभाकर मीमांसकों ने इस प्रकार स्फोट वादी वैयाकरण के ऊपर अन्य पदों के उच्चारण करने का व्यर्थपना दोष क्यों कहा था ? जो कि पहिले पद करके ही निरंश वाक्यस्फोट की अभिव्यक्ति होजाने पर भी अन्य शब्द व्यक्तियों से धारे गये व्यंजक पद का व्यवच्छेद करने के लिये अन्य पदों का उच्चारण वैयाकरणोंने सफल माना था अर्थात्-वैयाकरणोंके प्रति जैसा तुमने वैयर्थ्य दिया था उसी प्रकार अन्य पदों के उच्चारण का व्यर्थपना तुम मीमांसकों के ऊपर भी लागू होता है जिससे कि वहा पद अन्य पदों करके अभिव्यक्त होरही सन्ती और उन पदों से उत्पन्न होरहा ही पद अकेला अर्थ की प्रतिपत्ति कराने का निमित्त कारण नहीं होसके।

मीमांसक गुरु यदि वैयाकरणों पर यों आक्षेप करें कि तिस प्रकार होतेसन्ते तो होरही पदों की आवृति करके वाक्य की अभिव्यक्ति होजाने का प्रसंग आजावेगा क्यों कि वाक्य की उसी अभिव्यक्ति को अन्य पदों ने फिर प्रकाशित कर दिया है अर्थात्-देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन यहां देवदत्त ने ही जिस अन्वित होरहे वाक्य को प्रकट कर दिया था उसी को "गां" पदने भी दोहराया पुनः "अभ्याज" आदि पद ने भी तिहराया यों पांच बार उसी प्रकार के वाक्य प्रकट होते जायंगे। यों कहने पर ग्रन्थकार वैयाकरण की ओर से आक्षेप का निवारण कर देते हैं कि इस प्रकार जो तुम प्राभाकर मीमांसकों के यहां भी कई बार आवृति करके वाक्यार्थ का ज्ञान होता रहेगा, कारण कि लम्बे वाक्य में पड़े हुये पहिले पद करके कहे जा चुके उस द्वितीय तृतीय आदि पदों के अभिधान करने योग्य अर्थों से अन्वित होरहे वाक्यार्थ का पुनः पुनः द्वितीय, तृतीय, आदि पदों करके कथन किया जारहा है, यही आवृत्ति है।

अथ द्वितीयपदेन स्वार्थस्य प्रधानभावेन पूर्वोत्तरपदाभिधेयार्थैरन्वितस्याभिधानात् प्रथमपदाभिधेयस्य तथानभिधानात् नावृत्या तस्यैव प्रतिपत्तिरिति मतं, तर्हि यावंति पदानि तावंतस्तदर्थाः पदांतराभिधेयार्थान्विताः प्राधान्येन प्रतिपत्तव्या इति तावन्त्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तयः कथं न स्युः ?

अब यदि प्राभाकर मीमांसक यों कहे कि द्वितीय पद करके स्वकीय अर्थ का प्रधान रूप से कथन किया जाता है यह स्वार्थ अपने से पहिले और पिछले पदों के द्वारा कहे जाने योग्य अर्थों करके अन्वित होरहा है, द्वितीय पद करके प्रथम पद के अभिधेय अर्थ का तिस प्रकार प्रधान रूप से कथन नहीं हो पाता है, अतः पुनः पुनः आवृत्ति करके उस ही वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी :

मीमांसकों का यों मत हो, तब तो हम जैन कह देंगे कि जितने भी पद हैं उतने ही प्रधान रूपसे उनके वाक्यार्थ समझ लेने चाहिये जो कि अन्य पदों द्वारा कथन करने योग्य अर्थों से अन्वित होरहे हैं उसी प्रकार पदों की संख्या अनुसार वाक्यार्थों की प्रतिपत्तियां भी उतनी ही संख्या में क्यों नहीं हो जावेंगी ?।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थात्–गौण रूप से गां, अभ्याज. आदि पदों के अर्थों करके अन्वित होरहे देवदत्त अर्थ को प्रधान रूप से देवदत्त यह कह देवेगा और देवदत्त, अभ्याज, आदि पद के अर्थों से अन्वित होरहे गाय अर्थ को प्रधान रूप से गां पद कह देगा अथवा अभ्याज पद भी स्वकीय अर्थ को प्रधान रूप से कह रहा सन्ता गौण रूप से देवदत्त गां. आदि पदों के अर्थों से अन्वित होरहे वाक्यार्थ को अभिव्यक्त कर देवेगा, शुक्लां पद या दण्डेन पद में भी यही प्रक्रिया दर्शा दी जावेगी। एक लखपति सेठ के चारों बेटे, तीनों बेटियां, छैल नाती, अपने अपने को लक्षाधिपति मान बैठते हैं। सच पूछो तो यह उनका अभिमान करना एक प्रकार से कदाग्रह है। हां इतना बड़ा तो यह असत्य भी नहीं है जैसा कि कोई दम्भ करने वाला बनियां भोले ऋणी से कई बार रुपया प्राप्त करने की कुचेष्टा करता है। बात यह है कि सन्मुख रक्खा हुआ एक घड़ा चाहे एक आंख को मीच कर दूसरी अकेली आंख से देखा जाय अथवा दोनों भी आंखों से देखा जाय, एक ही घड़ा दीखेगा दो नहीं। इसी प्रकार साकांक्ष अनेक पदों का एक ही वाक्यार्थ और वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति भी एक ही होनी चाहिये।

न ह्यंत्यपदोच्चारणात्तदर्थस्याशेषपूर्वपदाभिधेयैरन्वितस्य प्रतिपत्तिर्वाक्यार्थावबोधो भवति, न पुनः प्रथमपदोच्चारणात्तदर्थस्योत्तरपदाभिधेयैरन्वितस्य प्रतिपत्तिर्द्वितीयादिपदोच्चारणाच्च शेषपदाभिधेयैरन्वितस्य तदर्थस्य प्रतिपत्तिरित्यत्र किंचित्कारणमुपलभामहे। ऐतेनावृत्त्या पदार्थप्रतिपत्तिप्रसंग उक्तः द्वितीयादिपदेन स्वार्थस्य च पूर्वोत्तरपदार्थानामपि प्रतिपादनादन्यथा तैस्तस्यान्वितत्वायोगात्।

आचार्य महाराज वैयाकरणों की ओर से दिये गये प्रभाकर मीमांसक के ऊपर आक्षेप का ही समर्थन कररहे हैं कि अन्तिम पद के उच्चारण से तो शेष सम्पूर्ण पूर्वपदों के अभिधेय अर्थों करके अन्वित होरहे अन्तिम पदार्थ की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ का ज्ञान होजावे किन्तु फिर प्रथम पद के उच्चारण करके उसके उत्तर-वर्त्ती अशेष पदों के अभिधेय होरहे अर्थों से अन्वित होरहे उस प्रथम पदार्थ की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नहीं होय। तथा द्वितीय पद, तृतीय पद, आदि के उच्चारण से उनसे शेष सम्पूर्ण पदों के अभिधेय अर्थों करके अन्वित होरहे उस प्रथमपदार्थ की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नहीं होय। तथा द्वितीय पद तृतीय पद आदि के उच्चारण से उनसे शेष सम्पूर्ण पदों के अभिधेय अर्थों करके अन्वित होरहे उस द्वितीय, तृतीय, आदि पद के अर्थ की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ ज्ञान नहीं होय. इस अयुक्त पक्षपात पूर्वक आग्रह करने में किसी ...ा कारण को हम नहीं देख रहे हैं।

अर्थात्-अन्तिम पद से जैसे अन्य शेष पदार्थों से अन्वित होरहे वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति कर ली जाती है उसी प्रकार अन्य आदिम या मध्य पदों द्वारा भी उतनी वाक्यार्थ-प्रतिपत्तियां बन बैठेंगी मनुष्यता या स्वाभिमान की अपेक्षा पण्डित और उसके स्वामी में कोई अन्तर नहीं है यदि अविचारी प्रभु कदाचित् विद्वान् पर अकारण क्रोध करे या अत्यल्प अपराध के वश होकर अधिक कोप करे तो मनस्वी विद्वान् भी अपने प्रभु पर अरुचि या भर्त्सना कर सकता है, पंचायत के भी सदाचारी मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं मानना चाहिये । प्रकरण में जब आगे पीछे के सभी वाक्य एक से हैं, तो कोई हेतु नहीं है, कि अन्तिम पदसे ही वाक्यार्थ ज्ञान होसके, अन्य पदों से नहीं । कोई भोक्ता आदि अवस्था में उत्तम मिष्टान्न को खाते हैं, अन्य जीमने वाले मध्य में बढ़िया मिठाई का परत लगाते हैं तीसरा जाति के लोलुपी सेंत मेंत में खा लेने का लक्ष्य रख कर मिष्टान्न का सबसे पीछे भोग लगाते हैं, इसी प्रकार कोई पुरुष गीत या श्लोक के पहिले पदार्थ के ही सुन कर अपूर्ण गीत का अर्थ को समझ लेते हैं । अन्य जन गीत के मध्यम अंश को सुन कर पूरे प्रमेय की प्रतिपत्ति कर लेते हैं. तीसरे प्रकार के मनुष्य अन्तिम पद को लक्ष्य कर बाजा बजाना लय, तान, स्वरावरोह, स्वरउतारना, आदि ज्ञातव्य अर्थों को जान लेते हैं ।

इस उक्त निर्णय करके प्राभाकर मीमांसकों के ऊपर वैयाकरण द्वारा पुनः पुनः आवृत्ति करके कई बार पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का प्रसंग भी कह दिया गया समझ लेना चाहिये कई पदों के साथ एक एक वाक्य का जो सम्बन्ध है, वैसे ही अनेक वर्णों के साथ एक पद का भी सम्बन्ध है । अतः वाक्यार्थ के ऊपर जो आक्षेप है, वही कई बार पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का आपादन किया जाना पद के लिये भी लागू होजाता है, कारण कि एक वाक्य में पड़े हुये दूसरे, तीसरे आदि पदों करके अपने निज अर्थ का तो प्रतिपादन किया ही जाता है, साथ में पहिले और उत्तर-वर्त्ती पिछले पदों के अर्थों का भी प्रतिपादन होरहा है । अन्यथा यानी दूसरे आदि पदों करके पहिले, पिछले, पदार्थों की प्रतिपत्ति करा देना यदि नहीं माना जायगा तो उन पहिले पिछले, पदार्थों करके उस दूसरे या तीसरे पदार्थका एकान्वय होजाना नहीं बन सकेगा जैसा कि आप प्रभाकर मीमांसकों ने कहा था, अतः कई बार पदार्थोंकी प्रतिपत्ति होजाने का प्रसंग डट गया । फिर अपने ऊपर भी आये हुये दोष को भोले वैयाकरणों पर ही क्यों लगाया जाता है ? यानी अपने और दूसरों के ऊपर भी आये हुये दोष तो गुण स्वरूप होजाते हैं, यदि मुख के ऊपर ऊंची उठी हुई नाक सब मनुष्यों के उभर रही है । तो नाक का ऊंचा उठा रहना गुण ही समझा जायेगा, तभी तो लोक में नाक उठी रहने को बड़ाई या प्रतिष्ठा का बीज समझा गया है ।

गम्यमानैस्तैस्तस्यान्वितत्वं न पुनरभिधीयमानैरिति चेत्, स किमिदानीमभिधीयमान एव पदस्यार्थो न गम्यमानः ? तथोपगमे कथमन्विवाभिधानं ? विवक्षितपदस्य पदांतराभिधेयानां गम्यमानानामविषयत्वात् तैरन्वितस्य स्वार्थस्य प्रतिपादने सामर्थ्याभावात् ।

अब यदि गुरु मीमांसक यों कहें कि अभिधा-वृत्ति से नहीं कहे जा रहे किन्तु अर्थापत्त्या सम्बन्ध मिला कर यों ही जान लिये गये उन पहिले पिछले पदार्थों करके उस उच्चारित दूसरे, तीसरे, आदि पद के अभिधा वृत्ति से किये गये अर्थका अन्वय होजाना हम मानते हैं, किन्तु फिर कहे जा रहे पहिले, पिछले, पदों के शक्यार्थों के साथ द्वितीय पद का अन्वय नहीं है, क्योंकि द्वितीय पद का उच्चारण करते समय पहिले पिछले पद नहीं बोले जा रहे हैं, तिस कारण कई बार पदों के अभिधावृत्ति द्वारा किये जा रहे अर्थों की प्रतिपत्ति का प्रसंग यह दोष हम प्राभाकर मीमांसकों के ऊपर नहीं लगता है, यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि क्यों जी ! क्या शब्दों से इसी अवसर पर कहा जा रहा वह अर्थ ही क्या पद का अर्थ समझा जायेगा ? शक्यार्थ सम्बन्ध रूप लक्षणावृत्ति से या साहित्य वालों के यहां मानी गयी व्यंजना वृत्ति से अथवा अन्य ज्ञापक चिन्हों करके अव्यभिचरित समझा दिया गया गम्यमान भला पद का अर्थ नहीं माना जायगा ? बताओ।

यदि उक्त प्रसंग को टालने के लिये मीमांसक तिस प्रकार पोच सिद्धान्त को स्वीकार कर लेंगे तब तो पहिले पिछले होरहे अन्य पदों के अर्थों के साथ अन्वित होरहे स्वकीय अर्थ का उच्चार्यमाण पद करके कथन किया जाता है, यह प्रभाकरों का सिद्धान्त कैसे रक्षित रह सकेगा ? क्योंकि अब तुम्हारे विचार अनुसार वर्तमान काल में बोला जा रहा विवक्षित दूसरा पद बेचारा अन्य पहिले तीसरे आदि पदों के अभिधेय होरहे किन्तु इस समय अर्थापत्त्या जाने जा रहे स्वकीय अनभिधेय अर्थों को कथमपि विषय नहीं करता है। अतः द्वितीय पद के अर्थ की उन पहिले पिछले पदार्थों के साथ अभिधेय होकर अन्वय प्राप्ति ही नहीं है अभिधेय पदार्थ को अनभिधेय अर्थों के साथ स्वकीय अर्थ का प्रतिपादन करने में सामर्थ्य नहीं मानी गयी है, शक्ति से बाहर कोई पदार्थ किसी छोटे से छोटे कार्य को भी नहीं कर सकता है। अब बताओ अन्वित का अभिधान कहां रहा ?।

यदि पुनः पदानां द्वौ व्यापारौ स्वार्थाभिधाने व्यापारः पदार्थान्तरे गमकत्वव्यापारश्च तदा कथं न पदार्थप्रतिपत्तिरावृत्त्या प्रसज्यते ? पदव्यापारात् प्रतीयमानस्य गम्यमानस्यापि पदार्थत्वादभिधीयमानार्थवत् । न च पदव्यापारात् प्रतीयमानोर्थो गम्यमानो युक्तः कश्चिदेवाविशेषात् ।

यदि प्राभाकर मीमांसकों का फिर यह मन्तव्य होय कि पदों के दो व्यापार हुआ करते हैं एक स्वकीय अर्थों को कहने में अभिधान व्यापार है और दूसरा अन्य अगले, पिछले, पदों के अर्थों में गमक होजाने का व्यापार है तब तो हम जैन कहते हैं कि इस प्रकार वाचकत्व और गमकत्व दो व्यापारों के होते सन्ते वही दोष यानी आवृति से पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का प्रसंग भला क्यों नहीं लग बैठेगा ? क्योंकि अन्य पदों का अभिधेय और इस पद के व्यापार से प्रतीयमान हो रहा सन्ता गम्यमान भी तो इसी पद का अर्थ है जैसे कि उच्चार्यमाण पद का अभिधावृत्ति द्वारा कहा गया अर्थ इस विवक्षित पद का अर्थ माना जाता है जब कि पद के व्यापार से दोनों अर्थ समान रूप

से प्रतीत किये जा रहे हैं तो किसी ही अर्थ को अभिधावृत्ति द्वारा कहा जा रहा मानना और दूसरों को यों ही गम्यमान मान बैठना यह विना कारण विभाग कर देना उचित नहीं है क्योंकि दोनों अर्थों में कोई अन्तर नहीं दीखता है। जो जिस पद से अर्थ प्रतीत होता है वह निर्विशेष होकर उसका अर्थ मान लिया जाय, ऐसी दशा में मीमांसकों के ऊपर वही कई बार पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का दोष तदवस्थ रहा।

स्यान्मतं, पदप्रयोगः श्रेद्धावता पदार्थप्रतिपत्त्यर्थो वाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थो वा क्रियेत् ? न तावत्पदार्थप्रतिपत्त्यर्थस्तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभावात्। कः पिकः ? कोकिल इत्यादि केवलपद-प्रयोगस्यापि वाक्यार्थप्रतीतेर्निमित्तत्वात् कः पिक उच्यते ? कोकिल उच्यते इति प्रतीतेः। यदि तु वाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थः पदप्रयोगस्तदा पदप्रयोगानंतरं पदार्थ प्रतिपत्तिः साक्षाद्भवतीति तत्र पदस्याभिधानव्यापारः पदांतरार्थस्यापि प्रतिपत्तये तस्य प्रयोगात् तत्र गमकत्वव्यापार इति।

यदि कोई प्रभाकर अनुयायी मीमांसक वादी अपने मन्तव्य को स्थिर रखने के लिये यों विचार चलावे कि हिताहित विचार को रखने वाले प्रयोक्ता पुरुष करके किया गया पदों का प्रयोग क्या केवल पदों के अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये किया जाता है ? अथवा क्या पदों का प्रयोग भला वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये किया गया है ? बताओ प्रथम पक्ष अनुसार पदार्थ की प्रतिपत्ति के लिये तो पद का प्रयोग करना सार्थक नहीं है क्योंकि प्रयोजनार्थी पुरुष के प्रति केवल देवदत्त पद या अकेले अश्व आदि पद का अर्थ ज्ञात होजाना प्रवृत्ति का हेतु नहीं होपाता है, केवल गो पदको सुनकर उसके अर्थका जानने वाले पुरुषकी कहीं भी प्रवृत्ति या निवृत्ति होना नहीं देखा जाता है पिक क्या है ? कोकिल है, "पचति, पाक करोति" इत्यादि स्थलोंपर केवल पदका प्रयोग किया गया है वह भी वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति कराने का निमित्त है तभी भले ही कुछ प्रवृत्ति करलो जब कि पिक क्या है ? यों प्रश्न कहा जाता है तो पिक का अर्थ कोयल कह दिया जाय, इस प्रकार प्रतीति हो रही दीखती है।

भावार्थ-"वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि" इस अमरकोष की कारिका को सुनने पर अथवा कोकिलः पिक-पदवाच्यः या, इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति इत्यादि स्थलों पर कोष, आप्तवाक्य, प्रसिद्ध पद सन्निधान, इनसे पिक पदका कोयल अर्थमें शक्ति ग्रह होजाता है जो कि 'शक्ति ग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च, वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपद-स्य वृद्धाः।' ऐसा ग्रन्थों में कहा गया है अतः अकेले पद की अवस्था में भी उपस्कारों द्वारा वाक्यार्थ बना लिया जाता है, केवल पद तो किसी काम का नहीं है। अब द्वितीय पक्ष अनुसार पद का प्रयोग करना यदि वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये माना जाय तब पद के प्रयोग के अनन्तर ही पद के अर्थ में तो साक्षात् यानी अव्यवहित रूप से प्रतिपत्ति होजाती है इस कारण पदके उस अर्थ में तो पद का अभिधान व्यापार है और अर्थान्तर जानने योग्य पदार्थान्तर को भी प्रतिपत्ति कराने के लिये

उसका प्रयोग किया गया है अतः उस पदान्तर के अर्थ में गमकपन का व्यापार है यों अनेक पदों से अन्वित होरहा हो शब्दार्थ हुआ अर्थात्-हमारे मत अनुसार जो प्रत्येक के दो व्यापार माने गये हैं वही बात सिद्ध होगई। पद अपने निज अर्थ को अभिधावृत्ति से कहता है और दूसरे पदों के गम्यमान अर्थ को अर्थापत्त्या समझाता रहता है यहां तक प्राभाकर मीमांसक अपने मत को कहकर समाप्त कर चुके हैं।

तदप्यसत्, पादप इति पदस्य प्रयोगे शाखादिमदर्थस्यैव प्रतिपत्तिस्तदर्थाच्च प्रतिपन्नातिष्ठन्यादिपदवाच्यस्य स्थानाद्यर्थस्य सामर्थ्यतः प्रतीतेस्तत्र पदस्य साक्षाद्व्यापाराभावाद्गमकत्वायोगात् तदर्थस्यैव तद्गमकत्वात्। परंपरया तस्य तत्र व्यापारे लिंगवचनस्य लिंगिप्रतिपत्तौ व्यापारोस्तु। तथा सति शब्दमेवानुमानज्ञानं भवेत्।

अब आचार्य कहते हैं, कि वह मीमांसकों का मन्तव्य भी प्रशसनीय नहीं है क्योंकि "पादाभ्यां पिबतीति पादपः" पादप इस पद का प्रयोग करने पर शाखा, डाली, पत्ता आदि के धारी अर्थ की ही प्रतिपत्ति होजाती है, पुनः जान लिये गये उस शाखादि वाले अर्थ से तिष्ठति, कम्पते, आदि पदों से कहे गये "ठहर रहा है" या "कम्प रहा है" इत्यादिक अर्थों की तो कहे बिना यों ही सामर्थ्य से प्रतीति कर ली जाती है, उस ठहरने आदि अर्थों में वृक्ष इस पद का कोई साक्षात् रूप से व्यापार नहीं है अतः पादप पद उस ठहर रहा आदि अर्थ का गमक नहीं होसकता है, वस्तुतः वह पादप शब्द तो उसके वाच्यार्थ होरहे वृक्ष अर्थ का ही गमक होसकता है अथवा उन स्थान या कम्प स्वरूप अर्थों के लिये तिष्ठति कम्पते, आदि पद ही उपयोगी है, शाब्दबोध की प्रक्रिया में अनुमान प्रमाण की विक्रिया का प्रवेश करना उसी प्रकार शोभा नहीं देता है जैसे कि खीर में दाल का चमचा डुबा देना नहीं रुचता है. अतः पदों के दो व्यापार मानना अयुक्त है।

यदि मीमांसक उस स्थानादि अर्थ में इस वृक्ष पद का परम्परा करके व्यापार मानेंगे यानी वृक्ष शब्दसे शाखा आदि वाले अर्थकी प्रतिपत्ति होजाती है.पुनः वृक्षकी प्रतिपत्ति से कम्प,ठहरना आदि अर्थों की प्रतिपत्ति कर ली जाती है, यों कहने पर हम जैन कहते हैं, कि तब तो हेतु के प्रतिपादक वचन का भी लिंग से ज्ञेय होरहे साध्य की प्रतिपत्ति कराने में व्यापार होजाओ और तैसा होते सन्ते सभी परार्थानुमान स्वरूप ज्ञान बेचारे शाब्दबोध बन बैठेंगे जो कि इष्ट नहीं हैं। वैशेषिक भी "शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते, अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतं', इस प्रकार शाब्द बोध का अनुमान में अन्तर्भाव भले ही कर लें किन्तु शाब्दबोध में अनुमान का गर्भ होना कथमपि नहीं मानते हैं, पांच या छः प्रमाणों को मानने वाले मीमांसक तो शाब्द प्रमाण में अनुमान का अन्तर्भाव कभी नहीं करेंगे, अतः भिन्न भिन्न वाचक पदों की ही न्यारे २ स्थान आदि अर्थों को कहने में शक्ति मानी जाय। प्राभाकरों के यहां अन्वित पदों का अभिधान करना वाक्य माना गया किसी को ठीक जंचा नहीं।

लिंगवाचकाच्छब्दाल्लिंगस्य प्रतिपत्तेः सैव शाब्दी न पुनस्तत्प्रतिपन्नेपु लिंगादनुमेयप्रतिपत्तिरतिप्रसंगादिति चेत्, तत एव पादपशब्दात्स्थानाद्यर्थप्रतिपत्तिर्भवंती शाब्दी मा भूत, तस्याः स्वार्थप्रतिपत्तावेव पर्यवसितत्वाल्लिंगशब्दवत् ।

यदि पूर्व पक्ष वाला यहाँ यों कहे कि लिंग को कहने वाले शब्द से तो ज्ञापक हेतु की ही प्रतिपत्ति होती है, अतः वह केवल लिंग की ही प्रतिपत्ति शाब्दबोध कही जायेगा किन्तु फिर परार्थानुमान करने वाले पुरुष के उस प्रतिपत्ति हो चुके लिंग से अनुमान करने योग्य साध्य की प्रतिपत्ति तो शाब्दबोध नहीं होसकती है, क्योंकि अतिप्रसंग होजायगा। यानी चक्षु आदि इन्द्रियों से उपज रही प्रत्यक्ष प्रतीति भी शाब्दबोध बन बैठेगी ।

यों कहें तब तो हम जैन कहते हैं, कि तिस ही कारण से यानी अपने नियत वाचक शब्द करके नियत अर्थ का ही शाब्द बोध मान लेने से पादप शब्द से वृक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति तो शाब्दबोध होवे किन्तु वृक्ष शब्दसे स्थान,कम्प,आदि अर्थोंकी प्रतिपत्ति होरही शब्दजन्या नहीं मानी जाओ क्योंकि वृक्ष पद तो अपने निज अर्थको प्रतिपत्ति करानेमें ही चारों ओरसे भिड़रहा चरितार्थ होरहा है,जैसेकि परार्थानुमान करने वाले श्रोता को लिंग का वाचक शब्द केवल ज्ञापक हेतु को ही कहेगा साध्य को नहीं। हाँ पुनः व्याप्ति का ग्रहण कर चुका या नहीं ग्रहण कर चुका पुरुष भले ही अनुमान ज्ञान को उठावे अथवा नहीं उपजावे, लिंग वाचक शब्द को इससे कोई प्रयोजन नहीं है, अतः अर्थापत्या गम्यमान होरहे अर्थ को शब्द का वाच्यार्थ मत कहो "वृक्षस्तिष्ठति कानने कुसुमिते वृक्षं लता संश्रिता. वृक्षेणाभिहतो गजो निपतितो वृक्षाय देह्यञ्जलिं । वृक्षादानय मञ्जरीं कुसुमितां वृक्षस्य शाखोन्नता, वृक्षे नीडमिदं कृतं शकुनिना हे वृक्ष किं कम्पसे ।।" यहां स्वकीय अर्थों को कहने के लिये सभी वाचक पदों के कण्ठोक्त करने की आवश्यकता है। अतः जब उपज रहे विनश रहे पूर्वापर पदों का अन्वय ही नहीं होसका तो अन्विताभिधान पक्ष कहां ठहरा ? ।

कथमेव गम्यमानः शब्दस्यार्थः स्यादिति चेत्, न कथमपीति कश्चित्, तस्यापि वाक्यार्थावसायो न शाब्दः स्यात् गम्यमानस्याशब्दार्थत्वात् वाच्यस्यैव शब्दार्थत्वज्ञानात् ।

अन्विताभिधान वादी प्राभाकार पण्डित पूछता है, कि इस प्रकार स्वकीय अर्थ की प्रतिपत्ति कराने में ही शब्द यदि तत्पर रहेगा तो बिना कहे ही उपस्कार या अर्थापत्या जान लिया गया अर्थ भला शब्द का ज्ञेय अर्थ किस प्रकार होसकेगा ? बताओ । यों कह चुकने पर इस तर्क का कोई मध्य में कूद कर यों उत्तर दे देते हैं कि वाचक शब्द से किसी भी प्रकार गम्यमान अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होसकती है। आचार्य कहते हैं, कि शीघ्र उत्तर देने वाले उस विद्वान् के यहां भी पूरे वाक्य के अर्थ का निर्णय करना बेचारा संकेत ग्रहण-पूर्वक शब्दों से ही उपजा नहीं हो सकेगा क्योंकि गम्यमान होरहे अर्थ तो शब्द का वाच्यार्थ नहीं माना गया है। शब्द के द्वारा अभिधान वृत्ति से वाच्य किये गये अर्थ का ही शब्द कर के ज्ञेय होरहे अर्थ रूप से परिज्ञान किया गया है।

अर्थात्-वाक्य के क्रम से उच्चारे गये या मीमांसकों के मत अनुसार क्रम से प्रकट किये गये शब्द सभी एक ही काल में तो सुने नहीं जा सकते हैं। आगे पीछे के उच्चारे गये शब्दों का अन्वय करना ही पड़ता है, कहीं कहीं तो "पुष्पेभ्यः" कह देने से ही स्पृहयति क्रिया को विना कहे ही जान लेना पड़ता है "गंगायां घोषः" का अर्थ तीर शब्द के विना ही 'गंगा के तीरमें' घोष करना पड़ता है, किसी श्लोक में क्रिया का उच्चारण नहीं मिलने पर क्रिया से कर्त्ता का आक्षेप कर लिया जाता है, क्वचित्-कर्त्ता से क्रियाको गम्यमान कर लेते हैं, 'द्वारं' कहने पर पिधेहि पद का अध्याहार होजाता है, "गौ र्वाहीकः, अन्नं वै प्राणाः, पितरौ, श्वसुरौ,, अथवा "गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः। ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्" आदि स्थलोंपर लक्षणा, आसत्ति, व्यंजना, उपचार आदि प्रक्रिया अनुसार जो गम्यमान अर्थ किये जाते हैं,वे कश्चित् विद्वान्के मत अनुसार वाक्यार्थ नहीं समझे जासकेंगे।

द्योत्यविषयभूतयोरपि वाच्यत्वात् शब्दमूलत्वात् वाक्यार्थावबोधः। शाब्द इति चेत्, तत एव गम्यमानोर्थः शब्दस्यास्तु, पादपशब्दोच्चारणानंतर शाखादिमदर्थप्रतिपत्तिवत्तत्स्थानाद्यर्थस्यापि गतेरिति स एवावृत्त्या पदार्थप्रतिपत्तप्रसंगोन्विताभिधानवादिनः पदस्फोटवादिवत्।

यदि कोई विद्वान् यों कहें कि स्यात्, एव, च, चेत्, आदिक निपात शब्दों को कोई कथंचित् अवधारण, समुच्चय, पक्षान्तर आदि अर्थों का वाचक नहीं मानकर उन अर्थों का द्योतक स्वीकार करते हैं, "द्योतकाश्च भवन्ति निपाताः" ऐसा वचन है। "स्यादस्ति जीवः" यहाँ अस्ति शब्द का अर्थ ही कथंचित् अस्ति है फिर भी स्याद्वाद नीति में कुशल नहीं होरहे प्रतिपाद्य के लिये प्रयोक्ता को स्यात् शब्द कहना ही पड़ता है यों द्योत्य भी शब्द का अर्थ माना जाता है, इसी प्रकार कहीं विषय भूत यानी साध्य हो चुका अर्थ भी शब्द का वाच्य मान लिया जाता है, जैसे कि अनुक्त मतिज्ञान में विना कहे ही शब्दों के अर्थ ज्ञात कर लिये जाते हैं। लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ भी शब्दों द्वारा कहे गये हैं:, अतः वाक्य के अर्थ में पडे हुये द्योत्य और विषय-भूत अर्थ भी शब्द को मूल कारण मान कर ज्ञात हुये होजाने से शब्द के वाच्य समझे जायेंगे तब तो उच्चायमाण शब्दों से ही अध्याहार, उपस्कार, स्मरण, लक्षणा, व्यंजना, संकेत-स्मरण, आकांक्षा, आदि अनुसार हुआ वाक्यार्थज्ञान शाब्द ही कहा जायेगा।

यों कहने पर तो अन्विताभिधान-वादी प्राभाकर कहते हैं, कि तिस ही कारण यानी द्योत्य या विषयभूत को भी शब्द का वाक्य मान्य कर लेने से अर्थापत्त्या या उपस्कार द्वारा जाना गया गम्यमान अर्थ भी शब्द का वाच्यार्थ होजाओ ऐसी दशा में पादप शब्द के उच्चारण पश्चात् हुई शाखा पत्ता आदि वाले अर्थ की प्रतिपत्ति के समान ठहर रहा, कम्प रहा, आदि अर्थों की भी विना कहे ही झप्ति होजायगी। अब आचार्य कहते हैं, कि यों इस कारण अन्विताभिधानवादी पण्डित के ऊपर

वही दोष कई वार आवृत्ति से पदार्थों की प्रपिपत्ति होते रहने का प्रसंग आजावेगा जैसे कि वर्णों से अभिव्यंग्य होरहे पद-स्फोट, को कहने वाले वादी वैयाकरण पण्डित के यहां आवृत्ति से पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का प्रसंग पूर्व में मीमांसकों द्वारा दिया जा चुका है। अर्थात्—तथा सत्यावृत्या सत्या पदार्थ प्रतिपत्तिप्रसंगः आदि ग्रन्थ से जो आपने कहा था उसका प्रतिफल तुम भी झेलो।

किं च, विशेष्यपदं विशेष्यविशेषणसामान्येनान्वितं विशेषणविशेषेण वाभिधत्ते तदुभयेन वा ? प्रथमपक्षे विशिष्टवाक्यार्थप्रतिपत्तिविरोधः। परापरविशेषणविशेष्यपदप्रयोगात्तदविरोध इति चेत्, तर्हि-अभिहितान्वयप्रसंगः।

अन्विताभिधान-वादी प्राभाकर को दूषण देते हुये हम जैनों को एक बात यह भी कहनी है कि "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" ऐसे प्रयोगों में शुक्लां विशेषण से युक्त होरहा गां यह विशेष्य पद क्या सामान्य रूप से शुक्ल विशेषण से अन्वित होरहे गाय नामक विशेष्य को कह देता है ? अथवा गां यह विशेष्य पद क्या विशेष (खास) विशेषण से अन्वय प्राप्त होचुके गाय विशेष्य को कह रहा है ? किं वा विशेष्य पद उन सामान्य स्वरूप और विशेष स्वरूप दोनों रूप विशेषणों करके अन्वित होरहे विशेष्य गाय का कथन करता है ? बताओ। अन्विताभिधान-वादी यदि पहिला पक्ष ग्रहण करेंगे तब तो वाक्य द्वारा सामान्य विशेषणसे युक्त होरहे विशेष्यकी प्रतीति होगी। उस वाक्य के द्वारा किसी प्रतिनियत विशेषण से विशिष्ट होरहे अर्थ की प्रतिपत्ति होने का विरोध होजायेगा जैसे कि सूखा, रूखा, सामान्य भोजन करने वाला पुरुष विशिष्ट होरहे छत्तीस भोजनों का भोगी नहीं कहा जा सकता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यदि वे प्राभाकर पण्डित यों कहें कि विशेषणों के उत्तरोत्तर विशेष अंशों को कहने वाले विशेषण वाचक पदों और इने गिने पर अपर विशेष्य को कहने वाले विशेष्य पद का प्रयोग कर देने से उस विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होजाने का विरोध नहीं आता है। यों कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो तुमको शब्दों करके अभिधावृत्ति द्वारा कहे जा चुके ही अर्थों के साथ अन्य पदार्थों के अन्वय करने का प्रसंग आवेगा, ऐसी दशा में प्राभाकरों के यहां स्वार्थ के साथ शब्द का अभिधान व्यापार होरहा और पदान्तरों के अर्थ के साथ गमकत्व व्यापार होरहा सन्ता अन्वितपना रक्षित नहीं रह सका प्रत्युत भाट्टों का अन्विताभिधान-वाद सिद्ध होगया।

द्वितीयपक्षे पुनः निश्चयासंभवः प्रतिनियतविशेषणस्य शब्देनानिर्दिष्टस्य स्वोक्तविशेष्येन्वयसंशीतेर्विशेषणांतराणामपि सम्भवात्। वक्तुरभिप्रायात् प्रतिनियतविशेषणस्य तत्रान्वयनिर्णय इति चेन्न, यं प्रति शब्दोच्चारणं तस्य तदनिर्णयादात्मानमेव प्रतिवक्तुः शब्दोच्चारणानर्थक्यात्।

आचार्य कहते हैं कि वे प्राभाकर पण्डित यदि दूसरा पक्ष ग्रहण करेंगे यानी किसी विशेष विशेषण से अन्वित होरहे विशेष्य वाचक शब्द द्वारा कहा जाना इष्ट करेंगे, तब तो फिर वाक्यार्थ

का निर्णय करना असम्भव है क्योंकि "वृत्तिर्वचामपरसदृशी" (एकीभाव स्तोत्र) वचनों की वृत्ति दूसरों के सदृश हुआ करती है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे दृष्टान्तमें हेतु के साथ साध्य की व्याप्ति को ग्रहण कर अनुमाता पुरुष अन्य स्थानों पर उस हेतु के सदृश दूसरे हेतुओं को देखकर पुनः उस दृष्टान्त में वर्त रहे साध्य के सदृश होरहे सजातीय साध्य का परिज्ञान कर लेता है " व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिः (परीक्षामुख)। इसी प्रकार व्यवहार कालमें शब्दके साथ वाच्यार्थ का संकेत ग्रहणकर शब्दबोद्धा पुरुष अन्य स्थलोंपर तत्सदृश शब्दोंको सुनकर उस संकेत-गृहीत वाच्यार्थ के सजातीय वाच्यार्थों की प्रतिपत्ति कर लिया करता है. हेतु द्वारा यदि विशेष साध्य का अनुमान हो जाना माना जायेगा तो तृण-सम्बन्धी या पत्तों-सम्बन्धी अग्नि विशेष को साधने वाले सामान्य धूम हेतु के समान वह हेतु भी व्यभिचारी बन बैठेगा इसी ढंग अनुसार सामान्य निरूपक शब्द करके भी यदि विशेष वाच्यार्थों की प्रतिपत्ति की जायेगी तो शुक्ल घोड़ा कहने के लिये प्रयुक्त कर दिये अश्व शब्दके समान वह शब्द भी अतिप्रसग दोषवाला होजायगा। अश्व शब्दसे कर्क (श्वेताश्व) नहीं कहा जाना चाहिये, विशेष वाचक शब्द यदि विशेष को भी कहें तो सामान्य रूप से ही कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

बात यह है कि शब्द की वाचकत्व वा सूचकत्व शक्ति का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है श्री अकलंक देव महाराज ने अष्टशती में कहा है कि शब्दस्य वचन-सूचनसामर्थ्य-विशेषानतिलङ्घनात् संकेतानुभिधानेपि कर्तृकर्मणोः शक्त्यशक्त्योरन्यतरव्यपदेशार्हत्वादयोदारुवज्रलेखनवत्, अतःद्वितीय पक्ष अनुसार विशेष का निर्णय करना असम्भव कहा गया है क्योंकि प्रतिनियत होरहे विशेषण का जब शब्द के द्वारा निरूपण ही नहीं किया जा चुका है तो स्वयं विशेषवाचक गां इस शब्द से कहे जा चुके सास्नादि वाले गोपिण्ड नामक विशेष्य में अन्वय होने का संशय खड़ा रहता है कि जो गौ कहीं जा रही है वह धौले रग से विशिष्ट है ? अथवा क्या काले, पीले, आदि रंगों से युक्त है ? कुछ निर्णय नहीं हो पाता है जबकि अन्य काले, पीले, कपिलत्व, मुंडत्व, आदि विशेषणों की भी सम्भावना पायी जाती है जैसे कृष्ण, नील, पीत, आदि विशेषण किसी भी शब्द से निर्दिष्ट नहीं किये गये हैं उसी प्रकार विशेष होरहे किसी (खास) शुक्ल विशेषण का भी किसी शब्द से कण्ठोक्त नहीं किया गया है। यदि तुम यों कहो कि वक्ताके हार्दिक अभिप्राय से वहां विशेष्य-वाचक पद में अन्वय कर वाक्यार्थ का निर्णय कर लिया जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जिस श्रोता के प्रति शब्द का उच्चारण किया गया है उस मनः--पर्यय ज्ञानी नहीं होरहे श्रोता को वक्ता के उस अभिप्राय का निर्णय नहीं होपाता है यद्यपि वक्ता को स्वयं अपने अभिप्राय का प्रत्यक्ष ज्ञान है किन्तु स्वय अपनी आत्मा के प्रति ही तो वक्ता के द्वारा शब्द का उच्चारण किया जाना व्यर्थ है।

स्वय अपना गाना या स्तोत्र पाठ या मत्रपाठ का श्रावणप्रत्यक्ष करने के लिये भले ही कोई रसिक या पुण्यार्थी पुरुष शब्द का उच्चारण करे किन्तु स्वयं को शब्दबोध करने के लिये कोई ठलुआ नहीं बैठा है जो कि वाचक शब्दों का उच्चारण करता फिरे, प्रत्युत वक्ताका ज्ञान तो वक्ता के उच्चारे

ग ये शब्दों का कारण है अपने बाप कोही बेटा बनाना अनुचित है, हाँ वक्ता के शब्द श्रोता के ज्ञान में निमित्त कारण पड़ जाते हैं, अतः विशेष होरहे विशेषणों से अन्वित हुये विशेष्य को विशेष्य वाचक पद नहीं कह सकता है, अन्विताभिधानवादी अपने पक्ष को लौटा लेवें।

तृतीयपक्षे तु उभयदोषानुषंगः।

मार्गदर्शक-तीसरे पक्ष में तो दोनों दोषों के होजाने का प्रसंग आता है "प्रत्येकं यो भवेद् दोष उभयः स कथं नहि" अर्थात्-सामान्य और विशेष दोनों होरहे विशेषण से अन्वित विशेष्य को यदि विशेष्य पद का वाच्य माना जायेगा तो विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होनेका विरोध और निश्चयासंभव ये दोनों दोष आकर खड़े होजाते हैं, अतः अन्विताभिधान-वादी के यहाँ गां इस विशेष्य पद के शुक्ल इस विशेषण की विशेष अवस्था या सामान्य अवस्था-अनुसार अन्वितपन का प्रयोग निर्णय नहीं होसका है।

एतेन क्रियासामान्येन क्रियाविशेषेण तदुभयेन वान्वितस्य साधनसामान्यस्याभिधानं निरस्तं।

विशेष्यके ऊपर तीन ढंगों से उठाये गये विशेषण के अन्वित होने के इस खण्डन ग्रन्थ करके अन्विताभिधान-वादी प्राभाकारों के इस निरूपण का भी निराकरण कर दिया गया समझ लो कि जैसे गां इस पद को शुक्लां इस विशेषण की आकांक्षा होने पर अन्वित करने के लिये तीन विकल्प उठा कर अन्वित होजानेका खण्डन कर दिया गया है उसी प्रकार गां इस साधन-सामान्यका अभ्याज क्रिया के साथ अन्वय करने के लिये आकांक्षी होने में तीन विकल्प उठाये जाते हैं, गां इस कर्मकारक के वाचक पद करके क्या क्रिया सामान्य से अन्वित हो रहे गाय कर्म का अभिधान किया जाता है? या गां पद करके क्रिया-विशेषसे अन्वित होरहे साधन-सामान्य का निरूपण किया जाता है? अथवा क्या क्रिया के आकांक्षी माने गये गां इस कर्म--कारक द्वारा क्रिया-सामान्य गाय का निरूपण किया जाता है? बताओ। प्रथम पक्ष अनुसार क्रिया सामान्य से अन्वय मानने पर विशेष क्रिया से सहित होरहे विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नहीं होसकेगी क्योंकि क्रिया-वाचक पद करके सामान्यक्रिया की ही प्रतिपत्ति हुई थी ऐसी दशा में विशेष ढंगसे घेरलेना रूप क्रिया की प्रतिपत्ति कथमपि नहीं हो सकती है। सामान्य रूप वस्त्र कह देने से ऊन का अंगरखा या लाल पगड़ी नहीं समझ ली जाती है सामान्य गमन कह देने मात्र से नाचना, उछलना, दौड़ना, नहीं उक्त हो जाता है "भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च, तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते।" यह प्रमाण देना व्यर्थ है। द्वितीय पक्ष ग्रहण करने पर वही विशेषण विशेष्य से विशेष्य का अन्वय मानने पर आया हुआ निश्चय के असम्भव होजाने का दोष यहां भी लग बैठता है जब कि क्रिया-वाचक शब्द ने शब्द-शक्ति का अतिक्रमण नहीं करते हुये क्रिया-विशेषको कहा ही नहीं है। दो मल्लों की केवल लड़ाई का निरूपण करने पर यदि श्रोता उनके दाव, पेच, या अन्य शारीरिक विशेष क्रियाओं को विना कहे यों ही समझ बैठे

तो यह श्रोता की अनधिकार चेष्टा है। व्यर्थ अधिक बोल कर दूसरे का माथा पचाना जैसे दोष है उसी प्रकार नहीं कही गयी यहां वहां की व्यर्थ या असद्भूत बातोंको समझ कर अपना मस्तिष्क नष्ट करना उससे भी बड़ा हुआ दोष है। जैन सिद्धान्तमें द्रव्यहिंसासे भावहिंसाका तीव्र पाप माना गया है। तृतीय पक्ष अनुसार दोनों दोष लागू होजाते हैं अतः कारक-सामान्य का तीनों विकल्पों में क्रिया से अन्वितपना नहीं ज्ञात किया जा सकता है,ऐसी दशा में प्राभाकरोंके अन्विताभिधानवादकी पुष्टि नहीं होसकी, पदों का परस्पर में अन्वय होचुकना कष्ट-साध्य विषय होगया।

क्रियायाश्च साधनसामान्येन साधनविशेषेण तदुभयेन वान्विताया: प्रतिपादनमाख्याते न प्रत्याख्यात ततो न प्रतिपाद्यबुद्धा न्विताना पदार्थानामभिधानं प्रतीतिविरोधात्। प्रतिपादकबुद्धौ तु तेषामन्वितत्वप्रतिपत्तावपि नान्विता भिधानसिद्धिस्तत्र तेषां परेणाभिहितानान्वयात्।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तथा इसी प्रकार क्रिया-वाचक "अभ्याज,, इस आख्यात पद करके भी साधन-सामान्य या साधन-विशेष अथवा उन दोनों ही करके अन्वित होरही मानी गई क्रिया का प्रतिपादन किया जाना तीनों विकल्पों में निराकृत कर दिया गया है। अर्थात्-अभ्याज इस क्रिया-पद को गां या देवदत्त इन कर्म-कारक या कर्तृकारक पदों का आकांक्षी होने पर प्रथम पक्ष अनुसार साधन-सामान्य करके अन्वित होरही क्रिया का आख्यात शब्द द्वारा प्रतिपादन करने में विशिष्ट वाक्यार्थ को प्रतिपत्ति होने का विरोध दोष उपस्थित होजाता है। द्वितीय पक्ष अनुसार साधन-विशेष करके अन्वित होरही क्रिया का आख्यात शब्द द्वारा प्रतिपादन मानने पर वाक्यार्थके निश्चय का असम्भव होजाना दोष तदवस्थ है तथा साधनसामान्य और साधन-विशेष इन दोनों से अन्वित होरही क्रिया का आख्यात शब्द करके प्रतिपादन करना इस तीसरे पक्ष में उभय दोष का प्रसंग आता है, यों आख्यात पद करके तीनों विकल्पों में क्रिया के प्रतिपादन होते रहने का प्रत्याख्यान कर दिया जा चुका है।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि प्रतिपादन करने योग्य श्रोता की बुद्धि में अन्वित होरहे पदार्थों का अभिधान नहीं होसकता है जैसा कि प्राभाकरोंने मान रक्खा है क्योंकि इसमें प्रतीतियों से विरोध आता है, हाँ प्रतिपादक वक्ता की बुद्धि में तो उन अन्वित होरहे पदार्थों के अन्वित होने की प्रतिपत्ति होनेपर भी कोई प्राभाकरों के अन्विताभिधान की सिद्धि नहीं होपाती है, कारण कि प्रतिपादक की उस बुद्धि में दूसरे से कहे जा चुके उन पदार्थों का अन्वय नहीं होरहा है। प्रतिपादकके लिये किसीने शब्द बोले ही नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि प्रतिपादक की बुद्धि में पदों का अन्वय होते भी वह श्रोता के काम का नहीं है। एक बात यह भी है कि पद के अर्थमें उत्पन्न हुआ ज्ञान यदि वाक्य के अर्थ का निर्णय करा देवेगा तो चक्षु, रसना, आदि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ रूप, रस, आदि का ज्ञान भला गन्ध का अध्यवसायी क्यों नहीं होजाय ?।

अब इस पर तुम यों कहो कि गंध, स्पर्श आदि का साक्षात्-कर्त्ता न होने से रूप ज्ञान गंध की ज्ञप्ति नहीं करा पाता है, अतः कोई दोष नहीं है, तब तो पदों से उत्पन्न हुआ पदार्थ का ज्ञान भी वाक्यार्थका प्रकाशक नहीं होओ, ऐसी दशामें अन्विताभिधान-वादियों के यहां पदार्थज्ञान किस प्रकार वाक्यार्थ का अध्यवसायी होगा ? । चक्षु आदि का जैसे गन्ध आदि में ज्ञापकत्व सम्बन्ध निर्णीत नहीं है उसी प्रकार पद का वाक्यार्थ के साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध नहीं निर्णीत होने से पद भी वाक्यार्थ को कहने में सामर्थ्य नहीं है, अतः प्राभाकरों का अन्विताभिधान पक्ष ठीक नहीं है इससे तो भाट्टों का अभिहितान्वयवाद ही कुछ अच्छा जंचता है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अत एवाभिहितान्वयः श्रयानित्यन्ये, तेषामप्यभिहिताः पदार्थाः शब्दांतरेणान्वीयन्ते बुद्ध्या वा ? न तावद्द्यः पक्षः, शब्दान्तरस्याशेषपदार्थविषयस्य कस्यचिदानष्टेः । द्वितीयपक्षे तु बुद्धिरेव वाक्यं स्यान्न पुनः पदान्येव, ततो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः ।

इस ही कारण से यानी प्राभाकरों के अन्विताभिधान पक्ष में कुछ अरुचि होने के कारण यह अभिहित पदार्थों का अन्वय होजाने से ही हमारा अभिहितान्वय-वाद श्रेष्ठ है प्रथम ही पदों करके स्वकीय स्वकीय पदार्थ कह दिये जाते हैं, पश्चात्—उनका अन्वय कर वाक्यार्थ बोध कर लिया जाता है, इस प्रकार कोई अन्य विद्वान् भट्टमतानुयायी कह रहे हैं । भावार्थ—मीमांसकों के भट्ट, प्रभाकर, और मुरारि, ये तीन भेद हैं, शाब्दबोध के विषय में भट्ट और प्रभाकरों का मन्तव्य न्यारा न्यारा है । अभिहितान्वय-वादी भट्ट हैं , और अन्विताभिधान-वादी प्रभाकर हैं, रोटी से दाल खाना या दाल से रोटी खाना और खाकर पढ़ना या पढ़ कर खाना तथा धर्म के लिये जीवित रहना या जीवित रहने के लिये धर्म सेवन एवं आरोग्य लाभ कर चुका पुरुष व्यायाम करता है, या व्यायाम कर चुका पुरुष आरोग्य लाभ करता है, तथैव द्रव्य कर्मोंका उपार्जन कर चुका जीव भाव-कर्मों को करता है, या भाव-कर्मों को कर चुका जीव द्रव्य-कर्मों का उपार्जन करता है । इन विषयों में जैसा स्वल्प या अधिक अन्तर है, उसी प्रकार अभिहितान्वय और अन्विताभिधानमें थोड़ी विशेषता है,कहे जाचुके पदों करके अभिधावृत्ति या अपनी अपनी योग्य लक्षणावृत्ति द्वारा उपस्थित किये गये अर्थोंका अन्वयकर जो वाक्यार्थ-बोध होना मानते हैं वे प्राचीन नैयायिक या भाट्ट तो अभिहितान्वय-वादी हैं । प्रथम "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" इस वाक्य के प्रत्यक पद का अर्थ पदों करके कह दिया जाता है, पश्चात् तात्पर्य नामक वृत्ति के वश से उन अभिहित अर्थों का ठीक ठीक अन्वय कर श्रोता को वाक्यार्थ का शाब्दबोध होजाता है । तात्पय वृत्ति को मानने वाले नैयायिक पुनः तीसरी व्यंजना वृत्ति को अभीष्ट नहीं करते हैं, "घटं करोति" इस वाक्य का अर्थ तो घट में वत रहे कर्मपन के अनुकूल क्रिया करना समझा जाता है, तहाँ घट पद का अर्थ घड़ा है और अम् प्रत्ययका अर्थ कर्मपना है, वतः यद्यपि किसी का अर्थ नहीं है, फिर भी तात्पर्य-वश से इन घट और कृति के संसर्ग-मुद्रा करके वह प्रतिभास जाता है ।

अतः अभिधा या लक्षणा द्वारा पदों करके पहिले कहे जा चुके पदार्थों का पुनः आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा, तात्पर्य अनुसार अन्वय कर शाब्दबोध करना यह भाट्टों या जरन्नैयायिकों के यहां अभिहितान्वय की अन्वर्थ संज्ञा की गयी है। दूसरे गुरु जी माने गये प्रभाकरों का यह अभिप्राय है, कि अन्वय स्वरूप वाक्यार्थ को समझाने में भी पदों की शक्ति मानी जाय जैसे कि अभिधा या लक्षणा वृति द्वारा पदों की स्वकीय स्वकीय अर्थ का कथन करने में शक्ति मानी गयी है, क्योंकि व्यवहार करके अन्वित होरहे ही वाक्यार्थका पदों करके उपस्थापन किया जाता है, पदार्थों के अन्वित अर्थ में ही संकेत-ग्राही पुरुष को शक्तिग्रह हुआ है,

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उसको स्पष्ट यों समझिये कि एक स्थल पर उत्तम प्रयोजक बृद्ध और मध्यम प्रयोज्य बुड्ढा तथा तीसरा दो वर्ष का बालक बैठा हुआ है, आज्ञा देने वाले उत्तम बृद्ध ने देवदत्त नामक मध्यम बुड्ढे को कहा कि "हे देवदत्त गाय को लाओ" उस वाक्य को समझ कर देवदत्त बुड्ढा बेचारा सींग सासना वाली व्यक्ति को उपस्थित करदेता है। निकट बैठा हुआ बालक उस चेष्टा करके उस वाक्य की गाय को ले आना है, इस अर्थ में बोधकता को ज्ञात कर लेता है। पश्चात्- उत्तम बुड्ढे ने देव दत्त को कहा कि "गौ को ले जाओ और घोड़े को ले जाओ" ऐसा प्रयोग होने पर गाय का ले खाना और घाड़े का ला देना देख कर वह बालक अन्वय, व्यतिरेकों करके ऐसी पद-शक्ति का निर्णय कर लेता है कि कारक पदकी शक्ति तो क्रिया पदके अर्थसे अन्वित होरहे कारक अर्थको समझानेमें है, और क्रिया पद की बाचकत्व शक्ति उन कारक पदोंके अर्थोंसे अन्वित होरही क्रिया को समझाने में है। तिस ही कारण संकेत ग्रहण कर चुके बालक या किसी भी अन्य भाषा का अध्ययन करने वाले जीव को प्रयोग काल में पहिले से ही परस्पर अन्वय प्राप्त कर चुके पदार्थों को बुद्धि उराज जाती है, क्योंकि शाब्द बोध के प्रधान बीज होरहे संकेत ग्रहण को करते समय परस्पर अन्वित होरहे पदों के कथन अनुसार ही शक्तिग्रह हुआ था, उस संतान प्रतिसन्तान से प्राप्त होरही टेव का परित्याग नहीं किया जा सकता है, अतः गौरव भले ही होजाय अन्वय (वंश) के अंश छुटते नहीं हैं, पहिले से ही अन्वित होरहे क्रिया कारकों का बोध उपजता है, पश्चात् शक्तिग्रह होता है। व्यवहार काल में विशेष पदों की निकटता होजाने से तात्पर्य वृत्ति अनुसार अगले, पिछले, पदों की स्मृति कर अन्वित होरहे पदो के अभिधान अनुसार शाब्दबोध होजाता है। पहिले पद अन्वित होकर अन्वित पदार्थों को कहते हुये वाक्यार्थ को समझा देते हैं, इस कारण अन्विताभिधान-वादी प्राभाकरोंका अन्विताभिधान अन्वर्थनामा है।

इस प्राभाकारों के सिद्धान्त में भट्टों को यह अस्वरस दीखता है कि अन्वित होकर शक्ति मानने पर भी प्राभाकारों को अन्वय विशेष की अवगति करने के लिये आकांक्षा, योग्यता, आदि कारण अवश्य स्वीकार करने पड़ेंगे। उन ही कल्पित होरहे आकांक्षा आदि से कार्य चल जाता है, अतः

अन्वित होरहे ही पदार्थों का अभिधान किया जाना पक्ष सुन्दर नहीं है। प्रकरण में यह कहना है, कि प्रतिपाद्य या प्रतिपादक की बुद्धि में अन्वित होरहे पदार्थों का अभिधान प्रतीत नहीं होरहा है, हां अभिहितों का अन्वय कुछ प्रतीत होता है, इस अवसरको अच्छा पाकर झट अन्य विद्वान् भट्ट बोल उठे हैं कि आपको धन्यवाद है, अभिहितान्वय पक्ष अच्छा है।

अब आचार्य कहते हैं, कि उन भट्टानुयायी पण्डितों के यहाँ भी 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" इस प्रयोग में देवदत्त आदि पदों करके कहे जा चुके पदार्थ क्या अन्य किसी एक शब्द करके परस्सर अन्वित कर दिये जाते हैं ? अथवा क्या वे पदर्थ श्रोता की बुद्धि करके ही परस्पर में अन्वित मार्गदर्शक :- पूज्य गणाचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज इन में पहिला पक्ष तो ठीक नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों को विषय करने वाले किसी एक अन्य शब्द को इष्ट नहीं किया गया है, अर्थात्-वाक्य में पड़े हुये सभी कारकवाची या क्रिया-वाची शब्द नियत जड़े हुये हैं, अभिहित पदार्थों के अन्वय मिला देने का कारण होरहा कोई शब्द जाना नहीं जाता है, हाँ द्वितीय पक्ष का अवलम्ब लेने पर तो बुद्धि ही वाक्य पड़ता है, अनेक पद तो फिर कथमपि वाक्य नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उस बुद्धि से ही वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति हुई है, पदों से नहीं। भाट्टों के यहां अभिहितान्वय करने वाला पदार्थ तो बुद्धि ही नियत रहा।

ननु पदार्थेभ्योपेक्षाबुद्धिसंनिधानात्परस्परमन्वितेभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः परंपरया पदेभ्य एव भावान्न ततो व्यतिरिक्तं वाक्यमस्तीति चेत्, तर्हि प्रकृतिप्रत्ययेभ्यः प्रकृतिप्रत्ययार्थाः प्रतीयंते तेभ्यापेक्षाबुद्धिसन्निधानादन्यान्यमन्वितेभ्यः पदार्थप्रतिपत्तिरिति प्रकृत्यादिव्यतिरिक्तं पदमपि मा भूत्, प्रकृत्यादीनामन्वितानामभिधान वाभिहितानामन्वये सदाथप्रतिपत्तिसिद्धेः।

भाट्टों की ओर से स्वपक्ष का अवधारण किया जाता है, कि आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा, तात्पर्य, अनुसार परस्पर अपेक्षा रखरहे पदों को अपेक्षाबुद्धि का सन्निधान होजाने से परस्पर में अन्वित होरहे पदार्थों से जो वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति हुई है, उस वाक्यार्थ ज्ञान की उत्पत्ति सच पूछो तो परम्परा करके पदों से ही हुई है, क्योंकि पदों से ही पदार्थों की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ ज्ञान हुआ था अतः उन पदों से अतिरिक्त कोई बुद्धि या अन्य पद वाक्य नहीं समझा जाय। यों कहने पर हम जैन कहेंगे कि तब तो प्रकृति या प्रत्ययों से जो प्रकृति और प्रत्ययों के अर्थ प्रतीत होरहे हैं वे ही तो अपेक्षा बुद्धि का सन्निधान होजाने से परस्पर में अन्वित होरहे उन प्रकृति और प्रत्ययो से उपज रहे पदार्थ की प्रतिपत्ति हैं, इस कारण प्रकृति, प्रत्यय, आदि से भिन्न कोई पद भी नहीं होगा क्योंकि प्राभाकरों के मतानुसार प्रथम से ही अन्वित होचुके प्रकृति आदिकों के अभिधान करने पर अथवा भट्ट मतानुसार प्रथम से ही स्वकीय अर्थ सहित कहे जा चुके प्रकृति आदिकों का अन्वय कर लेने पर पदार्थ की प्रतिपत्ति होना प्रसिद्ध है।

अर्थात्-भाट्टों द्वारा बुद्धि से अतिरिक्त पदों को ही वाक्य मानने का रक्षा की जायेगी तो

प्रकृति आदिक से भिन्न पद की भी रक्षा नहीं होसकेगी साथमें मीमांसकों में गुरु मान लिये गये प्रभाकर जी का मत भी अच्छा जंचने लग जायेगा। यहां पर वही किंवदन्ती चरितार्थ होजाती है, कि गुरू बन कर बिल्ली ने सिंह को कई विद्यायें या कलायें सिखाईं किन्तु अवसर पड़ने पर शिष्य से अपनी रक्षा करने के लिये वृक्ष पर चढ़ जाने की कला नहीं सिखाई। परिशेष में प्रभाकर तो मीमांसकों के गुरु ही ठहरे जब पदों से भिन्न कोई वाक्य नहीं तो प्रकृति, प्रत्ययों से भिन्न कोई पद भी कैसे माना जा सकता है ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पद के अंश होरहे प्रकृति और प्रत्यय भी तो अपने न्यारे न्यारे अर्थ को कहते हैं, अपत्य, भव, आदि अर्थों को अण् प्रत्यय कहता है, सु का अर्थ कर्ता या एकत्व होजाता है, भू, पच्, आदि प्रकृतियां, भवन, पाक आदि अर्थों में प्रवर्त्त रहीं हैं, अतः भट्टों का सम्प्रदाय श्रेष्ठ नहीं जंचता है। जिससे प्राभाकरों के सम्प्रदाय को ठेस दी जा सके।

बात यह है, कि वैशेषिकों के यहां आसत्ति ज्ञान, योग्यता ज्ञान, आकांक्षा ज्ञानों को शाब्दबोध का कारण माना है, कोई कोई तात्पर्य ज्ञान को भी शाब्द-बोध में कारण स्वीकार कर लेते हैं. मीमांसक और साहित्यज्ञ विद्वानों का भी कुछ न्यून अधिक ऐसा ही अभिप्राय है, मम्मट भट्ट कवि ने स्वकीय काव्य प्रकाश ग्रन्थ में "तात्पर्यार्थोपि केषुचित्', इसके विवरण में अभिहितान्वय वादी और अन्विताभिधानवादियों का यों मत दिखलाया है, कि आकांक्षा, सन्निधि, और योग्यता के वश से अभिधावृत्ति या लक्षणावृत्ति द्वारा कहे चुके पदार्थों का समन्वय करने पर वाक्यार्थ प्रतीत किया जाता है, यह अभिहितान्वयवाद है. और प्रथम से ही अन्वित होरहे पदों का वाच्य ही वाक्यार्थ है, यह अन्विताभिधान वाद है, "आकांक्षासन्निधियोग्यता-वशात् वक्ष्यमाणरूपाणां पदानां समन्वये तात्पर्यार्थः विशेषवपुः अपदार्थः अपि वाक्यार्थः समुल्लसति इति अभिहितान्वयवादिनां मतं वाच्यः एव वाक्यार्थः इति अन्विताभिधानवादिनः"

अभिप्राय वही है, कि आकांक्षाज्ञान आदि को कारण मानतेहुये अभिधा या लक्षणावृत्ति करके पहिले कहे जा चुके पदों का अन्वय करना भट्टों का मत है। और उक्त क्रम अनुसार पहिले अन्वित होचुके पदों का अभिधान होना प्राभाकारों का मन्तव्य है। खाये जा चुके को चाबना या चाबे जा चुके को खाना अथवा श्रद्धान किये जा चुके अर्थ का तत्व ज्ञान करना या तत्व-ज्ञान किये जा चुके अर्थ का श्रद्धान करना इसी ढंगों से उक्त मतों में थोड़ासा अन्तर है, जो कि गम्भीर पर्यवेक्षण करने वालों को भास जाता है।

वैशेषिकोंके यहां इन आकांक्षा आदिके लक्षण यों किये गये हैं, आसत्तिका लक्षण "सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते" है, जिस पद के अर्थ को जिस पद के अर्थ के साथ अन्वय होना अपेक्षित होरहा है. उन दोनों पदों की अन्तराल रहित होकर उपस्थिति होजाना आसत्ति है, "पदार्थे यत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता" एक पदार्थमें दूसरे योग्य पदार्थ का अविरोधी सम्बन्ध योग्यता कहा जाता है "तत्व-

वेन विना यस्याननुभावकता भवेदाकांक्षा" जिस पद के बिना जिस पद को अन्वयबोध कराने की अनुभावकता नहीं होपाती है, उस पद की उस पद के साथ आकांक्षा मानी जाती है, जैसे कि कारक पद को क्रिया पद की आकांक्षा है, "वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितं" वक्ता की इच्छा तो तात्पर्य मानिगया-हैअलम्ब श्रोतृविप्रतिपत्तावकृति केवलविशिष्ट होरही व्यक्ति स्वरूप पदार्थ के साथ पद का वाच्य वाचक सम्बन्ध तो अभिधा शक्ति है, अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति से सम्भाव्य अर्थ का शक्य अर्थ के साथ सम्बन्ध होजाना लक्षणा है।

प्रकरण में यह कहना है, कि पदों से भिन्न यदि कोई वाक्यार्थ नहीं है, तो प्रकृति, प्रत्ययों से निराला कोई पद भी नहीं है, भट्ट और प्रभाकर दोनों के विचार अनुसार पदार्थ की प्रतिपत्ति होजाना सध जाता है भिन्न भिन्न श्रोताओं को अनेक प्रकार शाब्दबोध होरहे हैं, कहां तक सूक्ष्मता को विचारोगे, व्यर्थ का अड़वंगा लगाना अनुचित है :

स्यान्मतं पदमेव लोके वेदे वार्थ-प्रतिपत्तये प्रयोगार्हं न तु केवला प्रकृतिः प्रत्ययो वा पदादपोद्धृत्य तद्व्युत्पादनार्थं यथाकथंचित्तदभिधानात्तस्वतस्तदभावः । तदुक्तं । अथ-गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्ष इति । यथैव हीं वर्णानंशः प्रकल्पितमात्राभेदस्तथा गौरिति पदमप्यनंशमपोद्धृत्य गकारादिभेदं स्वार्थप्रतिपत्तिनिमित्तमव-सीयते इति।

यदि मीमांसकों का यह भी मन्तव्य होय कि लोक में अथवा वेद में अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये पद का ही प्रयोग करना योग्य है, केवल भू पच्, देव, घट, आदि कोई प्रकृति अथवा सु, तिप्, अण्, आदि कोई भी प्रत्यय तो अकेली नहीं बोली जा सकती है, हां पद से वे प्रकृति, प्रत्यय, विकरण, उपसर्ग, आदिक यद्यपि अभिन्न हैं फिर भी उस पद को व्याकरण शास्त्र द्वारा निष्पत्ति कराने के लिये या बालकों को व्युत्पत्ति कराने के लिये जिस किसी प्रकार उन केवल प्रकृतियों या केवल प्रत्यय को कह दिया जाता है। अर्थात्-पच् धातु से तिप् प्रत्यय लगाकर शप् विकरण करने पर पचति पद साधु बन जाता है। "राज्ञः पुरुषः" ऐसा विग्रह किया पुनः षष्ठी तत्पुरुष समास करते हुये विभक्तियों का लोप कर पश्चात् मूत् संज्ञा कर सु विभक्ति लाकर राजपुरुषः बना लिया जाता है। "स्त्यै शब्द संघातयोः" या स्तृञ् आच्छादने धातुसे ड्रट प्रत्यय कर पुनः टित्वात् ङी प्रत्यय कर स्त्री शब्द निष्पन्न होजाता है। इत्यादि व्यवस्थायें व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया अनुसार मात्र व्युत्पत्ति करा देने के लिये हैं, वस्तुतः विचारा जाय तो शब्द प्रथमसे ही अखण्ड होकर सिद्ध हैं पाषाणमें उकेरी गई प्रतिमा के अंगोपांग कोई न्यारे न्यारे बना कर नहीं जोड़ दिये जाते हैं

आप जैनों के यहां भी गुणनन्दि आचार्य ने जैनेन्द्र प्रक्रिया में सिङधिकार का प्रारम्भ करते हुये ".अथ भवामीत्येवमादिकस्य सामान्याकारेण लोके प्रसिद्धेरनुत्पादविगमात्मकत्वादनित्यतामवल-म्बमानस्यान्वाख्यानाय विशेषाकारेण करणसन्निपातोपनीतोत्पादविगमात्मकत्वादनित्यतामादधान-

स्योत्पत्तये च प्रकृत्यादिप्रक्रियावतारो व्यवहाररूपार्थकालकारकसम्प्रतिपत्तये व्याख्येयः" यह बहुत अच्छा कह दिया है। बौद्धों या नैयायिकोंके एक क्षण और दो क्षण तक वर्त रहे क्षणिकत्व तथा मीमांसकों के नित्यत्व एकान्त का प्रत्याख्यान करते हुये [illegible] चित्रित्यत्वको खण्डित कर दिया है। अव्युत्पत्ति पक्ष और व्युत्पत्ति पक्ष में वस्तुतः विचार करने पर पहिला पक्ष ही प्रधान माना गया है, फिर भी अन्त प्रवेश रूप व्युत्पत्ति कराने के लिये वैयाकरणों ने प्रकृति, प्रत्यय, आदि की प्रक्रिया को दर्शाया है अनादिसिद्ध बीजमन्त्र में अनन्त शक्ति है, उतनी शक्ति कृत्रिम मंत्रों में शब्दों के नहीं है। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने भी "रमन्ते योगिनोऽस्मिन् रमु-घञ्-सु" यों व्युत्पन्न किये गये राम शब्द की अपेक्षा अव्युत्पन्न राम शब्द की अत्यधिक शक्ति स्वीकार की है।

कृत्रिम सौन्दर्य को अकृत्रिम सौन्दर्य की छटा जीत लेती है, वन की शोभा उपवन में नहीं है देवदत्त का निष्प्राण चित्र गृहस्थोचित स्नेह या पुत्रोत्पत्ति का कारण नहीं होसकता है। प्रकरण में यह कहना है कि बालकों को केवल व्युत्पत्ति कराने के लिये अखण्ड पद में प्रकृति, विकरण, प्रत्यय, आदिकी खण्डशः कल्पना कर ली जाती है, वस्तुतः देखा जाय तो उस सामान्य दृष्टि अनुसार उत्पाद विगम से रहित होरहे "भवति, देवः, मुनिः," आदि अव्युत्पन्न अखण्ड पूर्ण स्वरूप, शब्दों की उस प्रकृति प्रत्यय आदि द्वारा व्युत्पत्ति कर देने का अभाव है, वहीं हमारे यहाँ जैमिनिऋषि प्रणीत मीमांसादर्शन के पांचवें सूत्र के श्री शवर स्वामी विरचित भाष्य में यों कह दिया है कि अब यह बताओ कि गौः यों इस अनुपूर्वी में क्या शब्द विशिष्ट होरहा है इसके उत्तर में भगवान् उपवर्ष नामक ऋषि महाराज यों उत्तर कहते हैं कि गकार, औकार, और विसर्जनीय ये शब्द हैं ये उपवर्ष ऋषि पाणिनीय महाराजके गुरु थे ऐसा कई विद्वानों का मत है अस्तु। बात यह है कि जिसही प्रकार एक अकार या ककार वर्ण नियम करके अंशों से रहित है, मात्रा, उदात्त अनुदात्त, ये सब भेद कल्पित हैं इसी प्रकार कई वर्णों का अखण्ड पिण्ड गौः यह पद भी निरंश है केवल कल्पना द्वारा गकार आदि भेद का अपोद्धार कर यानी पृथग्भाव विचार कर स्वकीय सींग, सास्ना, आदि वाले अर्थ की प्रतिपत्ति का निमित्त हो रहा जान लिया जाता है। यहां तक मीमांसक कह चुके हैं।

तदप्यनालोचितवचनं, वाक्यस्यैव तात्त्विकत्वसिद्धेस्तदव्युत्पादनार्थं ततोपोद्धृत्य पदानामुपदेशाद्वाक्यस्यैव लोके शास्त्रे चार्थप्रतिपत्तये प्रयोगार्हत्वात्। तदुक्तं। "द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिति" ततः प्रकृत्यादिभ्योवयवेभ्यः कथंचिद्भिन्नमभिन्नं च पदं प्रातीतिकमभ्युपगंतव्यं न पुनः सर्वथानंशं वर्णवत्तद्ग्राहकाभावात्। तद्वत्पदेभ्यः कथंचिद्भिन्नमभिन्नं च वाक्यं प्रतीतिपदमास्कंददुपगम्यतां।

अब आचार्य कहते हैं कि मीमांसकों का कथन भी नहीं विचारा जा चुका निरूपण मात्र है क्योंकि इस प्रकार तो वाक्य का ही वास्तविकपना सिद्ध होता है, उस वाक्य के अर्थकी ही व्युत्पत्ति कराने के लिये उस वाक्य से अपृथक पदों के पृथग्भाव की कल्पना कर पदों का उपदेश कर दियागया

है। सत्य बात यह है कि लोक में अथवा शास्त्र में अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये वाक्य ही प्रयोग करने योग्य है, अकेला पद कुछ भी व्युत्पत्ति नहीं करा पाता है। मीमांसक जैसे वर्ण को अनंश मानते हुये पद को भी निरंश स्वीकार कर लेते हैं इसकी अपेक्षा वाक्य को ही निरंश स्वीकार कर लेना अच्छा जंचता है अर्थमें प्रवृत्ति या निवृत्ति होजाना वाक्य द्वाराही संपाद्य कार्य है वही ग्रन्थोंमें यों कहा जा चुका है कि किन्हीं पण्डितों ने पद के दो भेद कर दिये हैं " सुप्तिङन्तं पदं " देव: सर्वस्मै, नद्यां, आदि सुवन्त विभक्ति याले और पचति गमिष्यति, पिपठिषतु, आदि तिङन्त या तिङन्त विभक्ति वाले यों दो प्रकार पद हैं किन्हीं विद्वानों ने पदों के चार प्रकार भेद किये हैं नाम, आख्यात, निपात, कर्मप्रवचनीय, ये चार भेद हैं जिन, चन्द्र, गंगा, ज्ञान, विद्वस्, स्रज, आयुष्, नदी, नीलोत्पल, सौध, आदि शब्द तो नाम पद हैं।

पचति, क्रीणाति, पिपतिषति, शेरेऽयते, बीभर्ति पुत्रीयति कण्डूयति, पराजयते, उपरमति उच्यते, नीयते, स्थालीपचति आदिक शब्द आख्यात पद हैं। अहो, ई, उच्चैस्, नञ्, आदिक निपात पद हैं, लक्षणद्योतक अनु, अधिकद्योतक उपलक्षणद्योतक प्रति, परि आदिक निपात ही कर्मप्रवचनीय इस संज्ञा को धार लेते हैं। अथवा कोई कोई पद को पांच प्रकार भी स्वीकार करते हैं, पदों के उक्त चार भेदों में प्र, परा, उप, सम्, आदि उपसर्ग नामक भेद को बढ़ा देने पर पांच प्रकार के पद समझ लिये जाते हैं, जाति शब्द, गुणशब्द, क्रियावाचक शब्द, संयोगी द्रव्य शब्द, समवायी द्रव्य शब्द, कोई यों भी वाचक शब्द के पांच भेद कर लेते हैं पदों के प्रकार कितने भी मान लिये जांय सिद्धान्त का विरोध नहीं आना चाहिये।

बात यह है कि कि जैसे अखण्ड पद में से प्रकृति, प्रत्यय, विकरण, आदि का पृथग्भाव कल्पित कर लिया जाता है उसी प्रकार अखण्ड वाक्य से पृथग्भाव की कल्पना कर ही क्रियापद, कारकपद, न्यारे न्यारे गढ़ लिये जाते हैं तिस कारण सिद्ध होजाता है कि पद जैसे स्वकीय अवयव होरहे प्रकृति, प्रत्यय, आगम, आदि कल्पित खण्डोंसे कथंचित् भिन्न है कथंचित अभिन्न है, प्रतीतियोंके अनुसार निर्णीत कर लिया गया ऐसा पद स्वीकार कर लेना चाहिये किन्तु फिर अकार आदि वर्णके समान सर्वथा अंशोंसे रहित पद नहीं माना जाय क्योंकि सभी प्रकारोंसे अंश रहित पदके ग्राहक प्रमाणोंका अभाव है तथा उसी पद के समान वाक्य भी अपोद्धृत पदों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होरहा ही प्रतीतियों के समुचित स्थान पर आरूढ़ होरहा स्वीकार कर लेना चाहिये, व्यर्थका वाग्जाल उपयोगी नहीं है।

तच्च द्रव्यरूपं भावरूपं वा एकानेकस्वभावं चिंतितप्रायमिति स्थितमेतच्छब्दवंतः पुद्गला इति। शब्दस्य वर्णपदवाक्यरूपस्यान्यस्य च पुद्गलस्कन्धपर्यायत्वसिद्धेराकाशगुणत्वे नामूर्तद्रव्यत्वेन स्फोटात्मतया वा विचार्यमाणस्यायोगात्।

तथा वह वाक्य द्रव्य स्वरूप और भावस्वरूप यों दो प्रकार का है जो कि एक स्वभाव और अनेक स्वभावोंके साथ तदात्मक होरहा है। पूर्व प्रकरणों में बहुत बार हम इसका चिन्तन कर चुके हैं यहां प्रकरण बढ़ाना द्विरुक्त, त्रिरुक्त पड़ेगा, इस कारण युक्तियों से यह सिद्धान्त अब तक व्यवस्थित हो चुका है कि शब्द पर्यायवाले पुद्गल द्रव्य हैं। अकार, इकार, टकार, आदि वर्णस्वरूप शब्द या शीतल श्रेयान्, जानाति, आदि पदस्वरूप तथा देवदत्तः पठति, जिनदत्तो ग्रामं गच्छति, आदि वाक्य स्वरूप अथवा अन्य भी मेघध्वनि, समुद्रगर्जन, वादित्रनाद, आदि कोई भी शब्द क्यों न होंय उन सभी शब्दों को स्कन्ध-आत्मक पुद्गल द्रव्य का पर्यायपना सिद्ध होजाता है, आकाश का गुण होकरके अथवा अमूर्त्त द्रव्यपने करके तथा स्फोट-आत्मक स्वरूप करके शब्द के विचार किये जाने पर आकाशगुणत्व आदि स्वरूप की घटना नहीं होपाती है अर्थात्-वैशेषिकों के मन्तव्य अनुसार शब्द आकाश का गुण नहीं सध पाया है। शब्दाद्वैतवादी या वैयाकरणों के अभिप्राय अनुसार शब्द अमूर्त द्रव्य भी नहीं सध सका है, एवं वैयाकरणों के विचार अनुसार शब्द बेचारा नित्य निरंश, स्फोट-आत्मक भी नहीं सिद्ध होसका है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

परमार्थ रूप से विचार होचुकने पर भाषा वर्गणायें या शब्दयोग्य पुद्गल वर्गणायें इन विशेष पुद्गल स्कन्धों को पर्याय होरहा शब्द सिद्ध होजाता है, जैसे कि मनुष्य, तिर्यंच, आदि जीवों का शरीर आहार वर्गणाओं से बनजाता है। तीन लोक में भरी हुई पुद्गल की संख्यातवर्गणा आदि बाईस वर्गणायें और अणुऐं इनमें से किसी का भी बहिरंग इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होपाता है, फिर भी कीर, दूध, वायु, जल, इन में दृश्यमान आहार्य पदार्थों में बहुभाग अतीन्द्रिय आहार वर्गणायें पायीं जा रहीं मानी जाती हैं, इसी प्रकार जगत् में सर्वत्र शब्द-परिणति-योग्य वर्गणायें भर रही हैं, फिर भी वक्ता के मुख प्रदेश या फोनाग्राफ की चूड़ा विशालप्रासाद, विद्युत्प्रवाह द्वारा शब्दों को ले जाने वाली तारों के आधार होरहे पोले खम्भे आदि स्थानों पर बहुभाग शब्द योग्य पुद्गल स्कन्धों का सद्भाव माना जाता है, द्रव्यवाक्य और भाव-वाक्य दोनों पौद्गलिक हैं, उपादान पुद्गल स्कन्धों से द्रव्य वाक्य बनाने का निमित्त कारण होरहे तथा उस वीर्यान्तराय, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्म के उदय से आविष्ट होरहे क्रियावान् आत्मा के प्रयत्न-विशेष या लब्धि विशेषका भाववाक् या भाववाक्य मानते हुये पौद्गलिक कह सकते हैं, यहां तक विस्तार-पूर्वक पौद्गलिक शब्द का अच्छा समर्थन कर दिया है।

कः पुनर्बन्धः ? पुद्गलपर्याय एव प्रसिद्धो येन बंधवन्तः पुद्गला एव स्युरित्यारेकायामिदमाह।

"शब्दबंध" आदि इस सूत्र के "शब्द" का विवरण हो चुका है, अब विनीतशिष्य क्रम अनुसार प्राप्त हुये बंध की ज्ञप्ति करने के लिये आचार्य महाराज के प्रति प्रश्न उठाता है, कि महाराज यह बताओ कि वह इससे अगला फिर बन्ध क्या है ? जो कि पुद्गल पर्याय ही प्रसिद्ध मान लिया जाये

जिससे कि बंध पर्याय वाले पुद्गल द्रव्य ही होसकें ऐसी शिष्य की आकांक्षा प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द स्वामी इस अगली वार्त्तिक को कहते हैं।

बन्धो विशिष्टसंयोगो व्योमात्मादिष्वसंभवी।
पुद्गलस्कधपर्यायः सक्तुतोयादिबन्धवत्॥

आकाश, आत्मा, कालाणुयें, आदि द्रव्यों में नहीं सम्भव रहा ऐसा जो विशिष्ट संयोग है। जो कि अनेक पुद्गलों में कथंचित् एकत्व बुद्धि का जनक सम्बन्ध है, वह बंध तो पुद्गल स्कन्ध की पर्याय है, जैसे कि पिसे हुये सतुआ, पानी या दूध बूरा आदि का बन्ध होरहा पुद्गल की पर्याय है।

द्रव्ययोरप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः स च प्रतीतिसयुक्तप्रत्ययात्प्रसिद्धः, संयोगमंतरेण तस्यानुपपत्तेः। प्रसिद्धो वा कचित्संयुक्तप्रत्ययोऽसिद्धस्तस्य तत्पृष्ठभाविविकल्परूपत्वादिति चेत् न, अगृहीतसंकेतस्यापि प्रतिपत्तुः शब्दयोजनामन्तरेण स्वार्थव्यवसायात्मनि प्रत्यक्षे संयुक्तप्रत्ययप्रसिद्धेर्निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य सर्वथा निराकृतत्वात्। तथादृष्टे कचित्संयोगे संयुक्तविकल्पो युक्तो नीलप्रत्ययवत् तस्यासत्यत्वप्रसंगात्। न चासावसत्यो बाधकाभावात्।

परस्पर नहीं मिल रहे दो द्रव्यों की अप्राप्ति-पूर्वक प्राप्ति होजाने को संयोग कहते हैं। शरीर के साथ वस्त्र संयुक्त हैं, दाल में घृत संयुक्त है, आदिक संयुक्त द्रव्यों को जानने वाली निर्बाध प्रतीतियों से वह संयोग सभी लौकिक या शास्त्रीय जनों में प्रसिद्ध होरहा है, क्योंकि संयोग के बिना उस संयुक्त इत्याकारक ज्ञान की उपपत्ति नहीं होसकती है। यहां संयोग क्या किसी भी संसर्ग को वास्तविक नहीं मानने वाले बौद्धों का आक्षेप है, कि कहीं भी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा संयुक्त ऐसे ज्ञान होने की सिद्धि नहीं होरही है, अतः संयोग पदार्थ असिद्ध है, हां वस्तुभूत स्वलक्षण अर्थ को ग्रहण कर रहे उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के पीछे होने वाले अवस्तु-भूतार्थग्राही विकल्पज्ञान स्वरूप वह संयुक्त प्रत्यय है, एतावता संयोग वास्तविक पदार्थ नहीं बना। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जिस पुरुष ने संकेत नहीं भी ग्रहण किया है, उस प्रतिपत्ता पुरुष को भी शब्द की योजना के बिना होरहे स्व और अर्थ के निर्णय-आत्मक प्रत्यक्ष में संयुक्त प्रतीति होना प्रसिद्ध होरहा है, बौद्धों के यहां माने गये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का सभी प्रकारों से पूर्व प्रकरणों में निराकरण किया जा चुका है।

अर्थात्—प्रत्यक्ष के पीछे हुये निर्विषय या कल्पित विषय-वाले माने गये विकल्पज्ञान द्वारा यदि संयोग की प्रतीति मानी जाती तो संकेत ग्रहण करना और संकेत गृहीत हुये शब्दों का सुनना आवश्यक था, संकेत-गृहीता पुरुष को ही शब्दों के सुने जाने पर शाब्दबोध-आत्मक विकल्पज्ञान हुआ करता है। किन्तु पुरुष में दण्ड का संयोग स्पर्शन प्रत्यक्ष से और अन्य इन्द्रियों से भी संयोग प्रतीत होरहे हैं। यहां संकेत ग्रहण या शब्द की योजना करना नहीं है। ज्ञेय अर्थों को विकल्पना कर रहे

सभी ज्ञान सविकल्पक हैं। तथा बौद्धोंके यहां निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा देखे जा चुके पदार्थ में ही पश्चात् कल्पनाओं को उठा रहे विकल्प ज्ञान होते माने गये हैं, जब कि कहीं पर संयोग प्रत्यक्ष द्वारा देख लिया जाता तब तो उस संयोगवाले में "संयुक्त है" यह विकल्प करना युक्त होसकता था जैसे कि नील स्वलक्षण को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से देखे जा चुकने पर पश्चात् "नीलमिदं नीलउत्पलं" ऐसे विकल्प ज्ञान उठ बैठते हैं, यदि विना देखे ही नील का विकल्प ज्ञान उपज जायगा तो उस नील ज्ञान के असत्यपन का प्रसंग आजावेगा किन्तु वह नील ज्ञान असत्य तो नहीं है क्योंकि इस नील ज्ञान का कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

अर्थात्—बौद्धों ने तदध्यवसाय करके पूर्व ज्ञान का प्रामाण्य व्यवस्थापित किया है। नील स्वलक्षणको जानने वाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षको प्रामाण्य तभी व्यवस्थित होता है। जब कि उस प्रत्यक्ष के पीछे उसी विषय का अध्यवसाय करने वाला विकल्पज्ञान उपज जाय, एक चन्द्रमामें दो चन्द्रमाको जान रहे मिथ्या प्रत्यक्ष के पश्चात् हुये विकल्प ज्ञान करके पहिले प्रत्यक्ष का सत्यपना नहीं व्यवस्थित होपाता है। अतः अबाधित यानी सत्य संयुक्त प्रत्यय से संयोग पदार्थ वस्तुभूत सध जाता है।

ननु च न संयुक्तप्रत्ययः सत्यस्तद्विषयस्य वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषदूषितत्वाद-वयविप्रत्ययवदित्येतदस्ति तद्बाधकं। तथाहि-संयोगः स्वाश्रये वर्तमानो यद्येकदेशेन वर्तते तदा सावयवः स्यात्, स्वावयवेषु च स्वतो भिन्नेषु तस्यैकदेशांतरेण वृत्तौ परापरदेशकल्पनेऽनवस्था सर्वात्मना प्रत्येकं तत्र तस्य वृत्तौ संयोगानेकत्वप्रसंगस्तथासत्येकैकस्मिन् संयोगे संयोगप्रत्य यप्रसंगः। सकृदनेकसंयुक्तप्रत्ययप्रसंगश्च।

"परतंत्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतंत्रता। तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्वतः" इस अभिप्राय अनुसार सम्बन्ध को परमार्थ नहीं मान रहे बौद्ध अपने पक्ष का अवधारण करते हैं। कि संयोग सम्बन्ध से विशिष्ट होरहे पदार्थ का ज्ञान (पक्ष) सत्य नहीं है, (साध्य) उस ज्ञान के विषयभूत होरहे संयोग को वृत्ति विकल्प, अनवस्था, द्रव्यस्थूलता, साधारणत्व, उपकार्य उपकारक भावधारा आदि दोषों करके दूषित होजाने से (हेतु) अवयवों के ज्ञान समान (अन्वयदृष्टान्त)।

यों यह अनुमान उस संयुक्तप्रत्यय का बाधक है अर्थात्—अवयवों में अवयवी की वृत्ति एक देश से मानने पर वह प्रथम से ही सावयव होरहा माना जायेगा अपने उन अवयवों में भी पुनः एक देश करके वृत्ति मानने पर परापर अवयव देशों की कल्पना करते करते अनवस्था होजायगी। एक एक अवयव में सम्पूर्ण रूप से अवयवी की वृत्ति मानने पर बहुत से अवयवी हुये जाते हैं। इसी प्रकार संयोग में भी उक्त दोष आ जाते हैं। इस बात को यों स्फुटरूप से समझ लीजियेगा कि अपने आश्रय संयुक्त में वर्त रहा संयोग यदि एक देश करके वर्तरहा है। तब तो संयोग सावयव हुआ क्योंकि जो अवयव सहित है, उसी के एक देश या अनेक देश होसकते हैं। और अपने से भिन्न होरहे उन स्वकीय

अवयवों में पुनः उस संयोग की अन्य एक देश करके वृत्ति मानी जायेगी तो यों ही उत्तरोत्तर देशों की कल्पना करते करते अनवस्था दोष आजायेगा. हां अपने प्रत्येक आश्रय में उस संयोग की वहां सम्पूर्ण अपने शरीर से वृत्ति मानी जायेगी तो संयोगों के अनेकपन का प्रसंग आजावेगा कम से कम दो, तीन, आदि जितने भी संयोगी हैं। उतने ही संयोग बन बैठेंगे और तिस प्रकार होते सन्ते एक एक संयोग में एक एक संयोग ज्ञान के होजाने का प्रसंग आवेगा, साथ ही एक ही वार में उन संयोगों से संयुक्त होरहे पदार्थों को विषय करने वाले अनेक संयुक्त प्रत्ययों के होजाने का भी प्रसंग आजावेगा सम्बन्ध-वादी पण्डित इन अनिष्ट प्रसंगों का निराकरण नहीं कर सकते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एक बात यह भी है कि एक द्रव्य का दूसरी द्रव्य के साथ आत्मभूत संयोग होजाना मान लेने पर द्रव्य का अणु शरीर स्थूल हुआ जाता है। द्रव्य की असाधारणता पर साधरणता का अधिकार होजायगा, क्षणिक पदार्थ को स्थिर बनने का अवसर दिया जाता है, सम्बन्ध को मान रहे जैनों के यहां अगुरुलघु गुण स्वरूपनिष्ठ हो रहे पदार्थों का उपकार्य उपकारकभाव की कीच में डालकर कैवल्य से वंचित किया जाता है,अतः अवयवी के समान संयोग भी सिद्ध नहीं होसका।

नैकदेशेन वर्तते नापि सर्वात्मना किं तर्हि वर्तत एवेति चायुक्तं प्रकारांतरेण क्वचित्कस्यचिद्वर्तनस्यादृष्टेः। स्वाश्रयाभिन्नरूपस्तत्संयोगिनां चैव प्रत्यासन्नतयोत्पत्तौ न ततोर्थान्तरं किंचिदित्येकांतवादिनामुपालंभो न पुनः स्याद्वादिनां, तेषां स्वाश्रयात्कथंचिद्भिन्नस्य संयोगस्याभिमतत्वात्। संयोगिव्यतिरेकेणानुपलब्धेः सयोगस्यातद्भिन्नत्वसिद्धेः, प्राक् पश्चाच्च तदाश्रयद्रव्यसद्भावेपि संयोगस्याभावात्ततो भेदस्यापि प्रतीतिविरोधाभावात्।

संयोग सम्बन्ध का प्रत्याख्यान कर रहे बौद्ध ही कहे जारहे हैं कि यदि कोई संसर्गवादी यों व्यर्थ आग्रह करे कि संयोग अपने आश्रय में न तो एक देशसे वर्तता है और सर्व आत्मा करके भी नहीं वर्तता है जैसा कि तुम बौद्धोंने दो विकल्प उठा कर खण्डन किया है तो फिर क्या कैसे वर्तता है। इसका उत्तर राजाज्ञा के समान यही है कि संयुक्त में संसर्ग वर्तता ही है भलें ही इन दो के अतिरिक्त तीसरा ढंग होय। बौद्ध कहते हैं कि इस प्रकार संसर्ग-वादियों का कहना युक्ति रहित है क्योंकि एक देश करके या सर्व देश करके इन दो प्रकारों से अतिरिक्त किसी तीसरे प्रकार करके कहीं भी किसी भी पदार्थ का वर्तमान नहीं देखा गया है।

बात यह है कि पूर्व में दण्ड अपने स्थान पर क्षण क्षण में उपज रहा था और पुरुष स्वकीय स्थल पर अपने उत्पाद विनाशों में लवलीन होरहा था पुरुष करके हाथ में दण्ड थाम लेने पर दोनों की प्रत्यासन्न देशों में क्षणिक धारा अनुसार निज निज परिणति होने लगी है और कोई नई बात नहीं हुई है, इधर उधर अस्त व्यस्त बैठे हुये विद्यार्थियों को श्रेणी अनुसार निकट बैठा देने पर उनमें कोई नई परिणत नहीं होजाती है,हुण्डी द्वारा रुपयों के यहां वहां दूर, निकट, चले जाने या चले आने से कोई चांदी के रुपये सोने के नहीं हो जाते हैं, तभी तो वैराग्य भावना को भावने वाले तत्वज्ञानी

पुरुष इन माता, पिता, बन्धुजन, पुत्र, कलत्र, मित्र, धन, शरीर आदि के सम्बन्धों को झूठा विचारते हैं "हम न किसी के कोई न हमारा कोई है जगत का स्वरूप ही ऐसा है वस्तुतः सभी पदार्थ स्वभावों वा संवेगवैराग्यार्थं पन्थे पहिय जणाणं जह संजोगो हवेइ खण मित्तं, बंधुजणाणं च तहा संजोगो अद्धवो होदि" ये वचन जैनों के प्रमाण माने गये हैं।

कहना यह है कि उन संयोग वाले संयुक्त पदार्थों की निकटवर्ती होकर उत्पत्ति होजाने की दशामें संयोग कल्पित कर लिया जाता है वह संवृति रूप संयोग अपने आश्रयों से अभिन्न है उन संयोगियों से कोई सर्वथा भिन्न पदार्थ नहीं है जैसा कि वैशेषिकों या नैयायिकों ने मान रक्खा है। अब आचार्य कहते हैं कि इस उक्त प्रकार एकान्त-वादियों का उलाहना उन्हीं एकान्तवादी बौद्धों के ऊपर पडता है किन्तु फिर स्याद्वादियों पर कोई उपालम्भ नहीं आता है क्योंकि उन स्याद्वादियों के यहां अपने आश्रय होरहे संयुक्त पदार्थोंसे कथंचित् भिन्न होरहा संयोग पदार्थ अभीष्ट किया गया है संयोगियों से अतिरिक्त होकर के संयोग की उपलब्धि नहीं होती है, अतः संयोग का उनसे अभिन्नपना सिद्ध होजाता है। हाँ संयोग होने से पहिले और पीछे अवस्थाओं में उस संयोग के आश्रय होने वाले या होचुके पृथक् पृथक् द्रव्यों का सद्भाव होने पर भी संयोग का अभाव है। अतः उन संयोगके भेद की भी प्रतीति होजाने में कोई विरोध नहीं आता है यों संयुक्तोंसे संयोग कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है, यह जैन सिद्धान्त है।

नन्वसंयुक्तद्रव्यलक्षणाभ्युपसर्पणाप्रत्ययवशात्संयुक्तयोस्तयोरुत्पत्तेर्नापरः संयोगोऽवभासत इति चेन्न, तयोरसंयुक्तपरिणामन्यागेन संयुक्तपरिणामस्य प्रतीतेः। संयुक्तयोः पुनर्विभागपरिणामवत्। यावेव संयुक्तौ तत्त्वभयोपलब्धौ तावेव च सम्प्रति विभक्तौ दृश्येते इति प्रत्यभिज्ञानात् संयोगविभागाश्रयद्रव्ययोरवस्थितत्वसिद्धेः। न च प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणं तस्य प्रत्यक्षवत्स्वविषये प्रमाणत्वेन पूर्वं समर्थनात्।

संसर्ग को नहीं मानने वाले बौद्ध अनुनय करते हैं कि प्रथम नहीं संयुक्त होरहे द्रव्य स्वरूपों से सरपट गमन कराने वाले कारणों के वश द्वारा उन दोनों संयुक्त होचुके द्रव्यों की नवीन उत्पत्ति होजाती है, इस व्यवहित द्रव्यों का निकट होकर उपज जाने से निराला कोई संयोग पदार्थ नहीं प्रतिभासता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि पहिले के असंयुक्त परिणाम का त्याग करके पुनः उन द्रव्यों के होरहे संयुक्त परिणामकी प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतीति होरही है.पृथक् धरे हुये भोजन, वस्त्र, भूषण, इष्टजन, की अपेक्षा भोजन, वस्त्र आदि के संयुक्त होजाने पर देवदत्त की अवस्था अन्य ही होजाती है जैसे कि पहिले संयुक्त होरहे पदार्थों का पुनः विभाग होजाने पर न्यारी परिणति होरही देखी जाती है, वस्त्र या पुत्र, कलत्र, आदि की वियोग अवस्था में उस संयुक्त अवस्था के परिणामों से न्यारी ही जाति के परिणमन होते हैं, यह बात किसी सहृदय व्यक्ति से छिपी हुई नहीं है,जब संयोग या विभाग न्यारी न्यारी अविभाग प्रतिच्छेदों वाली पर्यायोंको उपजाते हैं तो संयोग

या विभाग को पदार्थोंका वस्तुभूत परिणाम कहना ही पड़ता है। देखिये ऐसा प्रमाण-आत्मक प्रत्यभिज्ञान होता है कि दोनों की उपलब्धि होने पर जो ही दो द्रव्य पहिले संयुक्त थे वे ही दोनों द्रव्य वर्तमान समय में तो विभक्त होरहे देखे जा रहे हैं, इस स्थान पर जो कोई नवीन परिणति है वे ही वास्तविक संयोग या विभाग परिणाम हैं। संयोग या विभाग अवस्था में संयोग और विभाग के आश्रय होरहे पति पत्नी, या माता पुत्र, आदि द्रव्यों की तो अवस्थिति पूर्ववत् सिद्ध है तभी तो एकत्व प्रत्यभिज्ञान होसकता है, अतः हर्ष या विषाद के उत्पादक संयोग या विभागके पर्यायों की विशिष्टता उन द्रव्यों में माननी पड़ती है।

यह प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष जैसे अपने विषय में प्रमाण माना गया है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान का भी अपने नियत विषय में प्रमाणपने करके पहिले समर्थन किया जा चुका है "मतिःस्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" इस सूत्र का विवरण देख लिया जाय।

नन्वेवं प्रसिद्धोपि संयोगः कथं व्योमात्मादिष्वसंभवी विशेषपुद्गलेषु सिद्ध्येद्यतो बन्धः पुद्गलानामेव पर्यायःस्यादिति चेत्,तदेकत्वपरिणामहेतुत्वात्तस्य विशिष्टत्वसिद्धिः सक्तुतोयादिबंधवत्। नहि यथा सक्तुतोयादीनां संयोगः पिण्डैकत्वपरिणामहेतुस्तथा व्योमात्मादीनां तेषामेकद्रव्यत्वप्रसंगात्। संयोगमात्रे तु सत्यपि न तत्प्रसंगः। पुरुषतदस्तरणवत्। ततोस्ति पुद्गलानां बंधस्तदेकत्वपरिणामान्यथानुपपत्तेः।

यहां कोई प्रश्न करता है, कि इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण या समीचीन युक्तियों से प्रसिद्ध कर दिया गया भी संयोग भला आकाश, आत्मा, आदि में नहीं सम्भव होरहा केवल विशिष्ट पुद्गलों में ही किस प्रकार सिद्ध होसकेगा? बताओ जिससे कि वह संयोग दोनों की गुणच्युति स्वरूप अवस्था को प्राप्त होकर बन्ध नाम को पा रहा सन्ता पुद्गलों की ही पर्याय होके जो कि सूत्रकार द्वारा कहा गया है। अर्थात्- संयोग तो आकाश और आत्मा का भी है, काल अणुओं का भी परस्पर संयोग है, पुद्गल का भी शुद्ध द्रव्यों के साथ संयोग होरहा है, एतावता ही किसी चमत्कार पर संयोग विशेष को बन्ध मान लेना और उस बन्ध को पुद्गल द्रव्यों का ही परिणाम कहे जाना, ये दोनों बातें कैसे सिद्ध करोगे?

ग्रन्थकार कहते हैं, कि यों कहने पर तो हम कहेंगे कि एकम-एक होजाना स्वरूप परिणाम का हेतु होजाने से उस संयोग की विलक्षणता सिद्ध है, जैसे कि दो बर्तनों में न्यारे न्यारे रक्खे हुये सतुआ और जल का पुनः एक कटोरे में संयोग होजाने पर पश्चात् दोनों का एक रस होजाने के कारण घोले गये सतुआ और पानी की बन्ध परिणति ही संयोग की विशिष्टता है, दाल और उसमें डाले हुये मसाले या खोआ और बूरा का संयोग कर बने हुये पेड़ा एवं शोशी में संयुक्त होरहे विष और पी लिये गये विष आदिमें संयोग परिणतिसे हुई बन्ध परिणति न्यारी प्रतीत होरही है, वहबंध पर्याय इन आत्मा, आकाश, आदि द्रव्योंमें नहीं पायी जाती है, देखिये सतुआ पानी, या दूध, बूरा, आदिका संयोग जिस प्रकार

दोनों के पिण्ड की एकत्व परिणति कराने का हेतु होरहा है, उस प्रकार आकाश, आत्मा, या कालाणुओं का मिथः होरहा संयोग बेचारा उनकी पिण्ड बन्ध जाना-स्वरूप एकत्व परिणति का कारण नहीं है, अन्यथा उन आकाश, आत्मा आदि द्रव्यों का भी मिल कर एक द्रव्य होजाने का प्रसंग आजायगा जैसे कि दो परमाणुओं का मिल कर एक अशुद्ध द्रव्य द्वयणुक स्कन्ध बन जाता है। हां आकाश, आत्मा, आदिकों का केवल कोरा संयोग भले ही होजाय तो भी उस एक द्रव्यपन का प्रसंग नहीं आता है, जैसे कि पुरुष और उसके बिछाने के बिछौना या आसन का केवल संयोग बन्ध नहीं है।

अर्थात्—बन्धपरिणति में दोनों या इससे अधिक द्रव्यों का एक रस होजाता है, जैसे कि कर्मों का संसारी जीव के साथ कथंचित् एकीभाव होरहा है, हां कोरा संयोग होजाने पर आत्मा आत्मा का सिद्धों सिद्धों का अथवा काल अणुओं का मिथः एक रस नहीं होपाता है। इतना अवश्य है, कि संयोग में भी अनेक विशेषतायें दृष्टि-गोचर होरही हैं, देवदत्त के साथ होरहे भूषण के संयोग से वस्त्र का संयोग विलक्षण है, वस्त्र के निमित्त से शरीर में उष्णता उपज जाती है, उष्ण वस्त्र के पहन लेने से और सौड के ओढ़ लेने से तो शरीर अधिक उष्ण होजाता है, भूषणों से आभिमानिक सुन्दरता की कल्पना या धनिक-पन का गर्व भले ही उपज जाय किन्तु वह भूषण के संयोग में पारिणामिक निमित्तता का ज्ञापक नहीं है और यदि किसी स्त्री को भूषणों से ही उक्त परिणाम उपज जांय तो चलो अच्छा हुआ वह भूषणसंयोग भी विशिष्ट परिणतिका निमित्त समझा जायगा, मांगे हुये गहने या मुलम्मा के भूषणों का संयोग वैसी परिणति का कारण नहीं है।

तथा मकराने की शिलाओं पर बैठने से या स्फटिक के स्पर्श से शीतलता उपजती है। हां मकराने के चौकों पर डाभ या पराल का आसन बिछा कर बैठने से शैत्य का प्रभाव अत्यल्प रह जाता है, ऊन या रूई के बने हुये वस्त्रों या आसनों से तो शरीर में उष्णता बढ़ जाती है। तथा कच्ची काली ईंट को पक्का और लाल कर देने वाला अग्नि-संयोग विभिन्न ही है, धीरे से मुक्के को छुआ देने की अपेक्षा बल पूर्वक छुआ दिये गये मुक्के का संयोग विलक्षण है, कान के ऊपर बल से पुकारने करके शब्द द्वारा विशेष आघात प्रतीत होता है, केवल हस्त संयोग की अपेक्षा पूरे शरीर का संयोग विशिष्ट होरहा विलक्षण परिणति का उत्पादक है, माता अपने पुत्र के मस्तक का स्पर्श करती है, शिष्य गुरु जी के चरणों का अपने हाथों से स्पर्श कर संयोग करता है, खाई गई औषधि और छुआई गई औषधि में संयोग द्वारा अन्तर पड़ जाता है, रुपयों के साथ दूसरे रुपयों का संयोग निराला ही है, यों कार्यों के निमित्त होरहे अथवा नहीं भी निमित्त होरहे संयोगों के अनेक प्रकार हैं, इस कारण से सिद्ध होजाता है, कि पुद्गलद्रव्यों का विशिष्ट संयोग होजाने पर बन्ध परिणाम होजाता है, अन्यथा यानी बन्ध हुये विना उन पुद्गलों को एकत्व परिणति नहीं होसकती है।

भावार्थ—पुद्गल पुद्गलों का और जीवों के साथ पुद्गलों का ही बन्ध होता है, शेष चार द्रव्यों में संयोग भले ही होय किन्तु बन्ध नहीं होने पाता है, क्योंकि बन्ध होजाने की अन्तरंग कारण

वैभाविक शक्ति का चार द्रव्यों में अभाव है, आत्मा के साथ होरहा कर्म, नोकर्म, का संयोग भी एकीभाव का सम्पादक होकर पुद्गलों का बन्ध कहा जा सकता है, भले ही वह बन्ध जीव द्रव्य का भी होय हमारे उक्त सिद्धान्त में यानी बन्ध पर्याय वाले पुद्गल स्कन्ध हैं इस सिद्धान्त में कोई क्षति नहीं पड़ती है, पूर्व से बांधे गये कर्मों से जकड़ा हुआ मूर्त जीव ही तो पुनः मूर्त कर्मों से बधता है, अमूर्त शुद्ध जीव का किसी भी सजातीय, विजातीय द्रव्य के साथ बन्ध नहीं है, अतः मूर्त पुद्गलों का ही बन्ध होजाने के लिये बल दिया गया है ।

कस्यचिदवयवद्रव्यस्यैकस्मादनेकपुद्गलपरिणामात्मनोसंभवादसिद्धस्तदेकत्वपरिणाम इति चेन्न, तस्य प्राक् साधितत्वात् । जीवकर्मणोर्बंधः कथमिति चेत्,परस्परं प्रदेशानुप्रवेशान्नत्वेकत्वपरिणामात्तयोरेकद्रव्यानुपपत्तेः "चेतनाचेतनावेतौ बंधं प्रत्येकतां गतौ";इति वचनात्तयोरेकत्वपरिणामहेतुर्बंधोस्तीति चेन्न, उपचारतस्तदेकत्ववचनात् । भिन्नौ लक्षणतोऽत्यंतमिति द्रव्यभेदाभिधानात् । ततः पुद्गलानामेवैकत्वपरिणामहेतुर्बंध इति प्रतिपत्तव्यं बाधकाभावात् स च स्कंधधर्म एव ।

कोई पण्डित बौद्ध मत अनुसार आक्षेप करता है, कि किसी एक अवयव से अन्य किसी एक अवयव द्रव्य का संयोग होकर पुनः अनेक पुद्गलों करके बन रहे एकत्व परिणामका असम्भव है, अतः दो आदि द्रव्यों की एकत्व परिणति होना असिद्ध है, दो, तीन आदि द्रव्य यदि मिलकर एक अशुद्ध द्रव्य बनने लगें तो यों उन्नति करते करते जगत् में एक ही द्रव्य का अद्वैत होजायगा, भेद व्यवहार सब लुप्त होजायंगे किन्तु द्रव्य अवस्थित माने गये हैं, दो का एक बनाना प्रकृति मर्यादा से भी अलीक है, ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस अनेकों के एकत्व परिणाम स्वरूप अवयवी को पूर्व प्रकरणों में साधा जा चुका है, यहां पुनः उस प्रक्रिया को दुहराना पुनरुक्त पड़ेगा, अतः "सन्तोष्टव्यं आयुष्मता" । अब पुद्गलों के ही पर्याय होरहे बन्ध का निर्णय होजाने पर कोई प्रश्न उठाता है, कि जीव और कर्मोंका बन्ध भला किसप्रकार होरहा कहा जायगा ? बताओ । यों कहने पर आचार्य कहते हैं, कि क्षीर नीर न्याय अनुसार जीव और कर्म नोकर्मों का मात्रपरस्पर में अनुप्रवेश होजाने से उनका बन्ध होजाता है, दोनों द्रव्यों के एकत्व परिणाम का हेतु होरहा बन्ध इनका नहीं होता है, क्योंकि सजातीय पुद्गल पुद्गलों का एकत्व परिणाम होकर एक द्रव्यत्व भले ही होजाय किन्तु विजातीय होरहे जीव और पौद्गलिक कर्म नोकर्मों का बंध कर एक द्रव्य हो जाना नहीं बन सकता है ।

यदि कोई पण्डित जैनों के ऊपर यों ग्रन्थ विरोध या अपसिद्धान्त की बौछार डाले कि जैनों के यहां ग्रन्थों में ऐसा वचन है, कि चेतन अचेतन ये दोनों द्रव्य बेचारे वैभाविक शक्ति या मिथ्यात्व, योग आदि द्वारा हुये बन्ध के प्रति एकपन को प्राप्त होचुके हैं, अतः इस वचन अनुसार जीव और कर्म नोकर्मों के एकत्व परिणति का हेतु होरहा बंधपरिणाम सिद्ध है । आचार्य कहते हैं, कि यह

तो नहीं कहना क्योंकि सर्वथा तत्वान्तर होरहे चेतन अचेतन द्रव्यों का वास्तविक एकत्व परिणाम नहीं होसकता है. हां उपचार से उक्त ग्रन्थ में उनका एकत्व परिणाम होरहा कह दिया है, इस ही कारण से तो आगे चल कर वे चेतन. अचेतन दोनों अपने न्यारे न्यारे लक्षणों से अत्यन्त भिन्न हैं, यों द्रव्य स्वरूप से उनके भेद का कथन किया गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थात्-बंधं पडि एयत्तं, लक्खणदो भेवदि तस्स णाणत्तं" जीव और पुद्गल की बन्धी हुई अवस्था में बन्ध की अपेक्षा एकत्व परिणति है, किन्तु उस अवस्था में भी जीव अपने उपयोग लक्षण से और पुद्गल अपने रूप, रसादि लक्षणों से न्यारी न्यारी सत्ता को लिये बैठे हैं, तभी तो मोक्ष होने पर अपनी न्यारी न्यारी सत्ता अनुसार दोनों द्रव्य स्वतंत्र होजाते हैं । अतः सिद्ध है, कि पुद्गल पुद्गलों का एकत्व परिणाम मुख्य है. और जीवों के साथ पुद्गलों का होरहा एकत्व परिणाम उपचरित है। दाल और चावलों की जैसी खिचड़ी बन जाती है, दाल के साथ तांबे के पैसों को मिला देने पर वैसी खिचड़ी नहीं बनती है. हां संसर्ग-जन्य थोड़ा पीतल या तांबे का प्रभाव दाल में अवश्य आजाता है, पीतल या कांसे के पात्र में बेसन और खटाई के व्यंजन बिगड़ जाते हैं, सुवर्ण से अतिरिक्त अन्य धातुओं के पात्र में सिंहनी का दूध बिगड़ (फट) जाता है, तिस कारण सिद्ध है, कि द्रव्यों की एकत्व परिणतिका हेतु होरहा बन्ध तो केवल पुद्गलोंका ही परिणाम है,यह विश्वासकर लेना चाहिये क्योंकि इस सिद्धान्तका बाधक कोई प्रमाण नहीं है,तथा वह बन्ध पुद्गल स्कन्धों का ही है, जीव और पुद्गल के बन्ध को आठमे अध्याय में और परमाणुओं के बन्ध को इसी अध्याय में आगे चलकर "स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः" आदि सूत्रो कर न्यारा कह दिया जायगा । यहां प्रकरण में पुद्गल स्कन्धों के धर्म होरहे बन्ध का प्रतिपादन कर दिया गया है, वृत्तिमान् पदार्थ, पर्याय, स्वभाव, गुण ये सब धर्म कहे जा सकते हैं।

तथैवावांतरं सौक्ष्म्यं परमाणुष्वसंभवि।
स्थौल्यादिवत्प्रपत्तव्यमन्यथानुपपत्तितः ॥ ७ ॥

तिस ही प्रकार यानी शब्द या बन्ध के समान ही मध्यवर्त्ती अवान्तर सूक्ष्मता को भी समझ लेना चाहिये । वह अवान्तर सूक्ष्मपना परमाणुओं में नहीं सम्भवता है, परमाणुओंमें तो अन्तिम सूक्ष्मपना सुघटित है। यहां पुद्गल स्कन्धों के होरहे परिणामों का निरूपण-अवसर है, अतः स्कन्धों के आपेक्षिक अवान्तर सूक्ष्मपने को स्थूलता, संस्थान, आदि के समान निर्णीत कर लेना चाहिये । साध्य के विना हेतु का नहीं होसकना स्वरूप अन्यथानुपपत्ति से उपजीवित होरहे सद्धेतु द्वारा नियत साध्य की सिद्धि होजाती है।

यह वार्त्तिक परार्थानुमान स्वरूप है, स्थौल्यादिवत् के स्थान पर स्थौल्यादि च ऐसा समझ कर सूत्रोक्त सौक्ष्म्य और स्थौल्य, आदि आठों पर्यायों का व्याख्यान हो लिया जान लिया जाय। ग्रन्थकार की ऐसी शैली है, कि अवान्तर सूक्ष्मता को पुद्गल स्कन्धों का पर्याय साधने पर तो स्थूलता

आदि का दृष्टान्त दे देते हैं, और स्थूलता को पुद्गल की पर्याय साध्य करने पर प्रसिद्ध होरही सूक्ष्मता को निदर्शन बना लेते हैं, पक्ष या दृष्टान्त होरहे स्थूलता और सूक्ष्मता में से कोई एक तो किसी अनुमाता के यहां प्रसिद्ध ही है, जिस अनुमाता को दानों ही प्रसिद्ध नहीं हैं, उसके प्रति तीसरा दृष्टान्त ढूंढ लिया जाता है, यहां प्रकरण में केवल शब्द और बन्ध का व्याख्यान कर अन्य आठ पुद्गल परिणामों को उपरिष्ठात् समझने के लिये ग्रन्थकार का निदेश है, अव्यभिचरित काय कारण भाव और ज्ञाप्यज्ञापक भाव में अन्यथानुपपत्ति ही बीज है।

परमसौक्ष्म्याणुधर्मत्वमणूनां तत एव व्यवस्थानात् सामर्थ्यादपरसौक्ष्म्यं विल्वाद्यपेक्षया बदरादिषु स्कन्धपरिणामः बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् स्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवत् शब्दबंधवच्च। द्व्यणुकादिषु बाह्येंद्रियग्राह्यरूपे सौक्ष्म्ये स्कन्धपर्याय एवापेक्षिकसूक्ष्मान्मत्वाद्बदरादिसौक्ष्म्यवत्।

सब से उत्कृष्ट होरही यानी परम प्रकर्ष को प्राप्त होरही परम सूक्ष्मता तो अणुओं का धर्म है, तिस ही कारण से यानी अन्तिम सूक्ष्मता की क्वचित् परिनिष्ठा होजाने से ही परमाणुओं की व्यवस्था होजाती है, जैसेकि प्रकृष्यमाण परिमाणकी पराकाष्ठा आकाश में व्यवस्थित होरही है। विना कहे ही सामर्थ्य से अपर सूक्ष्मता यानी आपेक्षिकसूक्ष्मता भी विल्व (बेल) आमला आदि की अपेक्षा करके बेर, चना, उड़द, सरसों, आदि पुद्गल स्कन्धों को पर्याय होरही मानी गई है, (प्रतिज्ञा), वहिरंग इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य होने से (हेतु) स्थूलता, आकृति भेद, अन्धकार, छाया घाम, उद्योत, के समान (पहिला अन्वयदृष्टान्त) और बखान दिये शब्द या बन्ध के समान (दूसरा अन्वय दृष्टान्त)।

इस अनुमान द्वारा स्थूलता आदि को दृष्टान्त बना कर आपेक्षिक सूक्ष्मता को साध दिया है, दो परमाणुओं के बने हुये द्वि-अणुक और तीन आदि अणुओं से बने त्र्यणुक, चतुरणुक, पंचाणुक आदि स्कंधों के द्वि-अणुक उपयोगी भेद से उपजा हुआ द्वि-अणुक एवं त्र्यणुक, कामण वर्गणा, आहारवर्गणा, आदि स्कन्धों में वहिरंग इन्द्रियों से नहीं भी ग्राह्य होरहे सूक्ष्मपन ये (पक्ष) पुद्गल स्कन्धों की ही पर्यायें हैं, (साध्य) उत्तरोत्तर छोटेपन की या एक दूसरे की अपेक्षाओं से उपजे सूक्ष्म-आत्मकपना होने से (हेतु) बेर, मकोय, फालसे, धनिया, साबूदाना, पोस्त, आदि के सूक्ष्मपन समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस अनुमान द्वारा आपेक्षिक सूक्ष्मता को पुद्गल स्कन्धों का पर्याय साध दिया है।

एतेन कार्मणशरीरादौ सौक्ष्म्यस्य स्कंधपर्यायत्वं साधितं। तथास्मदादिबाह्येंद्रियग्राह्याः स्थौल्यादयः स्कंधपर्यायास्थौल्यादित्वादस्मदादिबाह्येंद्रियग्राह्यस्थौल्यादिवत्।

इस उक्त कथन करके ज्ञानावरणादि कर्म स्वरूप कार्मण शरीर अथवा तेजो-वर्गणा निर्मित तैजस शरीर, बाह्यनिर्वृत्ति स्वरूप अतीन्द्रिय स्पर्शन, आदि इन्द्रियों आदि में वर्त रहे सूक्ष्मपन को

भी पुद्गल-स्कन्धों की पर्यायपना साधा जा चुका समझ लो। बात यह है, कि "परं परं सूक्ष्मम्" इस सूक्ष्मता के प्रतिपादन अनुसार सूक्ष्म जीवों का औदारिक शरीर या देवों के विक्रिया द्वारा बना लिये कतिपय वैक्रियिक शरीर अथवा षष्ठ गुणस्थानवर्त्ती किसी मुनि के हुआ आहारक शरीर आदि में भी अवान्तर सूक्ष्मता पाई जा रही पुद्गल स्कन्धों की पर्याय कही जा सकती है।

देव चाहें तो अपने शरीरको मनुष्य या तिर्यंचों करके देखने योग्य या नहीं भी देखने योग्य बना सकते हैं। धौले, हस्त प्रमाण और सम्पूर्ण अंग उपांग वाले आहारक शरीर का भी वहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है, कतिपय बादर औदारिक शरीर और कुछ वैक्रियिक शरीरों का स्पर्शन आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होजाता है. अकर्मण्य किन्तु लोक दक्ष प्रभु के समान इन्द्रियां भी अत्यल्प कार्यों को कर बहुतसा यश लूटना चाहती हैं. किन्तु अनन्तमे भाग पदार्थों के भी स्पर्श, रस आदि का इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होपाता है, तभी तो तत्वज्ञानी पुरुष इन्द्रिय-सम्बन्धी विषयों में अपेक्षा को धारते हुये उस अतीन्द्रिय आत्मीय सुख में लवलीन होजाना अच्छा समझते हैं। तथा एक अनुमान यों भी बना लिया जाय कि हम, तुम, आदि जीवोंकी वहिरंग इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य स्थूलता आकृति आदि धर्म (पक्ष) पुद्गल स्कन्धों के पर्याय हैं, (साध्य) स्थूलता आदि होने से (हेतु) हम तुम, आदि के ग्रहण करने योग्य घट, पट आदि सम्बन्धी स्थूलता, सस्थान, आदि के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस अनुमान में सामान्य को पक्ष बना कर विशेष को हेतु कह देने से कोई प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धि दोष नहीं आता है, प्रसिद्ध दृष्टान्त से अप्रसिद्ध पक्ष में साध्य को साध दिया जाता है।

बात यह है, कि इस युग में पुद्गल का चमत्कार बड़ा भारी देखा जा रहा हैं, यूरोप, अमेरिका के विद्वान् विज्ञान प्रक्रियाओं द्वारा बडे बड़े पुतलीघर, बेतार का तार फोनोग्राफ, लाउड स्पीकर ऐक्सरे, हजारों कोस दूर के गाने सुनने वाले या दूरके फोटो उतारने वाले यंत्र, वायुयान, थर्मामीटर, भूकम्प ज्ञापक यत्र, सूर्य शक्ति आकर्षक यंत्र, विष वायु (गैस) उग्रविस्फोटक, ग्रहगतियों के घटीयंत्र, विद्युत् चिकित्सा आदि प्रयोगों करके पुद्गल का चमत्कार दिखला रहे हैं, जो कि सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल पड़ता है। इस प्रकरणमें पुद्गल के परिणाम होरहे शब्द का ग्रन्थकार ने व्याख्यान कर दिया है, दार्शनिक प्रक्रिया से बध का भी थोड़ा विवेचन किया है, इसी प्रकार शास्त्रीय या लौकिक पद्धतियों से अन्धकार, छाया, भेद, आकृति आदि का भी विशद विवरण होसकता है. बुद्धिमानों को पृथक् प्रदर्शन कराने के लिये संकेत मात्र पर्याप्त है। रंध रहे भात का एक दो चावल देखा जाता है,सभी नहीं।

अब कोई शिष्य पूछता है कि स्पर्श आदि परिणाम वाले कौनसे पुद्गल हैं ? तथा स्पर्श आदि और शब्द आदि दोनों परिणामों वाले भला कौनसे पुद्गल हैं ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज पुद्गलों के प्रकारों का निरूपण करने के लिये अगले सूत्र को कहते हैं।

अणवः स्कंधाश्च ॥ २५ ॥

व्यक्ति रूप से अनन्तानन्त परमाणुयें और अनन्तानन्त स्कन्ध ये पुद्गल के साधारणतया दो प्रकार हैं। अर्थात्—एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध, दो स्पर्श, इन गुणों को धार रहा शक्ति की अपेक्षा छह पहलों वाला, चौकोर वर्फी के समान एक प्रदेश अवगाही, हम आदि जनों को अनुमेय, हां सर्वावधि ज्ञानी (गोम्मटसार अनुसार) या केवलज्ञानी महाराज के प्रत्यक्ष योग्य, आत्मादि आत्ममध्य, आत्मअन्त्य, अतीन्द्रिय, अविभागी, ऐसी पुद्गल द्रव्य परमाणु है। तथा अनेक परमाणुओं का मिल कर सादि बंध अवस्था को प्राप्त हुआ या अनादि से पिण्ड स्वरूप बन्ध रहा अनेक शक्तियों का धारक ऐसा घट, पट स्कन्ध, वर्गणा, आदि भेदों वाला स्कन्ध नामका पुद्गल है। जगत में जीव राशि से अनन्तानन्त गुणे अनेक परमाणुयें और स्कन्ध ठसाठस भरे हुये है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्यनाण्यंते शब्द्यन्ते इति अणवः सौक्ष्मादात्मादय आत्ममध्या आत्मांताश्च। तथा चोक्तं " आत्मादिमात्ममध्यं च तथात्मांतमतीन्द्रियं। अविभागं विजानीयात् परमाणुमनंशकम् " इति।

केवल एक प्रदेश में ही होने वाले अनेक स्पर्श आदि गुणों की पर्यायों के उत्पादन सम्बन्धी सामर्थ्य करके जो अणन किये जाते हैं यानी शब्द द्वारा कहे जा रहे हैं। इस कारण ये अणु नामक पुद्गल हैं। सूक्ष्मता होने के कारण स्वयं अपना आत्मा ही तो उन परमाणुओं का आदि भाग है। और स्वयं अपना पूरा शरीर ही उनका मध्य भाग है, तथा अपना पूरा डील ही उन परमाणुओं का स्वकीय अन्तिम भाग है। अर्थात्—बात यह है कि परमाणु यदि स्व से छोटे अवयवों करके बना हुआ होता तब तो परमाणु के आदि भाग, मध्य भाग, पिछला भाग, ये न्यारे न्यारे होते किन्तु निरंश एक परमाणु के व्यक्ति रूप से न्यारे न्यारे कई भाग नहीं हैं। शक्ति की अपेक्षा बरफी के समान छह पहल वाली परमाणु के छह भाग माने ही जाते हैं। तभी तो पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः, इन छहऊ दिशाओं से परमाणु के साथ छह परमाणुयें चिपक जाती हैं। यदि शक्ति की अपेक्षा भी परमाणु निरंश होती तो यहां वहां से छह परमाणु तो क्या अनन्त परमाणुयें भी चुपक कर कभी बड़ा स्कन्ध नहीं बन सकती थीं घट, पट, सुमेरु, आदि बड़े बड़े स्कन्ध भी परमाणु के बराबर होजाते अतः परमाणु की व्यंजन पर्याय छह पहल वाली चौकोर घन आकृति वाली माननी पड़ती है।

आचारसार ग्रंथ में श्री वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने " अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्तितः। कायश्च स्कंधभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः" इस श्लोक द्वारा परमाणु को चतुरस्र यानी सम घन चौकोर बताया है पुद्गल परमाणु को गोल या अण्डाकार माननेपर कालाणुयें और आकाश प्रदेश भी वैसे ही गोल मानने पड़ेंगे गोलमोल पदार्थों से कोई बर्तन ठोस नहीं भर सकता है। बीच में पोल रह जाती है, किन्तु लोकाकाश में आकाश प्रदेशों या कालाणुओं से कोई भी स्थल रीता नहीं

पड़ा है। तथा अलोकाकाश जितना ही लम्बा है, उतना ही चौड़ा है और उतना ही मोटा है। तभी तो आगे चल कर श्री वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने "व्योमामूर्तं स्थितं नित्यं चतुरस्रं समं धनं। भावावगाहहेतुश्चानन्तानन्तप्रदेशकं" कहा है। परमाणु भी जितना लम्बा, चौड़ा, चौकोर होगा उतना ही मोटा या ऊंचा भी अवश्य होगा चतुरस्र कह देने मात्र से सम घन चतुरस्र अर्थ तो अर्थापत्या-निकल आता है, लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर अनन्तानन्त परमाणुयें बन्धी हुयी या नहीं बंधी हुयी भी ठहर रही हैं, अतः सूक्ष्म परमाणुओं का अन्य परमाणुओं के साथ सर्वांग संयोग होकर अणु मात्र प्रचय होजाने के भी हम जैन विरोधी नहीं हैं, बड़ी अवगाहना वाले स्कन्धों की उत्पत्ति परमाणु के चौकोर पैल माने विना हो नहीं सकती है, अतः शक्ति अपेक्षा परमाणु के छह ओर मानने पड़ते हैं। यों व्यक्ति रूप से विचार करने पर परमाणु स्वयं अपना आदि है, आप ही अपना मध्य है, और स्वयं ही अपना अन्तिम भाग है।

तथा वही जैन ग्रन्थों में इस प्रकार कहा गया है, कि विशेषतया परमाणु को यों समझ लिया जाय कि वह स्वयं अपना आदि है, और पूरा शरीर वाला स्वयं अपना मध्य है, तथा स्वयं पूरा का पूरा अपना अन्त है, वहिरंग इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं होरहा परमाणु अतीन्द्रिय है, आज तक परमाणु का छोटा विभाग नहीं हुआ, वाला है और भविष्य में भी परमाणु का खण्ड नहीं होगा, अतः परमाणु अविभाग है, यद्यपि अकृत्रिम प्रतिमायें, सूर्य, चन्द्रविमान, आदि अखण्ड स्कन्ध पदार्थों का भी विभाग नहीं होता है, फिर भी अनादि-निधन अकृत्रिम पौद्गलिक स्कन्धों में से प्रति-समय अनन्तानन्त परमाणुयें निकलते और घुसते रहते हैं, अतः अकृत्रिम प्रतिमा आदि के अंश विद्यमान हैं, किन्तु परमाणु के तो अंश भी नहीं हैं, अतः परमाणु निरंश हैं, यहां तक अणुओं का व्याख्यान समाप्त कर दिया गया है।

स्थौल्यात् ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारास्कंदनात् स्कंधा, उभयत्र जात्यपेक्षा बहुवचनं। अणु-जात्याधाराणां स्कंधजात्याधाराणामवांतरजातिभेदानामनंतत्वात्। अणुस्कंधा इत्यस्तु-लघुत्वादिति चेन्नोभयत्रसंबंधार्थत्वाद्भेदकरणस्य। स्पर्शरसगंधवर्णवंतोणवः, शब्दबंधसौक्ष्म्य-स्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवंतश्च स्कंधा इति। वृत्तौ पुनः समुदायस्यार्थवत्त्वादवय-वार्थाभावात् भेदेनाभिसंबन्धः कर्तुमशक्यः।

उपस्कार करते हुये निरुक्ति द्वारा अणु शब्दका जैसे अर्थ निकाला है, उसी प्रकार स्कन्ध शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये योगरूढ़ि अर्थ निकालते हैं, कि स्थूलता होने के कारण ग्रहण किया जाना उठा कर धर देना, फेंक देना, चाबलेना, ढक देना, आदि व्यापारों का आस्कंदन (युद्ध) यानी उक्त व्यापारों में भिड़ जाने से स्कंध कहे जाते हैं। यहां अणु, स्कन्ध, दोनों में जाति की अपेक्षा बहुवचन कहा गया है अर्थात्-"जात्येकवचनं" गेंहूं मदद्रा है, घोड़ा शीघ्र दौड़ा करता है, आदि जाति-वाचक शब्दों में एक वचन शोभता है, किन्तु अणुओं और स्कन्धों की जातियां भी अनेक हैं, हां सभी पुद्गलों

का संग्रह करने के लिये साधारणतया अणु और स्कन्ध ये दो भेद होसकते हैं, किन्तु अणु और स्कन्धों के अवान्तर यानी मध्यवर्त्ती उनकी जाति के भेद प्रभेदों को धारने वाले अणु जाति के आधार भूत और स्कन्ध जाति के आधारभूत पुद्गलों की अनन्तानन्त संख्या है। ऐसी अवस्था में कोई आक्षेप करता है, कि तब तो द्वन्द्व समास कर "अणुस्कंधाः" इतना ही सूत्र कहा जाओ, यों कह देने में लाघव गुण है, अर्द्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि पृथक् पृथक् जस् विभक्ति वाले पदों का भेद करना तो उक्त दोनों सूत्रों में इस सूत्र का क्रम से सम्बन्ध करने के लिये है, "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" इस तेईसवें सूत्र का अणवः के साथ सम्बन्ध किया जाय और "शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च" इस चौवीसमे सूत्र का स्कंधाश्च के साथ यों अन्वय किया जाय। अर्थात्-स्पर्श, रस, गन्ध- वर्ण, वाले अणु पुद्गल हैं, और शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, घाम, उद्योत, पर्यायों वाले स्कन्धपुद्गल हैं. इस सूत्र में पड़े हुये चकार से शब्द आदि पर्यायों वाले स्कन्धों को परमाणुओं के समान स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णों से सहितपना भी उक्त होजाता है, ये सभी पुद्गलों के सहभावी पर्याय हैं। यदि द्वन्द्व समास वृत्ति कर दी जाती तो फिर समासित पद में समुदाय ही अर्थवान् होता "समुदायो ह्यर्थवानेकदेशोऽनर्थकः" समुदित अर्थ को प्रधानता होजाने से अकेले अकेले अवयव का अर्थ अन्वित नहीं होपाता, ऐसी दशा मे तेईसमे और चौवीसमे सूत्रों का यहां भेद करके दोनों ओर सम्बन्ध नहीं किया जा सकता है, अतः सूत्रकार ने लाघव को तुच्छ समझ कर प्रभूत प्रमेय की प्रतिपत्ति कराने के लिये समास नहीं कर प्रव्यक्त सूत्र कहा है।

किं पुनरनेन सूत्रेण कृतमित्याह।

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है, कि श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्र करके फिर क्या प्रमेय अर्थ की सिद्धि की है ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द आचार्य इस उत्तर वार्त्तिक को कहते हैं।

अणवः पुद्गलाःकेचित्स्कंधाश्चेति निवेदनात्।
अणवेकांतः प्रतिक्षिप्तः स्कंधैकांतश्च तत्त्वतः॥ १॥

कोई तो पुद्गल अनेक अणुस्वरूप हैं, और कितने ही अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्ध स्वरूप हैं, इस प्रकार सूत्रकार द्वारा निवेदन कर देने से बौद्धों का वस्तुतः केवल परमाणुओं के ही एकान्त वाद का प्रतिक्षेप (खण्डन) कर दिया गया है, और तात्विक रूप से माने गये केवल स्कन्धों के एकान्त का भी निराकरण कर दिया है। भावार्थ-जगत् में न तो केवल परमाणु ही हैं, न केवल स्कंध ही हैं, किन्तु पांच द्रव्यों के साथ छठा पुद्गल द्रव्य भी है, जो कि परमाणु और स्कन्ध इन दोनों भेदों में विभक्त होरहा व्यक्ति रूप से अनन्तानन्त संख्या वाला है। सांख्य जन आत्मा और प्रकृति इन दो

तत्वों को मानते हैं, ईश्वर-वादी कोई सांख्य के एक देशी पण्डित ईश्वर को भी तीसरा तत्व मान बैठे हैं, इनके यहां आत्मा भी परमाणु स्वरूप नहीं है. तथा सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, की साम्य अवस्था स्वरूप प्रकृति भी परमाणु रूप नहीं है, अतः प्राकृतिक पदार्थों को एकान्ततः स्कन्ध स्वरूप ही इन्हें मानना पड़ेगा, अतः इस सूत्र द्वारा सांख्यों के स्कन्ध एकान्त का भी प्रत्याख्यान कर दिया जा चुका है।

न ह्यणव एवेत्येकांतः श्रेयान् स्कंधानामपि बुद्धौ प्रतिभासनात्। तत्र तत्प्रतिभासस्य भ्रांतत्वे बहिरंतश्च परमाणूनामप्रतिभासनं न प्रत्यक्षमभ्रांतं स्यात्। स्वसंवेदनेपि संवित्परमाणोरप्रतिभासनात्। तथोपगमे सर्वशून्यतापत्तिरनुमानस्यापि परमाणुग्राहणसद्भावात् भ्रांतात्प्रत्यक्षतः कस्यचिन्न लिंगस्यान्यवस्थितेः कुतः परमाणवेकांतवादः पारमार्थिकः स्यात् ?।

अन्तरंग या बहिरंग सभी पदार्थ अणु स्वरूप ही हैं, यह एकान्त करना श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष बुद्धि में स्कन्धों का प्रतिभास होरहा है. घट. पट पुस्तक. पर्वत, आदि पिण्डों का बालकों को भी प्रत्यक्ष अवलोकन होता है. यदि उन अवयवी पदार्थों में होरहे उस स्कन्ध के प्रतिभास का भ्रान्त होना कहा जायेगा तब तो बहिरंग और अन्तरंग परमाणुओं का प्रतिभास नहीं होने के कारण कोई भी प्रत्यक्ष अभ्रान्त नहीं होसकेगा। भावार्थ बौद्धों के यहां अन्तरंग आत्म-तत्व माने गये क्षणिक विज्ञान स्वरूप परमाणुओं का तो वैसे ही अतीन्द्रिय सूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष नहीं होसकता है, अत एव बहिरंग स्वलक्षण परमाणुओं का भी प्रत्यक्ष नहीं हापाता है, ऐसी दशा में किसी भी परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होसका, यदि किसी ने बलात्कार से परमाणु वधूटी के अतीन्द्रिय घूंघट में छिपे हुये मुख का दर्शन कर भी लिया तो प्रत्यक्ष भ्रान्त ही होगा, समीचीन प्रमाण स्वरूप नहीं।

तथा स्कन्धों के प्रत्यक्षों को तो बौद्ध अपरमार्थभूत होने के कारण भ्रांत कह ही रहे हैं, ऐसी दशा में जगत् के प्राणिओंका कोई भी प्रत्यक्ष भ्रांति-रहित यानी प्रामाणिक नहीं होसका, सभी प्रत्यक्ष भ्रान्त होगये अब प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति के विना, टोंटे लंगडे पुरुष के समान बौद्ध किसी भी अर्थ-सिद्धि पर नहीं पहुँच सकेंगे क्योंकि सभी के यहां तत्व-व्यवथायें प्रमाणमूलक मानी गयी हैं बौद्धो ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं, अनुमान का बीज प्रत्यक्ष है, यदि प्रत्यक्ष को भ्रान्त मान लिया जायगा तो बौद्धों के भी तत्व बालू की भींत पर चित्रित होरहे कल्पित ठहर जायेंगे बौद्धों के यहां माने गये स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष में भी विज्ञान परमाणुओं का प्रतिभास नहीं होने पाता है, ऐसी दशा में बौद्धों के अंगीकृत इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष, और योगि प्रत्यक्ष, इन चारों प्रत्यक्षों का भ्रान्तपना होचुका। यदि किस प्रकार प्रत्यक्षों का भ्रान्तपना स्वीकार कर लेंगे तब तो बौद्धों के यहां सबसे शून्य होजाने का प्रसंग आजावेगा अनुमान प्रमाण भी किसी तत्व को नहीं साध सकता है।

सौत्रान्तिक बौद्धों ने सभी अन्तरंग, बहिरंग, स्वलक्षणों को वस्तुतः परमाणु स्वरूप मान रक्खा है, सूक्ष्म, आसावारण, क्षणिक, मान लिये गये अतीन्द्रिय परमाणुओं का ग्रहण करने वाले (के लिये) बेचारे अनुमान प्रमाण का भी सद्भाव नहीं है, क्योंकि अनुमान में पड़े हुये हेतु का प्रत्यक्ष होना चाहिये, भ्रान्त होगये प्रत्यक्षों से किसी भी ज्ञापक हेतु की व्यवस्था नहीं होसकती है। ऐसी दशा में बौद्धों के यहां केवल परमाणुओं का ही एकान्त पक्ष पकड़े रहना भला किस प्रमाण से वास्तविक सिद्ध होसकेगा ? अर्थात्-परमाणुओं का ही एकान्त करना ठीक नहीं है।

स्कन्धैकांतस्तत्रातोऽस्त्वन्यापि न सम्यक् परमाणूनामपि प्रमाणसिद्धत्वात्। तथाहि-अष्टाणुकादिस्कंधो भेद्यो मूर्तत्वे सति सावयवत्वात् घटवत् योऽसौ तद्भेदाज्जातोनंशोवयवः स परमाणुरिति प्रमाणसिद्धाः परमाणवः स्कंधवत्।

कोई विद्वान् कहते हैं कि परमाणुओं के एकान्त-वाद में अनेक दोष आते हैं, अतः सम्पूर्ण पदार्थों को स्कन्ध स्वरूप ही माना जाय, परमार्थ रूप से स्कंधों का एकान्त ही होओ। आचार्य कहते हैं, कि यह एकान्त भी समीचीन नहीं है क्योंकि जगत् में परमाणुओं की भी प्रमाणों से सिद्धि होचुकी है। उसको और भी यों स्पष्ट कर समझ लीजियेगा कि आठ अणुओं का बना हुआ अष्टाणुक या सात अणुओं का सप्ताणुक आदि स्कन्ध (पक्ष) भेद यानी विदारण करने योग्य है (साध्य) मूर्त होते सन्ते सावयव होने से (हेतु) घट के समान (अन्वयदृष्टान्त)। उन अष्टाणुक आदि स्कन्धों का भेद होते होते अन्त में जो कोई वह प्रसिद्ध, निरंश, अवयव उपजेगा वही परमाणु है इस प्रकार स्कन्धों के समान परमाणुयें भी प्रमाण से सिद्ध होजाती हैं। अर्थात्—अष्टाणुक को चाहे चारद्वयणुकों से या दो त्र्यणुकों और एक द्वयणुक से, अथवा आठों ही अणुओं से, एवं एक सप्ताणुक और एक अणु से तथा एक षडणुक और एक द्वयणुक आदि किसी भी ढंगों से बना लिया जाय पुरुषार्थ से कोई जीव इन द्वयणुक, त्र्यणुक, आदि को नहीं बनाते हैं। जैसे कि काठ, कपास, माटी, चांदी, अन्न को कोई बढ़ई, कोरिया, कुम्हार, सुनार, बनिया, नहीं बना सकते हैं। मेघ, विद्युत्, आन्धी, उल्का, आदि के समान न जाने किन किन निमित्तों अनुसार ये अतीन्द्रिय हो रहे द्वयणुक आदि स्कन्ध उपज जाते हैं।

छः पैल वाली बीचली परमाणु के साथ छह ऊ दिशाओं से छः परमाणुयें चिपट जाते हैं। बन्ध होजाने पर उन सातों का एक सप्ताणुक अवयवी बन जाता है। कभी एक ही ओर से सात परमाणु चुपट जाते हैं, तो भी अष्टाणुक बन सकता है, उस सप्ताणुक स्कन्ध में ही पुनः एक परमाणु बन्ध जाय तो भी अष्टाणुक स्कन्ध बन जाता है। वैशेषिकों की वह प्रक्रिया जैन सिद्धान्त में इष्ट नहीं की गई है। कि थान में यदि एक तन्तु भी आकर मिलेगा तो सब का सब पचास गज का थान नष्ट होजायगा और पुनः मिलाये गये उस छोटे से डोरे को साथी बना कर अवयवों द्वारा पुनः नवीन थान बनाया जायेगा एवं पचास गज के थान में से एक अंगुल भी सूत निकालने पर भी दूसरा थान

नवीन बनेगा परमाणु का भी विश्लेश होजाने पर द्वयणुक का नाश होजाने पर त्र्यणुक का नाश होते होते महापट का नाश होजावेगा पुनः परमाणुओं में क्रिया द्वारा द्वयणुक आदि की सृष्टि होते होते नवीन महापट की उत्पत्ति होगी, वही पट है, यह प्रत्यभिज्ञान तो सादृश्य मूलक माना जायेगा।

जैसे कि वही दीप कलिका है, यहां सजातीय अन्य कलिकाओं में भ्रान्तिवश एकत्व प्रत्यभिज्ञान होगया है। सत्य बात यों है कि वैशेषिकों की यह प्रक्रिया कोरा ढोंग है इस में कोई प्रमाण नहीं है। अतः इसका खण्डन प्रसिद्ध ही है। हां परमाणुओं की सूक्ष्मता चमत्कार है स्थूल बुद्धि वाले जीवों के ग्रहण, आकर्षण, स्वादन, आदि प्रवृत्ति निवृत्ति के उपयोगी व्यवहारों में आरहा सब से छोटा पिण्ड भी अनन्तानन्त परमाणुओं का पुंज है। देखिये यहां अब लोक व्यवहार में बाल का अग्रभाग बहुत छोटा टुकड़ा समझा जाता है जो कि अनन्तानन्त परमाणुओं के पिण्ड होरहे उत्संज्ञासंज्ञा नामक पुद्गल स्कन्ध से ८×८×८×८×८×८×८×८=१६७७७२१६ एक करोड़ सरसठ लाख सतत्तर हजार दो सौ सोलह गुणा बड़ा है। अब बताओ कितने ही सूक्ष्म यंत्र से बालाग्र को देखाजाय जो कि यंत्र केश के अग्र भाग को पर्वत के समान भी बड़ा दिखा दे फिर भी सप्ताणुक, अष्टाणुक, कोटयणुक, स्कन्धों का बहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होसकता है, जब कि दृश्यमान बड़े बड़े पर्वत या समुद्र तो बालाग्र से संख्याते गुणे ही हैं हां स्वयंप्रभ पर्वत या स्वयम्भूरमण समुद्र भले ही बालाग्र से असंख्यातगुण हैं। किन्तु परमाणु, अष्टाणुक, कोटयणुक से बालाग्र तो अनन्तानन्त गुणा है ऐसी दशा में कार्यान्यथानुपपत्ति से ही छोटे छोटे अवयवों को अनुमान द्वारा साध दिया जाता है। आगम प्रमाण तो सभी के गुरु हैं।

प्रकरण प्राप्त इस अनुमान में केवल मूर्तत्व ही हेतु कहा जाता तो परमाणु करके व्यभिचार होजाता क्योंकि स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, वाली परमाणु मूर्त है। किन्तु पुनः भिन्न होकर टुकड़ा करने योग्य नहीं है। सावयव कह देने से परमाणु करके आये व्यभिचार का निवारण होजाता है। हां यदि सावयवत्व ही हेतु कह दिया जाता तो आकाश, आत्मा, आदि, अखण्डनीय पदार्थों से व्यभिचार दोष आजाता प्रदेशों वाले आकाश आदिक सावयव होते हुये भी भेदने योग्य नहीं हैं, अतः मूर्तत्व विशेषण देना आवश्यक होजाता है। मूर्त होते हुये अवयव सहितपन हेतु से अष्टाणुक, सप्ताणुक, पंचाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, द्वयणुक, स्कन्धों का भेद होना साध दिया जाता है। पर्वत, घट, पट, आदि का फटना, फूटना, तो प्रसिद्ध ही है, किन्तु परमाणु की सिद्धि कराने में विशेष उपयोगी नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

बात यह है, कि पर्वत आदि बड़े बड़े अवयवियों के टूटे फूटे हुये टुकड़े भी स्कन्ध रूप होते हैं, यद्यपि जैसे वस्त्र को फटकारने पर धूल झड़ जाती है, उसी प्रकार घट आदि के टूटे हुये भाग से अनन्त परमाणूयें भी झड़ पड़ती हैं, तथापि उन स्थूल पिन्ड होरहे टुकड़ों की गणना में विचारी अतीन्द्रिय परमाणुओं को कौन पूंछता है ?

अकृत्रिम चैत्यालय, सूर्य, पर्वत, घट, पट, आदि अवयवियों से अनन्तानन्त परमाणुयें तो

वैसे ही सदा निकलते प्रविशते रहते हैं, अतः बड़े अवयवियों के टूटने पर बिखर गये परमाणुओं की विवक्षा नहीं की गयी है, हाँ आठ अणुओं के पिण्ड अष्टाणुक,या सात अणु के बने हुये सप्ताणुक आदि को विभक्त किये जाने पर परमाणु स्वरूप टुकडा होजाना झटिति लक्ष्य होजाता है, अन्न की ढेरी में से हाथ डाल कर सेरों अनाज के पिण्ड उछाले जांय तो बहुत से अन्न सम्मिलित होकर भी गिर पड़ते हैं, हाँ आठ या सात ही धान्य बीजों को उछाला जाय तो कई बीज अकेले भी प्रमाण गोचर होजाते हैं, इस हार्दिक भाव के अनुसार ग्रन्थकार ने घट, कपाल, कपालिका, आदि स्कन्धों का विदारण होना साध कर अष्टाणुक, सप्तणुक आदि स्कन्ध का भेदने योग्य-पना साधा है, जो कि परमाणुओं के सद्भाव का परिज्ञापक है।

अब यहां कोई जिज्ञासु शिष्य मानो पूंछता है, कि यह अणुस्वरूप और स्कन्ध स्वरूप जो पुद्गलों का परिणाम बन रहा है, [illegible] उत्पत्ति स्वरूप होने से अणुओं और स्कन्धों सादि माना जायगा तो बताओ किस निमित्त कारण से ये उपजते हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इन पुद्गलों की उत्पत्ति में निमित्त होरहे कारणों की सूचना करने के लिये इस अगले सूत्र को कह रहे हैं।

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

चीरना, फाड़ना, टूटना, फूटना, पीसना, दलना, फूटना आदि छिन्न भिन्न करना स्वरूप भेद से और मिलजाना चिपटजाना, बंधजाना रुलजाना, घुलजाना, पिण्डी-भूत होजाना, आदि न्यारे न्यारे पदार्थों को कथंचित् एकत्वापत्ति स्वरूप संघात से तथा कतिपय अन्य अंशों का भेद और साथ ही दूसरे कतिपय अंशों का संघात इन तीन कारणों से पुद्गल (स्कन्ध) उत्पन्न होते हैं।

संहतानां द्वितयनिमित्तवशाद्विदारणं भेदः, विविक्तानामेकीभावः संघातः द्वित्वाद्द्विवचनप्रसंग इति चेन्न, बहुवचनस्यार्थविशेषज्ञापनार्थत्वात्ततो भेदेन संघात इत्यस्यापि विरोधः।

परस्पर मिलकर संघात को प्राप्त होचुके स्कन्धों का पुनः अन्तरंग, बहिरंग, इनदोनों निमित्त कारणों के वश से विदारण होजाना भेद है, और पृथग्भूत अनेक पदार्थों का कथंचित् एक होजाना संघात है। यदि यहां कोई यों पूंछे कि भेद और संघात तो दो ही हैं, अतः द्वित्व की विवक्षा अनुसार "भेदसंघाताभ्यां" यों केवल द्विवचन होना चाहिये सूत्रकार ने भ्यस् विभक्ति वाले बहुवचन का प्रयोग क्यों किया है ? आचार्य कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यहां विशेष अर्थ को ज्ञप्तिकराने के लिये बहुवचन कहा गया है, इस कारण भेद के साथ युगपत् होरहा संघात इस तीसरे कारण को भी पकड़ लेनेसे कोई विरोध नहीं आता है, अर्थात् जैन सिद्धान्तमें तीनोंको स्कन्धका कारण इष्ट किया है, पत्थर में से कुछ टुकडे का छिन्न, भिन्न कर प्रतिमा उकेर ली जाती है, चून में पानी डाल कर पिण्ड

बना लिया जाता है, तथा जल में औषधिओं का क्वाथ करते समय अग्नि द्वारा जल का कुछ भाग जल कर विदीर्ण होजाता है, और कुछ भाग औषधियों का जल में आकर उसी समय मिलजाता है, यों एक काढ़ा नामक पेय औषधिस्कन्ध बन जाता है. जो कि अग्निसंयोग को निमित्त पाकर हुई औषधिओं और जल की तीसरी ही अवस्था है।

उत्पूर्वः पदिर्जात्यर्थस्तेनोत्पद्यंते जायंत इत्युक्तं भवति तदपेक्षो हेतुनिर्देशो भेदसंघातेभ्य इति निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रदर्शनाद्भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्त इति।

पद गतौ धातु से पूर्व में उत् उपसर्ग लगा देने पर उसका अर्थ जन्म होजाना है, तिस कारण सूत्र के उत्पद्यन्ते इस पद द्वारा 'उत्पन्न होजाते हैं" यह अर्थ कहा जा चुका हो जाता है, उपजना क्रिया को किसी हेतु की अपेक्षा है, अतः उस उत्पद्यन्ते की अपेक्षा रखता हुआ "भेदसंघातेभ्यः" यह पंचमी विभक्ति वाले हेतु का निर्देश कर दिया "जनि कर्तुः प्रकृतिः" वैयाकरणों का निमित्त या कारण अथवा हेतुओं में सम्पूर्ण विभक्तियों के होजाने का आदेश है "हेतौ हेत्वर्थे सर्वाः प्रायः" धर्मेण हेतुना, धर्माय हेतवे, धर्माद्धेतोः, धर्मस्य हेतोः, धर्मे हेतौ, वर्तते, ऐसे प्रयोग मिलते हैं। "निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनं, अतः हेतु अर्थों में सभी विभक्तियों का प्रदर्शन होजाने से यहाँ प्रकरण में सूत्रकार ने पंचमी विभक्ति को कहते हुये "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते" यों सूत्र कहा है, ज्ञापक हेतु या कारक हेतु दोनों में पंचमी विभक्ति अधिक शोभती है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधासागर जी महाराज

ननु च नोत्पद्यतेणवोऽकार्यत्वाद्गगनादिवदिति कश्चित्, स्कंधाश्च नोत्पद्यन्ते सतामेव तेषामाविर्भावादित्यपरः। न प्रत्यभिधीयते।

यहाँ किसी एकान्त-वादी पण्डित के स्वपक्ष का अवधारण है, कि परमाणुयें (पक्ष) नहीं उपजती हैं, (साध्य) किसी भी कारण के द्वारा बनानेयोग्य कार्य नहीं होने से (हेतु) आकाश, आत्मा, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार कोई नैयायिक या वैशेषिक पण्डित कह रहा है, तथा कोई दूसरा पण्डित यों भी कह रहा है, कि स्कन्ध (पक्ष) नहीं उपज रहे हैं, (साध्य) क्योंकि अनादि काल से सद्भूत होरहे स्कन्धों का ही अभिव्यंजक कारणों द्वारा आविर्भाव होजाता है, (हेतु) रात्रि में देखे जा रहे तारागण के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार दूसरे किसी सांख्य पण्डित का कहना है। अर्थात्-परमाणुओं को वैशेषिक नित्य द्रव्य मानते हैं, अतः परमाणुओं की उत्पत्ति नहीं होसकती है, एवं परमाणुओं को नहीं मान कर प्राकृतिक नित्य स्कंधों का ही आविर्भाव तिरोभाव माननेवाले सांख्योंके यहां स्कन्धोंकी कथमपि उत्पत्ति नहीं मानी गयी है, इन दोनों पण्डितों के प्रति अब ग्रन्थकार करके वार्त्तिक द्वारा समाधान कहा जाता है उसको आप सज्जन भी सुनें—

उत्पद्यंतेणवः स्कन्धाः पर्यायत्वाविशेषतः।
भेदात्संघाततो भेदसंघाभ्यां चापि केचन (संघाताभ्यां च केचन)॥१॥

इति सूत्रे बहुत्वस्य निर्देशाद्वाक्यभिद्गतिः ।
निश्चीयतेन्यथा दृष्टविरोधस्यानुषंगतः ॥२॥

परमाणुयें और स्कन्ध (पक्ष) उपजते रहते हैं,(साध्य) विशेषताओं करके रहित होरहा पर्याय-पना होनेसे (हेतु) इस अनुमान द्वारा अणुओंके समान स्कन्धोंकी या स्कन्धोके समान पुद्गलपरमाणुओं की अथवा परमाणु और स्कन्ध दोनों की उत्पत्ति होना सिद्ध कर दिया है, कई अणुयें या स्कन्ध तो पिण्डोंके छिन्न भिन्न होनेसे उपजते होजाते हैं, और कोई कोई स्कन्ध बेचारे मिश्रण होजाने रूप संघात से उत्पन्न होजाते हैं, तथा कतिपय स्कन्ध तो एक साथ हुये कुछ पिण्डों के भेद और कुछ पिण्डों के संघात से आत्मलाभ करते हैं। इस प्रकार सूत्र में "भेदसंघातेभ्यः" यों बहुवचन का निर्देश किया गया है, अतः १ भेद से उत्पन्न होते हैं, २ संघात से उपजते हैं, ३ भेद और संघात दोनों से उपजते हैं। यों भिन्न भिन्न तीन वाक्यों की ज्ञप्ति होजाना निर्णीत कर लिया जाता है। अन्यथा यानी इन तीन के सिवाय अन्य किन्हीं एक, दो, या चार, पांच, प्रकारों से अणुओं या स्कन्धों की उत्पत्ति मानी जायगी तो प्रत्यक्ष प्रमाणों से ही विरोध आजाने का प्रसंग आवेगा जब कि प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा या युक्तियों से भी तीन ही प्रकारों करके पुद्गलों की उत्पत्ति होना जगत्-प्रसिद्ध होरहा है, ऐसी दशा में अन्य किसी प्रकार को अवकाश नहीं मिलता है।

स्कंधस्यारंभका यद्वदणवस्तद्वदेव हि ।
स्कंधोणूनां भिदारंभनियमस्यानभीक्षणात् ॥३॥

नैयायिक या वैशेषिकों ने अणुओं को स्कन्ध का उत्पादक जैसे मान लिया है, उस ही प्रकार स्कन्ध भी छिन्न भिन्न होजाने से अणुओं की उत्पत्ति कराने वाला है, परमाणुओं या स्कन्ध के आरम्भ करने वाले न्यारे न्यारे विजातीय कारण होंय या इन दोनों में से किसी एक स्कन्ध की तो उत्पत्ति मान ली जाय और परमाणुओं की उत्पत्ति नहीं मानी जाय ऐसे पक्षपातपूर्ण नियम कर देने का दर्शन नहीं होरहा है, अतः स्कन्धों के समान परमाणुयें भी स्कन्धों के भेद से उपज जातीं हैं, यों स्वीकार कर लो। यद्यपि जगत् में अनन्तानन्त परामाणुयें ऐसी हैं, जो कि अनादि काल से परमाणु अवस्था में ही निमग्न हैं, वे स्कन्ध से उपजी हुई परमाणुयें नहीं हैं, तथापि स्कन्धों से परमाणुओं की उत्पत्ति होजाने के सिद्धान्त में कोई क्षति नहीं पड़ती है, अनन्तानन्त अकृत्रिम स्कन्ध भी तो परमाणुओं से नहीं उपजे हुये जगत् में अनादि काल से स्कन्ध पर्याय में ही लवलीन होरहे हैं, एतावता परमाणुओं और स्कन्धों के होरहे मिथःकार्य कारण भाव की अक्षुण्ण रक्षा होजाती है, कार्यकारणभाव की मनीषा इतनी ही है, कि नवीन ढंग से जो परमाणुयें उपजेंगी वे विदारण करने से ही निपजेंगी तथा जो स्कन्ध नवीन रीति से आत्मलाभ कर रहे हैं वे भेद, संघात और भेदसंघात इन तीन प्रकारों से ही उपजते हैं, अन्य कोई उपाय नहीं। "चतुर्थो नैव कारणम्"।

उत्पद्यंतेऽणवः पुद्गलपर्यायत्वात् स्कन्धवत् । न हि पार्थिवादिपरमाणवोपि पृथिव्यादिद्रव्याण्येव,पृथिव्यादिपरमाणुस्कंधद्रव्यव्यक्तिषु पृथिवीत्वादिप्रत्यहेतोरूर्ध्वतासामान्याख्यस्य पृथिव्यादिद्रव्यस्य व्यवस्थापनात् । ततो न तेषां पर्यायत्वमसिद्धं ।

परमाणुयें (पक्ष) उपजती हैं, (साध्य) पुद्गल की पर्याय होने से (हेतु) स्कन्ध के समान (अन्वय दृष्टान्त)। यहां वैशेषिकों का यह मन्तव्य होसकता है, कि पृथिवी परमाणुयें तो पृथिवी द्रव्य ही हैं, जल परमाणुयें जल द्रव्य ही हैं, तैजसपरमाणुयें तेजोद्रव्य ही हैं, वायवीय परमाणुयें वायु द्रव्य ही हैं, ये चारों जाति की न्यारी न्यारी परमाणुयें कथमपि पर्याय नहीं हैं, हां इन चारों द्रव्यों के बने हुये पृथक् पृथक् शरीर, इन्द्रिय और विषय इन तीन भेदों अनुसार अनित्य स्कन्ध अनेक हैं, जो कि स्कन्ध पर्याय स्वरूप ही हैं, द्रव्य नहीं हैं । इस मन्तव्य का प्रत्याख्यान करते हुये ग्रन्थकार कहते हैं, कि प्रथम तो पृथिवी, जल, आदि चार जाति की न्यारी न्यारी परमाणुयें ही नहीं हैं, एक रूप, एक रस, एक गन्ध और दो स्पर्श गुणों को धारने वाली एक एक परमाणु होकर यों एक ही प्रकार की अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुयें हैं, भिन्न भिन्न वृक्षों में प्राप्त हुये मेघ जल के समान वे परमाणुयें न्यारे न्यारे स्कन्धों में परिणत हुईं अनेक अर्थक्रियाओं को कर देती हैं ।

दूसरी बात यह है, कि पार्थिव, जलीय, आदि परमाणुयें भी केवल पृथिवी द्रव्य, जल द्रव्य आदि द्रव्य स्वरूप ही नहीं हैं, परमाणुयें भेद होजाने से उपज रही पर्यायें भी हैं, यों द्रव्यदृष्टि से या सदृश परिणाम स्वरूप द्रव्यत्व जाति पर लक्ष्य देकर विचारा जाय तो स्कन्ध भी द्रव्य होजाते हैं। परमाणुओं ने ही द्रव्यपने का ठेका नहीं मोल ले लिया है । वैशेषिकों ने भी स्कन्ध को द्रव्य मान लिया है, पृथिवी परमाणुयें और घट, पट, आदि पार्थिव स्कन्धों इन द्रव्य-व्यक्तियों में ये पूर्वापर परिणाम पृथिवी है, ये पृथिवी हैं, इत्यादि अन्वयरूप से ज्ञान कराने के कारण होरहे उर्ध्वतासामान्य नामक पृथिवी द्रव्य को पूर्व प्रकरणों में व्यवस्था कराई जा चुकी है ।

अर्थात्-परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्द्ध्वता मृदिव स्थासादिषु" कालत्रय सम्बन्धी अनेक विवर्तों में पृथिवीत्व या द्रव्यत्व नामके ऊर्ध्वता सामान्य ठहर रहे हैं, इसी प्रकार पहिले पिछले कालोंमें वर्तरहे जल आदि के व्यक्तिरूप से परमाणु द्रव्यों और स्कन्ध द्रव्यों में जलत्व, तेजस्त्व आदि अन्वय ज्ञानों के हेतु होरहे ऊर्ध्वता सामान्य इस संज्ञा के धारी जल आदि द्रव्यों की व्यवस्था कर दी गई है, तिस कारण स्कन्धों में भी कथंचित् द्रव्यपना सिद्ध है, तिस ही कारण उन परमाणुओं का पर्यायपना असिद्ध नहीं है, अनेक कालों में उपज रहे परमाणु विवर्तों में तभी तो एक द्रव्य की अनेक भूत, वर्तमान, भविष्य परिणतिओं में ठहरने वाला ऊर्ध्वतासामान्य वर्त रहा है, अतः परमाणुओं की उत्पत्ति होना सध जाता हैं, जैनों का पुद्गल पर्यायत्व हेतु पक्ष में ठहर गया, यह हेत्वाभास नहीं है ।

परमाणूनां कारणद्रव्यत्वनियमादसिद्धमेवेति चेन्न, तेषां कार्यत्वस्यापि सिद्धेः ।

यश्चैव भेदात् संघाताभ्यां च स्कंधानामुत्पत्तेः कार्यत्वं तथाणूनामपि भेदादुत्पत्तेः कार्यत्वसिद्धेरन्यथा दृष्टविरोधस्यानुषंगात् । न हि स्कंधस्यारंभकाः परमाणवो न पुनः परमाणोः स्कंध इति नियमो दृश्यते, तस्यापि भिद्यमानस्य सूक्ष्मद्रव्यजनकत्वदर्शनात् भिद्यमानपर्यंतस्य परमाणुजनकत्वसिद्धेः ।

प्रेरक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यहां कोई वैशेषिक आक्षेप करता है, कि परमाणूयें कारण द्रव्य ही हैं, ऐसा नियम है, परमाणूयें किसी के कार्य होरहे नहीं हैं, अतः परमाणूओं के कारण द्रव्यपने का नियम होजाने से जैनों का परमाणूओं में उत्पत्ति को साधने के लिये दिया गया पुद्गल पर्यायत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास ही है। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन परमाणूओं का कार्यपना भी सिद्ध है, देखो जिस प्रकार भेद से या संघात से अथवा भेद-संघात, दोनों से उत्पत्ति होजाने के कारण स्कन्धों का कार्यपना प्रसिद्ध है, तिसी प्रकार अणूओं का भी छिन्नता से भिन्नता से उत्पत्ति होजाने के कारण कार्यपना सिद्ध है, अन्यथा यानी ऐसा नहीं मान करके अन्य प्रकारों से यदि परमाणूओं को सवथा नित्य ही माना जायगा तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा देखी जा रही पदार्थ व्यवस्था से विरोध ठन जाने का प्रसंग आजावेगा। बालक बालिका भी पिंड के छिद, भिद जाने से छोटे छोटे टुकटों की उत्पत्ति होरही को देखते हैं, इसी तारतम्य अनुसार टुकड़े होते होते अन्त में जाकर सब से छोटे टुकटे हुये परमाणू पर विश्राम करना पड़ेगा तरतमभाव से हुआ प्रकर्षमाणपना कहीं अन्त में जाकर अवश्य विश्राम लेता है, उपजे हुये छोटे अवयव का विश्रान्तिस्थल परमाणू है।

वैशेषिकों के यहां स्कन्ध के आरम्भ तो परमाणूयें मान लिये जावें किन्तु फिर परमाणू का आत्म-लाभ कराने वाला स्कन्ध नहीं माना जाय यह कोई नियम अच्छा नहीं देखा जाता है, जबकि मूसल, चाकी, मोंगरा, आदि भेदक कारणों से भेदे जा रहे उस स्कन्ध को भी सूक्ष्य द्रव्य का जनकपना देखा जारहा है, उत्तरोत्तर भेदा जा रहा पदार्थ पर्यन्त अवस्था में परमाणू तक पहुँच जाता है, अतः भेद को ही परमाणु का जनकपना सिद्ध हुआ। यहां अशुद्ध द्रव्य या वैशेषिकों के मत अनुसार अथवा ऊर्ध्वता सामान्य की प्रक्रिया अनुसार परमाणु को द्रव्य कह दिया गया है, जीव आदि द्रव्यों के समान जब वास्तविक पुद्गल द्रव्य को जताया जायेगा तो पुद्गल परमाणूओं पर ही दृष्टि ठहर जायेगी पुद्गल की स्वाभाविक शुद्ध परिणति परमाणु द्रव्य में होरही निर्णीत कर ली जाती है, इस सूत्र द्वारा पुद्गलों की उत्पत्ति का समीचीन परामर्श करा दिया गया है।

उक्त सूत्र द्वारा सामान्य रूप करके अणूओं और स्कन्धों की भेद या संघात अथवा एक समय में होरहे दोनों भेद संघातों से उत्पत्ति होजाने का प्रसंग प्राप्त होने पर विशेष प्रतिपत्ति कराने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

भेदादणु ॥ २७ ॥

केवल भेद से ही अणु की उत्पत्ति होती है। संघात या भेद-संघात दोनों से अणु नहीं उपज

पाती है अर्थात्—"सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय" पूर्व सूत्र करके सभी पुद्गलोंकी उत्पत्ति प्रतीत होचुकी थी पुनः सूत्रकार करके जो इस सूत्र का आरम्भ किया गया है, वह नियम करने के लिये ही समझा जायेगा, नवीन मुख्य अर्थ की ज्ञप्ति तो पहिले सूत्र से ही होचुकी थी।

सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेरेवकारावचनं। अभक्षवत्। यस्मात्।

विना कहे ही अर्थापत्ति की सामर्थ्य से अवधारण (नियम) करने की प्रतीति होजाती है, अतः सूत्र में अन्ययोग का व्यवच्छेद करने वाले एवकार का कण्ठोक्त निरूपण नहीं किया है। जैसे कि अप् भक्षण. में एव लगाने की कोई आवश्यकता नहीं दीखती। अर्थात्—कोई सज्जन पुरुष कहता है कि आज अष्टमी के दिन हमने अनुपवास किया है, जल पिया है, यहां ही को लगाये विनाही नियम अर्थ निकल आता है। जब कि अन्न, खाद्य, स्वाद्य पेय, इन चारों प्रकारके भोजनों को करने वाला भी जल पीता है, ऐसी दशा में जल पीने का निरूपण करना व्यर्थ पड़ता है किन्तु वह सज्जन जल भक्षण कर रहा है अतः जलों का ही भक्षण माना जाता है, उस सज्जन ने शेष चार प्रकार की भुक्तियों का परित्याग कर दिया है। बंगालमें स्वल्प खाकर पानी पी लेने को या कलेऊ कर लेने को "जल खाइया छी" कहते हैं इस उत्तर देश में ल के साथ भक्षण क्रिया का जोड़ना खटकता है, यों अप् भक्षण से विना कहे ही केवल कलेऊ की ही क्रिया सुप्रसिद्ध अर्थ की प्रतीति कालक्षेप मध्यान्ह का पूर्ण भोजन और सायंकाल के अवमौदर्य भोजन का व्यवच्छेद होजाता है, जिस कारण से कि।

भेदादणुरिति प्रोक्तं नियमस्योपपत्तये।
पूर्वसूत्रात्ततोणूनामुत्पादे विदितेपि च॥ १॥

यद्यपि "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यंते" इस पहिले सूत्र से ही उस भेद करके अणु की उत्पत्ति होना ज्ञात होचुका था तथापि नियम करने की सिद्धि करने के लिये सूत्रकार ने भेद से अणु उपजता है, यों यह सूत्र बढ़िया कह दिया है अर्थात्—पूर्व सूत्र से भेद करके अणू की उत्पत्ति होना कहा जा चुका है किन्तु "एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः" इस परिभाषा अनुसार साथ में संघात और भेद-संघातों से भी अणू का उपजना कहा जा सकता है जो कि इष्ट नहीं है। अतः भेद से ही अणू की उत्पत्ति का नियम करने के लिये ही यह सूत्र बनाना पड़ा।

अणवः स्कंधाश्च भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्त इति वचनात्स्कंधानामिवाणूनामपि तेभ्य-उत्पत्तिविधानान्नियमोपपत्त्यर्थमिदं सूत्रं भेदादणुरिति प्रोच्यते। तस्माद्भेदादेवाणुरुत्पद्यते न संघाताद्भेदसंघाताभ्यां वा स्कंधवत्। भेदादणुरेवेत्यवधारणानिष्टेश्च न स्कन्धस्य भेदादुत्पत्तिर्निवृत्तिर्भेदादेवेत्यवधारणस्येष्टत्वात्।

भेद और संघात तथा भेद-संघात दोनों इन तीन उपायों से अणुयें और स्कन्ध उत्पन्न हो जाते हैं। इस पूर्व सूत्र के वचन से ही स्कन्धों के समान अणुओं का भी उन तीनों उपायों से उत्पत्ति

होजाने का विधान होचुका है, फिर भी नियम की सिद्धि कराने के लिये "भेदादणुः" यों वह सूत्र बढ़िया कहा जा रहा है जिस कारण सिद्ध होजाता है कि भेद से ही परमाणू उपजता है संघात अथवा भेदसंघातों से परमाणू नहीं उपजता है। जैसे कि तीनों से या भेद से अथवा भेद संघातों से स्कन्ध उपजता है (व्यतिरेक दृष्टान्त)। भेद से अणू ही उपजे ऐसा अयोग व्यवच्छेदक नियम करना इष्ट नहीं है। अतः भेद से स्कन्ध की उत्पत्ति होजाने की निवृत्ति नहीं होसकी हां भेद से ही अणु की उत्पत्ति होना इस पूर्व अवधारण को इष्ट किया गया है उत्तरवर्त्ती अवधारण करना ठीक नहीं है।

अर्थात् एवकार तीन प्रकार की दृष्टियों से प्रवर्त रहा है जो कि अन्ययोगव्यच्छेद, अयोगव्यवच्छेद और अत्यन्तायोगव्यवच्छेद इन तीन अर्थों में प्रवर्त रहा है "पार्थ एव धनुर्धरः" यहां विशेष्य के साथ लग रहा एव अर्जुन से भिन्न वीरों में प्रकृष्ट धनुर्धरपने का व्यवच्छेद कर देता है "शंखः पाण्डुर एव" यहां विशेषण के साथ जुड़ रहा एवकार शंख में पाण्डुरत्व के अयोग का व्यवच्छेद कर देता है "नीलं सरोजं भवत्येव" यहां क्रिया के साथ लग रहा एवकार कमल में नीलत्व के अत्यन्त अयोग का व्यवच्छेद करता है। तब तो कहीं नीला और क्वचित् पीला, लाल आदि भी कमल होता है यह सध जाता है, प्रकरण में "भेदात् अणुः" यहां पंचमी विभक्ति का अर्थ हेतुत्व मान लिया तो "भेदहेतुका या उत्पत्तिस्तत्प्रतियोगी अणुः" यों शाब्दबोध होगा अतः "भेद-हेतुक एव अणुः" यह विशेषणसंगत एवकार लगाना अच्छा दीखता है, भेदहेतुकः अणूरेव यह विशेष्य संगत एव अन्ययोगव्यवच्छेदक ठीक नहीं। पहिले यही एवकार इष्ट किया गया है, विवक्षा की विचित्रता से विशेषण भी विशेष्य होजाता है।

विभागः परमाणूनां स्कंधभेदान्न वाणवः।
नित्यत्वादुपजायंते मरुत्पथवदित्यसत् ॥ २ ॥
संयोगः परमाणूनां संघातादुपजायते ।
न स्कंधस्तद्भदेवेति वक्तुं शक्तेः परैरपि ॥ ३ ॥

यहां वैशेषिक आक्षेप करते हैं कि स्कन्ध का भेद होजाने से परमाणूयें नहीं उपजती हैं। क्योंकि पृथिवी, जल तेज, वायु, द्रव्यों की जाति से चतुर्विध और व्यक्ति अपेक्षा अनन्तानन्त परमाणूयें नित्य हैं, परमाणूओं का उत्पाद और विनाश नहीं होता है हां क्रिया आदि करके स्कन्ध का विदारण होजाने से परमाणूओं का विभाग गुण उपज जाता है "क्रियातो विभागः" विभाग गुण तो कारणों से जन्य माना गया ही है। आकाश के समान नित्य परमाणूओं की छेदन से उत्पत्ति नहीं होसकती है। आचार्य कहते हैं कि यह तुम वैशेषिकों का कहना प्रशंसायोग्य नहीं है, झूंठा है, निंदनीय दूषणीय है क्योंकि स्कन्ध के विषय में तुम्हारे ऊपर भी यों आक्षेप किया जा सकता है कि परमाणूओं का सम्मिश्रण होजाने से स्कन्ध नहीं उपजता है किन्तु परमाणूओं का पृथग्भूत संयोग ही उपज जाता है

उसी हो आकाश का दृष्टान्त यहां भी उपयोगी होजाता है अर्थात्—अणुओं के संघात से नित्य आकाश के समान स्कन्ध नहीं उपजते हैं।

दूसरे बौद्ध पण्डित करके भी यों कहा जा सकता है कि असंसृष्ट परमाणूयें भिड़ कर पुनः अत्यासन्न अवस्था में नवीन ढंग से उपज जाती हैं, कोई नवीन अवयवी स्कन्ध नहीं बन जाता है। सांख्य यों कह सकते हैं कि अनादि काल से आकाश के समान सद्भूत होरहे नित्य स्कन्ध उपजते ही नहीं हैं। " सर्वं सर्वत्र विद्यते " केवल तिरोभूत स्कन्ध ही मिश्रण अवस्था में व्यक्त होजाते हैं। जैन तो वैशेषिकों के ऊपर वैसा का वैसा ही आक्षेप उठा सकते हैं, कि परमाणूओं के संघात से कोई अवयवी द्रव्य नहीं उपजा है केवल संयोग ही उपज गया है। अवयविनं दत्तो जलाञ्जलिर्वैशेषिकेण महापण्डितेन, अपसिद्धान्तोयं वैशेषिकाणाम्"।

ननु च संघातः संयोगविशेष एव ततः कथं परमाणूनां परस्परं संयोगः समुपजायेत तस्यासंयोगजत्वात्। सर्वत्रावयवसंयोगपूर्वस्यावयविसंयोगस्य प्रसिद्धेर्वीरणादौ द्वितंतुकसंयोगवत् परस्परमवयवानां तु संयोगस्यान्यतरकर्मजस्योभयकर्मजस्य वा प्रतीतेरस्खलद्रूपत्वात्। ततः संघातादवयविन एव स्कंधापरनाम्न उत्पत्तिर्न संयोगस्यात चेत्, तर्हि विभागो भेद एव प्रतिपाद्यते ततः कथं द्व्यणुकादेः स्कन्धस्य विभागः समुपजायेत तस्याविभागजत्वात्सर्वत्रावयवविभागपूर्वस्यावयविविभागस्य विभागजविभागस्य प्रसिद्धेः काष्ठस्कंधदलविभागवत्। परस्परमवयवानां तु विभागस्यान्यतरकर्मजस्योभयकर्मजस्य वा प्रतीतेरवाध्यत्वात् कथं द्व्यणुकादिस्कंधभेदाद्विभागपूर्वैवोत्पत्तिरभ्युपगम्यते भवद्भिः।

वैशषिक अपने ऊपर आये हुये जैनोक्त आक्षेपका निवारण करते हुये स्व-पक्ष का अवधारण करते हैं कि हमने जो यों कहा था कि स्कन्ध का छेदन, भेदन होजाने से परमाणूओं का विभाग गुण उपज जाता है, आकाश के समान नित्य परमाणूयें नहीं उपजती हैं। इस पर जैनों ने हम वैशेषिकों के ऊपर भी यही आक्षेप ज्यों का त्यों धर दिया कि परमाणूओं के सम्मिश्रण से भी परमाणूओं का संयोग मात्र ही उपजेगा स्कन्ध या अवयवी नहीं उपजेगा, इस पर हम वैशषिकों को यह कहना है, कि संघात तो एक प्रकार का संयोग विशेष ही है। उस संघात से परमाणूओं के परस्पर में संयोग भला कैसे उपज सकेगा ? बताओ तो सही। क्योंकि परमाणूओं का वह संयोग तो किसी अन्य संयोग विशेष से जन्य नहीं है, क्रिया से परमाणूओं का संयोग होजाना माना गया है। पहले ईश्वर इच्छा, अग्निसंयोग, वेग, अदृष्ट, आदि कारणों से परमाणुओं में क्रिया उपजती है, क्रिया से परमाणूओं का विभाग होजाता है तदनन्तर पूर्व संयोग का नाश होता है पुनः उसी क्रिया से उत्तर देश-वर्त्ती पदार्थ के साथ संयोग होजाता है, अतः परमाणूओं का संयोग किसी अन्य संघात यानी संयोगसे जन्य नहीं है।

सभी स्थलों पर अवयवों के संयोग को पूववर्त्ती मानकर अवयवी का संयोग होना ही प्रसिद्ध होरहा है, जैसे-कि तृण विशेष से बने हुये वीरण (बुरस) तुरी आदि में दो दो तन्तु वाले दूसुता का

संयोग बेचारा अवयव संयोग पूर्वक है । यानी अवयवों के संयोग से भले ही अवयवी का संयोग होजायगा किन्तु अवयवी संयोग से अवयवों का संयोग कथमपि नहीं उपजता है। तो फिर जैन या दूसरे पण्डित यों कैसे कह सकते हैं कि संघात से परमाणुओं का संयोग ही उपजेगा, स्कन्ध नहीं ? हां अवयवों के परस्पर में होरहे संयोग तो कोई अन्यतर कर्म-जन्य हैं और कोई उभय कर्म-जन्य हैं। संयुक्त होने वाले दोनों सूत्रों में से किसी एक सूत में क्रिया होकर दूसरे स्थिर सूत के पास उसका चला जाना रूप क्रिया से जो संयोग होता है वह अन्यतर कर्म-जन्य है, एक कपाल में क्रिया होकर धरे हुये दूसरे कपाल में उसका भिड़ जाना भी अन्यतर कर्मजन्य संयोग है। विभक्त होरहे मल्लों या मेंढ़ों दोनों में क्रिया होकर भिड़ जाना उभय कर्म-जन्य संयोग माना गया है। कोरिया कभी दोनों तन्तुओं को सरका कर उनका संयोग कर देता है, कुलाल भी दोनों कपालों को भिड़ा कर संयुक्त कर देता है, यह अवयवों का उभय कर्म-जन्य संयोग है।

परमाणुओं के संयोग भी दोनों ढंगों अनुसार क्रियाओं से होजाते हैं, यों अवयवों के अन्यतर कर्मजन्य अथवा उभय कर्म-जन्य होरहे संयोग की निर्बाध प्रतीति होरही है. इस प्रतीति के स्वरूप का किसी भी कारण से स्खलन नहीं होता है तिस कारण सिद्ध होजाता है कि परमाणुओं या अवयवों के संघात से स्कन्ध इस दूसरे नाम को धार रहे अवयवी की ही उत्पत्ति नहीं होपाती है। ऐसी दशा में आप जैनों ने हमारे ऊपर जो आक्षेप किया था, वह ठीक नहीं है । वैशेषिकों के यों कहने पर अब आचार्य कहते हैं कि तब तो इसी ढंग से तुम्हारे कटाक्ष का भी निवारण होजाता है। देखिये आप वैशेषिकों ने यों कटाक्ष किया था कि स्कन्ध का विदारण होजाने से परमाणुओं का मात्र विभाग होजाता है अणुयें नहीं बनती हैं इस पर हम जैनों का यह कहना है कि स्कन्धों का भेद तो एक प्रकार का विभाग ही समझाया जाता है उस विभाग स्वरूप भेद से द्वयणुक, त्र्यणुक,आदि स्कंधों का विभाग भला कैसे उपज सकता है ? किंचित् विचारो तो सही। यह द्वयणुकका विभाग कोई विभागज विभाग थोड़ा ही है जो कि विभाग से उपज जाय। वह द्वयणुक आदि अवयवों का स्कन्ध विभाग तो दूसरे विभागों से जन्य नहीं है। सभी स्थलों पर अवयवों के विभाग-पूर्वक हो रहे अवयवी के विभाग की ही विभागज विभाग स्वरूप करके प्रसिद्धि होरही है, जैसे कि आकाश के साथ वृक्ष की पीढ़ के दो भागों के एक दल का विभाग से जन्य विभागज विभाग है।

अर्थात—वृक्ष के नीचले भाग तना में कुठारसंपात-जन्य क्रिया करके विभाग उपजा यह क्रिया-जन्य पहिला विभाग है जो कि एक दल का दूसरे दल के साथ है। पुनः इस विभाग करके उस पीढ़ के आधे दल का आकाश देश के साथ विभाग उपजता है. वह कारण-मात्र विभाग-जन्य दूसरा हुआ विभागज विभाग है। अथवा किसी ने वृक्ष के साथ हाथ को भिड़ा रखा है, अब पुरुषार्थ द्वारा हाथ में क्रिया उपजा करके हाथ और वृक्ष का विभाग किया पश्चात् उस हस्त वृक्ष विभाग करके शरीर के साथ वृक्ष का विभाग भी उपज जाता है। यह कारणाकारण विभाग-जन्य विभागज